तद्भव

तद्भव इंटरनेट पर
www.tadbhav.in

अनुक्रम

संपादकीय

वैसे तो परिवर्तन *अपरिहार्य और मोहक माना जाता है किंतु 16 मई, 2014 के बाद से हमारे देश में परिवर्तन का जैसा नकारात्मक और विकर्षक रूप प्रकट हुआ है और वह जिस तरह निरंतर हीनतर होता जा रहा है उसकी दूसरी नजीर कम से कम हिंदुस्तान के आधुनिक इतिहास में नहीं मिलेगी। राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ, नरेन्द्र मोदी और भाजपा की त्रिकोण ताकतों ने सम्मिलित रूप से जिस यथार्थ को निर्मित एवं प्रतिष्ठित करने का अभियान चलाया है उससे हर नागरिक को फिक्रमंद होने की जरूरत है। कहना अतिश्योक्ति नहीं होगा कि हमारे नागरिक विश्व में जो लेखक, कलाकार, संस्कृतिकर्मी हैं उनके सामने तो जीवन मरण की चुनौती दरपेश हो गई है। क्योंकि जैसा प्रेमचंद ने कहा था कि 'सांप्रदायिकता सदैव संस्कृति की दुहाई दिया करती है। उसे अपने असली रूप में निकलते शायद लज्जा आती है, इसलिए वह गधे की भांति जो सिंह की खाल ओढ़कर जंगल के जानवरों पर रौब जमाता फिरता था, संस्कृति का खोल ओढ़कर आती है।' संकट प्रेमचंद के समय से ज्यादा सांद्र तथा विकट इसलिए हो चुका है क्योंकि मौजूदा दौर में केंद्रीय राज्यशक्ति कई ऐसे हथियारों से मार कर रही है जिनके विरुद्ध प्रायः हर संवेदनशील और विचारशील रहता ही है और लेखकगण जिनके खिलाफ सृजन करते हैं। उपरोक्त राज्यशक्ति समर्थित और समर्थक संस्थाएं एक तरफ अति आधुनिक समाज बनाने का ख्वाब दिखाकर क्रोनी कैपिटलिज्म को देश की जनता तथा उसके संसाधनों को लूटने का निर्विघ्न अवसर दे रही हैं तो दूसरी तरफ हमारे वर्तमान को अति प्राचीन बर्बर समाज में बदलकर मानवीय उपलब्धियों को नेस्तनाबूत कर देना चाहती हैं। ये लोग ऐसा राष्ट्र बनाना चाहते हैं जिसके स्मार्ट शहरों और स्मार्ट गांवों*

में संविधान नहीं गीता राष्ट्रीय ग्रंथ होगा, राज्य द्वारा निश्चित निर्धारित पकवानों को खाने, वस्त्रों को धारण करने की बाध्यता होगी। एकमात्र राजा ही सबसे बड़ा इतिहासकार, चिन्तक, दार्शनिक, अर्थशास्त्री, कवि, किस्सागो, खिलाड़ी, फौजी, वैज्ञानिक, डॉक्टर होगा। ऐसा विलक्षण चिकित्सक जिसके मुताबिक आधुनिक चिकित्सा विज्ञान आगे बढ़ने के बजाय बहुत पीछे लुढ़क गया है क्योंकि अब प्राचीन सरीखे डॉक्टर कहां, जो मनुष्य का सिर कट जाने पर हाथी का सिर लगाकर पुनर्जीवन दे दें। संक्षेप में कहना हो तो यह कि यथार्थ को मिथक और मिथक को यथार्थ में बदलने की परियोजना पर सुनियोजित ढंग से काम किया जा रहा है। यथार्थ को मिथक में इसलिए रूपांतरित कर रहे हैं क्योंकि जब वास्तविकता को वास्तविक नियमों, तर्कों की कसौटी पर कसा जाएगा, तो इनके पाखंड, खोखलेपन का सत्य उजागर होगा अतः सत्य को मिथक बना दो। राजा को पृथ्वी के लिए ईश्वर का तोहफा, गंगा मां का आशीर्वाद बताओ। दूसरी तरफ मिथक को यथार्थ बनाने की वजह के पीछे विवशता यह है कि वास्तविक संसार में इनकी वैचारिकी को संबल प्रदान करने वाली प्रसिद्ध शख्सियतें, घटनाएं, वृत्तांत नहीं हैं इसलिए मिथक, गल्पों, अफवाहों को यथार्थ, इतिहास, विज्ञान के रूप में स्थापित कर दो। जाहिर है कि इस राह में संविधान, महान पुरखों की जिंदगियां एवं वैचारिक विरासत, जनता का एका आदि बाधाओं की सुदृढ़ दीवारें हैं तो इन्हें कमजोर करो, मिटा दो, जहां न मुमकिन हो वहां इनका विकृत, भ्रष्ट पाठ प्रसारित करो।

दरअसल जब प्रारंभ में हमने महान लेखक प्रेमचंद का सांप्रदायिकता संबंधी उद्धरण देने के बाद कहा कि संकट प्रेमचंद के समय से ज्यादा सांद्र और विकट हो चुका है तो आशय यह था कि मौजूदा दौर का खतरा महज सांप्रदायिकता तक महदूद नहीं है बल्कि वह इसके पार भी है। और यह तानाशाही और फासीवाद की दिशा में भी तेज तेज डग बढ़ा रहा है। यह समय का अजीब अंधेर है कि हमारा देश एक नहीं अनेक लोकतंत्रविरोधी, मनुष्यविरोधी धारणाओं को क्रियान्वित होते देख रहा है। हमें कहने में खास संकोच नहीं करना चाहिए कि हवा में तानाशाही, सांप्रदायिकता, फासीवाद की समवेत सी बू महसूस होने लगी है। सभी देख रहे हैं कि प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी और अमित शाह की अध्यक्षता वाली भारतीय जनता पार्टी की सरकार में चुन चुनकर अपने विरोधियों को ठिकाने लगाया जा रहा है। कलबुर्गी और पंसारे सरीखे रचनाकारों, विचारकों की हत्याओं को यहां स्मरण करना चाहिए। हत्या मुश्किल तथा ज्यादा जोखिम भरा काम है जिसे अंजाम दे पाना कई बार कठिन हो जाता है, तब विरोधी को येनकेन किसी भी तरह किसी मामले में फंसाया जाता है। इसके लिए सस्ते किस्म के राष्ट्रवाद की छिछली पटकथा तैयार की जाती है, फर्जी सबूत जुटाए जाते है, नकली वीडियो निर्मित कराए जाते हैं। जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय में कन्हैया कुमार एवं अन्य छात्रों के खिलाफ साजिश इसका ज्वलंत उदाहरण है। इतना असह्य परिदृश्य तब है जब हम ज्यादातर उजागर हो चुकी घटनाओं से ही वाकिफ हो पाते हैं, वास्तविकता तो यह बताई जा रही है कि लोग बेफिक्र होते हैं, नींद ले रहे होते हैं या लंच डिनर कर रहे होते हैं या एक अच्छी कविता एक सार्थक उपन्यास से गुजर रहे होते हैं तब जाने कितने सत्ता विरोधियों के फोन टेप किए जा रहे होते हैं, उनके खिलाफ जाली दस्तावेज इकट्ठा किए जा रहे होते हैं, जासूस उनका पीछा कर होते हैं। पुलिस तफ्तीश कर रही होती है। आपको लग रहा होगा, हमारा समकाल गोया महान कथाकार काफ्का की रचनाओं की

दुनिया जैसा हो गया है जिसमें निरपराध, साधारण, निरीह पात्र अनायास किसी दुष्चक्र में फंसकर यातना भोग रहे होते हैं। वह तो फिलहाल गनीमत है कि इस देश के अधिकतर प्रदेशों में गैर भाजपा पार्टियों की सरकारें हैं और स्थानीय पुलिस, खुफिया विभाग, प्रशासन आदि उनके अधीन हैं वर्ना शायद जिंदगी दूभर कर देने वाला मंजर होता।

अब जरा सिक्के के दूसरी तरफ गौर करें : गुजरात के मनुष्य संघारक दंगों के अपराधी एक एक करके बरी किए जा रहे हैं। सरकारी एजेंसियों की निगाह में वे गुनहगार नहीं, मासूम और बेकसूर हो गए हैं। मालेगांव विस्फोटों के अपराधी भी। द्विविभाजन कर दिया गया है– जो असहमत हैं, विरुद्ध हैं वे अपराधी और दंडनीय हैं। जो सहमत समर्थक सहयोगी हैं वे निर्दोष, पवित्र और पुरस्कार योग्य हैं। कैसा अजीब है जो कल तक हमारी धारणाओं में, सूरज के उजाले में, मीडिया की निगाहों में जघन्य अपराधों में कसूरवार थे, आज न केवल दोषमुक्त हो रहे हैं बल्कि खुद दंडाधिकारी की भूमिका में अवतरित हो चुके है।

याद करें, गाब्रिएल गार्सिया मार्केज के कालजयी उपन्यास 'वन हंड्रेड इयर्स ऑफ सोलीट्यूड्स' का वह अध्याय जिसमें हड़ताली जनता के ऊपर चौदह मशीनगनें एक साथ बरसने लगीं। कत्लेआम के कुछ घंटे बीत चुकने के बाद जब वहां उपस्थित खोसे आर्कादियो सेगुंदो की आंख खुली तो वह अपने को शवों से भरी हुई ट्रेन में मृतकों के ऊपर लेटा हुआ पाता है। ये करीब तीन हजार शव रद्दी केलों की तरह समुद्र में फेंके जाने वाले थे। बचता बचाता खोसे आर्कादियो सेगुंदो पुनः माकोंदो पहुंचकर जब हत्याकांड के बारे में चर्चा करता है तब सुनता है कि यहां कोई मौत नहीं हुई है। सरकारी वक्तव्य भी बताता है : कोई नहीं मरा है। अधिकारीगण कहते : आपने सपना देखा होगा। माकोंदो में ऐसा कुछ नहीं हुआ है, न होगा। यहां सभी प्रसन्न हैं। ...इसी तरह कमोबेश गुजरात में भी 2002 में अल्पसंख्यक समुदाय की हत्याएं नहीं हुई थीं। बाद में कोई भी फर्जी मुठभेड़ नहीं हुई थी। वहां सतत शांति थी और विकास का रथ दौड़ रहा था। गुजरात में ही क्यों, हैदराबाद विश्वविद्यालय का छात्र दलित रोहित वेमुला दलित नहीं था। वहां केवल और केवल उपद्रव था, कोई आंदोलन नहीं था। बाबा साहेब भीमराव आंबेडकर ब्राह्मणवाद और हिंदू धर्म के विरोधी नहीं थे और संभवतः नाथूराम गोडसे महात्मा गांधी का कातिल नहीं था।

ऊपर लिखे गए हमारे शब्दों को पढ़कर कुछ लोग असहमति जता सकते हैं कि स्थितियां खराब हैं, लेकिन यहां चीजों को जरा ज्यादा ही चटख रंगों के बीच दिखाया गया है। इस मुद्दे पर बहस करने, उलझने की बजाय यह चर्चा ज्यादा जरूरी होगा कि अगर देश का सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक वातावरण असहिष्णुता की पराकाष्ठा पर नहीं पहुंचा है तो ऐसा राज्यशक्ति की सदाशयता की वजह से नहीं संभव हुआ है, बल्कि इसका श्रेय हमारे लोकतंत्र की मजबूती को जाता है और उन बहुत से ज्ञात अज्ञात विवेकवान लोगों को जाता है जिन्होंने प्रतिरोध की आवाज मुखर की और दमन, नियंत्रण की कोशिशों के बावजूद अपने प्रतिरोध को मंद नहीं पड़ने दिया। यह महसूस करना अच्छा लगता है कि भूमंडलीकरण, उपभोक्ता संस्कृति के वर्चस्व के युग में सामान्य रूप से बन गई यह धारणा झूठी सिद्ध हुई कि देश का छात्र समुदाय अब लगभग पेशेवर, वैयक्तिक, अराजनीतिक हो चुका है और उससे आंदोलन, विद्रोह, सामाजिक गुस्से की अपेक्षा करना फलप्रद नहीं साबित होगा। जाहिर ही है कि इधर घटित हो रहे अनेक छात्र संघर्षों ने समाज को उम्मीदों की नई ऊष्मा सौंपी

है। इस कड़ी में एक अन्य मोर्चा सोशल मीडिया पर देखा जा सकता है। पिछले कुछ समय से अनेक लोग जिस प्रकार से घृणा के प्रसारक झूठे तथ्यों, उद्धरणों, तस्वीरों, टेप, विडिओ, दस्तावेजों आदि का सत्य उजागर करते आ रहे हैं, वह बहुत खास है। तब यह और भी खास हो उठा है जब हम देखते हैं कि बहुतेरे समाचार चैनल सरकारी प्रचार माध्यमों से भी अधिक भक्ति एवं निष्ठा के साथ सरकार तथा संघ का साथ दे रहे हैं। लेकिन प्रतिरोध के वर्तमान परिदृश्य से संतुष्ट हो जाने की जगह देखना होगा कि यह नाकाफी तो नहीं? इसकी सीमाएं क्या हैं? हमें संघर्ष की कुछ अन्य प्रविधियों को भी आजमाना चाहिए? सोशल मीडिया पर होने वाले प्रतिरोध के स्वरूप की पड़ताल करने पर हासिल होने वाली तमाम सार्थक, प्रासंगिक आवाजों के बावजूद लगता है : ये अधिकतर जागरूक लोगों द्वारा जागरूक लोगों को जागरूक करने के प्रयास हैं जो परस्पर सहमत लोगों के समूह में अपनी अपनी पक्षधरता की अभिव्यक्ति से आगे निकलकर उस साधारण जन तक नहीं जा रहे हैं जहां तक पहुंचने की आवश्यकता है। निश्चय ही हम अपने को देश के मामूली मनुष्यों के विशाल समुदाय के साथ दिखने और उसको अपने साथ देखने की आवश्यकता से वाकिफ हैं परंतु इसे संभव करने के लिए प्रतिरोध के कुछ नए रूप, नए रास्ते, नए औजार भी खोजने, आजमाने होंगे।

हम तद्भव के मित्रों, *पाठकों, शुभचिंतकों से एक सूचना साझा करना चाहते हैं : जल्द ही तद्भव में प्रकाशित बेहतरीन कहानियों को जगरनॉट ऐप पर पढ़ा जा सकेगा। जगरनॉट ऐप एंड्राएड और आईओएस प्लेटफॉर्म पर उपलब्ध है, हिंदी में ये ऐप जुलाई 2016 में उपलब्ध होगा। जैसाकि विदित है, भारत में मोबाइल के बढ़ते हुए प्रयोग के दृष्टिगत जगरनॉट लेखकों की रचनाओं को डिजिटल माध्यम में व्यापक पैमाने पर प्रस्तुत करने के लिए सक्रिय है।*

पिछले अंक तद्भव - 32 *में हमने विख्यात कथाकार, गद्यकार रवींद्र कालिया का प्रसिद्ध साहित्यिक सांस्कृतिक केंद्र इलाहाबाद पर वृत्तांत 'ये जो है इलाहाबाद' शुरू किया था जिसे आगे जारी रहना था। लेकिन कितना त्रासद और दुखपूर्ण है कि इस अंक में उसकी अगली किस्त प्रकाशित करने की जगह हम अपने इस अप्रतिम सर्जक, संपादक को श्रद्धांजलि अर्पित कर रहे हैं।*

वरिष्ठ कवि पंकज सिंह *औचक सभी को छोड़कर चले गए। उनका जाना गहरे सदमे जैसा है। उनकी स्मृति को हमारा नमन। कवि उमेश चौहान का भी बीते दिनों निधन हो गया। तद्भव में कुछ बार उनकी कविताएं प्रकाशित हुई थीं। वह हिंदी संसार में बहुत सारे लोगों के गहरे दोस्त थे। उमेश चौहान की याद को श्रद्धांजलि!*

अखिलेश

अब और दूसरा

विनोद कुमार शुक्ल

प्रख्यात कवि, कथाकार विनोद कुमार शुक्ल से हमने आग्रह किया कि वह अपने जीवन के बारे में 'तद्भव' के लिए लिखें; वह जीवन जो रूपांतरित होकर उनके रचना संसार में प्रवाहित हुआ है अपने ठोस रूप में भी मूर्तमान हो। फलस्वरूप प्रस्तुत है : इस श्रेष्ठ सर्जक के बचपन की स्मृतियां। हम जतन कर रहे हैं : आगे यह सिलसिला बना रहे।

वह जो चला गया मैं मुझसे
अपने तब को कैसे ला खड़ा करूं
कि यह मैं वही जब मैं था।

अब और दूसरा हूं
तब और दूसरा।

जो तीसरा मैं धड़धड़
मुझ तक जैसे आरपार
चला आ रहा
अभी चला जाए आरपार
दाईं तरफ या बाईं तरफ
या लौट जाए।
मेरा मैं मुझमें, मुझसे छुप रहा
मैं जानता हूं मैं कहां छुपा
और कितना दिख रहा।

समय जो समाप्त है वह अपनी शुरुआत से समाप्त है। चाहे कितना भी लंबा समय हो या बस एक मिनट का। बीते से एक क्षण बचता नहीं। यह जो नहीं, वह गुमा नहीं है कि याद करने या ढूंढ़ने से जस का तस मिल जाएगा। हो सकता है याद करना ढूंढ़ने का तरीका हो। बीते के कबाड़ में काम का शायद कुछ भी नहीं। इस समय मेरे लिए खोना बहुत आसान हो गया है और ढूंढ़ना सबसे कठिन।

याद करना भूलने के साथ याद रहता है। सब याद कभी नहीं रहता। कभी कुछ याद आया। कुछ कभी। और कुछ, कभी याद नहीं आता, यह भी याद नहीं कि क्या याद नहीं।

यद्यपि मेरा बचपन बहुत पीछे चला गया, पर बचपना लगता है बुढ़ापे में भी बचा रहता है। बचपन को याद करना भी जैसे बचपना है। पर मैं सचमुच बचपना करता हूं बिना बचपने को याद करते हुए।

घर की बीच कोठरी पुरानी परछी में थी। नई परछी उसी के पास बनी। पुरानी परछी में एक पैर रख सीढ़ी से नई परछी में आ जाते और नई परछी से पुरानी परछी में उतर जाते। पर दोनों परछी में समय का बहुत अंतर था। पुरानी परछी का यह हिस्सा बाबा का बनवाया हुआ बचा था। पुरानी परछी में बीच कोठरी के बाद एक कमरा था। फिर इससे लगा एक कमरा और था जिसकी खिड़की सड़क की तरफ खुलती थी। इस कमरे से लगे हुए सड़क की ही तरफ दो कमरे थे। नई परछी और जो कुछ और नया बना था सबसे छोटे चाचा ने बनवाया। नई परछी बनने के बाद मेरा जन्म हुआ पर पुरानी परछी की बीच कोठरी में। इस घर में जन्म तब बीच कोठरी में ही होते थे। यह जचकी कोठरी थी। लड़कियां जो घर से ब्याही गई थीं, इस कोठरी में जन्म देने मायके आ जाती थीं। कभी दो भी इस कोठरी में कुछ आगे पीछे इकट्ठी हो जातीं। यह कोठरी अंधेरी कोठरी थी। दिन में भी अंधेरा रहता था। खाली होने पर यह कोठरी शुद्ध होकर अम्मा का पूजा कमरा होता था। जचकी के समय तब भगवान हटा लिए जाते और घर में कोई ठीक जगह दिखती, रख दिए जाते, नहीं तो किसी आले में रख दिए जाते। आले जगह जगह बने थे।

बीच कोठरी में अम्मा की एक पेटी थी। उस पेटी में एक टिन का डब्बा था। यह साबुन का डब्बा था जो शादी में अम्मा के साथ आया था। अम्मा इस डब्बे को संभाल कर रखतीं। बापजी के जुआं खेलने और शराब के कारण सब गहने बिक चुके। तब इसमें साथ की पड़ी इकन्नी दुअन्नी, पता नहीं कब तक वैसे ही रखे रहे, बाद में वे ही मुझे अम्मा के गहने जैसे लगने लगे।

इस डिब्बे में हम तीनों भाइयों के बसकठ के हल्दी गांठ लगे पीले धागे भी थे। गांठ लगाने में अम्मा से भूल होने लगी जैसे मेरे जन्मदिन पर छोटे भाई के धागे में गांठ लगा देतीं। पर अम्मा बताती थीं कि जिस दिन मेरा जन्म हुआ था उस दिन घर के ठीक सामने सड़क के उस पार कृष्णा टाकीज का उद्घाटन हुआ था। सौंजिया ने, जो खेती की देखरेख करता था, स्कूल में मेरा नाम लिखाया था। छोटे भाई का स्कूल में नाम लिखाने मैं गया था। उससे मैं छै साल बड़ा हूं। मैं लंबे स्कूल में भरती हुआ था। वह उससे लगे हुए गोल स्कूल में भरती हुआ।

मेरी उम्र और मैं एक सिनेमा दर्शक की उम्र में एक महीने का अंतर है। मेरे जन्म के एक महीने के बाद सौर से उठकर मुझे गोद में लेकर अम्मा सिनेमा देखने जरूर गई होंगी। उन्हें सिनेमा देखना बहुत अच्छा लगता था। पर दिन भर के काम के बाद जनाना क्लास में घरवालों के साथ सिनेमा देखती सोती रहतीं। बीच बीच में कोई उनको जगा देता।

पुरानी परछी के ऊपर का साथ बना हिस्सा भी पुराना था। ऊपर की पुरानी परछी से एक पैर सीढ़ी से चढ़कर ऊपर की नई परछी में आ जाते जैसे नीचे की पुरानी परछी से नीचे की नई परछी में।

नीचे नई परछी के सामने बहुत बड़ा आंगन था। आंगन से ऊपर की नई परछी में जाने के लिए सीढ़ी बनी थी। सीढ़ी एसबस्टस की चादर से ढंकी थी। जब से मैंने होश संभाला मैंने सीढ़ी की छत के एक कोने को हमेशा टूटा हुआ ही देखा कि बनते समय टूट गया हो। यह टूटा बनाया गया जैसा हमेशा रहा। कभी सुधारा नहीं गया। आंगन में तुलसीचौरा था।

घर में बंदर बहुते आते थे। काले मुंह के बड़े बड़े बंदर। पूरे घर की छत खपरैल की थी। बंदरों के कूदने से टूटे, या सरके खपरैलों को बरसात के पहले छवाया जाता। बंदरों को भगाने से डरते भी थे कि खपरे और न टूट जाएं। घर से लगा एक बहुत बढ़ा पीपल का पेड़ था। उसके छोटे छोटे लाल फल पेड़ पर लगते तब बैठे बंदर उसे खाते जब तब दिखते। जोर की हवा से पीपल हिलता तो पीपल के पत्तों की आवाज आती। यह आवाज, हिलते पत्तों को देखो तो लगता कि पत्ते ताली बजा रहे हैं। पतझड़ के बाद नये कोमल ललछौंह पत्तों वाला पेड़ सुंदर लगता था। टूटकर पत्तियां छत पर आतीं तो उसे लपेट, एक छोर को दांत से काटकर बनी पोंगली को फूंक कर बजाते।

सीढ़ी जहां से शुरू होती उस तरफ पुरानी परछी के समानांतर दो चौके बने थे। उसके बाद चक्की कोठरी थी। कोठरी में ओखली मूसल भी एक कोने में थे। कभी चक्की में अनाज, गीली दाल पीसते समय खेल खेल में अम्मा के पास बैठकर चक्की चलाता। ताकत लगती थी। इसके बाद एक अनाज कोठा था। यहीं से बाड़े की तरफ निकलने के लिए जगह बनी थी।

लखोली गांव में बाबा की खेती थी। कटाई के बाद धान के बोरे तो बाड़े में रखे जाते। जो गंज चले जाते। अलसी की खेती भी होती। धान कटने के बाद जो खेत में नमी बची होती, खेत जोत कर अलसी बो देते। पहले अलसी बहुत होती थी। बिकने से बची अलसी को अनाज कोठा में भर दिया जाता। अलसी का कोठा जमीन के नीचे गहरा बना था। घर के लोग बताते कि अनाज कोठे में बाबा कमाई के बदरा के बदरा रुपये डाल देते थे। बदरा हाथ से बुनी मजबूत धागों की छोटे छेद वाली थैली होती जो रुपये रखने के काम आती। अलसी के ढेर में ऊपर से रुपये की थैली डालते। थैली अपने आप नीचे तल तक पहुंच जाती। अलसी की कोठी में चोर कूदे तो वह भी अलसी के तल तक डूब जाता और निकल नहीं पाता। इसलिए रुपये सुरक्षित होते। यह एक तिजोरी थी। अलसी की खेती धीरे धीरे समाप्त हो गई। किसानों ने बोना बंद कर दिया। फिर अलसी की कोठी की जगह पाखाना बन गया। बाद में ऊपर छोटे चाचा के अंदर के एक कमरे में दीवाल में जड़ी लोहे की तिजोरी भी रही। इस तिजोरी को खुला मैंने कभी नहीं देखा था।

अम्मा का बचपना बांग्लादेश में बीता था। कानपुर से नाना का परिवार ढाका के पास जमालपुर में बस गया था। नाना मिट्टी तेल का व्यापार करते थे।

अम्मा की पढ़ाई स्कूल में नहीं हुई, घर पर हुई। बचपन का पढ़ा हुआ अम्मा को बुढ़ापे तक याद रहा। अचानक बंगाली का वाक्य बोल देतीं। घर में बैसवाड़ी बोली जाती। फिर छत्तीसगढ़ी भी बोलने लगे। अम्मा के साथ मैं बैसवाड़ी में बात करता। अम्मा हिंदी भी लिख पढ़ लेती थीं। उनका लिखा एक दो पोस्टकार्ड मैंने संभाल कर रख लिया। जो कभी दिख जाता तो मैं उसी तरह पढ़ता कि चिट्ठी आज मिली।

बुढ़ापे में भी अम्मा, बंकिम, शरदचंद्र, टैगोर की किताब मिल जाती तो, कुछ अपनी फुरसत में पढ़ लेतीं। पहले पूरी किताब कई दिनों की फुरसत में पढ़ लेती होंगी ऐसा कभी नहीं हुआ होगा। बाद में नाम भर पढ़ पाती हों ऐसी भी फुरसत शायद मिली हो। एक बार शायद बारह आने मेरे पास बचे होंगे। मैंने बताया—अम्मा बारह आने बचा लिए।

शरदचंद्र की कौनो किताब खरीद लेव। अम्मा ने कहा। शायद मैंने 'विजया' खरीदी थी।

जब पुरानी परछी के पास नई परछी बन रही थी। खोदने से तब बोरे भर भर कर कौड़ियां

निकली थीं। ये कौड़ियां उस समय गाड़ी गई होंगी जब कौड़ियों का मुद्रा की तरह चलन रहा होगा। जब ये कौड़ियां निकलीं तब तो कौड़ियों का कोई मोल नहीं था। घर में उस एक समय टोकनी टोकनी भर कौड़ियां रखी रहतीं। फिर मारी मारी फिरने लगीं।

जमीन में छुही मिट्टी से लकीर बनाकर मुरम की गोटियों से मैं भी खेलता रहा। बची खुची बच्चों को खेलने बांट दी गईं।

अलसी की कोठी की जगह पाखाना बना दिया गया। यह मेरे सोचने का तिलस्मी घर था। पाखाने की दीवाल के एक तरफ लाल निशान था। पलस्तर में लाल पत्थर का टुकड़ा चिपका हुआ। मुझे लगता कि उंगली से इस पत्थर को दबा दूं तो दीवाल के अंदर जगह निकल आएगी और यह होता था। मैं ऐसा ही करता। जैसे दीवाल में जगह निकल आती। और मैं एक गुप्त संसार में चला जाता। पर जब दरवाजा खटखटाने की आवाज आती तब जल्दी जल्दी सौंचकर बाहर निकलता और डांट खाता। पांच चाचाओं का संयुक्त परिवार था। बाद में अंदर की तरफ एक पाखाना और बनवाया गया।

बापजी ने घर में गाय पाला था। पिताजी को बापजी कहता। घर के पीछे के छोर ही पाखाना था, फिर उसके बाद गाय कोठा। गाय जब शाम को चर कर लौटतीं और गाय बांधने कोई नहीं होता या कोई तैयार नहीं होता, तब अम्मा कहतीं—बीनू गाय बांध दो नहीं तो पिया जाएगी। तब मैं गाय बांधने दौड़ पड़ता। राउत पन्हाते समय बछरू को गाय के पास बांधकर रखता। दुहने के बाद बछरू को छोड़ देता। छूटते ही बछरू दूध पीने जैसे टूट पड़ता। शायद ही दूध थन में तब बचा होता।

इतने पुराने दो मंजिला घर के साथ दो मंजिला नया घर जुड़ा था। नया घर भी तो पुराना हो गया था। इसके भी पुरानेपन की याद है। नयेपन की तो बिलकुल नहीं। घर के छूटने तक बचा हुआ घर तो रहा। घर छूट जाने के बाद भी लौटकर कभी कुछ देर के लिए आंगन में खड़े हो पाते थे, खुले आसमान के नीचे। तब नई परछी में जाने की हिम्मत कम होती, यद्यपि नई परछी की छत पर लगी आड़ी सागोन के मोटे खंबों का टेका था। किसी पत्थर के गिर जाने का डर लगता।

नई परछी में चार कमरे थे। बीच कोठरी में बिना कंदील या दीया के उजाला नहीं होता था। बिट्टन जिज्जी जब तब बतलाती थीं, कि मैं बहुत दुबला पतला और सांवला जन्मा था। लड़का था अजिया ने मुझे देखकर गुड़ का लड्डू कहा था। हम लोग तीन भाई दो बहिन थे। हममें सबसे बड़ी बहन का नाम कचरा रखा गया। अम्मा की पहली लड़की होने के कुछ दिनों बाद मर गई थी। जीवित होती तो वह बड़ी बहन होती, इसीलिए बची बहन का नाम कचरा रखा गया। घर में फुलेसर नाम की काम करने वाली बाई थी। उसी ने टोटके के लिए कचरा नाम रखने के लिए कहा कि इससे बची रहेगी। कचरा दीदी का नाम स्कूल में प्रभा रखा गया। घर के बाहर के लोगों को तो प्रभा नाम बताया जाता पर बाहर के लोगों के सामने भी घर के लोग कचरा तो बोल देते। धीरे धीरे बाहर के लोग भी कचरा बोलते। और शादी के बाद दीदी को शायद यही नाम प्यारा था, दीदी को लगता घर का, मायके का कोई आया।

मुंडन होने के बाद बाल कटवाने नाऊ की दुकान जाने लगा। नाऊ की दुकान पड़ोस में थी। जो बापू चाचा के हिस्से में थी। एक गुजराती नाऊ किरायेदार था। यह नाऊ राजनांदगांव के राजा दिग्विजयदास के बाल काटने लालबाग जो राजा का महल था जाया करता। गुजराती नाऊ राजनांदगांव के बड़े लोगों के ही बाल काटा करता। बाल काटने वाले चार पांच लोग थे। वह केवल निरीक्षण करता और सिखाता भी था। सिखाने के दौरान उससे कैंची लेकर काटकर बताता तो जिसके बाल वह काट रहा होता वह खुश होकर जैसे दुकान की ऊंची कुर्सी में सातवें आसमान तक ऊंचा हो जाता कि राजा के बाल काटने वाला उसके बाल काट रहा है। गुजराती नाऊ एकदम सफेद

कमीज और सफेद पतलून ही पहनता। उसके बाल काले रंगे रहते। सुबह सात बजे दुकान खोलता तब बहुत गोरा लगता। दाढ़ी बना, नहा धोकर, अफगान स्नो लगाये दुकान खोलता हो। हमारे घर के पीछे उसका घर था। किसी दिन एक झलक उसके बाल लाल दिखते। क्या वही है ऐसा निश्चय हो नहीं पाता था कि वह अंदर के एक छोटे कमरे में चला जाता। परदे की आड़ में हो जाता। उसकी दुकान के बाजू से घर के बाड़ा में घुसने का दरवाजा था। उससे दिन में हम लोग कई बार आते जाते। किसी एक बार के आने जाने में वही बाल काले दिखाई दे जाते। उस दुकान से बाल कटवाकर जो निकलता उसका भी रंग ढंग बदला हुआ होता। सड़क पारकर उसकी दुकान की तरफ दौडते हुए बढ़ी दाढ़ी बाल लिए गिरगिट जैसे लोगों को इतवार के दिन देखते। दुकान में कुर्सी दौड़ जैसी ग्राहकों की भीड़ होती थी।

इस दुकान में लंबे समय तक हबीब तनवीर के साथ काम करने वाला एक नाचा का कलाकार बाल काटने का काम करता था। बीच बीच में वह कुछ दिनों के लिए नहीं दिखता था। शायद उन दिनों दूसरे गांवों में नाचा करने जाता हो। और यह जानकारी मुझे बहुत बाद में मिली जब नौकरी में ग्वालियर से रायपुर आए कुछ बरस बीत चुके थे और मैं रंगमंदिर में नाटक देखने गया था। उसने बताया तब तो याद किया था कि याद आया। उसने मेरे भी बाल काटे, उसने यह भी कहा था। तब जैसे यह भी लगा था कि क्या बाल कटवाकर मैंने गलती की थी। तब यह भी याद नहीं था। मैं रायपुर सन् 1966 में आ चुका था।

चरणदास चोर के चरणदास की पान दुकान थी, गुड़ाखू लाइन में। लालूराम नाम था। गुड़ाखू लाइन में कई बाजार का एक बाजार रहता। लाइन से एक जैसी जरूरत के छोटे छोटे अलग अलग बाजार। एक हलवाई लाइन भी है। मोती हलवाई की दुकान की जलेबी के लिए सुबह बहुत भीड़ होती। एक पैसे से जलेबी खरीदने की याद है। घर में पाई भी तब इधर उधर रखी मिलती थी। पाई से जलेबी खरीदने की याद नहीं। बड़े होने पर एक एकन्नी भी कभी जेब में खर्च के लिए बापजी से मिल जाती थी। यह तब होता जब जुएं में वे जीत जाते होंगे। पर ऐसा कम होता था। अम्मा के अकेले में रोने के कई कारण थे। कारण अम्मा ने कभी बताये नहीं। पूछने की हिम्मत नहीं होती थी। उनके अकेले रोने को मैं बचाये रखता कि मुझसे किसी और को पता न चले। अम्मा के रोने का मेरा अनुमान भी सच होता, यह मैं जानता था। यद्यपि इसकी सच्चाई केवल अम्मा बता सकतीं। एक तो अम्मा सिर पर पल्लू डाले, सिर झुकाये और आंख भी झुकाये दिन भर काम करती रहतीं। अम्मा की आवाज भी घर के लोग कम सुन पाते थे। धीरे बोलती थीं और कम बोलती थीं। अम्मा ने कभी हम लोगों को दुलारा, लड़ियाया नहीं। सिर पर हाथ भी फिराया होगा तो हम सो रहे होंगे। और हमें पता नहीं चला।

राजनांदगांव में जो हमारा घर था वह सिनेमा लाइन कहलाता। घर से कुछ दूर जो पहली टाकीज थी वह राम टाकीज थी। बाद में कृष्णा टाकीज। कृष्णा टाकीज अभी भी है। पर राम टाकीज नहीं और मेरा घर भी तो नहीं। अम्मा कहती थीं की जब मेरा जन्म हुआ था तब कृष्णा टाकीज का उद्घाटन हुआ था, को याद करता।

कृष्णा टाकीज से राम टाकीज की तरफ कुछ घर बाद दाहिने हाथ की तरफ गोल बाजार जाने का रास्ता जाता है। वहां एक लोहे का खंबा लगा था खंबे के ऊपर कांच का बड़ा सा लैंप लगा था। यह लैंप मिट्टी तेल से जलने वाला लैंप था। शाम होते ही एक आदमी आता और उसे जला जाता। गोल बाजार का वह मोड़ बहुत अंधेरे वाला था। कृष्णा टाकीज में तो बिजली आ गई थी। पर सड़क में अंधेरा रहता। कार्बाइड का लैंप या मिट्टी तेल का लगाये बेचने वाले ठेले घूमते रहते।

घरों के अंदर बिजली बहुत बाद में आई। हमारे घर बिजली आ गई थी। पर थोड़ी देर के लिए

एक दो बल्ब जलते। मिट्टी तेल का उजाला बिजली से सस्ता था। घर का काम तो बरसों पुरानी दो तीन कंदीलों से चल रहा था। हम लोग कंदील के उजाले में पढ़ते थे। ज्यादा देर नहीं पढ़ पाते थे। मिट्टी तेल भी महंगा था। पर देर रात में एक कंदील रात भर जलती। जो नई परछी के एक खंबे के पास रखी रहती। उस जगह खंबे की दीवार काली पड़ गई थी। कंदील के कांच को लकड़ी की राख से साफ करना मुझको अच्छा लगता। लकड़ी की राख से हम लोग दांत भी साफ करते। चूल्हे की राख का बहुत उपयोग था। राख को मांगने भी कभी एक दो पड़ोसी आ जाते।

गोल बाजार मुड़ते ही जो पहला घर पड़ता उस घर में जुएं की फड़ जमती थी। उस घर में घर की औरतों का भी कामकाज, और बुलउआ में आना जाना रहता। इधर उधर से दूर की रिश्तेदारी भी थी। घर की बरबादी की शुरुआत, पहले बापजी के जुआं खेलने, फिर शराब पीने की, उसी घर के कारण थी, यह मैं मानता। दिवाली के दिन जुआं खेलना उन दिनों आम था। मैं भी खेलता। तीन पत्ती मैं खेल नहीं पाता था। मुझसे बनता नहीं था। अच्छे पत्ते होने के बाद भी खेल नहीं पाता था कि आना दोआना जो बचे हैं चले जाएंगे। बाद में भी घर के इस खेल में मैं हमेशा हारा। बापजी जब जीतते तो गोलबाजार से सब्जी खरीदते, साथ में तब तीन चार जरूर होते। बापजी उनको भी सब्जी खरीदवाते। बाप जी को सब महराज जी कहते। कुछ बड़ा हुआ शायद सात आठ साल का घर कुछ दूर निकल आता तो कोई जरूर कहता अकेले अकेले कहां महराज। अब घर लौट जाओ।

एक दिन नाऊ की दुकान से किसी ने मुझे देख कर कहा–पालागी महराज। जवाब में मैंने भी कहा–पालागी। सुन कर सब हंसने लगे।

घर से बाहर निकलते ही झोला यादकर ले जाना जैसे काम से निकले हैं होता। तब जैसे यह गृहस्थों की आदत थी।

वह समय पोस्टकार्ड का समय था। 'विनोदकुमार शुक्ल केयर ऑफ किशोरीलाल शुक्ल सिनेमा लाइंस राजनांदगांव' यह मेरा स्थायी पता था। सिनेमालाइंस तथा चाचाजी किशोरीलाल के नाम के कारण पोस्टकार्ड कभी खोये नहीं। पर बाद में घर से दूर भरकापारा के पास कमल टाकीज के बन जाने के बाद इक्का दुक्का पोस्टकार्ड खोने लगे। और मुझे यह भी लगता कि लिखने वाले पता लिखने में चाचाजी का नाम लिखना भूल जाते होंगे। इसके बाद तो चाचाजी ने अलग बलदेवबाग में घर बना लिया और रहने चले गए। जब तक वे रहे हम उनकी सुरक्षा के पिंजड़े में रहे। इसके बाद लगा कि किसी ने घर से हमें संसार के जंगल में छोड़ दिया।

जीवन की अनवरत गाथा

अजय तिवारी

हिंदी साहित्य के महान सर्जक भीष्म साहनी के शताब्दी वर्ष पर उनके अवदान को रेखांकित करता अजय तिवारी का यह मूल्यांकन प्रस्तुत है।

''**जीवन** की गति में कोई अंतर नहीं आया था, केवल किरदार बदलते रहे थे। मंच की रूप सज्जा बदलती रही थी, दृश्यावली बदलती रही थी।'' (मय्यादास की माड़ी, राजकमल, 1988, पृ. 248) यह कथन किसी एक उपन्यास या कहानी पर नहीं, संपूर्ण साहित्य पर, विशेषतः भीष्म साहनी के कथा साहित्य पर, लागू होता है। इसका कारण जीवन और साहित्य के बारे में लेखक का दृष्टिकोण है। यह जीवनचक्र की नहीं बल्कि निरंतरता की धारणा है। किरदार बदलने से अतीत की पुनरावृत्ति नहीं होती। निरंतरता एक बदलाव के साथ घटित होती है। इसी को विकास कहते हैं। न पुनरावृत्ति, न विच्छिन्नता।

इस धारणा का कथात्मक ढांचा 'संभल के बाबू' कहानी में देखा जा सकता है। (निशाचर, राजकमल, 1983, पृ. 70-88) वाचक डगलस फेयरबेंक्स की फिल्में देखता है और वैसी ही कल्पनाओं में रहता है। एक रात वह फिल्म देखकर लौटा तो नौकर नत्थू गहरी नींद में सोया था। दरवाजा खोलने में देर हुई। उसने नत्थू के मुंह पर जोरदार घूंसा मारा, वह लड़खड़ा गया पर कुछ न बोला। (पृ.75) उसका बेटा अगली पीढ़ी का है। वह 'अमिताभ बच्चन की भूमिका में हाथ चलाता है', जासूसी नॉवेल पढ़ता है, माफिया के किस्से सुनता है, बैंकों के सेफ तोड़ने की कल्पना करता है और गाड़ियां उड़ाने में दक्ष है। उसके साथ भी वैसी ही घटना घटी। नौकर का नाम नत्थू ही है। लेकिन वह घूंसा नहीं खाता। बगल हट जाता है। बेटा खुद झटका खा जाता है। दोबारा हाथ उठा तो नत्थू ने कलाई पकड़ ली जो लाख झटकने पर भी नहीं छूटी। आखिर सबने उसे घर

से निकाल दिया। उसने अपना हिसाब करने को कहा। लोगों ने पुलिस की धमकी दी। वह घर से चला गया लेकिन अगली सुबह नौकर यूनियन के सेक्रेटरी का फोन आया—"उसके जितने पैसे बनते हैं, फौरन अदा कर दें। वरना हम अभी आपके घर के सामने धरना देंगे।" (पृ. 88)

किरदार बदल गए, घटना की आवृत्ति हुई, लेकिन इतने बड़े परिवर्तन के साथ कि उसे पुनरावृत्ति नहीं कह सकते। मालिक और नौकर का संबंध कायम है। लेकिन मालिकों के साथ साथ नौकरों में भी विकास हुआ है। समता न सही, जनतंत्र की यह देन है कि सेवक भी अधिकार सजग हुआ है। दो पीढ़ियों की तुलना से यह परिवर्तन भी स्पष्ट होता है और निरंतरता भी। इसलिए अतीत जब वर्तमान को देखने का संदर्भ बनता है, तब हम निरंतरता और परिवर्तन की विकासमान द्वंद्वात्मकता को पहचानते हैं। यही जीवन की गति है। ऐतिहासिक विवेक भी। इस विवेक के बिना कथानक का निर्माण नहीं हो सकता। कथानक निर्माण समकालीन इतिहास से रचनाकार के गुत्थमगुत्था होने पर ही संभव होता है। तब रचनाकार जीवन की व्याप्ति को, उसके प्रवाह को आत्मसात करने का प्रयत्न करता है।

नित्यानंद तिवारी ने भीष्मजी के प्रसंग में कहा था कि जीवन लेखक से बड़ा हो जाता है, लेखक जीवन के सामने छोटा। प्रायः अध्यात्मवादी रचनाकार विराट सत्ता के आगे ऐसी विनम्रता का परिचय देते है। किंतु भीष्मजी का जीवन दर्शन हो या साहित्य दर्शन, वह यथार्थवादी है। उनका साहित्य जीवन की विराटता का साक्षात्कार करने के लिए नाटकीय विनम्रता या अतिनाटकीय दंभ का परिचय नहीं देता, न ही शिल्प चमत्कार का सहारा लेता है। प्रायः प्रेमचंदीय सादगी के साथ वे जीवन के विभिन्न अनुभवों को अपने कथानक का आधार बनाते हैं और लगभग उसी सहजता से घटना, चरित्र, प्रसंग और समस्या का विनियोग करते हैं। उल्लेख करने की बात यह है कि जीवन की विराटता या व्याप्ति किसी एक साहित्य रूप में नहीं आती। भीष्मजी विभिन्न क्षेत्रों में सृजनकर्म करते हैं। वे कहानी लिखते हैं, उपन्यास लिखते हैं, नाटक लिखते हैं, अनुवाद करते हैं और रंगकर्म भी करते हैं।

सृजनात्मक लेखकों की एक विशेषता यह होती है कि वे अपने आदर्श लेखक के जिन गुणों की सराहना करते हैं, उन्हें स्वयं भी अपनाना चाहते हैं। राजकुमार सैनी से बातचीत में प्रेमचंद के दो गुणों की भीष्मजी प्रशंसा करते है—'पात्रों की जीवंतता' और 'दृष्टि की विशालता'। वे प्रेमचंद की भाषा के भी कायल हैं क्योंकि 'पहले ही वाक्य से उनकी रचना मुझे बांध लेती है।' (रविवारीय नई दुनिया, 16 सितंबर 1990) भीष्मजी के कथा साहित्य में ये गुण भी भरपूर हैं! उन्होंने जिस विनम्रता से प्रेमचंद का स्मरण किया है, वह उनके अनेक अग्रजों और सहवर्तियों को देखते हुए एक अलग प्रकार के व्यक्तित्व की झलक देता है। यदि यशपाल और निर्मल वर्मा को याद कर लिया जाय तो भीष्मजी के दृष्टिकोण का महत्व उजागर हो जाएगा।

भारतीयता और दांपत्य

प्रेमचंद की तरह भीष्म साहनी भी पूर्वनिश्चित धारणा से नहीं, भारतीय समाज के यथार्थ से अपना कथानक बनाते हैं। प्रेमचंद से भीष्मजी को जोड़नेवाली कड़ी है दांपत्य जीवन की परख। कहने की जरूरत नहीं कि परिवार मानव समाज की संबंध व्यवस्था का विशेष रूप है और भारतीयता की पहचान का प्रमुख आधार भी। इस दृष्टि से भीष्मजी अनेक मार्क्सवादी लेखकों से भी विशिष्ट हैं और अनेक नए कहानीकारों से भी। वे प्रेमचंद की पुनरावृत्ति भी नहीं करते। साथ ही, उनमें प्रेमचंद की तरह संयुक्त परिवार का मोह भी नहीं था। बल्कि वे उसे व्यक्तित्व के विकास में बाधक समझते थे। यह बात 'कुंतो' उपन्यास से लेकर 'घर की इज्जत' कहानी तक अनेक रूपों में देखी जा सकती है।

'कुंतो' के प्रोफेसर साहब पूरी ईमानदारी से कोशिश करते हैं कि तीनों भाइयों का परिवार संयुक्त बना रहे। लेकिन व्यक्तिगत आय और उससे जुड़ी हैसियत के युग में यह संभव नहीं है : ''परिवार में भाभी के प्रति बेरुखी होने लगी थी। ...बाबूजी थे तो उन्हीं की कमाई पर घर चलता था। पर बाबूजी के चले जाने के बाद, घर का साझा खर्च चलाने के लिए घर के सभी भाइयों के सहयोग की जरूरत थी। प्रोफेसर साहब ने इसकी व्यवस्था बड़े सलीके से कर दी थी। ...पर बहुएं भी जानती थीं कि बड़ी बहू पराश्रिता हैं, देवरों की कमाई पर और उनकी दया भावना पर जी रही हैं।'' (कुंतो, राजकमल, 1993, पृ. 139) आर्थिक पक्ष के साथ जीवन में आनेवाले परिवर्तन भी हैं। धनराज, प्रोफेसर साहब का छोटा भाई, सिंगापुर से पढ़कर लौटा है। नई रोशनी से परिचित होने के बाद उसे संयुक्त परिवार की यह दुनिया 'दिल की गरमाइश' तो देती है लेकिन उसमें 'बहुत कुछ ऐसा भी था जो बोसीदा था, जिसमें पुरानेपन की बास आ रही थी, जैसी स्थिर जल के ताल से आती है।' (पृ. 115)

'कुंतो' का परिवेश स्वाधीनता से पहले का है। इन आठ दशकों में और परिवर्तन आया है। धनराज को अपनी पत्नी थुलथुल में कोई दिलचस्पी नहीं है। उसे अपनी डॉक्टर सहपाठी मित्र याद आती है। भाइयों के दबाव में कुछ समय वह थुलथुल की ओर झुकता है लेकिन जल्द ही विरक्त हो जाता है। भाभी की तरह थुलथुल का गुजारा भी संयुक्त परिवार में हो सकता था। लेकिन चाहे जितना भी झुकना पड़े, वह पत्नी का स्थान चाहती थी। आखिर एक दिन आग के हवाले हो गई। उसकी आत्महत्या पर प्रोफेसर साहब कहते हैं—''...क्या फर्क पड़ता है। वह पहले ही तिल तिल कर जल रही थी।'' (पृ. 264)

संयुक्त परिवार सुरक्षा भी देता है, घुटन भी। उसमें व्यक्तिगत चुनाव और निर्णय की गुंजाइश बहुत नहीं होती। जीवित रहती तो थुलथुल मान अपमान के साथ गुजारा कर लेती। मर गई तो उसकी आत्महत्या आदर्श के ढांचे में दब गई। भीष्मजी परिवार और दांपत्य के चित्रण में भावुकता से काम नहीं लेते। वे उसे किसी भी तरह आदर्शीकृत नहीं करते। उसके संकट, यातना, विडंबना का बड़ी निर्ममता से विश्लेषण करते हैं। इसलिए उनके कथा साहित्य में हम अनेक प्रकार के दांपत्य संबंधों का साक्षात्कार करते हैं, अनेक प्रकार की समस्याओं में दांपत्य संबंधों के तनाव और दरार भी देखते हैं। 'कुंतो' में ही इसके अनेक प्रमाण मिल जाते हैं।

भीष्मजी संयुक्त परिवार के टूटने का समर्थन करते हैं, वे दमनकारी संबंधों का विरोध भी करते हैं। लेकिन दांपत्य को जीवन की आवश्यक संस्था मानते हैं। इसीलिए परिवार और दांपत्य में यदि दमन का संबंध देखते हैं तो विद्रोह और विकास भी संबंधों के भीतर ही देखते हैं। परिवर्तन दांपत्य के स्वरूप में चाहिए, दांपत्य के अस्तित्व में नहीं। उनके समय तक भूमंडलीकरण का यह रूप सामने नहीं आया था जिसने विवाह संस्था और दांपत्य को ही उन्मूलित करना शुरू कर दिया है। इस परिस्थिति में उनके दृष्टिकोण का महत्व और अधिक बढ़ जाता है। उनकी रचनाओं में बहुत सी समस्याओं के मुकाबले दांपत्य की दोहरी भूमिका उभरती है। वह समस्या का दबाव भी झेलता है और समस्या का जवाब भी बनता है। 'नीलू, नीलिमा, नीलोफर' (राजकमल, 2000) में दोनों पहलू सामने आते हैं।

नीलिमा और नीलोफर, दोनों का संक्षिप्त नाम है नीलू। नीलिमा हिंदू है, नीलोफर मुसलमान। संभव है, यह उनका श्रेष्ठ उपन्यास न माना जाय। इसका कथानक उद्देश्यपूर्वक गढ़ा गया है। लेकिन जीवन के अर्थपूर्ण संकेत उपन्यास को पठनीय बनाते हैं। नीलोफर और नीलिमा बालसखी हैं। नीलोफर को हिंदू लड़के सुधीर से प्रेम हो जाता है और नीलिमा को मुस्लिम लड़के अलताफ से। दोनों के अभिभावक विरोध करते हैं। फिर भी, नीलोफर कानूनी ब्याह कर लेती है, नीलिमा दबाव के आगे झुक जाती है। नीलोफर अभिभावकों के विरोध के बावजूद सुधीर से अदालत में विवाह कर

लेती है। नीलिमा दबाव के आगे झुक जाती है, अलताफ की जगह सुबोध से विवाह करती है। सुधीर और सुबोध–दोनों नाम समानार्थक हैं। जैसे नीलिमा और नीलोफर।

प्रेमजनित विवाह केवल जाति धर्म के बंधन नहीं तोड़ते बल्कि पितृसत्ता के ढांचे भी तोड़ते हैं। जाति धर्म के दायरे में रहकर किए गए विवाह पुरुष वर्चस्व की भावना से प्रायः मुक्त नहीं रह पाते। इसीलिए अपने मुस्लिम कट्टरपंथी भाई हमीद की बंदिशों को तोड़कर नीलोफर सुधीर से जा मिलती है, उनका दांपत्य हंसी खुशी बीतता है। लेकिन अलताफ को लेकर सुबोध नीलिमा पर ताने कसता है और अपने मित्र देवेंद्र के लिए भी शक करता है। सुधीर नीलोफर को खोना नहीं चाहता, सुबोध नीलिमा को साथ रख नहीं पाता। पति के स्वार्थ और शक की ताड़ना सहते हुए नीलिमा अपने को आग लगा लेती है। दोनों में अंतर यह है कि नीलोफर अपने पति से परिहास करती है ''मुझे क्या मालूम था कि एक दिन तुम जैसे काले कलूटे अनजान आदमी से मिलूंगी और उस पर अपनी जिंदगी वार दूंगी।'' (165) और नीलिमा अपने पत्र में नीलोफर को बताती है–''बहुत कुछ सिखाया मेरे घरवाले ने। अच्छी तरह से, मेरी धुनाई करते हुए। रहा सहा मैंने खुद सीख लिया सिर पटक पटक कर।'' (182)

इस तरह, प्रेम, विवाह, सांप्रदायिकता, पितृसत्ता, सामाजिक कट्टरता आदि विभिन्न प्रश्नों को दांपत्य के केंद्र में रखकर भीष्मजी मानवीयता के सबंध सूत्रों को उभारते हैं। पितृसत्ता की यातना का शिकार स्त्रियां अधिक होती हैं। भीष्मजी स्त्रियों के संघर्ष को अधिक ध्यान से देखते हैं। इसलिए स्त्रियों में वे नई संवेदनशीलता और तेजस्विता भी देखते हैं। उनकी नायिकाएं, जो जीवन में संघर्ष करती हैं, वे हिम्मत नहीं हारतीं। नीलिमा (नीलू, नीलिमा, नीलोफर), छोटी बहू (घर की इज्जत), रुक्मणी (मय्यादास की माड़ी), बसंती (बसंती) आदि अनेक स्त्री चरित्र सहसा याद आने लगते हैं। भीष्मजी के सबसे प्रसिद्ध उपन्यास 'तमस' में भी तीनों प्रमुख स्त्रियां–करमो (सूअर मारनेवाले नत्थू की पत्नी), राजो (हरनाम सिंह दंपति को शरण देनेवाली मुस्लिम महिला) और लिजा (डिप्टी कमिश्नर रिचर्ड की पत्नी)–अत्यंत संवेदनशील हैं, मानवीयता और भविष्य की दृष्टि से अनिवार्य भी। (तमस, 1973, राजकमल पेपरबैक्स, चतुर्थ संस्करण 1988)

उनका यह दृष्टिकोण जितना स्वाधीनता के दिनों में प्रासंगिक था, उतना ही सन 2000 में था और उससे भी बढ़कर आज है। ध्यान देने की बात है कि भीष्मजी की सोद्देश्यता यशपाल या राजेंद्र यादव से भिन्न कोटि की है। यहां किसी 'दादा कॉमरेड' से मानसिक प्रतिशोध नहीं लेना है या किसी परिजन को 'बिरादरी बाहर' नहीं ठेलना है। यों, इस बात पर ध्यान देने से यह समझ में आता है कि सोद्देश्य लेखन हमेशा किसी आदर्श के नाम पर आत्मगत दायरे में बंधा रहता है। भीष्मजी का लेखन इस प्रवृत्ति का शिकार नहीं है। चूंकि साहित्य मनुष्य की सचेत रचना है इसलिए वह निरुद्देश्य नहीं होता। उतना उद्देश्य भीष्मजी के लेखन का भी है। यह उद्देश्य है मानवीय प्रगति को बढ़ावा देना, न्यायपूर्ण संबंधों के अनुरूप समाज को पुनर्गठित करना।

प्रगति की दृष्टि

भीष्मजी न केवल प्रगतिशील विचारों के थे बल्कि कम्युनिस्ट पार्टी से भी उनका संबंध था। हालांकि यह संबंध ढीलाढाला ही था–''जिन दिनों मैं किसी क्षेत्र में सक्रिय होता, तो मैं पार्टी का सदस्य करार दिया जाता था। पर सक्रियता समाप्त हो जाने पर सदस्यता भी नाममात्र ही रह जाती।'' (आज के अतीत, राजकमल, 2003, पृ. 157) सदस्यता नाममात्र रह जाती, इसका अर्थ यह नहीं कि निष्ठा नहीं रह जाती थी। विनम्रता के साथ दृढ़ता भीष्मजी के व्यक्तित्व की खास निशानी थी। यह गुण बचपन से था। निष्ठा या विचार के लिए लड़ना मरना उनके स्वभाव का अंग था। उनका परिवार आर्यसमाजी

था। भीष्मजी का एक सहपाठी तिलकराज सनातनी था। दोनों में काफी उग्र बहसें होती थीं। आर्यसमाजी पंडित लोकनाथ शास्त्री और सनातनी स्वामी प्रकाशनंद के शास्त्रार्थ के मौके पर पूरे शहर में ऐसा माहौल था मानों छुरियां चल जाएंगी। तिलकराज और भीष्मजी में भी 'सड़क के बीचोंबीच गुत्थमगुत्था' हो गई। (पृ. 40)

जाहिर है कि वे अजातशत्रु नहीं थे। न वैसा रहना चाहते थे। उनकी निष्ठा विचारधारा के साथ ही संगठन से भी थी। जिन दिनों जनवादी लेखक संघ (जलेस) का गठन हुआ, उन दिनों भीष्मजी ही प्रगतिशील लेखक संघ (प्रलेस) के महासचिव थे। उन्होंने लेखकों से अपील करते हुए एक पर्चा निकाला कि वामपंथी लेखकों में फूट डालने वाली इस कार्रवाई से अलग रहें। लेकिन जलेस के बन जाने के बाद उन्होंने असहयोग का रुख नहीं अपनाया। इसका कारण था। भीष्मजी के लिए प्रतिबद्धता का एक उद्देश्य था। लेखकों की एकता हो या समाज की, उसके बिना मानवीय प्रगति नहीं होती। इसलिए वे विभाजन और विखंडन की हर प्रवृत्ति का विरोध करते थे। देश का विभाजन हो या समाज का, भीष्मजी उसका तीव्र प्रतिवाद करते हैं।

यह बात जोर देकर कहने की है कि जिस तरह 1857 का महासंग्राम विश्व इतिहास में अद्वितीय है, उसी तरह भारत का बंटवारा भी विश्व इतिहास में अतुलनीय है। औपनिवेशिक सत्ता की कूटनीति और अतीतमुखी देशी शक्तियों की मिली जुली भूमिका से केवल एक देश टूटकर दो में नहीं बना, असंख्य मनुष्यों को असहनीय पीड़ा झेलनी पड़ी, न मालूम कितने दिनों के लिए मानसिक खाई पैदा हो गई। यह सही है कि 1973 में भिवंडी के दंगों ने 1947 की यादें ताजा कर दीं। 'तमस' के लिखे जाने की यही पृष्ठभूमि थी। (आज के अतीत, पृ. 225-232) 'तमस' में उन्होंने भय, आतंक और त्रास का पूरा वायुमंडल उपस्थित किया, वह उनका देखा जाना था। इनके विस्तार में जाने की जरूरत नहीं है, केवल इतना उल्लेखनीय है कि भीष्मजी ने विभाजन से संबंधित कुछ अनोखे पक्ष सामने रखे हैं।

वहशत के माहौल में दब्बू और कायर आदमी भी अचानक कितना क्रूर हो उठता है, इसे 'अमृतसर आ गया है' कहानी के उस दुबले आदमी की उत्तेजना में देखा जा सकता है जो हरबंसपुरा निकलने के बाद ट्रेन में भीतर अचानक पठानों को ललकारने लगता है और सीढ़ियों पर लटके मुसलमान के सिर पर लोहे की छड़ से जानलेवा प्रहार करता है। (पटरियां, पृ. 33) अथवा, 'तमस' के उस भोले बालक में देखा जा सकता है जो मुसलमान इत्रफरोश की हत्या कर देता है। (पृ. 154)

इसी तरह, अपना घर छोड़कर जाते हुए हरनाम, बंतो बड़े बक्से में ताला लगाकर आए थे क्योंकि उन्हें आशा थी कि लौटकर आएंगे। मगर यह कल्पना थी। 'कुंतो' में सहदेव के पिता बेअंतसिंह को समझाते हैं''हाकिम बदलते हैं, अमलदारियां बदलती हैं, रिआया तो वही रहती है।'' (कुंतो, पृ. 323-324) मजेदार बात यह है कि 'आज के अतीत' में लेखक के पिता यही कहते हैं—''अमलदारियां तो बदलती रहती हैं। आज एक अमलदारी है तो कल दूसरी होगी। पर क्या अमलदारी बदल जाने पर रिआया अपना घर बार छोड़कर चली जाती है? कभी यों भी हुआ है?'' (आज के अतीत, पृ. 132) लेकिन भारत के विभाजन में यह हुआ! रिआया की अदला बदली हुई! लाखों लोगों को अपना घर बार छोड़कर जाना पड़ा। भीष्मजी इस बात से बेहद उद्वेलित हैं। इस अदला बदली में लोगों को कितनी यातना साहनी पड़ी, कितने रूपों में यातना साहनी पड़ी, इसका जायजा लेना आसान नहीं है। भीष्मजी इस यातना के खुद भी साक्षी रहे हैं। उन्होंने इस यातना के कुछ पक्षों को सामने रखा है।

'तमस' उपन्यास, 'काबिरा खड़ा बजार में' नाटक और कुछ कहानियों की लोकप्रियता के कारण भीष्मजी विभाजन और सांप्रदायिकता के कथाकार समझे जाते हैं। किंतु यह भ्रामक धारणा है। कोई रचनाकार जीवन की सकारात्मक अंतर्वस्तु के कारण महत्वपूर्ण होता है। वह जिन चीजों का विरोध

करता है, उनके विषय में भी उसके पास एक वैकल्पिक अवधारणा होती है। इसी अवधारणा के आधार पर वह विद्यमान स्थितियों की समीक्षा करता है। कल्पनालोक (यूटोपिया) का चाहे जितना 'अंत' हो गया हो, इस स्वप्न कार्य के बिना साहित्य का काम नहीं चलता। स्वप्नरहित कला वर्तमान को ही आदर्श बनानेवाले उपभोक्तावाद—बाजारवाद—के सर्वथा अनुकूल होती है। भीष्मजी प्रतिरोध और विकल्प के रचनाकार हैं। वे एक समग्र दृष्टिकोण से अपने कथासंसार में जीवन के पहलुओं को प्रस्तुत करते हैं। इसलिए प्रकटतः अलग दिखनेवाले जीवन प्रसंग भी अंतस्संबंध में गुंथे रहते हैं। मसलन, सांप्रदायिकता का संबंध भी अनेक बातों से है। कुछ प्रत्यक्ष, कुछ परोक्ष। भीष्मजी उन सबके विषय में लिखते हैं।

सबसे पहले पुरातनता के संस्कार। ऐसे संस्कारों का जीता जागता प्रतिनिधि है वाङ्चू—''क्षण भर के लिए मुझे लगा, जैसे वाङ्चू इतिहास के पन्नों पर से उतरकर आ गया है। ...उसकी मनःस्थिति को देखते हुए वह सचमुच ही वर्तमान से कटकर अतीत के ही किसी कालखंड में विचर रहा था।'' (वाङ्चू, 1978, राजकमल 1982, पृ. 92) वह चीन का नागरिक था और बौद्ध धर्म की शिक्षा के लिए भारत में रहता था। जिस देश काल से वाङ्चू का नाता था, वह भारत और चीन दोनों देशों के लिए उथल पुथल का समय था। लेकिन वाङ्चू को वर्तमान की किसी बात से कोई सरोकार नहीं था। ऐसे 'खंडहर' धर्म से अलग, अभिरुचि ओर सौंदर्यबोध के क्षेत्र में भी होते है। (उपर्युक्त, पृ. 82-91)

राजनीति और समाज में राणाप्रताप शिवाजी की भावभूमि में रहनेवाले पुनरुत्थानवादी भी सांस्कृतिक खंडहर के ही बाशिंदे, वाङ्चू के बंधु हैं। तुर्क सेनाओं पर हमला करने के लिए वे उसी तरह अतीत की वैचारिक खोह से निकलकर आ जाते हैं—''रणबीर कद का छोटा था इसलिए वह मन ही मन शिवाजी की भूमिका में अपने को देखा करता था। ...पीछे पीछे हाथ बांधे, तनिक झुककर, गहरी चिंता में खोया हुआ वह 'शस्त्रागार' में ऊपर नीचे टहलता, वैसे ही जैसे औरंगजेब के साथ लोहा लेने से पहले शिवाजी टहलते रहे होंगे।'' (तमस, पृ. 146-147) इस प्रवृत्ति का एकाधिकार हिंदुओं का नहीं है, पुनरुत्थानवादी मानसिकता मुसलमानों में भी है। सुधीर से नीलोफर की शादी के बाद उसका भाई हमीद अपने पिता को फटकारता है—"आपने तो अपना जमीर बेच खाया है। रोज उस काफिर फकिरचंद की अरदल में जो बैठते हो! आपसे तो बात तक करना हिमाकत है। ...वालिद हो इसलिए चुप हूं, वरना कोई और होता जो इस तरह कौम के नाम पर कालिख पोत रहा होता तो उसे सीधा सबक सिखाता।'' (नीलू, नीलिमा, नीलोफर, पृ. 119)

'तमस' के भोले बालक, 'अमृतसर आ गया है' के दुबले आदमी और 'नीलू, नीलिमा, नीलोफर' के हमीद से भिन्न प्रकार के चरित्र भी हैं। ऐसे मनुष्य समाज में हैं, कथासाहित्य में भी आए हैं। 'निमित्त' के ड्राइवर शेरसिंह दंगों की भयानक आग के बीच से इमामदीन को बचाकर निकाल देते हैं। (शोभायात्रा, पृ. 9-20) सिखों की उग्र भीड़ में से मास्टर करमदीन को 'सरदारनी' अकेले बचाकर मुसलमानों के मुहल्ले तक पहुंचाती है। (निशाचर, 156-165) 'तमस' का फतहदीन हिंदू युवक दल को हथियार और धन प्रदान करनेवाले लाला लक्ष्मीनारायण को सुरक्षित उनके घर पहुंचाता है। (तमस, 119) अविवेक की चरम अवस्था में भी समाज इन्हीं लोगों के कारण जीवित रहता है। भीष्मजी न अविवेक को कम करके देखते हैं, न मानवता की रक्षा के प्रयत्नों को।

अफसोस की बात यह है कि आजकल सत्ता और संस्कृति में वाङ्चू, रणबीर, हमीद का वर्चस्व है। लेकिन इससे उनकी मानवीय और ऐतिहासिक उपहासास्पदता कम नहीं हो जाती। इस तरह के उपहासास्पद लोग अनेक क्षेत्रों में मिलते हैं। 'अहं ब्रह्मास्मि' का भाटिया ऐसा ही उपहासास्पद है। (वाङ्चू, पृ. 117-128) वाङ्चू, रणबीर और हमीद धार्मिक उत्तेजना से परिचालित हैं, भाटिया

अंग्रेजभक्ति से। उसकी हास्यास्पदता औपनिवेशिक सत्ता संस्कृति से है। वह कैंटोनमेंट में अंग्रेजी किताबों की दुकान चलाता है। वाचक अपने मित्र जितेंद्र के साथ भाटिया के घर गया है। नाश्ते पर भाटिया बताता है कि हक्सले ने 'अहं ब्रह्मास्मि' का अनुवाद किया है–'आई एम द डिवाइन फ्लेम'! इस अंग्रेजी मंत्र को दोहराने में उसे बड़ी शक्ति का अनुभव होता है। (120-121) हर आवृत्ति में 'आई' पर जोर बढ़ाता जाता है और 'फ्लेम' में ऊर्जा पाता है!

स्वाधीनता आंदोलन जोर पकड़ रहा है। कैंट में कांग्रेस की सभा के प्रचार की मुनादी होती है। ढोल की आवाज सुनकर भाटिया मजाक बनाता है कि क्या अंग्रेजों के बीच प्रचार किया जायगा या उन पर निर्भर दूकानदारों को साथ लाया जायगा? (125) कैंट में मुनादी करने का साहस दिखाने के कारण ढोल वाले को पुलिस की मार खानी पड़ी। डंडे से उसका सिर फट गया। कुछ देर बाद उसकी मृत्यु हो गई। मुनादी पीटनेवाला यह युवक 'कुंतो' में भी है। चूरन बेचने वाला हीरालाल। वहां लेखक उस युवक की नजर से घटना को देखता है। वह कल्पना करता है कि आजादी के बाद अपनी खांसी का इलाज कराएगा और पढ़ेगा। लेकिन उसकी मृत्यु के बाद उसकी अंधी मां को अकेला छोड़कर गुंडे उसकी युवा पत्नी को जबरदस्ती उठा ले जाते हैं। (कुंतो, 265-267)

शाम को भाटिया ग्रेटा गार्बो की फिल्म देखने जाता है। पेशाबघर में अंग्रेज भरे हैं। भारतीयों के लिए जगह नहीं है। एक कमोड से दूसरे कमोड धक्का खाते हुए भाटिया को अंत में बाहर लॉन में होश आता है। अगले दिन जिस समय मुनादी पीटनेवाला पुलिस के कब्जे में जीवन त्याग रहा था, उसी समय भाटिया अपनी छत पर 'अहं ब्रह्मास्मि' की बांग देता हुआ 'अपमान, तिरस्कार, ग्लानि और क्षोभ के निम्नस्तर से ऊंचा उठ' रहा था! (128) इस तरह, अतीतजीवी हिंदू या मुसलमान ही नहीं, पश्चिमाभिमुखी आधुनिक भी हास्यास्पद हैं। परिस्थितियों के साथ जिसकी चेतना का संबंध छूट जाता है, वह निरर्थक, हास्यास्पद हो जाता है।

भीष्मजी केवल ऐसे ही चरित्र नहीं देखते। वे इनके विकल्प भी देखते हैं। समाज में उनका भी अस्तित्व है। वाङ्चू और भाटिया का विकल्प है 'भगोड़ा'। (पटरियां, पृ. 192-205) तापस एक मठ में बीहड़ स्थान पर साधना करता है। साधना का नियम है, 'शरीर के लिए जो सुखद है, साधना की दृष्टि से वही हानिकारक है।' (195) एक दिन साधना में गला हुआ अपना प्रतिबिंब देखकर वह सिहर उठा। अपने से भी बड़े साधक गजानन से वह पूछता है–''गजानन, क्या तुम्हारा मन कभी उद्वेलित नहीं होता?'' (196) बेशक, यहां वाङ्चू की तरह ऐतिहासिकता और आस्था का द्वंद्व नहीं है, मानवीय और ऐहिक प्रक्रियाओं के प्रतिकूल साधना और त्याग की व्यर्थता का विश्लेषण है।

आखिरकार तापस भाग निकलता है। उसके साथी ऊपर से देखते है। वापस बुलाते हैं। फिर पत्थर मारते हैं। तापस सोचता है–''जो विश्वास खो बैठे, उसे मार डालो, क्या यही उनका न्याय है?'' (199) वह समझता है कि योग और अध्यात्म दो अलग मार्ग हैं। रास्ते में एक स्त्री पुरुष को देखता है, जो अपने बीमार बच्चे को बचाने की पूरी कोशिश करते हैं लेकिन जब वह नहीं बचता तो उसे जलाने के बाद एक दूसरे की बाहों में सहारा लेते हैं। वह नगर की ओर चलते हुए मोक्ष के बारे में नहीं, मनुष्य के संबंधों और परस्पर अवलंब के बारे में सोचता है–''मनुष्य का सत्य मनुष्य के हृदय में ही मिलेगा, उसके बाहर नहीं मिल सकता।'' (205) धर्म, आस्था, साधना के लिए मनुष्य की बलि चढ़ाने वाले समय में यह बारंबार रेखांकित निष्कर्ष उतना ही प्रासंगिक है। भीष्मजी को यह विचार भक्ति की परंपरा से मिला है। उनके मार्क्सवादी दृष्टिकोण से वह पुष्ट हुआ है।

औपनिवेशिक सत्ता और भारत

भारत में सांप्रदायिकता पर शोध करनेवाले अनेक विद्वानों ने दिखाया है कि 1861 से पहले दंगों का

कोई प्रमाण नहीं मिलता। 1857 में लाख कोशिश करने भी अंग्रेज हिंदू मुसलमानों में फूट नहीं डाल पाए थे। जबकि पुराने संस्कार तब अधिक थे। 'अहं ब्रह्मास्मि' का भाटिया इस बात का उदाहरण है कि पुरातनपंथी आग्रहों का थोड़ा संबंध अंग्रेजभक्ति से भी है। 'कृषिप्रधान समाज' और 'अध्यात्मप्रधान चिंतन' की भारतीय छवि ब्रिटिश काल में निर्मित हुई। भीष्मजी के साहित्य में इसके कई पक्ष चित्रित हुए हैं। अनेक अस्मितावादी विचारकों को इस पर आपत्ति रही है कि 'तमस' में वे सांप्रदायिक उन्माद के लिए ब्रिटिश सरकार को जिम्मेदार मानते हैं। तनाव बढ़ने पर अंग्रेज सरकार की भूमिका कैसी थी, इसका चित्रण उन्होंने काफी विस्तार से किया है। हमारे अस्मितावादियों का तर्क इस्तेमाल करते हुए रिचर्ड कांग्रेसी बख्शीजी से कहता है–''आप लोग ब्रिटिश सरकार के खिलाफ तो भी दोष ब्रिटिश सरकार का, और आपस में लड़ें तो भी दोष ब्रिटिश सरकार का।'' (76) भारतीय प्रतिनिधि समझाते हैं कि 'छावनी भी ब्रिटिश सरकार की है और हुकूमत भी ब्रिटिश सरकार की है', लेकिन रिचर्ड पर कोई असर नहीं पड़ता। (77) वह फौज तैनात करने को राजी होता है, न कर्फ्यू लगाने को। उसकी पत्नी लीजा उसे अस्मितावादियों से अधिक समझती थी। उसने 'बहुत काम करने' के बहाने पर कहा–''इतने गांव तो जल गए रिचर्ड, अभी भी तुम्हें काम है?...कितने हिंदू मरे, कितने मुसलमान मरे, रिचर्ड? तुम्हें तो सब मालूम होगा? अनाज मंडी क्या होती है?'' (232)

यह स्थिति है भारत से विदा होते समय की। सत्ता संभालने के बाद कैसी नीतियां लागू की गईं, इसकी झलक 'मय्यादास की माड़ी' में है। अंग्रेजी फौजें अपनी श्रेष्ठता के कारण नहीं, वे जीतीं ललसिंह और तेजसिंह जैसे सालारों की मिलीभगत के कारण तथा दीवान धनपत जैसे गद्दारों की सहायता के कारण। (मय्यादास की माड़ी, पृ.107-110) जीत हासिल करने के बाद उन्होंने 'बंदोबस्त' किया। पंजाब के माध्यम से जमीन के बारे में ब्रिटिश नीति का एक पहलू सामने रखा गया है। उनकी यह नीति किसान विरोधी और साहूकार बढ़ावक है। इसलिए सत्ता पर काबिज होने के बाद धीरे धीरे रईस और जमींदार साहूकार अंग्रेजों की ओर होते गए। इसका दिलचस्प वर्णन भीष्मजी ने किया है। लेकिन यहां उनकी नीतियों के बारे में विचार करना चाहिए।

बंदोबस्त के विषय में मय्यादास बताते हैं कि अब तक तो मुखिया दो बार फसल के साथ लगान लेता था, वह भी जिंस में लेता था–''अब वह लगान की रकम नकद वसूल करेगा। एक बात। पहले तो खेत की उपज का अंदाजा लगाकर लगान मुकर्रर किया जाता था, अब पूरा हिसाब लगाकर लगान लगाया जाएगा, समझे? पहले खेत कट जाने पर लगान दिया जाता था (लगान के रूप में जिंस दी जाती थी) अब खेत कटाई से पहले ही लगान का भुगतान करना होगा। ...हर साल उतना ही लगान देना होगा, न कम न ज्यादा।'' कोई पूछता है–''अगर किसान भुगतान न कर पाए तो?'' मय्यादास जवाब देते हैं–''तो वह साहूकार के पास से कर्ज ले सकता है। ब्याज पर कर्ज ले और भुगतान करे। ...इसका फैसला तो साहूकार करेगा कि कितने ब्याज पर कर्ज देना है।'' ब्याज को लेकर किसान और साहूकार में झगड़े की हालत में 'फैसला अदालत करेगी। सरकार ने अदालत भी तो खोल दी है।' अदालतें जिस कानून से यह फैसला करेंगी, उसके मुताबिक किसान अपनी जमीन रेहन रखकर कर्ज उठा सकता था। अगर ब्याज सहित रकम वसूल न हो तो साहूकार जमीन कुर्क कर सकता था। (पृ. 123-124) इसी के साथ अंग्रेजों को भारत में जमीन खरीदने और मनपसंद खेती करने के लिए भी प्रोत्साहित किया गया। आज भी नवऔपनिवेशिक शक्तियां विकासशील देशों की प्राकृतिक संपदा को वैसे ही लूट रही हैं जैसे उपनिवेशवादी शासकों ने लूटा था।

प्रेमचंद के उपन्यासों में लगान, सूदखोरी और लूट का जो चित्रण है, उसकी पृष्ठभूमि इन्हीं अंग्रेजी नीतियों में है। किसान के पक्ष से ब्रिटिश नीतियों की समीक्षा भी भीष्म साहनी को प्रेमचंद से जोड़ती है। इतना व्यापक परिप्रेक्ष्य उनके समकालीनों में शायद ही किसी का हो। यही कारण है कि उन्होंने

आधुनिक विकास की ब्रिटिश दावेदारी का भी सही मूल्यांकन किया है। वह इसलिए भी महत्वपूर्ण है कि बहुत से प्रगतिशील विचारक आज भी अंग्रेजों को भारत में रेल और जनतंत्र का प्रस्तोता मानते हैं। भीष्मजी ने रजनीपाम दत्त की पुस्तक से आंकड़े लेकर एक कथा प्रसंग रचा है, जिसमें ब्रिटेन के एक मंत्री भारत की रेल लाइन के लिए निवेश करने वालों के साथ इंडिया हाउस में संवाद करते हैं।

भारत का 'प्रशासन ईस्ट इंडिया कंपनी के हाथ से निकलकर सीधा ब्रिटिश सरकार के हाथ में' आ गया था। (162) इससे लूट और व्यवस्थित हो गई थी। इंडिया हाउस की मीटिंग में मंत्री और व्यापारियों के अलावा एक अध्यापक भी आ गया है। भीष्मजी के कथासंसार में वह संभवतः अकेला अध्यापक है, जो मध्यमार्गी और समझौतावादी नहीं है। वह मंत्री से सवाल करके सरकार के पाखंड को उजागर करता है। यहां मंत्रीजी के वक्तव्य से जो तथ्य सामने आते हैं, वे हैंः हिंदुस्तानी मजदूर अफ्रीकी मजदूर से भी सस्ता है। हिंदुस्तान श्रेष्ठ किस्म की कपास, मसाले और चाय पैदा करता है लेकिन सभी प्रदेशों से बंदरगाह तक उन्हें पहुंचाने की व्यवस्था नहीं है। रेल भारत में इस कमी को दूर करेगी।'' और मैं भेद की भी एक बात बता दूं। ...आपने जो पूंजी भारतीय रेलवे में लगाई है, वह आपने भारत को कर्ज दिया है। इसका मतलब है कि दिए हुए कर्ज पर आपको सूद भी मिलेगा, और शेयरों पर जो मुनाफा होगा, वह अलग रहा। ...रेलगाड़ियों के निर्माण का सारा खर्च भारत के नाम डाला जा रहा है। ...भारत मूल पूंजी भी अदा करेगा और उस पर ब्याज भी देगा...ब्रिटिश सरकार की नीति यह है कि भारत को इंग्लैंड का कृषिक्षेत्र बनाया जाए। इसके लिए...यह भी जरूरी समझा गया है कि हमारे अपने देशवासी भारत जाएं, और बड़ी बड़ी जमीनें लेकर खुद खेती करें। ...जितनी ज्यादा कपास भारत से आती है, उतनी ही बड़ी मंडी भारत में हमारे बुने हुए कपड़ों के लिए खुल रही है। इतना ही नहीं–'अफगानिस्तान और चीन में जो लड़ाइयां लड़ी गई थीं, उन लड़ाइयों का खर्च भी भारत के नाम डाला गया था।' (मय्यादास की माड़ी, 162-165)

बीसवीं सदी के अंतिम चरण में इन बातों की याद ताजा करना कितना महत्वपूर्ण था, यह आज बताने की जरूरत नहीं है। ब्रिटिश राज के बारे में ऐसी निर्भ्रांत समझ न केवल इतिहास का सही परिप्रेक्ष्य देती है, बल्कि आज के नवऔपनिवेशिक ताकतों से संघर्ष की सही दृष्टि भी देती है। भीष्मजी ने उपन्यास के कथाप्रसंग में भी ब्रिटिश प्रचार को ध्वस्त करनेवाला पक्ष उपस्थित किया है। जिस अध्यापक का जिक्र किया गया, वह उसी मीटिंग में कहता है–''यह गलत है कि भारत केवल कृषिप्रधान देश है। वह एक ऊंचे दर्जे का औद्योगिक देश भी है। दुनिया भर में उसकी चीजें पहुंचती रही हैं। आप उसे मात्र कृषिक्षेत्र बनाए रखना चाहते हैं, यह अन्याय है। ...क्या यह सच है कि मुर्शिदाबाद के बुनकरों के अंगूठे काट डाले गए... ताकि वे हथकरघों पर अपना बारीक कपड़ा नहीं बुन सकें, क्योंकि उनके रहते हमारे माल के लिए खुली मंडी नहीं मिल सकेगी? (166)

मानो उस मीटिंग में रामविलास शर्मा या भीष्म साहनी मौजूद हों!

वंचना, विषमता और अधःपतन

आर्थिक और प्राकृतिक संसाधनों की लूट–यह औपनिवेशिक शासन की नीति थी, यही नवऔपनिवेशिक सत्ताओं की नीति है। भारत का पिछड़ापन और तबाही औपनिवेशिक नीतियों की देन है। खेती और उद्योगों से उजाड़े गए लोग तबाह होने के बाद अपनी मर्यादा ही नहीं, मनुष्यता भी खो देते हैं।

विषमतापूर्ण विकास केवल वंचना और अपहरण का फासला नहीं पैदा करता, वह अपहर्ता को उद्धत बनाता है और वंचित को भयाक्रांत। इस तरह सामाजिक विषमता मनोभाव में–मानसिक संगठन में–परिणत होती है। इस मनोवैज्ञानिक फर्क को वर्ग विषमता के बिना नहीं समझा जा सकता, किंतु वह वर्ग चेतना का रूप नहीं लेता। यह अंतराल जीवन के सभी क्षेत्रों में घटित होता है। 'मुर्ग मुसल्लम'

में वह कानून के क्षेत्र में अभिव्यक्त होता है, जहां संपन्न वर्ग के कैदियों को मुंहमांगी सुविधा देने के लिए एक मामूली होटल के बावर्ची को अपराधी बनाकर उसकी जिंदगी बर्बाद कर दी जाती है। (निशाचर, 89-100)

'साग मीट' में घरेलू नौकर जग्गू की नवविवाहिता पत्नी से मालकिन का देवर संबंध कायम करता है, जग्गू इसे सह नहीं पाता, ट्रेन से कटकर आत्महत्या कर लेता है। अपने रसूख और घूस के बल पर मालिक ने मामले को रफा दफा कर दिया, जग्गू के घरवालों को भी थोड़े पैसों से शांत कर दिया। सौ पचास में गरीब का मुंह बंद हो जाता है। यह है मीट का साग होना! (वाङ्चू, 32-44) 'त्रास' में वह साइकिलसवार के प्रति कारनशीन के क्रूर स्वार्थी बर्ताव के रूप में सामने आता है, जिसका विकास आज 'रोडरेज' में दिखाई देता है। (वाङ्चू, पृ. 148-158)

कानून, परिवार, सड़क, हर जगह वर्ग दमन के रूप दिखाई देते हैं। यह वर्ग संघर्ष नहीं है। लेकिन उत्पीड़न का वर्गीय रूप अवश्य है। 'त्रास' में भीष्मजी ने लिखा है—"दिल्ली में प्रत्येक मोटर चलानेवाला आदमी साइकिल चलानेवालों से नफरत करता है। ...दिल्ली की सड़कों पर सारे वक्त घृणा का व्यापार चलता रहता है।" (148) यह घृणा एक मनोवृत्ति है। उसका स्रोत सामाजिक विषमता में है।

अपहरण और वंचना की कार्रवाई किसी किसी एक क्षेत्र तक सीमित नहीं रहती। वंचना और अपहरण के रूप अनंत हैं, आवेश और त्रास के रूप भी अनंत हैं। आज हम भूमंडलीय आतंकवाद के गंभीर खतरे से जूझ रहे हैं। उसके मूल में भी वंचना और अपहरण की यही प्रक्रिया है। विषमता से उपजा यह द्वंद्व ही नाटकीयता है। कलाकृति के रूप में नाटक की संरचना का आधार। यह द्वंद्व बाहर वस्तुजगत में है, भीतर अंतर्जगत में भी। उसकी कलात्मक अभिव्यक्ति चाहे जैसी हो—बाह्यजगत के द्वंद्व पर ध्यान केंद्रित करे या अंतर्जगत के—किंतु दोनों आपस में अटूट रूप में संबद्ध रहते हैं।

इस दृष्टि से भीष्मजी के नाटक भी ध्यान खींचते हैं। महाभारत के एक कथासूत्र को लेकर लिखा गया 'माधवी' नाटक (माधवी, राजकमल 1984) पितृसत्ता के नियमों से पीड़ित एक स्त्री के द्वंद्व को उभारता है तो 'हानूश' (हानूश, 1977, राजकमल पेपरबैक्स 1986) एक स्वप्नदर्शी वैज्ञानिक के माध्यम से मध्यकालीन धर्मसत्ता और उभरते हुए आधुनिक व्यापारिक समाज का द्वंद्व अंकित करता है। दोनों दो कोणों से संघर्ष या द्वंद्व के अंतर्बाह्य पहलू सामने लाते हैं। इस दृष्टि से, क्षमायाचना के साथ कहना चाहूंगा कि, उनका अतिप्रसिद्ध नाटक 'कबिरा खड़ा बजार में' (कबिरा खड़ा बजार में 1981, राजकमल पेपरबैक्स 1985) अपने प्रचारात्मक उद्देश्य की सफलता के बावजूद, यदि असफल नहीं तो कमजोर नाटक है। 'मुआवजे' नाटक (मुआवजे, राधाकृष्ण 1993) को तो आलोचकों रंगकर्मियों का भी समर्थन नहीं मिल सका। दंगों के समय लोगों की सांप्रदायिक भावना और आंतरिक दहशत को लेकर 'मुआवजे' में कोई ऐसी बात नहीं है जो उनकी कहानियों और उपन्यासों में न हो।

एक दिलचस्प बात ध्यान खींचती है। उनके प्रमुख उपन्यास 'तमस', 'मय्यादास की माड़ी' और 'कुंतो' ठेठ वर्तमान जीवनदशा को लेकर नहीं लिखे गए हैं। उनमें वर्तमान को जन्म देनेवाले सद्यःविगत इतिहास का चित्रफलक है। नाटकों में मुख्यतः इतिहास की पृष्ठभूमि है। यद्यपि उनकी समस्या, संवेदना और द्वंद्व वर्तमान के हैं। कहानियों में अतीत की पृष्ठभूमि बहुत कम आई है, उनमें 'शोभायात्रा' जैसी सफल कहानी भी है, (शोभायात्रा, 83-92) और 'अनोखी हड्डी' जैसी कमजोर कहानी भी। (भाग्यरेखा, 36-41) किंतु उपन्यास और नाटक जैसी विधाओं में, जहां अपेक्षाकृत विस्तृत फलक होता है, वहां भीष्मजी इतिहास की तरफ जाते हैं। क्या वृत्तांत निर्माण के लिए अतीत में जाना उनकी रचनात्मक विवशता है? क्या अतीत से मुक्ति के विचार और अतीत के वृत्तांत का आश्रय लेने में कोई आंतरिक विरोध है? अपनी रचनात्मक युक्ति की इस गुत्थी पर उन्होंने अपने निबंधों में भी कुछ नहीं कहा।

(देखिएः 'मैं, अपनी नजर में', अपनी बात, वाणी प्रकाशन, 1990, पृ. 28-39 तथा अन्य) लेकिन इसमें संदेह नहीं कि भीष्मजी की रचनाप्रवृत्ति पुराने 'ऐतिहासिक' उपन्यासकारों अथवा नाटककारों से भिन्न है। वह निरंतरता की कड़ियां तोड़कर लाए जा रहे उपभोक्तावादी समाज का, उसके नवऔपनिवेशिक आधार का, प्रतिरोध करने के प्रयत्न का नतीजा है।

इतिहास को कथानक बनाते समय यह समस्या आती है कि मूल कथा के ढांचे को तोड़े बिना नया अर्थ संदर्भ उभारा जाय। इस दृष्टि से अनेक सफल और प्रसिद्ध रचनाएं भी समस्याग्रस्त मालूम होती हैं। भीष्मजी ने अत्यधिक सावधानी बरती है। यहां तक कि कई समीक्षकों ने 'माधवी' में महाभारत के चरित्रों से विशेष अलगाव नहीं अनुभव किया। यह एक नाटककार की सफलता है कि उसने छह पुरुष चरित्रों का स्वरूप लगभग पारंपरिक रखते हुए भी नाटक को आधुनिक संवेदना प्रदान कर दी है।

गुरुदक्षिणा में गालव विश्वामित्र को उनके मांगे आठ सौ अश्वमेधी घोड़े देना चाहता है। इसकी व्यवस्था आसान नहीं है। वह ययाति के पास जाता है। ययाति महादानी हैं। वे अपनी पुत्री माधवी उसे सौंपते हैं। इसमें माधवी की इच्छा का कोई प्रश्न नहीं है। माधवी को वरदान प्राप्त है कि उसका सौंदर्य नष्ट होगा न यौवन, उससे उत्पन्न संतान चक्रवर्ती होगी। गालव क्रमशः तीन राजाओं को माधवी सौपता है–अयोध्यानरेश हर्यश्च, काशीनरेश दिवोदास और भोजराज उशीनर। सबसे दो दो सौ घोड़े प्राप्त होते हैं और सबको एक एक चक्रवर्ती संतान देकर माधवी विदा हो जाती है। बचे हुए दो सौ घोड़ों के लिए माधवी को वह विश्वामित्र के पास ले जाता है। वे भी उसके साथ रहते हैं।

यहां बहस इस बात पर नहीं है कि महाभारत में विश्वामित्र से चक्रवर्ती संतान का उल्लेख नहीं है। बहस इस पर है कि महाभारतकार के लिए माधवी की स्वतंत्र इच्छा का कोई मोल नहीं है, जैसे इन तीन राजाओं और स्वयं विश्वामित्र या गालव के लिए उसके स्वतंत्र मानवीय अस्तित्व का कोई मोल नहीं है। वह तो दान में दी हुई 'वस्तु' है। स्वभावतः उसकी इच्छा, उसके मनोभाव और अंतर्द्वंद्व के लिए पारंपरिक कथानक में कोई स्थान नहीं है। उस समाज के ढांचे में, उसकी मूल्यप्रणाली में स्त्री के व्यक्तित्व का इतना ही अस्तित्व है कि वह पुरुषों की महत्वाकांक्षा की सिद्धि का माध्यम बने। गालव को वचनवीर शिष्य, ययाति को दानवीर और विश्वामित्र को शिष्य का अहंकार भंजक गुरु प्रमाणित करे।

भीष्मजी के नाटक में यह ढांचा बना हुआ है। साथ ही, माधवी का अंतर्द्वंद्व–अपमानबोध और स्त्री अस्तित्व की विडंबना–भी उभरी है। सामंती समाज के नियम उसे भोग्या और साधन बनाने पर तुले हैं और उसका मानवीय अस्तित्व बराबर अंतर्द्वंद्व प्रकट करता है–यह सजीव संघर्ष या टकराव नाटक की सृष्टि का केंद्र है। इसीलिए 'उद्देश्य' पूरा हो जाने के बाद वह गालव के साथ रहने से इंकार कर देती है : "तुम निश्चिंत हो जाओ, गालव, तुम सचनुच स्वतंत्र हो। मैं तुम्हारी पत्नी नहीं बन सकती। शरीर की शिथिलता तो दूर हो सकती है, गालव, मैं अनुष्ठान करके फिर से युवती बन सकती हूं, पर अब मैं दिल से तो युवती नहीं हूं ना। मैं तो वह मां हूं जिसकी गोद भरती गई और खाली होती गई। अब तो संतान धारण करने से ही मुझे डर लगता है। संतान धारण करने का मेरे लिए केवल एक ही अर्थ है, अपने बच्चे को खो देना। ऐसी स्त्री तुम्हारे किस काम की?" (पृ. 94)

आधुनिक चेतना के बिना यौवन, मातृत्व, कोख, विवाह आदि प्रश्न खड़े नहीं हो सकते थे।

'हानूश' को भीष्मजी का श्रेष्ठ नाटक माना जाता है। 'माधवी' अगर पितृसत्ता का निषेध है तो 'हानूश' सत्तातंत्र की जड़ता का प्रतिवाद। इस जड़ता के कारण सत्रह वर्षों के त्याग और परिश्रम से, अपने पादरी भाई, लोहार, हिसाबदान आदि अनेक लोगों की सहायता से, बनाई गई अपनी घड़ी को राजा के सामने हानूश किसी अन्य देश के गिरिजाघर की घड़ी का पुनर्निर्माण बताता है। उसकी

घड़ी बड़ी है, बेहतर है, उसमें नक्षत्र भी दिखाए गए हैं। ऐसी घड़ी राजा के अहंकार के अनुरूप एक ही रह सकती है। दूसरी घड़ी न बने इसलिए हानूश की आंख निकाल ली जाती है। यह बात अलग है कि घड़ी का भेद जेकब को पता है और वह राज्य से दूर चला गया है। (114)

ऊपर से देखने पर घड़ी की पुनरावृत्ति रोकने के लिए राजा हानूश को अंधा करता है। वास्तव में वह शक्ति के विभिन्न संस्थानों के बीच अपनी सत्ता प्रमाणित करने के लिए यह कार्य करता है। कात्या से ऐमिल कहता है–''हानूश को अंधा ही इसलिए किया गया कि महाराज, सौदागरों और गिरिजेवालों के बीच अपनी ताकत को बनाए रखें।'' (91) संक्रमण की परिस्थितियों में अनेक शक्तियां सक्रिय होती हैं। उनके बीच अपनी ताकत जताने के लिए सत्ता आतताई रूप अपनाती है। राज्य के बहुत से क्रियाकलाप शक्ति संरचना की उपज होते हैं, यह संकेत बिना उत्तर आधुनिकता की मदद के भीष्मजी रेखांकित करते हैं।

मनुष्य की प्रतिभा और मनोविज्ञान सामाजिक संबंधों में व्यक्ति की स्थिति पर निर्भर है, यह बात भी 'हानूश' में भीष्मजी ने बड़ी सादगी से समझाई है। टाबर से अपनी बातचीत में जॉन कहता है–''हर आदमी के अंदर दस्तकार भी होता है और राजदरबारी भी और मैं तो कहूंगा, पादरी भी। आज हानूश दस्तकार है तो हमारा साथी है। कल महाराज ने उसे दरबारी बना दिया, वह जमीन जायदाद का मालिक बन गया तो उसके अंदर का दरबारी जाग उठेगा। और अगर उसके अंदर का पाखंड बढ़ने लगा तो एक दिन उसके अंदर का पादरी भी जाग उठेगा।'' (60) इतनी सी बात शुद्ध मनोविज्ञानवेत्ताओं को समझ में आती है, न अतिभौतिकवादियों को। भीष्मजी के यथार्थवाद की यही शक्ति है।

उपसंहार

सादगी और सहजता भीष्म साहनी के व्यक्तित्व के विशेषता है, रचना की भी। उनमें जीवन के प्रति गहरा अनुराग है। देश के विभाजन का जो अनुभव उन्हें हुआ, उसने जीवन में उनकी आस्था को और दृढ़ किया। वे अपने समाज को समझने और बदलने के लिए बेचैन थे। यह परिवर्तन वंचित शोषित श्रमिक जनता के हितों के अनुरूप, उन्हीं के द्वारा होगा, यह भीष्मजी की स्पष्ट धारणा थी। अपनी धारणा को लागू करते समय वे वास्तविकता को विकृत नहीं करते थे। समाज के जीवंत अंतर्विरोधों की उनकी समझ चरित्रों के प्रति आग्रहरहित दृष्टिकोण अपनाने की ओर अग्रसर होती थी। अपने पात्रों को जीवन का प्रतिनिधि बनाते हुए वे उनकी निजी विशेषताओं की बलि नहीं चढ़ाते थे। उनके लिए जीवन अपने अनंत विस्तार में साहित्य की सामग्री था। उसे वे भरपूर आस्था से अपनाते थे। इसलिए अपने समकालीनों में उनके कथाविषय काफी अलग होते थे। वे इतिहास से अपने समय को जोड़कर विकास की द्वंद्वात्मकता पहचानते थे। उनका लिखा सारा का सारा श्रेष्ठ नहीं है। किसी का भी नहीं होता। लेकिन जितना है, वह इस विगत शताब्दी के लिए उन्हें जीवित बनाए रहा, अगली शताब्दी में भी जीवित रखने के लिए पर्याप्त है।

‘विंध्याटवी’ के मत्तमयूर साधु

(संप्रभुता का एक प्राचीन प्रसंग)

रमानाथ मिश्र

इस आलेख में ‘विंध्याटवी’ अर्थात मध्यप्रदेश की विंध्य पर्वतमालाओं के ‘आटवी’ (वनक्षेत्र) में विकासमान ‘मत्तमयूर’ संप्रदाय के शैव संन्यासियों की ऐतिहासिक गौरवगाथा है—ऐसी गाथा जिसमें उक्त क्षेत्र के ‘आटविक’ वनवासियों की भागीदारी से ये ‘मुनि’, ‘यति’ भट्टारक, ‘आचार्य’, ‘गुरु’ जैसे नामधारी साधु वनों में अपना प्रभुत्व स्थापित करन में सफल हुए। इस गाथा का लगभग पांच सौ वर्षों (सातवीं से तेहरवीं सदी) का इतिवृत्त है। साथ ही इसमें धर्म एवं अध्यात्म की सीढ़ी पर चलकर बढ़े मत्तमयूर साधुओं के शक्तिलोलुप राजनीतिक वर्चस्व का अपूर्व इतिहास भी निबद्ध है। इसकी व्याख्या उक्त साधुओं के समकालीन अभिलेखों पर आधारित है, जो अभिलेख मध्यप्रदेश के बिलहरी, रन्नौद, कदवाहा, गुर्गी चंद्रेहे, चंदेरी आदि स्थलों से या अन्य प्रदेशों से ज्ञात हैं।

प्राचीन भारत में निवृत्तिमार्गी अध्यात्म परंपरा का प्रशस्त आख्यान है। साधु, संन्यासी इस परंपरा के केंद्र बिंदु थे एवं आदर के पात्र थे। इनकी ‘अगेह’ जीवन पद्धति, नैतिक आदर्श, सदाचार, व्यवहार, योग, ब्रह्मचर्य, तप, व्रत, साधना, ज्ञान, दर्शन एवं गुरुता इनके समादर के आधार थे। यह स्वतंत्र मुनिवर्ग समकालीन सामाजिक व्यवस्था से पृथक था, समाज के कगार या हाशिए पर ऐसे ही था जैसे वनांचलों में निवासमान आटविक वर्ग। दोनों ही प्राचीन समाज के पारंपरिक श्रेणीगत विभाजन से बाहर थे; मुनि इसलिए कि विधि सम्मत उपचार प्रक्रिया द्वारा उनका संन्यास में प्रवेश ‘अंत्येष्ठि’ संस्कार के संपादन के उपरांत ही मान्य था। अर्थात वे जीते जी जीवनमुक्त होकर दीक्षा के अधिकारी होते थे। आटविक समुदाय भी प्रकारांतर से शास्त्रीय निषेध द्वारा जातिच्युत था। धर्मशास्त्रों में इन्हें समाज से पृथक ‘म्लेच्छ’ के रूप में माना गया है। इस भांति, विधि एवं निषेध की औपचारिकतावश ये दोनों ही वर्ग समाज के विधान से पृथक् थे। विंध्याटवी में ये दोनों वर्ग समाज के विधान से बाहर सह अस्तित्व के घेरे में आ गये। दोनों का पारस्परिक सामजस्य घनिष्ठ हुआ और अंततोगत्वा बहुविधि

सार्थक हुआ। यह पारस्परिक निकटता कालांतर में मत्तमयूर साधुओं के उत्कर्ष में सहायक हुई प्रतीत होती है। इस साहचर्य के माध्यम से मत्तमयूर साधुओं के प्रभुत्व की चर्चा इस आलेख के आगे के अंशों में है। पहले, हम 'आटवी' एवं 'आटविकों की चर्चा करेंगे जो मुनियों के इस प्रभुत्व में सहायक थे।

I

आटवी एवं आटविकों के प्रसार का क्षेत्र व्यापक था। विंध्य पर्वत शृंखला आटविकों की नैसर्गिक निवासभूमि थी। यह शृंखला गुजरात से बिहार तक मध्य प्रदेश को समेटे हुए लगभग 1600 कि.मी. के क्षेत्र में फैली हुई थी। पुराणों में विंध्य को 'कुल पर्वत' की संज्ञा दी गई है। समुद्र तल से 1500-3000 फीट ऊंची विंध्य पर्वत शृंखलाएं पश्चिम में ग्वालियर संकुल (Group) से पूर्व में रीवां क्षेत्र की कैमूर उपत्यकाओं के वन प्रदेश में फैली थीं। गहन वनों से आच्छादित ये पर्वतमालाएं कठिन और दुर्गम थीं। ये आटवी अंचल वन्य पशुओं से आक्रांत थे। विपदाओं से भरपूर इन दुर्गम वनों के आटविकों का उल्लेख सहदेव के सैन्य अभियान के संदर्भ में महाभारत में है। इस महाकाव्य में इस क्षेत्र की पुलिंद, सेक, अपरसेक, नर आदि जनजातियों का उल्लेख है। इनमें शबर जनजाति भी शामिल थी। इन आटविक जनजातियों के वंशज भील, भिलाला, सहरिया, कोरकू, बैगा आदि इस क्षेत्र में आज भी विद्यमान हैं।

विंध्याटवी के ये आटविक मुख्यधारा की राजतांत्रिक व्यवस्था एवं नियंत्रणों से स्वतंत्र बने रहे। शक्तिशाली साम्राज्यवादी सम्राट एवं उनका महत्वाकांक्षी राजतंत्र इनके प्रति दमनकारी था। ये स्व अनुशासित आटविक वन व्यवस्था पर आधारित 'कुल', 'वंश', 'पूर्वज' एवं रक्त संबंधों को मान्यता देते थे। इन परम्पराओं के वे ही निर्माता थे एवं पोषक भी। 'राज्य' की परिकल्पना इनकी मानसिकता का भाग नहीं थी। इन व्यवस्थाओं का अतिक्रमण प्रकटतः उन्हें स्वीकार नहीं रहा होगा। कौटिल्य के अर्थशास्त्र एवं बाणभट्ट के हर्षचरित तथा कादम्बरी में आटवी एवं आटविकों के दुर्दांत, विकट स्वरूप के सांगोपांग विवरण हैं। कालिदास एवं वराहमिहिर ने भी इनका उल्लेख किया है। कौटिल्य ने इनकी शक्ति एवं शौर्य के प्रति राज्य को सावधान एवं सजग रहने का बार बार निर्देश दिया है। बड़ी साम्राज्यवादी शक्तियां 'आटवी' एवं 'आटविकों' से भयभीत थीं। उनके दमन के लिए सचेष्ट थीं और उन्हें राज्य से दूर, केवल प्रत्यंत (सीमाओं) पर स्वीकार करने के लिए कटिबद्ध थीं ताकि वे शत्रुओं के विरुद्ध साम, दाम, दंड, भेद की प्रक्रिया से रक्षा के लिए उपयोगी बन सकें। हर्षचरित में विंध्याटवी के दुर्गम, कष्टसाध्य, भयावह, जांगल वातावरण का आतंकविहित विवरण सविस्तार दिया गया है। ऐतिहासिक विवरणों से भी स्पष्ट है कि अशोक एवं समुद्रगुप्त जैसे शक्तिशाली सम्राट उन्हें स्थायी रूप से नियंत्रित करने में असमर्थ रहे। समुद्रगुप्त के बाद इन आटविकों ने 'अष्टादश' अर्थात अठारह आटविक राज्यों का अपना संगठन मध्यप्रदेश में स्थापित किया और पुनः एकजुट होने में समर्थ हुए।

मूल धारा के राजनितिक पटल पर इनकी स्थिति एक वैकल्पिक, प्रतिद्वंद्वी आटविक व्यवस्था तंत्र के रूप में उभरती है। कौटिल्य ने स्वीकार किया है कि वनों या आटवी में फैले हुए ये आटविक उद्भट योद्धा थे। राज्य के परम्परागत सप्तांग (स्वामी, अमात्य, जनपद, दुर्ग, कोष, दंड एंव मित्र) की दृष्टि से उनमें कोष के अतिरिक्त सभी लक्षण विद्यमान थे। वनांचलों में स्थित उनके स्वतंत्र भूभाग (अर्थात, जनपद), योद्धा (भट), जुझारू प्रवृत्ति, इनके नायक, अस्त्र शस्त्र, सजातीय गठबंधन में बंधे मित्र वर्ग, सभी इस स्थिति के परिचायक हैं। कोष की इन्हें आवश्यकता नहीं थी क्योंकि इनके संसाधन वन्य संपत्ति पर आधारित थे। कौटिल्य का कथन है कि यदि आटविक टुकड़ियां सेना

में सम्मिलित की जाएं तो वेतन के बजाय उन्हें इनके उपयुक्त सामग्री या सामरिक लूट का भाग देना चाहिए। आटविकों की अर्थव्यवस्था कृषि, व्यापार एवं धन से परे वस्तुपरक थी, और वस्तु विनिमय पर आधारित थी। संपत्ति के विषय में इनकी समझ संगठित राज्य वयवस्था की मुद्रा प्रणाली से भिन्न थी। इनकी स्वतंत्र मनोवृत्ति का उल्लेख कौटिल्य ने किया है। उनका कथन है कि ये आटविक अपने भूभाग में निर्द्वंद्व विचरण करते थे, एवं उनमें राजाओं के सभी लक्षण थे।

वे वनांचलों के निकटवर्ती ग्राम निवेशों पर आक्रमण कर पशुधन को लूटने एवं स्त्रियों का अपहरण करने में समर्थ थे। आटवी क्षेत्र में गुजरने वाले सार्थवाह या व्यापारी दल भी उनकी आक्रामक वृत्ति के शिकार होते थे। आखेट, मृगया एवं वन्य सामग्री इनके जीवनयापन के आधार थे। वनों के चप्पे चप्पे का इन्हें ज्ञान था। हर्षचरित के अनुसार ये वन में प्रवेश करने वाले ग्रामिकों के 'हस्त कुठार' छीन लेते थे। ग्रामिकाएं वनों में प्रवेश करने की परिस्थिति से व्यग्र एवं भयभीत रहती थीं।

वनांचल में इन आटवियों के वर्चस्व के कुछ असाधारण दृष्टांत भी इतिहास में उपलब्ध हैं। इनसे प्रकट है कि वनों में बीहड़ वातावरण में सेनाएं भी अक्सर आटविकों से आक्रांत रहती थीं। वनों के दुर्गम अंचल से पलायन करती हुई मालव सेना के 'कुंतो' (भाला) के लूटे जाने का एक उल्लेख कच्छपघात राजा महिपाल के ग्वालियर (सास बहू मंदिर) अभिलेख में है। इन कुंतों को मालव सेना से छीनकर अपनी झोपड़ियों की छतों में खोस कर सुरक्षित रखने का यह उल्लेख रोचक है। प्रकट है कि राज्यों का सैन्यबल भी वनांचलों में सुरक्षित नहीं था। ऐसा ही एक अन्य उल्लेख ग्वालियर के तोमर राजा कीर्तिसिंह के संदर्भ में भी है। जंगल में फंसी हुई सुल्तानों की सेना को इसके समय में सुरक्षित वापस लाने का उल्लेख भी प्राप्त है।

उक्त विवरण से स्पष्ट है कि विंध्याटवी के आटविक शौर्य एवं शक्ति में प्रबल थे; इतने प्रबल कि राजशक्ति भी इनके सामने यदा कदा निर्बल थी। अस्तु आश्चर्य नहीं कि मत्तमयूर साधुओं से इनका घनिष्ठ संबंध उन साधुओं की महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति में सहायक हुआ। यदि राजा आटविकों के प्रति दमनकारी थे तो, इसके विपरीत, आटवी में उनके साथ निवासित साधु वर्ग उनकी सुरक्षा एवं सहायता के लिए समर्पित था। ये साधु 'मत्तमयूर' नामक एक विशिष्ट शैव मत के अनुयायी थे। 'मत्तमयूर' साधुओं का आटविकों के साथ स्थापित सामजस्य अंततोगत्वा उनके उत्कर्ष एवं संप्रभुता का आधार बना।

II

पुरा आधुनिक भारतीय स्रोतों में साधु संन्यासियों के विभिन्न संप्रदायों के वृतांत हैं। इनमें विभिन्न शैव, वैष्णव, शाक्त बौद्ध, जैन अनेक उल्लेखनीय पंथ, जैसे 'नाथ', 'जोगी', 'गोसाईं', 'नागा' तथा उनके 'अखाड़ों' के विवरण है। प्राचीन परंपरा में 'पुरुषार्थों' के अंतिम पड़ाव के रूप में संन्यास की अंतिम परिगति 'मुक्ति', 'निर्वाण', या 'सिद्धि' की धारणाओं में निबद्ध थी। ये उपलब्धियां स्पर्धा, अभिमान, संचय या आपूर्ति जैसे दैनंदिन उपक्रमों से परे एक बड़े आधिभौतिक लक्ष्य का साधन थीं। शैव धर्म के एक ऐसे ही प्राचीन संप्रदाय का प्रादुर्भाव मध्य प्रदेश में विंध्याटवी क्षेत्र में सातवीं ईसवी सदी में हुआ। 'मत्तमयूर' नाम से ज्ञात यह पंथ 'शुद्ध शैव' या 'शैवसिद्धांत' का ही एक अवांतर भेद था, तथा 'ज्ञान', 'योग', 'चर्चा' एवं 'क्रिया' के 'चतुष्पादों' पर आश्रित था। वैदिक या पौराणिक परंपरा से भिन्न यह पंथ आगमिक परंपरा का पोषक था। जीवित पंथ के रूप में यह मत तमिलनाडु में आज भी प्रचलित है एवं 'शैव सिद्धांत' के नाम से विख्यात है। मालवा में प्रणीत 'तत्वप्रकाश' नामक ग्रंथ में इस पंथ के दार्शनिक संबंधों की व्याख्या है। यह पंथ वैशेषिक दर्शन की ज्ञान पद्धति का अनुयायी था।

प्राचीन अभिलेखों में इस संप्रदाय का उल्लेख 'मत्तमयूर वंश' के नाम से भी मिलता है। कदंबगुहा (कदवाहा, जिला अशोकनगर, मध्य प्रदेश) इसका केंद्रीय पीठ था। किंतु यहां स्थापित होने के शीघ्र बाद इसके मुनि और उनके द्वारा स्थापित मठ चतुर्दिक फैल गए। पहले उत्तरी मध्य प्रदेश में, तत्पश्चात, इस प्रांत के पूर्वी, मध्य तथा दक्षिणी भागों में, और साथ साथ कश्मीर, उत्तराखंड, राजस्थान, बंगाल, ओडिशा, छत्तीसगढ़, महाराष्ट्र, आंध्र तथा तमिलनाडु में। इन सभी क्षेत्रों में बने इनके मठों से इस पंथ के व्यापक तंत्र (network) का ज्ञान होता है। पंथ की 'शिष्य प्रशिष्य परिपाटी' (गुरु शिष्य परंपरा) 'मत्तमयूर संतति' के नाम से विख्यात हुई। कदंबगुहा कालांतर में 'मत्तमयूरपुर' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस पीठ का पांचवां साधु 'मत्तमयूरनाथ' नाम से विख्यात था। इन तथ्यों से यह निष्कर्ष संभव है कि 'मत्तमयूर' नाम मुनिवंशवाचक था, तथा स्थानवाचक भी। यह अभिधान संभवतः उनकी पूजार्चनरत, ज्ञान आलिप्त जीवनशैली का द्योतक था जिसके अलौकिक मंद में वे मदमस्त थे।

मत्तमयूर साधुओं की ऐतिहासिक संरचना के विशिष्ट लक्षणों से उनकी एक सर्वथा स्वतंत्र पहचान रेखांकित होती है। उनकी इस स्वतंत्र पहचान के आधार थे आटकी क्षेत्र की जनजातियों से उनका साहचर्य, उनकी गौरवशाली वंश परंपरा, साधन संपन्न मठ तथा उन मठों का शक्तिशाली संगठन तथा संरक्षण के लिए लालायित राजवंश आदि। साक्ष्यों से स्पष्ट है कि तप, ज्ञान एवं स्वाध्याय में रत, तथा संन्यास वृत्तियों को समर्पित ये साधु, मात्र तपस्वी ही नहीं बने रहे, अपितु, इनके बल पर संचित शक्ति, संसाधन एवं ख्याति की सीढ़ियों के समुचित उपयोग द्वारा वे एक सशक्त राजनीतिक शक्ति के रूप में उभरे। अभिलेखों से इनकी महत्वाकांक्षाओं के विवरण स्पष्ट हैं। वे 'शस्त्र शास्त्र विशारद' थे। उनकी सामरिक तथा प्रशासनिक गतिविधियां अज्ञात न थीं। इन गतिविधियों के लक्षण आठवीं शताब्दी में ही उनके विरुदों जैसे 'नाथ', 'पाल' या 'अधिपति' से प्रकट होने लगते हैं। ये विरुद नृपतियों के लिए सामान्यतया प्रयुक्त होते थे। आठवीं शताब्दी में ही उन्होंने कदवाहा, सुखाया, (प्राचीन सरस्वतीपत्तन), तेराही (प्राचीन तेरम्बि), अमरोल (प्राचीन आमर्दक) एवं रन्नौद (प्राचीन अरणिपद्र) में विशाल एवं ऐश्वर्य से भरपूर मठ स्थापित किए। दुर्ग जैसे ये मठ वनखंडों में उनकी सत्ता के आज भी साक्षी हैं। सुखाया, एवं कदवाहा के मठों में विशाल प्राचीर (fortification wall) परिखा (mote), टावर (tower), सैनिकों के लिए प्राचीर पर बनी वीथियां (walks), प्राचीर के कंगूरों पर बने कपिशीर्ष (battlements) प्रतोली, सिंहद्वार और दो तीन मंजिलों के हर्म्य (धवलगृह/धरौरा) हैं। रन्नौद अभिलेख के अनुसार ये मठ धन, धान्य, हिरण्य, रत्न गरजते हुए हाथी और हिनहिनाते हुए घोड़ों से परिपूर्ण थे। चंद्रेहे एवं कोडल के मठों में गुप्त तलघर (vault) बने हैं। इन तलघरों में उनका धन रहा होगा। अन्न के संग्रह हेतु इनमें कोष्ठक (silo) भी हैं। मठों में जल की व्यवस्था हेतु कूप, तड़ाग या बावली हैं। साथ में मंदिर हैं, जो धार्मिक गतिविधियों के केंद्र थे। ये मंदिर और मठ मुनियों द्वारा आटविकों की सहायता से बने थे। उनके अभिलेखों में ये आटविक जन 'प्राणी' या 'प्रजा' के नाम से संबोधित हैं जिन्हें वे विपदाओं से सुरक्षित रखते थे। उनका पालन पोषण आवश्यकतानुसार करते थे। उनके देवी देवताओं जैसे विकनटंजा, बदरी, तरला, उतरला, सेका, जाउती इत्यादि को अन्य प्रमुख देवी देवताओं के समकक्ष मंदिरों में सुसज्जित करते थे।

मत्तमयूर साधुओं के मठ मध्य प्रदेश के बीहड़ वनप्रांतरों में फैले थे। ये वनप्रांत राज्य एवं समाज की व्यवस्थाओं से परे एवं स्वतंत्र थे। पारंपरिक सामाजिक गठबंधनों का इस क्षेत्र में अभाव था। अभिलेखों से प्रमाणित है कि क्षत्रिय वहां खेतिहर थे। ब्राह्मणों की संगठित बस्तियां यहां लगभग 1090 ईसवी से प्रारंभ हुई। उन्हें भूमिदान की सुविधा लगभग 1220 ईसवी में मिली प्रतीत होती है। युवानच्वांग (सातवीं सदी) के अनुसार इस भूभाग के निकटवर्ती क्षेत्रों में वैश्य नृपति थे। आटविकों के सहयोग से, इस असंगठित अव्यवस्था में मत्तमयूर एक ऐसा तंत्र निर्मित करने में सफल हुए जो तत्कालीन

राजव्यवस्था का समानांतर विकल्प था। साधु इस तंत्र के मुखिया थे। दुर्दांत आटविक इनका बल थे, और विस्तृत वनप्रदेश इनके द्वारा नियंत्रित भूभाग था। इस भूभाग के वे ही स्वामी थे। इन परिस्थितियों में वन्य क्षेत्र में मत्तमयूर साधुओं की संप्रभुता का अनुमान तर्कसंगत प्रतीत होता है। स्पष्ट है कि विंध्य में असंगठित राजनैतिक, सामाजिक एवं सामरिक व्यवस्था मत्तमयूर साधुओं के उत्कर्ष में सहायक रही होगी। इसमें आटविकों का बल उनके साथ था।

विकट वनप्रांतरों में आटविकों एवं मत्तमयूर साधुओं के परस्पर सामजस्य के अनेक प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष साक्ष्य प्राचीन ऐतिहासिक स्रोतों में उपलब्ध हैं। मुनियों की तपनिष्ठ जीवनशैली में नृपतियों की आटविकों के प्रति संदेह प्रेरित दमन नीति का पूर्णतः अभाव था। इस अंतर की समझ आटविकों ने सहज ही पाई होगी। सम्भव है कि प्रारंभ में वे साधुओं के प्रति सहनशील बने, तदनंतर अनुभव के आधार पर वे दोनों परस्पर सहयोगी हुए। दोनों की जीवनशैली वन के संसाधनों पर निर्भर थी। दोनों ही वनों में बसे थे एवं उनका स्पर्धारहित सहअस्तित्व आपसी सहयोग पर आधारित था। अभिलेखों से स्पष्ट है कि ये आटविक मत्तमयूर साधुओं के लिए 'प्रजा' थे। मुनि इनके कष्टों का निवारण करने में तत्पर थे। (तापहरः प्रजानाम्); उनकी दुर्गति एवं दुख का शमन करने में ये समर्थ (दौर्गिय दुःखछिदः) थे। अपने धन एवं संसाधन द्वारा वे परोपकार में प्रवृत्त थे (धनानां च परोपकार वृत्तये)। अपनी आटविक 'प्रजा' को विपदाओं से सुरक्षित रखने के लिए (उद्ध्वर्तुम् विपदिप्रजा) कृतसंकल्प थे। उनके प्रति दयावान (सर्वभूत दयापरः) थे और 'आश्वास भूमि' जैसे थे। अस्तु, समर्पित लोक के लिए वे मूलाधार (वंदिजनाम् आधारभूतः) थे।

आश्चर्य नहीं कि ये परोपकारी, करुणा प्रेरित (परोपकार करुणामात्र प्रवृतेः) साधु आटविकों में अत्यंत 'लोकप्रिय' थे तथा इन सबके लिए आदर के पात्र बन गये थे (सकललोक नमस्या मूर्तिः)। यहां तक कि अपने दुर्ग जैसे मठों के निर्माण में इनका सहयोग साधुओं को प्राप्त था। तभी वनों में अपने दुर्गरूपी मठों को वे स्थापित कर सके। यह साहचर्य इसलिए भी सम्भव हुआ कि आटविकों की देवियों को उन्होंने अपने बनाये मंदिरों में प्रतिष्ठित किया। ऐसा उपक्रम अवश्य हो आटविकों को मुनियों के मठों एवं मंदिरों में आकर्षित करने में सफल रहा होगा। आटविकों के स्वास्थ्य की देखभाल भी ये साधु तत्परता से करते थे। मठों में इस सुविधा की व्यवस्था परंपरागत रूप से रही है। प्रत्युत्तर में आटविकों ने साधुओं द्वारा पूजित 'शिव' को स्वीकार किया। आटवी क्षेत्र में मठों का निर्माण मुनियों का एक मिशन बन गया जिसमें उन्हें आटविकों का समर्थन मिला। रन्नौद अभिलेख से स्पष्ट है कि यहां मठ का निर्माण स्थानीय जनसंकुल (पौर सहितं) की सहायता से संपन्न हुआ था। साधुओं की स्थानीय जनसंकुल के साथ भागीदारी के अन्य प्रमाण भी मिलते हैं। बिलहरी (जबलपुर के निकट) के शिव मंदिर में उत्सवों पर ये आटविक जनसंकुल प्रतिदिन काठ की नंदी प्रतिमा भेंट करते थे। ये प्रतिमाएं शोभायात्रा के साथ दूर दूर के क्षेत्रों जैसे शहडोल, सोहागपुर, आदि से वनांचल के जनसंकुल लेकर आते थे। उत्सव की परंपरा के साक्ष्य चंद्रेहे एवं कदवाहा से भी प्राप्त हैं। मुनियों की शक्ति का यह प्रभाव तत्कालीन राज व्यवस्था को भी मान्य हुआ। इन साधुओं की कृपादृष्टि के लिए नृपतिगज लालायित थे। रन्नौद के अभिलेख में अवंति वर्मा नामक राजा को उल्लेख है जो विनम्र भाव से पुरंदर मुनि के तपोवन में जाकर उनसे दीक्षा लेता है। इतना ही नहीं, उसने इस दीक्षा के बदले में इस मुनि को अपने 'राज्य का सार' नैवेद्य के रूप में देकर अपना 'जन्म सफल' किया—निवेद्य यस्मैं निजराज्यसारं स्वजन्म साफल्यमवाय भूपः। यह घटना लगभग 825 ई. की है। राजा के निवेदन को स्वीकार करते हुए यह मुनि रन्नौद से कदवाहा गया। कदवाहा के मठ का पुनर्निर्माण किया; साथ ही रन्नौद में भी उसने एक विशाल मठ स्थापित किया। यह सम्पूर्ण घटना राजा द्वारा मुनि से सरंक्षण प्राप्त करने से जुड़ी है। इसकी परिणति नवी शताब्दी के अंत में कदवाहा

में हुई। जब वहां धर्मशिव नामक मत्तमयूर आचार्य स्थानपति था। कदवाहा के अभिलेख में विवरण है कि जब गोभट नामक भूप ने अपनी गज सेना के साथ कदवाहा पर आक्रमण किया और अकस्मात वहां मुनि द्वारा संरक्षित राजा (?) मारा गया, तब 'कोपवश' मुनि ने धनुष बाण लेकर आक्रामक 'भूप' से स्वयं युद्ध किया। इस युद्ध में मत्तमयूर मुनि धर्मशिव को वीरगति प्राप्त हुई। इस मुनि द्वारा शस्त्र ग्रहण कर आक्रामक सेना से युद्ध करने की यह सूचना विशेष महत्वपूर्ण है। अभिलेख में मुनि की तुलना त्रिपुरांतक शिव से की गई है। यह भी उल्लेख है कि मुनि ने अपनी 'चमत्कारिक' शक्ति से मठ में धनुष बाण उत्पन्न किए और युद्ध में उसका उपयोग किया। विजयी हुए किन्तु प्राण गंवाए। इससे स्पष्ट है कि मठ में अस्त्र शस्त्र का भंडार रहता था। यह भंडार युद्ध के लिए उद्धत मुनि एवं उनकी आटविक सेना के लिए उपयोगी था।

मत्तमयूर साधु निरंतर 'अनेक नृपवंदित' रहे। लगभग दो सौ वर्षों तक वे कलचुरि राजवंश के राजाओं के राजगुरु रहे। इस काल में उन्होंने चंद्रेहे, कोडल, भेड़ाघाट, मुर्गी, चुनरी आदि स्थानों पर अपने मठ बनाए जिनमें निवास करने वाले साधुओं का प्रशस्त इतिहास है। रीवां के निकट मुर्गी में एवं जबलपुर के निकट, नर्मदा के तट पर भेड़ाघाट में उन्होंने मठ स्थापित किए, जो 'गोलकी' के नाम से प्रसिद्ध हुए। गोलकी मठ की शाखाएं प्रशाखाएं दक्षिण भारत में स्थापित हुईं। इन शाखाओं में आंध्र के मलकापुरम (तेरहवीं सदी) में ऐसा गोलकी मठ उसके पीठासीन साधु के नाम पर 'विश्वेश्वर गोलकी' नाम से प्रतिष्ठित हुआ। शासक वर्ग इन साधुओं के संरक्षण हेतु निरंतर ही तत्पर प्रतीत होते हैं। दसवीं सदी के एक अभिलेख में कदवाहा के एक आचार्य एवं प्रतिवर्ती प्रतिहार राजा हरिराज के मिलन का एक प्रसंग है। घटना का विवरण रोचक है। अभिलेख के अनुसार इस आचार्य से मिलने के इच्छुक 'नृप चक्रवर्ती' हरिराज ने इन्हें संदेश भेजा। भेंट के लिए आचार्य तत्पर नहीं था, न ही वह राजा से परिचित था। संदेशवाहक से आचार्य ने प्रश्न भी किया कि उससे मिलने को इच्छुक वह राजा कौन है?—आयुष्मान् नृपतिःर्कोअयं, इति पृपृच्छ संयमी। यह प्रश्न आचार्य की राजा के प्रति अनभिज्ञता प्रकट करता है। साथ ही 'नृप चक्रवर्ती' के प्रति यह प्रश्न आचार्य का दंभ भी स्पष्ट करता है। अंत में राजा आचार्य से मिलने में सफल हुआ, दीक्षा ली, एवं उपहारस्वरूप उसने हाथी घोड़े देने का प्रस्ताव किया। किंतु आचार्य ने दान में गांव लिए। मत्तमयूर आचार्यों की हाथी घोड़ों के प्रति आसक्ति उस विवरण से प्रकट होती है, ऐसी आसक्ति जो सर्वविदित थी, एवं अन्य उल्लेखों में भी स्पष्ट है।

अन्य संदर्भों से भी साधुओं की किंचित युयुत्स प्रवृत्ति का आभास मिलता है। अभिलेखों में कुछ मत्तमयूर साधुओं की तुलना देव सेनापति कार्तिकेय से की गई है। उन्हें परशुराम जैसा (योद्धा) कहा गया है। कीर्तिशिव नामक एक विशिष्ट साधु का उल्लेख योद्धा के रूप में है। वह त्रिपुरांतक शिव जैसा वीर था। उसने शत्रुओं के नगरों का दहन किया, और उन्हें पराजित लिया। ये विवरण मत्तमयूर साधुओं की सामरिक शक्ति के परिचायक हैं। अस्तु, तत्कालीन राजा उनका संरक्षण पाने को आतुर थे। अनेक अभिलेखों में विभिन्न राजाओं द्वारा उनके 'पदार्चन' का उल्लेख है। वक्तव्य यह है कि उनके पावन चरण नृपतियों के 'मुकुट की मणि मयूखों से आलोकित थे'। आश्चर्य नहीं कि इन शास्त्र विशारद साधुओं को 'महीमृत' कहा गया है, जो विशेषण सामान्यतः राजाओं का था।

उक्त विवरण मत्तमयूर साधुओं की संप्रभुता के सूचक हैं। उनके मठ साधन संपन्न थे। इन मठों में उनके कर्ता धर्ता थे। मलवापुरम अभिलेख के अनुसार इनमें शिल्पी वर्ग, जैसे मूर्तिकार, स्थपति आदि, और वीरभद्र तथा वज्रमुष्टि जैसे योद्धा भी थे। दंडाधिकारियों को 'कुक्षिच्छेद', 'शिरच्छेद' जैसे दंड देने का अधिकार था। इनसे साधुओं की न्यायिक, प्रशासनिक एवं राजनैतिक शक्ति भी स्पष्ट है।

निष्कर्षतः उक्त व्याख्या से प्रकट है कि मत्तमयूर साधुओं की ख्याति मात्र आध्यात्मिक उपलब्धियों पर आश्रित नहीं थी। अपितु ये सभी उनके वर्चस्व के साधन थे। यमुना से नर्मदा की घाटियों के बीच चंबल घाटी, प्राचीन दशार्णदेश (पूर्वी मालवा), चेदि (बुंदेलखंड) एवं डाहल (बघेलखंड से लेकर जबलपुर तक का भाग) का विशाल वनप्रांतर राजनीतिक दृष्टि से त्रिविधि विभाजित प्रतीत होता है। इस विभाजन में व्यापारी वर्ग नगरों में प्रतिष्ठित था। अरण्यों में आटविकों सहित मुनिवर्ग की सत्ता थी। वनांचलों से इतर क्षेत्र में राजा और उनके सामंत थे। सामंत राज्य की सीमाओं के रक्षक (मर्यादा धुर्य) थे। राजाओं की सत्ता वनांचलों में कमजोर थी। यह स्थिति एक अभिलेख की सूचना से और भी स्पष्ट है। इस अभिलेख में सामंत धूर्मट अपने सम्राट के पदासीन होने के बावजूद स्वयं को 'महाराजाधिराज' घोषित करता है। प्रकटतः यह उल्लेख सम्राट की कमजोरी का सूचक है। विभाजन की उक्त त्रिविधि व्यवस्था में 'आटवी' वन प्रांतरों में नृपतियों की सेनाओं, व्यापारियों तथा सार्थवाहों को आवागमन के लिए मत्तमयूर साधुओं की मध्यस्थता अनिवार्य रही होगी। आटविकों की आपदा या हिंसा से मुक्त रहने के लिए यह सहायता आवश्यक थी। विवशताओं का लाभ वनों में अपने दुर्ग जैसे मठों में स्थापित शक्तिसंपन्न साधुओं को मिला। वर्चस्व की इन स्थितियों में साधुओं का निर्द्वंद्व उत्कर्ष निहित था। राजनैतिक एवं सामाजिक तंत्र में संन्यासी एवं आटविक दो जातिच्युत वर्गों की निर्विघ्न प्रभुता का यह प्रसंग इतिहास में एक प्रतिद्वंद्वी एवं सामानांतर व्यवस्था का अपूर्व उदाहरण है।

नोट : *आलेख को सुपाठ्य बनाने में लेखक श्रीमती वीणा मिश्र का आभारी है।*

संदर्भ ग्रंथ

- वी. एस. पाठक (1960) शैव कल्टस इन नार्दन इंडिया, वाराणसी
- रमानाथ मिश्र (2008) भारतीय मूर्तिकला का इतिहास, दिल्ली (ग्रंथशिल्पी), पृ. 206-216
- (1999) 'रिलीजन इन ए डिसआर्गेनाइज्ड मिलिड', टी.ओ. कोनेल (सं.) आर्गेनाइजेशन ऐंड इंस्टीट्यूशनल ऐसपेक्ट्स ऑफ इंडियन रेलिजस मूवमेंट्स, शिमला/दिल्ली (मनोहर पब्लिशर्स) पृ. 59-78
- (2006) 'शैव सिद्धांत', जे. एस. ग्रेवाल (सं.) रिलिजस मूवमेंट्स एंड इंस्टीट्यूशंस इन मेडिवल इंडिया, दिल्ली (आक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस) पृ. 47-66

पत्नी बनाम पतिव्रता

शालिनी शाह

भारतीय संस्कृति के विश्लेषण में पतिव्रता धर्म का विशेष महत्व रहा है। इस संस्कृति की गरिमा को अक्सर पतिव्रताओं की कसौटी पर परखा गया है। दिलचस्प बात यह है कि इस विचारधारा का आगाज पश्चिमी देश के प्रारंभिक प्राच्यवादियों ने किया। इन भारतीयों (इंडालजिस्ट) में प्रमुख नाम क्लारिसे बाडेर का है। 1867 में प्रकाशित अपनी पुस्तक 'विमेन इन एंशेंट इंडिया' में बाडेर न कहा था कि हमें (यानि पश्चिमी लोगों को) भारत के जीवनदायी और उदार स्रोतों से, जहां परिवार के प्रति श्रद्धा का भाव चिह्नित किया गया है, और जीवन धर्म (ड्यूटी) से अनुप्राणित है, विश्रांति हासिल करनी चाहिए। हालांकि यूरोप के बुद्धिजीवियों में यूनान रोम की सभ्यता की उत्कृष्टता के प्रति अनन्य आदर भाव था किंतु क्लारिसे बाडेर ने इस विचार का पुरजोर खंडन किया। उनका मानना था कि प्राचीन भारतीयों की तुलना में यूनान कहीं निम्न श्रेणी पर आता है। अपने मत की पुष्टि में अत्युक्तिपूर्ण ढंग से बाडेर प्रश्न करती हैं—"किस शताब्दी में, किस देश में और किस साहित्य में सीता के चरित्र से अधिक प्रशंसनीय कोई अन्य चरित्र हमें मिलता है?" जर्मन भारतविद मेयर ने 1915 की अपनी पुस्तक में बाडेर के मत की पुष्टि करी। मेयर का मानना था कि सावित्री और दमयंती के अनन्य पति प्रेम की गाथा किसी भी अन्य साहित्य में मिलनी मुश्किल है। मेयर का तो यहां तक कहना था कि चाहे यूरोप के समूचे मध्यकाल का साहित्य हो अथवा फ्रांस का पुरातन और नवीन साहित्य हो या फिर जर्मनी का चर्चित समसामयिक साहित्य हो प्राचीन भारतीय एपिक साहित्य की उदार और धर्म से ओतप्रोत चेतना के समक्ष वे सब नितांत तुच्छ और छिछोरे प्रतीत होते हैं।

पश्चिमी भारतविदों की इस बुद्धिमता को भारतीय राष्ट्रवादियों ने लपक कर आत्मसात किया। चूंकि राष्ट्रवादी उपनिवेशीय काल में अपने राष्ट्र की अस्मिता को अक्षुण्ण रखने का प्रयास कर रहे थे उपरोक्त पाश्चात्य मनीषियों का कथन उनके कानों में संगीत की तरह बजा। उपनिवेशीय

प्रभुसत्ता को बनाए रखने के लिए देशीय (नेटिव) संस्कृति को हेय साबित करना आवश्यक था। यूटिलिटेरियन व ईसाई मिशनरियों (इवैंजलिस्ट) ने 'हिंदू' समाज की हेयता को उसकी स्त्रीविरोधी नीतियों में निहित बताया। इस औपनिवेशिक विचारधारा के खंडन में राष्ट्रवादियों ने रामायण की सीता को इलियड की हेलन के विरोध में प्रस्तुत किया। राष्ट्रवादी इतिहासकार रमेश चंद्र मजूमदार ने 1953 के अपने एक लेख 'आइडियल एंड पोजिशन ऑफ इंडियन विमेन इन डोमेस्टिक लाइफ' में स्पष्ट किया कि न तो ऋग्वेद में और न ही गृहसूत्रों के विवाह मंत्रों में पत्नी को मात्र 'आज्ञाकारिणी' बनाने पर जोर दिया गया है, किंतु स्मृति साहित्य तक आते आते आज्ञाकारी पत्नी की छवि उभर कर आती है। स्नेही, मधुर और पति समर्पित पत्नी, एक ऐसे आदर्श के रूप में उभरती है जिसने एक सहस्त्राब्दि तक हिंदू संस्कृति को चमत्कृत किया। मजूमदार का यह कथन राष्ट्रवादी इतिहास लेखन में एक अनूठा स्थान रखता है क्योंकि इस इतिहास लेखन में वैदिक काल को सर्वदा उत्कृष्ट माना जाता रहा है।

1957 में प्रसिद्ध लेखक वासुदेव शरण अग्रवाल ने महाभारत पर आधारित अपनी पुस्तक भारत सावित्री में इस महाकाव्य के पतिव्रता उपाख्यान के संदर्भ में कहा था कि बौद्ध धर्म के विरोध में भागवत धर्मावलंबियों ने गृहस्थाश्रम को तरजीह दी जहां भुक्ति और मुक्ति एक साथ पतिव्रता में निहित थी। अग्रवाल अपने इस कथन का स्पष्टीकरण प्रस्तुत नहीं करते किंतु शायद उनके कहने का तात्पर्य यह था कि पतिसेवा में स्त्री की मुक्ति है और पति की प्रसन्नता में पत्नी को इस लोक में सभी सुखों की प्राप्ति होती है।

नारीवाद के प्रादुर्भाव के साथ बाडेर से राष्ट्रवादियों तक सतत चली आ रही पतिव्रता पत्नी की इस प्रशंसा परिपाटी में नया मोड़ आया। नारीवादी विदुषियों ने घर में अधीनस्थ पत्नी और समाज में तिरस्कृत अशुभ विधवा के लिए पतिव्रता धर्म को जिम्मेदार ठहराया। उनका मानना था कि जब तक इस अनुसारिता प्रेरित विचारधारा का खंडन नहीं किया जाऐगा तब तक भारतीय समाज में सशक्त स्त्रियां उचित स्थान प्राप्त नहीं कर सकेंगी। मीनाक्षी मुखर्जी ने 1979 में मानुषी में प्रकाशित 'डैड व्हेर ऑफ ट्रेडिशन' शीर्षक के अपने एक लेख में कहा था कि जब तक सीता सावित्री के आदर्श वाली परम्परा पर प्रश्नचिह्न नहीं लगाए जाएंगे तब तक समाज में स्त्रियों की स्थिति को मजबूत नहीं किया जा सकता। मुखर्जी का कहना था कि सर्वस्व समपर्ण करने वाली पत्नी 'सीता' भारतीय संस्कृति का केवल एक कोण है, इसी संस्कृति के दूसरे छोर पर स्त्री जीवंतता की द्योतक 'शक्ति' भी मौजूद है। मुखर्जी का मानना था कि सीता एक 'अधूरा आदर्श' प्रस्तुत करती है क्योंकि वह इस संस्कृति के केवल एक कोण का प्रतिनिधित्व करती है, शक्तिरूपिणी कोण का नहीं। रामायण की तुलना में मुखर्जी महाभारत के नारी पात्रों से कहीं अधिक प्रभावित होती हैं, विशेषतः द्रौपदी से जो क्रोधित चंडी की तरह अपनी दुर्दशा के लिए जिम्मेदार लोगों की निंदा करती है और प्रतिकार चाहती है।

मुखर्जी के इस विचार को उमा चक्रवर्ती ने 1983 के अपने लेख 'द डिवेलपमेंट ऑफ सीता मिथः अ केस स्टडी ऑफ विमेन इन मिथ एंड लिटरेचर' में एक नए आयाम के साथ पेश किया। चक्रवर्ती का कहना था कि हालांकि सर्वस्वहारिणी, निष्कलंकित पत्नी का तमगा सीता के साथ अभिन्न रूप से संपृक्त है, हमें रामायण महाकाव्य के इस सीता चरित्र से परे सीता मिथक के विमार्गीय चित्रण को संस्कृत साहित्य से परे तलाशना होगा। चक्रवर्ती इस संदर्भ में जैन पद्मपुराण का उल्लेख करती हैं जहां राम और परिवार के प्रति उपजा वैराग्य भाव सीता को श्राविका के रूप में दीक्षा लेने को प्रेरित करता है। पाली साहित्य के दशरथ जातक में भी सीता की अवधारणा में पतिव्रता के आदर्श का कोई उल्लेख नहीं मिलता।

संस्कृतज्ञ अमरीकी विदुषी सैली सूदरलैंड ने 1989 के अपने लेख (सीता एंड द्रौपदी : अग्रेसिव

विहेवियर एंड फीमेल रोल माडेल्ज इन संस्कृत एपिक्स) में इस निष्कर्ष पर पहुंचीं कि न केवल द्रौपदी वरन सीता भी अपनी तरह से आक्रामक दिखाई पड़ती हैं। द्रौपदी बेबाक तरीके से साफ तौर पर अपने पतियों को नपुंसक और विशेषतः युधिष्ठिर को मूढ़ करार देती है। रामायण की सीता के अधिक विदग्धतापूर्ण शाब्दिक आक्रमण का भी सूदरलैंड खुलासा करती हैं। अयोध्याकांड में जब तक राम सीता को छोड़कर वन जाने का मन बनाते हैं तो सीता राम को चेतावनी देती हैं कि यदि उन्होंने ऐसा किया तो वह आत्महत्या कर लेंगी। सूदरलैंड इस संदर्भ में कहती हैं कि इस अवसर पर सीता के उद्‌गारों से यह स्पष्ट नहीं होता कि वह राम के प्रति अपनी निष्ठा के कारण ऐसा कह रही हैं अथवा वह रामविहीन अयोध्या के महल में अपने भविष्य को लेकर उपजी चिंता के कारण, ऐसा रुख अपना रही हैं। सीता राम को उकसाते हुए उन्हें ताना मारती हैं कि 'पुरुष के शरीर में एक स्त्री! अपनी अनभिज्ञता में किस तरह लोग झूठ का अवलंम्बन लेते हैं। राम का असीम बल कदापि उस सूर्य की भांति नहीं है जो दिन का आगाज करता है।' इस कथन में सीता अत्यंत विदग्धपूर्ण तरीके से न केवल राम के पौरुष पर प्रश्नचिह्न लगाती हैं अपितु उनके सूर्यवंशी रघुकुल की मर्यादा पर भी साहसपूर्ण टिप्पणी करती हैं।

पौला रिचमैन द्वारा संपादित पुस्तक क्वेसचिनिंग रामायण (2000) में संकलित 'येस टू सीता नो टु राम' के अपने लेख में मधु किश्वर वर्ग, संप्रदाय और लिंग भेद के अनेक स्तरों पर किए अपने एक सर्वेक्षण के आधार पर इस निर्णय पर पहुंचीं कि भारत की स्त्रियां कदापि अधीनता की हिमायत नहीं कर रही थीं जब उन्होंने सीता को अपना आदर्श घोषित किया। किश्वर का कहना था कि उनके सर्वेक्षण में यह तथ्य साफ उभर कर आया कि सीता को उनके प्रत्यर्थी एक ऐसी नारी के रूप में नहीं देखते थे जिसने अपने उत्पीड़न को बिना प्रतिवाद किए भोगा। अपितु वह सीता को मानसिक रूप से एक ऐसी अदम्य शक्तिशाली के रूप में देखते हैं जिसका धर्म राम के धर्म से कहीं अधिक श्रेष्ठ और विस्मयाभिभूत करने वाला है। सीता के धर्म और व्यक्तित्व की उदारता मर्यादा पुरुषोत्तम राम को लज्जित करती है। दूसरे शब्दों में कहें तो सीता की निष्ठा उसकी पराधीनता की नहीं अपितु उसकी संवेगशीलता व भावनात्मक दृढ़ता का प्रतीक है

II

वैदिक ग्रंथों में दारा की मुख्य पहचान 'पत्नी' के रूप में थी। अर्थात वह जो घर के मुखिया की पत्नी होने के नाते मालकिन थी। पत्नी के लिए प्रयुक्त होने वाली और संज्ञाएं हैं–'जाया' अर्थात विवाहिता स्त्री जो संतान को जन्म देनेवाली हो। दूसरी ओर महाकाव्यों में पत्नी की मुख्य अवधारणा पतिव्रत की है जिसे अनेक उपाधियों द्वारा चिह्नित किया गया है जैसे पतिधर्मरता, पतिधर्ममहाभागा, पतिव्रतपरायणा और पतिव्रतधारा साध्वी। अतः कुंती वधू द्रौपदी को आशीर्वाद को देते हुए कहती हैं कि वह सच्चरित्र और पतियों के प्रति श्रद्धावान हो (पतिव्रता), वह यज्ञ के अवसर पर उनकी पत्नी हो (यज्ञ पत्नी) और जीवित और साहसी पुत्रों की माता हो (जीवसूवीरसू)। किंतु इन सब भूमिकाओं में पतिव्रता के रूप में पत्नी की भूमिका को सबसे अधिक महत्व दिया गया है। यहां तक कि रामायण में गर्भवती सीता को गृह से सदा के लिए निष्कासित कर दिया गया क्योंकि उसकी सच्चरित्रता/सतीत्व के ऊपर लांछन लगाया गया था। पतिव्रता धर्म/पातिव्रत्य पत्नी का एकमात्र कर्तव्य निश्चित किया गया और महाकाव्य इस धर्म की लोकप्रियता बढ़ाने का साधन बन गए। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए महाकाव्य के संशोधकों/संपादकों ने जो व्याख्यात्मक साधन अपनाया वह था 'पतिव्रता महात्म्य आख्यान' एवं 'संवाद'। जैसे द्रौपदी सत्यभामा, शांडिली सुमना, उमा महेश्वर संवाद महाभारत में और अनसूया सीता संवाद रामायण में जहां इस धर्म के दर्शन की बारीकियों का परीक्षण किया

गया। गौरतलब है कि अधिकतर संवाद स्वयं स्त्रियों के मध्य थे और यह पितृसत्तात्मक समाज का 'मास्टर स्ट्रोक' कहा जा सकता है क्योंकि इसके द्वारा स्त्रियां स्वयं अन्य स्त्रियों को यह समझाने का प्रयास करती हैं कि इस संरक्षित अधीनता में उनके लिए सुरक्षा थी। समय के साथ इस धर्म ने एक स्वतंत्र धर्मपंथ का दर्जा हासिल कर लिया; विशेषतः जब इस धर्म को सती परिपाटी के साथ संलग्न कर दिया गया।

वैदिक साहित्य पतिव्रता के आदर्श का उल्लेख नहीं करता। हमें वैदिक ग्रंथों में पत्नी के लिए अनेक शब्द मिलते हैं जैसे पत्नी, जाया, पतिजुष्टा (पति की प्रिय), परिवृक्ता (पति द्वारा त्याज्य), पत्यानुत्ता (निष्कासित पत्नी), पतिद्विष (पति जिससे घृणा करे), पतिरिप (पति को छलने वाली) और पतिघ्नी (पतिहंता)। वेद में इंद्राणी को अनेक बार अविधवा और सुपुत्रा होने का आशीष दिया गया है। गृहसूत्र ग्रंथों में पत्नी को पतिवती (जिसका पति हो) और जीवपत्नी (जिसका पति जीवित हो) का सम्मान दिया गया है। केवल महाकाव्यों में ही पतिव्रता और पतिव्रता धर्म की एक व्यवस्थित विचारधारा को प्रतिपादित किया गया है। प्रारंभिक समय में वेदों में पत्नी की अवधारणा विशेषतः पतिघ्नी के उसके स्वरूप को सदा के लिए तिलांजलि दे दी जाती है और उसके स्थान पर सौम्य पतिवत्सला की छवि निरूपति कर दी जाती है। शाकंबरी जयाल ने पत्नी की अवधारणा के संक्रमण पर टिप्पणी की है, जो सहधर्मिणी अर्थात पति की मित्र और विश्वस्त है और स्वतंत्र निर्णय लेने का अधिकार रखती है, उसका पतिव्रता के रूप में उभरना जो मात्र पतिरूपी देवता की अनुयायी भर है—'भर्ता में दैवतम् परम्'। इस पतिव्रता पत्नी के जीवन का एकमात्र लक्ष्य पति की आराधना है।

दारा का पत्नी से पतिव्रता की ओर हुआ संक्रमण एक ऐसी प्रक्रिया है जिसे हम 'पतिव्रताकरण' की संज्ञा ने अभिहित कर सकते हैं। यह पतिव्रताकरण सबसे सशक्त रूप में द्रोपदी के चित्रण में दिखाई देता है। निडर और बुद्धिमान द्रौपदी जो सोचने की शक्ति रखती थी और जिसका युधिष्ठिर आरण्यक पर्व में पंडिता और पतिव्रता कहकर परिचय देते हैं, उसी पर्व में द्रौपदी का 'पतिव्रताकरण' अपनी पराकाष्ठा पर पहुंचता है। अकस्मात ही द्रौपदी सत्यभामा के साथ अपने संवाद में पतिव्रता धर्म का बखान करती है। और इस प्रकार महान पतिव्रताओं की श्रेणी में उसकी गिनती होती है। द्रौपदी सत्यभामा से कहती है कि पति के आश्रय में रहना (पत्याश्रयी) स्त्री के लिए सनातन धर्म है। पति देवता है वही एकमात्र शरण है तो फिर क्यों कोई स्त्री उसे अप्रसन्न करेगी। यह वजह निरंतर दोनों महाकाव्यों में दोहराई जाती है।

द्रौपदी के अलावा अत्रि मुनि की पत्नी अनसूया और वसिष्ठ की पत्नी अरुंधती का चित्रण भी पत्नी के शुद्धिकरण की ओर इशारा करता है जिससे उन्हें पतिव्रता के अनुरूप भूमिका में ढाला जा सके। हमने देखा है कि किस प्रकार महाभारत महाकाव्य की ब्रह्मवादिनी अनसूया रामायण की पतिव्रता अनसूया में परिवर्तित हो जाती है। भारतीय परंपरा में ऋषि वसिष्ठ की पत्नी अरुंधती की गिनती महान पतिव्रताओं में होती है। तथापि महाभारत के आदि पर्व में अरुंधती की एक पूर्णतः भिन्न छवि की स्मृति सुरक्षित है। महाभारत बताता है कि विश्वस्त और भली अरुंधती जो जगत प्रसिद्ध थीं अपने पति ऋषि वसिष्ठ पर अविश्वास करती थीं। वसिष्ठ सदैव शुद्ध चित्त और अरुंधती के सुख और सौजन्य के प्रति समर्पित थे तथापि उस सप्त ऋषियों में साधुऋषि से घृणा करती थीं। वसिष्ठ के प्रति इस अवमानना के कारण वह अब एक लघु सितारे के रूप में हैं जो धुएं से आच्छादित एक लाल अंगारे के रूप में दिखाई देता है और अपशगुन का द्योतक है। इस कथा में जो दिलचस्प तथ्य है वह यह कि ध्रुवीय नक्षत्र अरुंधती को अपशगुन का प्रतीक बताया गया है; क्योंकि अरुंधती का अपने पति के प्रति व्यवहार सच्चरित्र नहीं था। तथापि अश्वालायन गृहसूत्र में वधु को ध्रुवीय नक्षत्र अरुंधती के दर्शन कराए जाते हैं और साथ ही उससे यह कामना करवाई जाती है कि उसका पति

दीर्घायु हो और वह अनेक संतान की माता हो।

पति को देवता मानकर उसकी आराधना पतिव्रता धर्म का विशिष्ट सिद्धांत था। और हमें इस आराधना के कारणों की व्याख्या करने की आवश्यकता है। शांति पर्व में कपोती कहती है कि पिता से मिलने वाला सुख सीमित है। माता और पुत्र भी अल्प सुख देने वाले हैं। फिर कौन स्त्री होगी जो अनन्य सुख देने वाले पति की आराधना न करे। पति के समान दूसरा संरक्षक नहीं है, न ही कोई सुख उससे श्रेष्ठ है। अतः स्त्री के लिए सब कुछ त्याग कर पति की शरण में जाना श्रेयस्कर है। इस प्रकार पति को स्त्री के सभी सुखों का प्रमुख कोष बताया गया है। जो उसके लिए स्वर्ग का द्वार खोलता है। (पति प्रसादाः स्वर्गोवा)। इसकी कल्पना करना भी मुश्किल है कि स्त्री पति के अलावा किसी और रिश्ते से सुख और पोषण प्राप्त कर सकती है क्योंकि पतिर्बंधु पतिर्गतिः –वही स्त्री का एकमात्र बंधु और उसका आखिरी लक्ष्य है।

पतिव्रता, स्त्री की सेविका भूमिका का प्रतीक थी। वस्तुतः पतिव्रता धर्म स्त्रियों को इस सेवा भूमिका में ढालने की विचारधारा थी। यह धर्म 'स्व' को अपनाने, उसे स्वीकृत करने का धर्म न होकर 'स्व' को अस्वीकार करने वाला और पति के प्रति संपूर्ण रूप से समर्पित होने वाला निष्क्रिय धर्म था। बहरहाल कभी कभार इस धार्मिक रिश्ते को चिर परिचित रूढ़िगत शब्दों के द्वारा दर्शाया गया है। जैसे (पत्नी द्वारा) इंद्रियों पर अंकुश लगा करके अपने मन को नियंत्रण में करना। इस धर्म की निष्क्रियता पुरुष के धर्म की तुलना में जो एक ब्रह्मचारी या फिर एक गृहस्थ के रूप में तर्कसंगत आत्मनियंत्रण और अति से परहेज करने पर आधारित था, देखा जाना चाहिए। पतिव्रता एक अत्यंत चातुर्यपूर्ण विचारधारा थी जो पितृसत्तात्मक गृहों में स्त्रियों के ऊपर शारीरिक नियत्रंण रखने की आवश्यकता की अवहेलना करती थी। क्योंकि इस प्रकार के नियत्रंण को स्थापित करना अथवा उसको बनाए रखना बहुत कठिन होता। इसकी एवज में पितृसमाज ने पतिव्रता धर्म की नींव रखी जो मनोवैज्ञानिक स्तर पर पितृसमाज के उत्पीड़न करने वाले नियमों के प्रति स्त्रियों की सहमति जुटाती थी।

पतिव्रता पत्नी से अपेक्षा की जाती थी कि वह न केवल अपने पति की वरन उसके समस्त गृह की जिसमें उसके माता पिता और सहपत्नियां शामिल थीं, सेवा करेगी। शाडिली सुमना से कहती है–'मैंने हमेशा सावधान रहकर अपने पति के विरुद्ध कोई अपशब्द नहीं कहा। मैंने हमेशा अपने सास ससुर की सेवा भलीभांति की।' द्रौपदी कहती है कि मैं आर्या कुंती की सेवा स्वयं करती हूं। और कभी उनके साथ प्रतिस्पर्धा नहीं करती और न ही उनकी आलोचना करती हूं।' अपने पांचों पतियों का स्नेहभाजन बनने के लिए द्रौपदी ने बिना किसी स्वार्थ, पसंद और नापसंदगी के पांडवों को उनकी पत्नियों (सादारान) के साथ सेवा की। इस विचारधारा की सफलता इस बात में स्पष्ट झलकती है कि वेद में वर्णित देवपत्नी इंद्राणी से लेकर गृहसूत्र की सामान्य पत्नियां जो सदैव सपत्नियों के प्रभाव को निष्फल कर पति को अपने नियंत्रण (वश्यो भवति) में लाने का अथक प्रयास करती थीं अब स्वयं को इन उपायों के विरुद्ध बताती हैं। द्रौपदी सत्यभामा से कहती है कि कोई पति मंत्रों के उच्चारण से अधिक पत्नी प्रेमी नहीं बनाया जा सकता।

भारतीय परंपरा में सावित्री पतिव्रताओं में श्रेष्ठतम मानी जाती है। आरण्यक पर्व के पतिव्रता महात्म्य आख्यान में कहा गया है कि सावित्री ने अपने अनेक गुणों, स्नेह व्यवहार, आत्मनियत्रंण और सेवा द्वारा सबको हर्षित किया। उसने अपनी सास को उनके शारीरिक सुखों का ध्यान रखकर जीत लिया और अपने श्वसुर की देवता की भांति पूजा करके और अपनी जबान पर अंकुश लगाकर प्रसन्न किया। इसी प्रकार प्रियवचन, सुघड़ता, मीठे स्वभाव और एकांत में सेवा टहल द्वारा अपने पति को संतुष्ट किया। अनुशासन पर्व में उमा पतिव्रता धर्म पर दिए अपने व्याख्यान में कहती हैं कि जो प्रातः

शीघ्र उठकर गृह को साफ करती है, अतिथियों और स्वजनों के लिए भोजन तैयार करती है और बचे हुए भोजन को फिर ग्रहण करती है वही वास्तविकता में सती है। ऋषि मार्कण्डेय युधिष्ठिर से कहते हैं कि समर्पित पत्नी सदैव अपने पति की थाली से बचा खाना खाएगी (उच्छिष्टम् भुञ्जते भर्तु)। शांति पर्व में कपोत अपनी पत्नी के लिए कहता है कि वह एक आदर्श पतिव्रता थी अतः मुझे खिलाए बगैर उसने कभी नहीं खाया, मुझसे पहले स्नान व शयन नहीं किया। इसके अलावा पतिव्रता का सेवा धर्म संशय और असंतोष की कोई गुंजाइश नहीं छोड़ता था। महाकाव्य में एक स्थान पर कहा गया है कि जो पति द्वारा प्रताड़ित होने पर भी निरंतर मुस्कुराती है वही सच्ची पतिव्रता है। कपोती तो यहां तक कहती है कि स्त्री कहलाने योग्य ही नहीं है यदि उसका पति संतुष्ट नहीं है (यस्य भर्ता न तुष्यति), चूंकि तृप्ति एक अमूर्त और अल्पकालिक भावना थी अतः पतिव्रता पत्नी निरंतर ऊहापोह की स्थिति में रहने को बाध्य थी। इसके अलावा वह सदैव पति को प्रसन्न और संतुष्ट रखने की चेष्टा में लगे रहने पर भी मजबूर थी। यदि इसके लिए उसे अपने प्राणों की भी बाजी लगानी पड़े तो उसे इसके लिए तत्पर रहना था, आरण्यक पर्व में युधिष्ठिर द्रौपदी के अपमान के लिए जिम्मेदार होने के बावजूद यह कहने का दुःसाहस रखते थे कि साध्वी स्त्री पति द्वारा त्यागे जाने पर भी क्रोधित नहीं होती अपितु अपने सदाचारी व्यवहार से अपने जीवन को सुरक्षित रखती है। पतिव्रता मन, वचन और कर्म से पति का बिना किसी दुविधा और परिवाद के अनुसरण करती थी। संक्षेप में कहा जाए तो पतिव्रता स्त्री अपने पति की विशिष्ट और परिवादविहीन परिचारिणी थी और इसी में उसका गौरव निहित था।

पतिव्रता धर्म की विचारधारा स्त्री को स्वत्वहीन करती थी। ऐसी स्त्री अपने स्वयं के सुख और अनासक्ति की हकदार नहीं थी। खाने, पीने और पहनने में भी उसके पति की इच्छा का महत्व सर्वोपरि था। पत्नी के धार्मिक दायित्व भी उसके पति के अधीन थे। महाकाव्य कहता है कि स्त्रियों के लिए किसी यज्ञ अनुष्ठान का विधान नहीं है न ही कोई श्राद्ध और व्रत का पालन उसके लिए आवश्यक है। अपने पति की आज्ञाकारी होकर प्रेमपूर्वक उनकी सेवा करना स्त्री का एकमात्र दायित्व है और इस कर्तव्य को निबाह कर वह स्वर्ग की प्राप्ति कर सकती है। चूंकि गृह में स्त्री की निरंतर सेवा की आवश्यकता थी, गृहस्थ जीवन का त्याग कर स्वयं अपने लिए पुण्य के संचय की अनुमति उन्हें नहीं दी जा सकती थी। शांडिली कहती है कि उसने पतिव्रता धर्म के अनुसरण द्वारा देवलोक (स्वर्ग) में अपने लिए स्थान बना लिया है न कि तपस्वी के समान भगवे वस्त्र धारण कर, अथवा साधु के समान पेड़ की छाल पहन या फिर केश को जटाजूट बना कर अथवा सिर मुंडा कर यह प्राप्त किया है। महाकाव्य एक विशिष्ट लोक—पतिलोक की परिकल्पना करता है जो पतिव्रता के मोक्ष की चरम परिणति है। और जहां वे आजन्म की गई निष्ठापूर्ण सेवा का पुरस्कार प्राप्त करनेवाली हैं।

पतिव्रता की अवधारणा से संपृक्त है सतीत्व या पति के प्रति एकनिष्ठ रहना। शांडिली कहती है 'मैं कभी घर की दहलीज पर खड़ी नहीं हुई और न ही मैंने किसी से बातचीत की।' द्रौपदी सत्यभामा से कहती है कि उसे अपने वयस्क पुत्रों प्रद्युम्न और साम्ब के साथ भी एकांत में नहीं रहना चाहिए। इस प्रकार के बयानों का क्या अर्थ निकलता है? वस्तुतः स्त्री की यौनिकता का उत्पीड़न पुरुष अनेक प्रकार से सुनिश्चित करते थे और उनमें से एक तरीका कृत्रिम विभाजन द्वारा स्त्रियों का सती और असती में वर्गीकरण था। द्रौपदी और शांडिली के कथन को हम इसी संदर्भ में परख सकते हैं। सम्मानजनक स्त्रियों की चारित्रिक शुद्धता पर जोर देने की धारणा को हास्यापस्द हद तक ले जाया गया। पतिव्रता की परिभाषा में कहा गया कि वह ऐसी स्त्री है जो पति के अलावा सूर्य चंद्रमा और पेड़ों पर भी दृष्टिपात नहीं करती क्योंकि वे पुल्लिंग नामधारी हैं।

यदि सतीत्व इतना महत्वपूर्ण था तो जाहिर सी बात है कि सामाजिक नियम इस सतीत्व की परीक्षा का भी प्रावधान करेंगे। अग्निपरीक्षा पतिव्रता स्त्री के लिए ऐसी ही एक परीक्षा थी। पत्नी इस परीक्षा में खरी उतर कर पति के प्रति अपनी एकाग्र निष्ठा का परिचय दे सकती थी। रोमिला थापर का कहना है कि अग्निपरीक्षा की यह अवधारणा स्त्री की शुद्धता प्रदर्शित करने के साधन के रूप वैदिक साहित्य में नहीं मिलती। महाभारत का रामोपाख्यान भी सीता द्वारा अग्निपरीक्षा का वर्णन नहीं करता। किंतु रामायण में सीता की अग्निपरीक्षा एक महत्वपूर्ण घटना है जो पितृसत्तात्मक समाज के अधिक कठोर हुए नियमों को दर्शाती है। यौन नियमों की उत्तरोत्तर बढ़ती कठोरता दोनों महाकाव्यों में यौन आतिथ्य के भिन्न चित्रण में भी झलकती है। महाभारत के अनुशासन पर्व में हमें ओघवती की कथा मिलती है जो अपने पति की आज्ञा से (छद्मवेशी) अतिथि को यौन सेवा द्वारा संतुष्ट करने को उद्यत होती है। तथापि महाकाव्य में ओघवती को 'भर्तृव्रता सती' कहा गया है। अगले ही श्लोक में उसके लिए साध्वी संबोधन प्रयुक्त किया जाता है, यद्यपि प्रणयी अतिथि उसका आलिंगन कर रहा है और वह स्वयं सकुचा रही है (लज्जिता)। इसके विपरीत रामायण में सीता अतिथि रूप में आए साधु वेशधारी रावण के यौन प्रस्ताव को उग्रतापूर्वक अस्वीकृत कर देती है।

नितांत स्वत्वहीन और अपने पति का मात्र एक महिमामय उपांग पतिव्रता स्त्री अपने जीवन का अर्थ ही खो बैठती है जब पति काल कवलित हो जाता है। शांति पर्व में सद्यः विधवा कपोती कलपते हुए कहती है कि तुम्हारे बिना (मेरे) इस जीवन का प्रयोजन ही क्या है? ऐसी कौन सी पतिव्रता होगी जो पति के बिना जीवित रह सकती हो। कपोती अपनी वैवाहिक निष्ठा का विकट प्रदर्शन करते हुए अग्नि में प्रवेश करती है। पतिव्रता स्त्री का दुर्भाग्य यह था कि जिस देवता की आराधना वह करती थी वह अमर न होकर मर्त्य मानव था, अतः इस रिश्ते को शाश्वत बनाने का दायित्व पत्नी पर था जो अपने प्राणों की आहुति देकर अपने और पति के लिए अमरत्व हासिल करना चाहती थी।

पतिशुश्रूषा धर्म, युधिष्ठिर स्वीकृत करते हैं कि दुष्कर था और इस धर्म का नियमन करने वाले इस तथ्य से बेखबर नहीं थे कि इसका पालन कठोर तपस्या के बराबर था। इसलिए मुआवजे के रूप में वह इन पतिव्रताओं को आसाधारण शक्ति से विभूषित करते थे। उदाहरणस्वरूप गांधारी का मात्र दृष्टिपात युधिष्ठिर के पैर की उंगली जलाने में सक्षम था और गांधारी का शाप समस्त यदुवंश का विनाश कर सकता था। सावित्री के पातिव्रत्य का तेज मृत पति को यमलोक से भी वापस ला सकता था। अपने पति की सेवा में लगी ब्राह्मणी दिव्य दृष्टि की क्षमता रखती थी। दमयंती के शाप से उनका पीछा करता पुरुष मृत्यु को प्राप्त हुआ। अनसूया अपने सतीत्व की शक्ति से नदी का रुख बदलने में सफल हुई। पितृसमाज अपेक्षा करता था कि स्त्रियां पतिव्रता के आदर्श का अनुसरण न केवल धर्मपालन के लिए करेंगी अपितु उस फल की प्राप्ति के लिए भी करेंगी जो इस धर्मपालन से उन्हें प्राप्त होगा।

पतिपरायण स्त्रियां एक ऐसे समाज का प्रतीक थीं जहां पितृसत्ता की जड़ें मजबूत हो चुकी थीं। इस प्रकार के समाज में स्त्रियां यथार्थतः अपने आप को पुरुषों के आश्रित के रूप में देखती थीं। न केवल प्राचीन भारत में अपितु सुमेर की संस्कृति में भी इस पतिव्रता धर्म के बीज दृष्टिगोचर होते हैं। हमें एक राजसी महिला कुंशीमातुम का जिक्र मिलता है जो अपनी सुरक्षा के हित में प्रार्थना न करके अपने पति के लिए प्रार्थना करती है क्योंकि उसका मानना है कि उसका जीवन पति के संरक्षण में ही समृद्ध हो सकता है। गर्डा लर्नर सुमेर के इतिहास की अपनी व्याख्या में कहती हैं कि शक्ति और सत्ता के ऐसे रिश्ते पनप रहे थे जहां कुछ पुरुष अन्य पुरुषों पर और सभी स्त्रियों पर अपना वर्चस्व स्थापित कर रहे थे। वे स्त्रियां भी जो शक्तिशाली अभिजात वर्ग से संपृक्त थीं अपने

आपको मात्र पुरुषों के संरक्षण पर आश्रित मान रही थीं। लर्नर कहती हैं कि यह स्त्री की दुनिया का सामाजिक अनुबंध था। स्वायत्तता और सत्ता से च्युत स्त्रियां पुरुषों के संरक्षण की मुहताज थीं और अपनी सेवा भूमिका में प्रयत्नशील रहकर अपने और अपनी संतान के लिए सबसे श्रेयस्कर सौदा करने के लिए बाध्य थीं। द्रौपदी स्त्रियों की इन चिंताओं को स्वर देते हुए कहती है कि स्त्रियों के लिए पति के समान कोई देवता नहीं है। यदि वह प्रसन्न है तो स्त्री की सब इच्छाएं पूर्ण होती हैं और यदि अप्रसन्न होता है तो स्त्री के लिए सब कुछ समाप्त हो जाता है। स्त्री को संतान, सुख सुविधा, सोने और रहने का स्थान...लोक प्रतिष्ठा और स्वर्ण की प्राप्ति होती है। द्रौपदी निष्ठावान पत्नी के रूप में अपनी भूमिका पर टिप्पणी करते हुए कहती है 'इस पृथ्वी पर कोई आनंद आसानी से नहीं मिलता। एक साध्वी कठिनाई सहकर ही सुख की प्राप्ति करती है।'

पत्नी के पतिव्रता धर्म की सराहना हम पुत्र धर्म के साथ जोड़कर ही कर सकते हैं। पत्नी का अपने देवता स्वरूप पति के प्रति निष्ठा और समर्पण और पुत्र का अपने माता पिता (जिन्हें प्रत्यक्ष देवता कहा गया है) के प्रति भक्ति भाव दो समानांतर धर्म हैं। अतः इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि पितृतंत्रीय रिश्तों की संरचना में युधिष्ठिर इन दोनों धर्मों का साथ उल्लेख करते हैं। यदि पत्नी के लिए पतिसेवा (पतिशुश्रूषा) दुष्कर है तो पुत्र द्वारा माता पिता की टहल (माता पितरोश्चशुश्रूषा) भी उतना ही कठिन हैं। दोनों महाकाव्यों में पतिव्रता सर्वव्यापक है किंतु उससे भी अधिक महत्वपूर्ण भूमिका इन ग्रंथों में पुत्र की है जो अपने माता पिता के प्रति निर्विवाद समर्पण का भाव रखते हैं। रामायण इस तथ्य को राम और श्रवण कुमार के व्यक्तित्व में समाहित करके दर्शाता है। महाभारत में भी पुत्र का त्याग देवव्रत भीष्म द्वारा पिता शांतनु के सुख के लिए अपने सारे अधिकारों और इच्छाओं का बलिदान इस महाकाव्य में कई पीढ़ियों के कुरुवंश की कथा का मर्मस्थल है।

किंतु फिर भी ऐसा ज्ञात होता है कि एक जैसे प्रतीत होने वाले दोनों धर्मों में दो मुख्य विभिन्नताएं थीं। पुत्र को केवल माता पिता के जीवनकाल में उनकी निष्ठापूर्वक सेवा करनी होती है। उनकी मृत्यु के उपरांत उनके श्राद्ध कर्म के अलावा पुत्र से कोई और अपेक्षा नहीं की जाती। किंतु पतिव्रता पत्नी अपना समस्त जीवन इस सेवा में बिताती है और पति की मृत्यु के बाद भी उसके प्रति पत्नी का समर्पण और भक्ति समाप्त नहीं होती। महाकाव्य पुत्र को प्रेरित करते हुए कहता है कि वह उन माता पिता को संतुष्ट करे जिन्होंने पहले से ही उसके लिए सब कुछ किया है और इस प्रकार यश का भागी बने। अतः पुत्र का धर्म भले ही वह दुष्कर हो, माता पिता के ऋण को चुकाने के अवसर के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। इसके विपरीत पत्नी से पतिव्रता धर्म के पालन की अपेक्षा की जाती है यद्यपि उसे पति से भावनात्मक और आर्थिक किसी स्तर पर कुछ भी प्राप्त न हो।

III

महाभारत पर प्रकाशित होने वाली हाल की कुछ रचनाओं में उत्तर आधुनिकतावाद की अवधारणा से प्रेरणा ली गई हैं। चूंकि यह अवधारणा संरचनात्मक सत्य की वैधता को नकारती है; इन लेखकों ने पतिव्रता को मात्र एक प्रकार से पढ़ने के विरुद्ध दलील दी है। स्टैफैनी जैमिसन का मानना है कि सावित्री आख्यान का बयान करने में कथाकारों के वैचारिक पूर्वाग्रह कहानी में हेर फेर करते हैं। जैमिसन कहती हैं कि सावित्री एक दिलेर और विद्रोही स्त्री थी जिसने मृत्यु के देवता यम को भी अपनी मौखिक दलीलों से निरुत्तर कर अपने पति की जीवन शक्ति को पुनः वापस लौटाया। अतः जैमिसन कहती हैं कि यह चित्रण एक विनम्र हिंदू पत्नी की छवि प्रस्तुत नहीं करता। निस्संदेह जैमिसन का कहना सही है कि सावित्री दिलेर थी न कि निष्क्रिय। वस्तुतः सावित्री अपने पति के

हक में अत्यंत साहसी और सक्रिय थी। किंतु जब जैमिसन सावित्री द्वारा यमराज को निरुत्तर करने की बात करती हैं, तो वह इस तथ्य को नजरंदाज करती हैं कि सावित्री ऐसा इसलिए कर सकी क्योंकि यमराज ने भी पितृसत्तात्मक समाज के इन मूल्यों को आत्मसात कर लिया था कि एक पतिव्रता पत्नी केवल अपने विवाहित पति से ही संतान उत्पन्न कर सकती है। आखिरकार कोई प्राकृतिक नियम एक जीवित और स्वस्थ स्त्री को यदि वह चाहे तो संतानोत्पादन से नहीं रोकते थे। गौरतलब है कि महाभारत के अनेक प्रसिद्ध नायक नियोग प्रथा से जन्मे थे।

रूथ वनिता महाभारत के पतिव्रता महात्म्य आख्यान को पत्नी के मातहती की स्तुति के रूप में नहीं देखतीं अपितु उनका कहना है कि हम पतिव्रता गृहपत्नी के 'निःस्वार्थ जीवन' में जो अपने पति की सेवा में संलग्न है, उसकी क्रिया शक्ति, चुनाव, स्वतः किया गया कार्य और उससे उपजी गरिमा की झलक देख सकते हैं। वस्तुतः रूथ वनिता एक छलपूर्ण विचारधारा की व्याख्या के लिए अत्यंत अर्थ बोझिल शब्दावली का इस्तेमाल करती हैं जिसने स्त्रियों से उनके स्व की पहचान को छीन कर उसके स्थान पर एक यांत्रिक जीव को स्थापित किया जिसके लिए पति ही निर्देशन का एकमात्र केंद्रबिंदु था।

लौरी पैटन द्वारा की गई द्रौपदी सत्यभामा संवाद की व्याख्या उन्हें इस निष्कर्ष पर पहुंचाती है कि हमें इसे एक पारंपरिक अर्थ में पत्नी द्वारा पति के अनुसरण के संदर्भ में नहीं पढ़ना चाहिए। पैटन का मानना है कि स्त्री द्वारा पातिव्रत्य का पालन पति और पत्नी दोनों की ही तरफ से किया जाने वाला व्यवहार था। उदाहरणतः द्रौपदी की निष्ठावान आज्ञाकारिता उसके पतियों को भी उसके वश में करती थी (भर्तारो वशगा)। पैटन पति के घर में विभिन्न सदस्यों के लिए द्रौपदी द्वारा प्रदान की गई सेवा को, उसके द्वारा पांडवों के गृह को गतिशीलता और उनमें बनते रिश्तों के महत्व के प्रति एक सारगर्भित जागरूकता बताती हैं।

जैमिसन वनिता और पैटन की प्रवीण और प्रलोभक दलीलें अंततः मात्र चमकदार परत हैं एक ऐसी विचारधारा पर जो वास्तविकता में पत्नी की अधीनस्थता की चरम पराकाष्ठा है। इन विदुषियों द्वारा प्रयुक्त शब्दों की बाजीगरी और संदर्भ की दुहाई किसी महत्वपूर्ण सामाजिक सत्य का उद्घाटन नहीं करती। वनिता और पैटन इस तथ्य पर गौर नहीं करतीं कि क्यों इन आज्ञाकारी पत्नियों के देवता स्वरूप पति कभी अपवाद रूप में ही सही अपनी पत्नी की सेवा टहल कर स्वयं को गौरवान्वित नहीं करते। इसके अलावा यदि पतिव्रता पत्नी की निष्ठापूर्वक की गई सेवा मात्र गृह के गतिशील रिश्तों से समझौते की सौदाबाजी है तो प्रश्न यह उठता है कि इसी गृह के सदस्य पति की इन लैंगिक रिश्तों के प्रति जागरूकता पूर्णतः अलग स्तर पर क्यों है? और जहां तक पत्नी की आज्ञाकारिता के एवज में पति की आज्ञाकारिता का मुद्दा है यह पत्नी के लिए मात्र किस्मत हो सकती है। जैसा कि अनसूया सीता को दिए गए पातिव्रत्य पर अपने प्रवचन में कहती हैं कि यद्यपि पति व्यभिचारी (कामवृतो) और उद्दंड (दुःशील) हो तथापि...पतिव्रता पत्नी सदैव उसका अनुसरण करती है (समयानुवर्तिनी)।

IV

पैटन जैसे विद्वानों की बहुध्वनीय स्वर की दलील उचित है, चूंकि सभी परंपराओं में यह मौजूद होती है। तथापि रूढ़िवादी (महान) परंपराओं को हथियाकर एक सशक्त पतिव्रता की छवि का निरूपण नहीं किया जा सकता। हमें बहुध्वनीय स्वरों को वैकल्पिक लोक (लघु) परपंराओं में तलाशना होगा जहां पतिव्रता के व्यक्तित्व को मूलभूत तरीके से पलटा गया है। इस संदर्भ में 'प्रातः स्मरणीया पंचकन्या' की परंपरा विशेष रूप से प्रासंगिक है। इन पांच में जिन नारियों की गिनती होती है उनमें

कुंती, द्रौपदी, अहल्या, तारा और मंदोदरी शामिल हैं। पहली दो स्त्रियां क्षत्राणी थीं। अहल्या ब्राह्मणी थी। तारा वानरी और मंदोदरी राक्षसी थी। इस प्रकार, अंतिम दोनों स्त्रियां आर्यों की सामाजिक संस्कृति के बाहर थीं। कुंती ने कानीन पुत्र को जन्म दिया था और तदुपरांत पांडु के लिए नियोग प्रथा से पुत्र उत्पन्न किए थे। द्रौपदी ने पांच पतियों से विवाह किया था और अहल्या ने जानते हुए भी (विज्ञ) परपुरुष के साथ सहवास किया था, यद्यपि ब्राह्मण स्त्री होने के नाते यौन शुचिता के नियम उसके लिए सबसे कठोर रहे होंगे। तारा ने बालि की मृत्यु के बाद अपने देवर सुग्रीव से विवाह किया। पतिव्रता के लिए मन और कर्म से एकमात्र अपने पति को ही समर्पित होना उसके धर्म की मुख्य विशेषता है। तथापि उपरोक्त सभी उदाहरण यौनिकता के एक भिन्न यथार्थ का निरूपण करते हैं।

पतिव्रता धर्म का एक और महत्वपूर्ण घटक है पत्नी द्वारा पति की किसी बात का निषेध न करना और उसके प्रति पूर्ण निष्ठा रखना। तथापि द्रौपदी, तारा और मंदोदरी अपने पति के व्यवहार की तर्कपूर्ण निंदा करने से नहीं सकुचातीं। सैली सूदरलैंड कहती हैं कि द्रौपदी के चरित्र में एक विशेष आकर्षण है क्योंकि उसके उत्पीड़न के साथ संपृक्त है उसके द्वारा अपने इस उत्पीड़न का अहसास। द्रौपदी अपने उत्पीड़न का जमकर प्रतिवाद करती है और अपने पतियों को मूढ़ और नपुंसक जैसे उलाहने देती है। इस प्रकार द्रौपदी पतिव्रता की उस अवधारणा का समूलोच्छेद करती है जो उनसे बिना प्रतिवाद के कठोरतम आजमाइश को सहन करने की अपेक्षा करती है। तारा और मंदोदरी भी प्रेम करनेवाली पत्नियां हैं तथापि वह कभी भी अपने पतियों की निजी प्रशंसिकाओं के रूप में सामने नहीं आतीं, अपितु वह उनके गलत कामों के लिए उनकी निंदा करने का अधिकार रखती हैं। मंदोदरी निरंतर रावण द्वारा सीता के अपहरण की भर्त्सना करती है। तारा रामायण और महाभारत के रामोपाख्यान में अपने पति बालि से सुग्रीव से न लड़ने का अनुरोध करती है।

क्यों और किसके लिए महाकाव्य की इन पांच नारियों को प्रातः स्मरणीय बताना महत्वपूर्ण था। क्या हम पंचकन्या के इस लोक मिथक को समाज के एक विपरीत प्रवचन के रूप में देखें? क्या पंचकन्याओं की यह अवधारणा किसी विद्रोही की आवाज है, जो इन पांचों नारियों द्वारा हालांकि साधारण रूप से प्रचलित पतिव्रताएं नहीं थीं, एक व्यापक सांस्कृतिक परंपरा में मौजूद अनिश्चिचता के तथ्य को उजागर करने की चेष्टा कर रहा है? संभवतः प्रातः स्मरणीया पंचकन्या की अवधारणा एक उच्छेदक कूटयुक्ति थी उन लोगों की जो पतिव्रता के दमघोटू आदर्श का विरोध कर रहे थे।

संदर्भ ग्रंथ सूची

- महाभारत, गीतप्रेस गोरखपुर संस्करण
- माधवानंद तथा मजूमदार (सं), ग्रेट विमेन ऑफ इंडिया, 1953
- शाकंबरी जयाल, द स्टेंटस ऑफ विमेन इन द एपिक्स, 1966
- शालिनी शाह, नारीत्व का गठनः महाभारत में लैंगिक संबंधों की संरचना, ग्रंथ शिल्पी, 2016
- ब्राडबैक तथा ब्लैक (सं.), जेंडर एंड नैरिटिव इन द महाभारत, लंडन, 2007

कोई है जो

देवी प्रसाद मिश्र

मैं यह बताने की हालत में कभी नहीं रहा कि मुझे यह कैसे पता लगा कि वह आदमी जिसके हाथ जिसकी देह से ज्यादा बड़े लगते थे और जो इस तरह से चल रहा होता था कि उसे इस दुनिया से छूटने वाली आखिरी बस पकड़नी है और जिसका चेहरा फीकी नीली स्याही जैसा और हाथ शंख के अंदरूनी हिस्सों जैसे पीले सफेद थे, एक साथ पांच उपन्यास लिख रहा है। उसकी आंखें बड़ी बड़ी थीं—कि जैसे उसने लगातार अच्छे बुरे सपने देखे हों या कि वह बहुत समय से अंधेरे के भीतर चलता रहा हो और रास्ता ढूंढ़ता रहा हो। यह कहना कठिन था कि उसका संबंध आधुनिकता को संभव बनाने वाली किसी प्रक्रिया से था या कि उसका चेहरा किसान आंदोलन की विफलता से स्याह था लेकिन उसका चेहरा तीर की तरह पतला था। वह आदिवास का रूपक था कि जैसे वही बता सकता हो कि किधर जाना ठीक होगा और धूल वाला रास्ता ही पृथ्वी का सबसे प्रामाणिक पथ है। उसे देखकर यह भरोसा होता था कि प्रतिकार हो सकता है और यह भी कि उसका पेट लगातार खराब रहता है और वह दुनिया के सबसे पतले पेय पर निर्भर है और अपनी बात कहने के लिए वह किसी के कान तक जाएगा। वह इस तरह चलता था जैसे वह बनारस की बहुत पतली और बहुत टेढ़ी मेढ़ी गलियों में चल रहा हो। हमेशा तो नहीं लेकिन कई दफा वह फुटबाल को ड्रिबिल करते खिलाड़ी की तरह चलता था—तेज और टेढ़ा मेढ़ा। तो क्या वह भारत के फुटबाल शहर कलकत्ता से आया हुआ था। या कि उसमें हर कदम पर न बचने का कोई मूलभूत संशय बचा हुआ था।

एक दिन मैं जब घर की ओर लौट रहा था तो मैंने उसे अपनी दिशा में आते हुए देखा। मैंने सोचा कि आज मैं उसे रोककर उससे कुछ बातें करूंगा। ऐसा हो नहीं सका उस दिन वह इतनी तेजी से गुजरा कि लगा कि पांच उपन्यासों की आपाधापी के बीच उसने छठा उपन्यास भी शुरू

कर दिया है। लेकिन उस दिन मैंने उसे बहुत नजदीक से देखा : उसकी कनपटी की नसें उभरी हुई थीं इतनी ज्यादा कि जान पड़ता था कि किसी पुरानी दीवार की अंडरग्राउंड वायरिंग दीवार के लगातार धीरे धीरे खिरने से बाहर आ गई है। इस वायरिंग के कमजोर दिखने का कारण शायद यह भी था कि इन तारों से जरूरत से ज्यादा करंट प्रवाहित हो रहा होगा। पांच उपन्यासों को लिखने के दबावों ने नसों को और भी जर्जर बना दिया होगा। मुझे लगा कि इस आदमी के प्रति मेरी जो बढ़ती जिज्ञासाएं हैं उन्होंने मुझे एक जासूस में बदल दिया है और मेरी खोज जटिल, रहस्यपूर्ण, दुविधाजनक, और अमूर्त होती जा रही है।

जिस दिन मैं उस आदमी के बहुत नजदीक से गुजरा था उस दिन मैंने उसकी देह से निकलती असह्य बू को भी महसूस किया था। मैंने यह भी महसूस किया था कि उसकी गर्दन बबूल के पतले तने जैसी खुरदरी और काली थी। वह असह्य बू लेकर जब मैं घर में आया तो मैंने सोचा उस बू को मैं कहां रखूं। मैं उस बू से तत्काल मुक्त नहीं होना चाहता था लेकिन मेरे लिए यह भी संभव नहीं था कि मैं उसे बहुत देर तक सह पाऊं। वह पसीने और मिट्टी के मिलने से निकलती बू थी। उसकी देह से निकलती बू का निर्माण पसीने और मिट्टी से ही नहीं हुआ था, उसमें तंबाकू भी मिला था। तो क्या यह आदमी तंबाकू का भी सेवन करता है। यह संभव था। कमरे में उस आदमी की बू फैली हुई थी। मैं बहुत देर तक नहाता रहा। मैंने एक स्प्रे का इस्तेमाल भी किया। कुछ नहीं हुआ। तो क्या एक बहुत बड़े पहाड़ को मैं चादर से ढंकने की कोशिश कर रहा था। इस दफा मुझे यह लगा कि इस बू में एक और बहुत परिचित बू शामिल हो गई है : यह बहुत पुराने बने जूते की बू थी कि जैसे कोई सैकड़ों मील पैदल चलकर आया हो और उसने अभी अभी कमरे में जूते उतारे हों।

देर हो गई थी। मैं पड़ा था। मेरा मन घर के किचन में कुछ भी बनाने का नहीं था। मैं उठा। मैंने दरवाजा बंद किया और खाने के लिए उस ढाबे की ओर निकल गया जिसके बारे में मैंने सुना था लेकिन जहां मैं गया कभी नहीं था। जिस ढाबे की तरफ मैं जा रहा था वह लगभग डेढ़ कि.मी. दूर था और वह एक ऐसी जगह थी और इस तरह से कि लगता था कि मेहंदी की झाड़ियों के बीच वहां कोई बहुत रहस्यमय और परिवर्तनकामी कार्रवाई चल रही हो। जब मैं ढाबे में पहुंचा तो ज्यादातर लोग खाकर जा चुके थे। पेड़ से एक पैट्रोमैक्स लटक रही थी।

मैं जिस बेंच पर बैठा था मैंने देखा कि उसी पर बैठकर पांच उपन्यास लिखने वाला खा रहा है। वह आदमी अपने आखिरी कौर तोड़ रहा था। मैंने उसे देखा उसने मुझे! उसकी दाढ़ी में दाल के चार पांच दाने अटके हुए थे जैसे अंधेरे में जुगनू चमक रहे हों। वह उंगलियों को इस तरह चाट रहा था कि लगता था कि कोई बीच बीच में तालियां बजा रहा हो। कि जैसे कोई बहुत कम बरसे पानी में आहिस्ता आहिस्ता चल रहा हो। कि जैसे किसी बहुत पुरानी किताब के पन्ने पलटे जा रहे हों। खाना खत्म होने के बाद पांच उपन्यास लिखने वाले आदमी ने एक लंबी डकार ली। इसके बाद वह आदमी उठा और पेड़ों के पीछे गायब हो गया। उस आदमी को देखने के बाद मेरी भूख खत्म हो गई थी क्योंकि मेरे चारों तरफ तंबाकू, पसीने और जूता उतारने की बू भी फैली हुई थी। मुझे अपने आसपास अपने किसी पूर्वज के शव के होने का एहसास हुआ। खाना खाने के बाद डकार लेने के कुछ देर बाद उस आदमी ने हथेली पर तंबाकू और चूने को रगड़ा था और मुंह में बाईं तरफ सुरती दबाई थी। गायब भी वह उसी तरह हुआ था–मुंह में सुरती की तरह!

मैं उस आदमी से निजात पाने के लिए वहां आया था जो मुझे फिर मिल गया था। जब मेरा खाना आया तो खाने की मेरी इच्छा खत्म हो गई थी। ढाबे वाले को पैसे देकर जब मैं पेड़ों के बीच में आ गया था तो अचानक मेरे पास दो लोग आए। मैं डरा। उनमें से एक ने लगभग फुसफुसाकर कहा : ड्रग्स! मैं चुप रहा। इसके बाद मैंने कहा : क्या है। उसने बताया। मैंने कहा : दे दो! उसने

मुझसे जो पैसे मांगे वो मैंने दे दिए! पेड़ों के झुरमुट से निकलकर मैं बाहर आ गया! आसमान बहुत नीला दिख रहा था। चांद झूठ की तरह सफेद था। कभी कभी किसी कुत्ते के भौंकने की आवाज आती थी। घर की ओर जाने की बजाय मैंने वो रास्ता ले लिया जो एक मामूली से जंगल से गुजरता था। रास्ते के दोनों और खासी हलचल थी। जानवरों के शिकार की तलाश में घूमने की आवाजें आ रही थीं। मुझे अचानक यह लगा कि मेरे आगे आगे पांच उपन्यास लिखने वाला वह आदमी हाथों को हवा में फेंकता हुआ चला जा रहा है। लेकिन यह आदमी वह आदमी नहीं था। वह कोई आदमी नहीं था। वह मेरे आगे आगे चलता अंधेरा था जिसमें किसी की भी शक्ल बन सकती थी। मैंने सोचा कि पांच उपन्यास लिखने वाला यह आदमी आखिर है कौन?

मैंने एक दिन बिल्कुल उसके सामने आकर बिल्कुल सीधे सीधे यह पूछना चाहा कि क्या आप कलकत्ता के हैं। लेकिन वह आदमी थोड़ा टेढ़ा हुआ और निकल गया। किसी लैटिन अमेरिकी फुटबालर की तरह। मुझे लगा कि यह आदमी बहुत दिनों तक जिंदा नहीं रहेगा। मुझे लगा कि उसके बारे में सोचकर या उसे देखकर मुझे असह्य तनाव हो जाया करता है लेकिन यह भी लगा कि उसे देखे बिना या उसके बारे में सोचे बिना मेरा गुजारा नहीं है। मेरा मन पढ़ने में नहीं लग रहा था। मेरा मन उस कस्बे में बेचैन हो उठा था जहां मैं इतिहास, समाजशास्त्र के सारे नोट्स लेकर आया हुआ था कि इस जगह रहकर सिविल सर्विस की परीक्षा की तैयारी जमकर हो सकेगी। यह जगह मेरे दबंग जमींदार परिवार के कस्बे से दूर थी। यह मेरे विश्वविद्यालय वाली महानगरीयता से भी दूर थी। यह एक छोटा सा कस्बा था जहां हमारे परिवार का एक पुराना बड़ा मकान था। खाली था। आसपास आदिवासी इलाका था। तो जैसे ही मेरे चाचा ने इस जगह का जिक्र किया मैं एक शांत जगह में रहने पढ़ने के लिए निकल पड़ा। मुझे सिविल सेवा में पास होकर नौकरशाह बनना था। वहां जाकर मुझे लगने लगा कि मुझे नौकरी पानी थी लेकिन मुझे जीवन का अर्थ भी पाना था। इस तलाश के दूसरे हिस्से को मैं जितना ही गौण बनाने की कोशिश करता था वह उतना ही अहम होता जाता था। मैं विमर्श और सुखवाद के बीच डोल रहा था। मेरे द्वंद्व सामंत और परिवर्तन के बीच की दुविधा थे। कह सकता हूं कि मेरे अंदर एक परजीवी लंपट दबंग जमींदार के गुणसूत्र थे। लेकिन मेरे पास एक नामी विश्वविद्यालय की इतिहास की डिग्री भी थी और उसके बाद तीन साल तक एक कॉलेज में प्रवक्ता के तौर पर अस्थायी नियुक्ति का अतीत। वहां काम करते हुए मुझे लगा था कि एक लद्धड़ नामहीन डिग्री कॉलेज में घिसटने की बजाय नौकरशाह बनना बेहतर होगा। लेकिन क्या वह सिर्फ एक और सुरक्षित जीवन की तलाश थी जिसकी तैयारी के लिए मैं एक अनाम सी जगह पर आया था या कि मेरी खोज का संदर्भ अमूर्त होता गया था।

उस उजाड़ में आने के तीन चार दिनों के बाद ही मैंने इस बियाबान को रहने लायक बना दिया। तीन चार मजदूरों ने साफ सफाई कर डाली। छोटा सा फ्रिज ले लिया। कुर्सी मेज। बैठने वाला फर्नीचर। इनवर्टर। किताबों की अलमारी खरीदते हुए कस्बे के डिग्री कॉलेज में रिसर्च करती सुनयना मिल गई। वह आदिवासियों की कथाओं में विस्थापन के दुःख, भय और प्रतिकार की अंतर्ध्वनियां ढूंढ़ रही थी। उस मुलाकात के बाद हम सेल पर बात करने लगे। फिर मिलने लगे। फिर मिलने और झगड़ने लगे। फिर हमलावर बहसें करने लगे। हम स्त्री और पुरुष के बीच सबसे दुविधाजनक संबंध का उदाहरण बनते गए। लेकिन इन सारी झड़पों में मैं एक भूपति का समीकरणवाद, पुरुष, कायर, पश्चाताप, क्षमाप्रार्थना और हमला था। सुनयना एक आदिवास की विकलता और उद्भावना थी। पता लगा जहां सुनयना थी वह अच्छा खासा कॉलेज था जो यहां के राजा के पुराने से महल में कभी शुरू किया गया था। मैं सोच रहा था कि कस्बा, आदिवास की गंध और एक नये जीवन के लिए किये जाते प्रयत्न मुझे एक अनुपलब्ध सी शांतता की ओर ले जाएंगे लेकिन सुनयना

का मिलना, और फिर अचानक पांच उपन्यास लिखने वाले आदमी ने मेरे अंदर खलबली मचा दी थी। मैं नर्वस रहने लगा था। मैं सोचता था कि कोई मेरा पीछा कर रहा है। लेकिन मुझे यह भी लगता था कि मैं भी किसी का पीछा कर रहा हूं। मुझे अपनी महत्वाकांक्षा अपराध लगने लगी थी। तो क्या मैं अपने बायोडाटा के सामंती स्थापत्य में एक नैतिक सुरंग बनाने की फिक्र में बिना बहुत कुछ जाने–काफी कुछ अनजाने ही–लग गया था। यह सोचकर मैं घबराया रहता था कि मुझे पता नहीं क्या जानना पड़ेगा और यह सोचकर भी तनाव हो रहा था कि मैं उस आदमी के बारे में कुछ भी क्यों नहीं जान पा रहा हूं जो कुछ तो निश्चयात्मक हो।

मुझे लगातार चलते रहने की मजबूरी लग रही थी। मेरे पैरों में बहुत दर्द होने लगा था और मेरे सिर की हालत यह हो रही थी कि कभी बाईं तरफ सिरदर्द होता था कभी दाहिनी तरफ और कभी पूरे सिर में। एक दिन लेटने के बाद मैंने यह सोचना शुरू किया कि आखिर मुझे यह पता कैसे लगा था कि वह आदमी पांच उपन्यास लिख रहा है–लेटने और सोचने के पांच मिनट के भीतर मुझे जो नींद आई वह लगभग चौदह घंटे बाद टूटी और जब नींद टूटी तो मुझे ज्यादा बुखार था और मेरी पूरी देह पर लाल चकत्ते उभरे हुए थे और मुझे लगातार 14 घंटे तक खोने और सोने की पस्ती थी। मैं उठा और खिड़की पर आ गया जहां से मुझे पांच उपन्यास लिखने वाले आदमी की शक्ल दिखाई दी।

बाहर मैदान में वह आदमी फुटबाल खेल रहा था। वह गेंद लेकर दौड़ता था और इस तरह गेंद को ड्रिबिल करता हुआ चलता था कि वह पूरी दुनिया को छकाता हुआ बढ़ रहा है। मुझे लगा कि वह पागल है। लेकिन मैदान के एक तरफ से दूसरी तरफ जिस कलात्मकता और नियंत्रण के साथ गेंद को लेकर वह बढ़ता था और वापस आता था उससे अपने बारे में मेरी हताशा और बढ़ गई। मैंने सोचा कि वह आदमी फुटबाल खेल रहा है कि रास्ते बना रहा है। वह पेंचोखम के बीच से निकलने की युक्तियां ढूंढ़ रहा है। पांच उपन्यास लिखने वाले उस आदमी का खेल चलता रहा। चलता रहा। मैंने यह भी महसूस किया कि वह बीच बीच में हंस भी पड़ता था। मैंने धीरे धीरे महसूस किया कि वह पच्चीस तीस बच्चों के साथ खेल रहा है। मैं फिर सो गया और जागा तो मेरा बुखार कम था। मेरी देह पर लाल चकत्ते नहीं दिख रहे थे। लेकिन मैं दुराशा से भरा हुआ था। मैंने तय किया कि मैं नीचे जाकर फुटबाल के खेल में शामिल होता हूं और वहीं आदमी से पूछ लूंगा कि क्या आप पांच उपन्यास एक साथ लिख रहे हैं। मुझे लगा कि उस आदमी को लेकर मेरी कठिनाइयां बढ़ रही हैं। मुझे अपने लिए अफसोस हुआ। तुड़े मुड़े कुर्ते पायजामे में अपनी तुड़ी मुड़ी देह को लेकर मैं नीचे उतरा। वह बच्चों से इस तरह से घिरा हुआ था कि मैंने अपने को निरुपाय पाया। एक पेड़ का सहारा लेकर उसे देखते हुए मुझे यह लगा कि वह बच्चों से ज्यादा बच्चों की हंसी से घिरा है और उनकी किलकारियों से। मैंने उस मैदान पर पहले कभी बच्चों को इस कदर खुशी से बेचैन होते नहीं देखा था। मुझे लगा कि हो न हो उसका एक उपन्यास बच्चों को केंद्र में रखकर लिखा जा रहा है। हो सकता है कि उपन्यास के केंद्र में फुटबाल हो। और उपन्यास की मुख्य कथा में एक ऐसा इलाका हो जहां मुफलिस और गरीब रहते हों जो भूख और अपमान के बारे में सोचते रहते हों। यहां बच्चों को कूड़ा बीनने के लिए या जूतों पर पालिश करने जैसा छोटा मोटा काम करने के लिए शहर में भेज दिया जाता था। लौटने पर वे बच्चे एक दूसरे को गाली देने, मारने पीटने, नशा वगैरह करने या एक दूसरे के ऊपर चढ़ने की हरकतें करते थे। वह इलाका जब राख हो रहा था तो अचानक एक दिन उस इलाके में एक फुटबाल दिखा। नया फुटबाल। चमकता और चितकबरा फुटबाल। उसके बाद एक मैदान की खोज शुरू की गई : सारे लोग चकित हो गए कि मैदान था लेकिन मैदान दिखता नहीं था। न दिखते हुए मैदान को ज्यादा दिखते हुए मैदान में बदलने की कोशिशें शुरू हो गईं। उस

जमीन से बोतल के टुकड़े, जंग खाते लोहों के टुकड़े, चुभने वाले पत्थर, ईंटों के टुकड़े बीन लिए गए। मैदान में कूड़े की जो कैंसर जैसी गांठें थीं उन्हें समतल कर दिया गया और जब इस सब के बाद फुटबाल को मैदान के बीच रखा गया तो ज्यादा दिखता मैदान बहुत ज्यादा दिखने लगा और जैसे ही फुटबाल पर पहली किक लगाई गई बहुत ज्यादा दिखता मैदान इतना ज्यादा दिखने लगा कि उस फुटबाल को खेलने वाले किसी अप्रतिम श्रम से चमकने लगे। उस इलाके में नये नये शब्द आने लगे जैसे फारवर्ड, लेफ्ट, ड्रिबिल, आफसाइड और गोल। कूड़ा बीनने बाले लड़के कूड़ा बीनने के लिए जाने से इंकार करने लगे। एक फुटबाल ने सब कुछ बदल दिया।

उसके कथित उपन्यास के कथाक्रम को मैं कुछ और आगे ले जा पाता कि मैंने यह सोचा कि क्या यह सोचना उस आदमी के बारे में सोचते हुए नहीं था? तो क्या मेरा अपना कोई स्वायत्त प्रकाश नहीं था और क्या मैं किसी और की रोशनी के सामने अपना आईना रख दे रहा था। तो क्या मैंने जो कुछ फुटबाल को केंद्र में रखकर सोचा उसे मैं सोच ही नहीं सकता अगर मैं उसके बारे में न सोच रहा होता। क्या मैं अपने औसतपन के पेंचोखम से लड़ नहीं पाऊंगा। क्या मैं सब कुछ बचे रहने के लिए करता हूं। क्या मैं मूलतः एक पद्धति को संभव बनाने और उसमें किसी कोने में पड़े रहने में यकीन करने वाली विचार व्यवस्था हूं। मैं अपने प्लेसमेंट से डर गया। मैं शर्मिंदा भी हो गया।

फुटबाल के मैदान के पास एक पेड़ से टिककर खड़े रहने के बाद मेरी हालत पेड़ के तने जैसी हो गई थी। मैंने सोचा कि सारी दुविधा सोचने की वजह से है तो सोचना बंद किया जाए। मैंने कमरे में जाकर बाटल ग्रीन रंग की कमीज निकाली। काड्राय की पैंट पहनी। पूरे कमरे में केवड़े की गंध फैल गई। मैं शहर के सबसे खूबसूरत इलाके की ओर निकल गया। इस इलाके में इस शहर का सबसे खूबसूरत बाजार था। और इस इलाके में पूरे इलाके की सबसे खूबसूरत औरतें और सबसे खूबसूरत लड़कियां और सबसे खूबसूरत मर्द और सबसे खूबसूरत बच्चे और सबसे खूबसूरत चीजें और सबसे खूबसूरत कारें होती थीं। मैं बाजार में घूमने लगा—मैं एक जगह खड़े होकर ठंडा पीने लगा। इस तरह से मैं निश्चिंत लोगों के बीच निश्चिंत दिख सकता था थोड़ा मुस्कुराकर, थोड़ा लापरवाह दिखकर, थोड़ा बालों में उंगलियां डालकर। ठंडा पीते हुए मैं लड़कियों को देख रहा था। वे सब अंग्रेजी में गिर पड़ रही थीं। तीन चार लड़कियों का झुंड कोला पीकर एक कार में निकल गया। कुछ देर तक जेब में हाथ डालकर घूमने के बाद मैं एक ऐसी स्त्री से ताक झांक करने लगा जो दो सिपाहियों के साथ कार से उतरी थी और जिसकी उम्र मुझसे पंद्रह साल ज्यादा रही होगी और जिसने काला चश्मा लगाया हुआ था और जो छिली आलू जैसी सफेद थी और जिसने कत्थई रंग की लिपस्टिक लगा रखी थी और जो साढ़े पांच फुट से ज्यादा ऊंची थी और जिसका चेहरा देखकर ये लगता था कि इसे कब्ज कभी नहीं हुआ होगा और जिसके गले में शायद हीरे का हार था। वह जाहिर है किसी पुलिस अफसर की बीवी थी जो दोपहर की ऊब से लड़ने के लिए शहर के सबसे चमकीले बजार की तरफ चली आई थी। उसके पीछे पीछे घूमते सिपाहियों से उसके सौंदर्य को ताकत मिल रही थी और वह असरकारक हुई जा रही थी। मैं दुकानों के सामने बने कारीडोरों में उसके आगे पीछे घूमता रहा। लेकिन जब वह एक गहनों की दुकान में घुस गई तो मैं पास की पान की दुकान के सामने शीशे के सामने खड़ा हो गया। मैंने सोचा कि कंडोम खरीदा जाए।

मैं दुविधा में ही था कि बाजार के उस हिस्से से जिसे पारकर मैं कुछ देर पहले आया था तेज तेज आवाजें आने लगीं। लग रहा था मारपीट हो रही है। मैं उस तरफ दौड़ा। वहां जाकर मैं दंग रह गया। मैंने देखा पांच उपन्यास लिखने वाला आदमी लोगों से घिरा है। उसके पास एक काला सा छोटा सा आदमी खड़ा था जिसे देखकर यह लगता था कि इसे ढंग से कभी खाना नहीं मिला

हैं यानि कि हो सकता है कि वह आदमी बहुत ज्यादा पानी वाली दाल के साथ रोटियां खा लेता हो और जिंदा रह लेता हो। पांच उपन्यास लिखने वाले आदमी की आवाज में गजब का साहस था : वह कह रहा था कि इस आदमी ने चोरी नहीं की है। एक आदमी जो नीले रंग का सूट पहने था कह रहा था कि यह काला आदमी बहुत संदेहास्पद तरीके से कार के आस पास घूम रहा था। पांच उपन्यास लिखने वाले आदमी ने कहा कि मुझे तो तुम ही संदेहास्पद दिख रहे हो। वह आदमी भड़क कर बोला : ह्वाट डु यू मीन। यू डोंट नो हू आर यू टाकिंग टू। पांच उपन्यास लिख रहे आदमी ने कहा कि मतलब मेरा यह है कि एक ऐसे देश में जहां एक कोई किसी आदमी की उलटी से अन्न बीनने की कोशिश करता हो और तुम जैसा आदमी अगर बीस लाख की गाड़ी में घूमता हो तो प्राइमाफेसी वह संदेहास्पद है। नीले रंग के सूट वाले आदमी ने कहा मुझे यह आदमी चाहिए। पांच उपन्यास लिख रहे उस आदमी ने कहा : इस आदमी को बचाने का जिम्मा मेरा है। नीले रंग के सूट वाले आदमी ने उस पर हाथ चला दिया। पांच उपन्यास लिखने वाले आदमी ने थोड़ा पीछे हटकर नीले रंग की स्थूलता पर एक भरपूर तमाचा मारा। लगता है तमाचा आदमी के गाल पर लगने के बाद नाक तक पहुंच गया और अजस्त्र रक्तप्रवाह शुरू हो गया। मैंने चेग्वेवारा के बारे में बहुत कम पढ़ा था। लेकिन वह आदमी संभवतः चेग्वेवारा की छापामार पद्धति से उस छोटे निर्बल आदमी का हाथ अपने हाथ में लिए उस समय की हबड़तबड़ हाय हाय ओय होय क्या हुआ क्या हुआ की कांवकांव के बीच फुटबाल को ड्रिबिल करता हुआ सा तेज नदी की तरह जगह बनाता तीर की तरह सन्न से निकल गया। सहसा इतनी पक्षधरता इतना प्रतिशोध इतना तर्क और इतनी प्रत्युत्पन्नमति! मैंने कहा : मैं साला गू ही रह गया। मैंने पान इस तरह थूका जैसे अपने मुंह पर थूका हो। मैंने जेब से कंडोम इस तरह फेंका जैसे अपने शिश्न को काटकर फेंक दिया हो। जिस आदमी से बचने के लिए मैं बाजार में घुस आया था वह आदमी बाजार में अपनी शर्तों पर आया था और अपनी शर्तों के साथ बाजार से बाहर निकल गया था। मैंने सोचा यह कौन हैं? यह आदमी क्या रूपक है? क्या मुक्तिबोध जिनकी एक कहानी पढ़कर मैं उन्हें पढ़ता ही गया था।

मुझे पूर्वानुमान सा हुआ कि कुछ भयावह घटने वाला है।

ये उन दिनों की बातें हैं जब आसपास अमलतास फूले हुए थे। हवाएं सख्त धूप को एक जगह से दूसरी जगह लेकर उड़ रही थीं और खबर यह थी कि जहां बच्चे फुटबाल खेला करते थे उस मैदान को शहर के सांसद जो एक बड़ा बिल्डर भी था ने आलू का गोदाम बनाने के लिए खरीद लिया है। लेकिन और पता करने पर पता लगा कि वहां वाटर पार्क बनना था और उसमें प्रवेश का शुल्क ही 500 रुपए था। इस परियोजना का संयोजक शहर के बाहर निरंतर चलते अवैधानिक खनन का सरगना भी था। यह सब सुनकर मैंने बहुत निस्सहाय महसूस किया। मुझे लगा कि मुझे पांच उपन्यास लिखने वाले से मिलना चाहिए जो पता नहीं कितना ठगा महसूस कर रहा होगा।

फुटबाल के मैदान से कमरे में लौटने पर मैंने अपना चेहरा आईने में देखा। अपने चेहरे को देखकर मुझे लगा कि मैं खुद को नहीं देख रहा हूं। मुझे लगा कि मेरे बाल बहुत बढ़ गए हैं—मेरी दाढ़ी भी बढ़ गई है। मेरे बाल और मेरी दाढ़ी कभी ज्यादा नहीं बढ़ते थे। मेरी समझ में नहीं आया कि मेरे बाल और मेरी दाढ़ी इस तरह से कैसे बढ़ गए कि मैं चेहरे मोहरे से पांच उपन्यास लिखने वाले से मिलता जुलता दिखने लगा था। मुझे लगा कि ये दाढ़ी बाल उस रहस्यमय आदमी के हैं और अगर मुझे अपनी पहचान हासिल करनी है तो मुझे इस केश कंबल से मुक्त होना होगा। मैं आईने के सामने आ गया। मैंने कैंची निकाली और बालों को जहां तहां से काटने लगा। इस काटपीट में मैं इतना अनियंत्रित हो गया कि मैंने अपने होंठ के ऊपर का एक खासा बड़ा टुकड़ा निकाल लिया। और उसके बाद खून बहने लगा। सबसे पहले वह छोटे से आईने पर टपका। आईने पर वह इतना

टपका कि आईना लाल हो गया। इसके बाद वह एक किताब पर चूने लगा। किताब पर इतना खून गिरा कि किताब खून की किताब लगने लगी। इसके बाद मैं खून रोकने के लिए एक के बाद एक कपड़े के टुकड़ों का इस्तमाल करता जाता था और कपड़े के टुकड़े पूरे कमरे में फैलते जाते थे। फिर मेरा कमरा युद्ध के दौरान किसी फौरी अस्पताल का एक खांलूदा कोना बन गया। खून जब नहीं बंद हुआ तो मैं बिस्तर पर लेट गया। बिस्तर पर लेट जाने के बाद मेरा मुंह खून से भर गया। मैंने खून थूका। इस तरह से चार या पांच बार थूकने के बाद कमरा इस तरह से हो गया कि जैसे वहां कोई पुराना क्षयरोगी आखिरी बार खून की उल्टियां कर रहा हो। मैंने सोचा कि मुझे कितने मामूली तरीके से मरना पड़ रहा है। मेरी आखें बंद हो गईं।

उस दिन मैं नहीं मरा और बाद में जोड़ घटा के मुझे लगा कि मेरी आंख तीसरे दिन शाम को खुली। शायद मेरी आंख कभी नहीं खुलती अगर उस दिन बिना सिटकनी लगे दरवाजे से सुनयना न आ जाती। जब मेरी आंख खुली तो मैं उसे देख रहा था। मैं बहुत धीरे धीरे आंख खोल पाया। वह उठी और पूरे कमरे में उस हर जगह का मुआइना करने लगी जहां खून गिरा था और गिरकर सूख गया था। सुनयना उस तरफ आई जहां मैं लेटा हुआ था। उसने पूछा तुम्हें किसी ने मारने की कोशिश की थी। मैंने सोचा कि आज एक झूठ बोलकर मैं शायद सुनयना की देह पा लूं। मैंने कहा : मैंने आत्महत्या की कोशिश की। सुनयना अचानक चुप हो गई। वह खिडकी की तरफ गई। उसने खिड़की खोल दी। खिड़की पर जाकर उसने कुछ कहा जिसे मैं सुन नहीं पाया। सुनयना ने धीरे से कहा अधूरा जीना, अधूरा मरना। अधूरा सोच विचार। अधूरा परिवर्तन। सुनयना ने जो कुछ भी कहा बहुत धीरे धीरे कहा। सुनयना खिड़की से हटकर रसोई की तरफ चली गई। उसने चाय के लिए पानी रखा। झूठ बोलकर मैं डर गया था। मैंने सोचा कि मेरे पास कितने कम विकल्प हैं। क्या इसीलिए हैं कि मैं औसतपन का शिकार हूं। यह झूठ मेरे औसतपन की क्षतिपूर्ति करता है क्या? सुनयना चाय लेकर आई। साथ में बिस्कुट भी थे। चाय रखकर उसने बिस्कुट उठाया और मुझे दिया। बिस्कुट उठाते हुए उसने कहा : आजकल पतझड़ है। इस बात को उसने इस तरह कहा कि जैसे कह रही हो कि आज सोमवार है। ज्यादातर पत्तों का रंग ऐसा है–बिस्कुट जैसा, उसने कहा। गिरते पत्तों का रंग चाय और बिस्कुट जैसा होता है, उसने कहा। सुनयना ने इसके बाद मेरी दाढ़ी और सिर के बाल खीचकर कहा : इन्हें मत कटवाना। अच्छे लग रहे हो। अरविंदो जैसे। मुझे लगा कि सुनयना मेरी तरह ही पांच उपन्यास वाले की खोज में है। तो उसने मुझे अरविंदो जैसा क्यों कहा जो आध्यात्मिक घपलों में पड़ने लगे थे। मैंने उससे यह बात कही तो उसने शरारत से मुस्कुराते हुए कहा कि थोड़े बहुत क्रांतिकारी तो वह थे ही।

मैंने बहुत हीन होकर सुनयना से कहा कि मुझे मार दो। अगर मेरी पहचान मेरी दाढ़ी और मेरे बाल होने लगे हैं जो मेरे नहीं हैं तो मुझे मार दो। सुनयना ने कहा : तुमने खुद को किस चीज से मारने की कोशिश की थी? मैंने कहा मैंने आत्महत्या की कोशिश नहीं की थी। आज मैं तुम्हारी देह पा लेना चाहता था–मैंने इसलिए यह झूठ बोला। सुनयना उठी। वह रसोई से गीला कपड़ा लेकर आई। उसने मेज साफ की। कैंची और बाल मेज पर पड़े हुए थे। किताब खून में सनी हुई थी। शीशे पर खून पुता हुआ था। सुनयना ने आईने को मेरी तरफ कर दिया। मैंने सुनयना से कहा, मेरे बाल काट दो। इसकी वजह से मैं सांस नहीं ले पा रहा हूं। सुनयना ने कहा तुम नहा लो। मुझे यह सुझाव ठीक लगा। मैं धीरे धीरे उठ पाया। तीन दिन से मैंने कुछ नहीं खाया था। मैं बहुत देर तक नहाता रहा। दाढ़ी और सिर के बालों में जमा खून धीरे धीरे धुलता रहा। नहाते नहाते मैंने सुनयना को आवाज दी और कहा : तौलिया दे दो। सुनयना तौलिया लेकर आई। मैंने दरवाजा खोल दिया। सुनयना मुझे देखती रही और फिर हंसी : इस तरह होता है आदमी। आदमी इसी तरह होता है। मैंने

कहा हां इसी तरह होता है आदमी। उसने कहा—तनी हुई तोप जैसा। उसका निर्माण सैनिक नियमों से हुआ है। मैंने कहा आ जाओ। सुनयना ने कहा न! मुझे एक सैनिक शिविर में नहीं आना है। मैं थकान और हताशा से बैठ गया।

मैं बाथरूम से बाहर आया तो कमरे में शैंपू की गंध फैली हुई थी। सुनयना कमरे में नहीं थी। रसोई से उसके होने की आवाजें आ रही थीं। वह सूप लेकर आई टमाटर का। मैंने सूप को चम्मच से हिलाते हुए कहा, मेरी देह का रंग कैसा है। सुनयना ने कहा तुम तो नस्लवादियों और सवर्णों की तरह पूछ रहे हो। मैंने सूप का बर्तन दीवार पर फेंका। दीवार लाल हो गई। मैंने कहा आज जो कुछ भी होगा आखिरी बार होगा। सुनयना ने कहा मेरा बलात्कार नहीं। मैंने ट्रांजिस्टर उठा कर दीवार पर मार दिया। उसके टूटने से एक ऐसी आवाज आई जैसे बम फूटा हो। उस समय ट्रांजिस्टर पर बाख की एक सिंफनी बज रही थी। ट्रांजिस्टर के टूटने के बाद पार्श्वसंगीत रुक गया, केवल दृश्य और संवाद बचे और पात्र। सुनयना हंसी। वह फ्रिज की ओर बढ़ी। उसने एक जोर का धक्का दिया। बहुत डरावने तरीके से वह गिरा। एक डरावनी आवाज हुई। फ्रिज खुला। फूटे हुए अंडों का पीलापन और लिसलिसा पदार्थ निकला और पारे की तरह फर्श पर फैलने लगा। बोतलें तड़तड़ाकर टूटीं। फ्रिज की चीनी मिट्टी का बना अंदर का हिस्सा टूटा। मैंने खांसी के लिए आयुर्वेद का जो आसव लाकर रखा था वह टूटकर इस तरह बहा जैसे आदमी के भीतर का खराब खून। डाइजीन की शीशी टूटी—वह आसव के साथ मिल गई। फ्रीजर के भीतर मैंने जो चिकन लाकर रखा था वह सटककर बाहर आ गया। लेकिन बदबू सबसे ज्यादा व्हिस्की की बोतल टूटने से हुई। लगा कि वहां एक हिंस्र शराबखोरी का दौर चला हो। कुछ देर बाद एक इंस्पेक्टर और तीन कांस्टेबिल आए : उनके साथ कुछ और लोग भी थे। इंस्पेक्टर ने अंदर एक कदम रखने के बाद नाक पर रूमाल रख लिया। इंस्पेक्टर ने पूछा : यह सब क्या है? इंस्पेक्टर ने सुनयना से पूछा, आप कौन हैं? सुनयना ने कहा मैं सुनयना हूं। इंस्पेक्टर ने मेरी और इशारा करके सुनयना से पूछा : ये कौन हैं? सुनयना ने कहा, इन्हीं से पूछिये ये कौन हैं। इंस्पेक्टर ने पूछा : आप इनकी कौन हैं? सुनयना ने कहा मैं इनकी कोई नहीं हूं। मतलब कि कोई मुझे पजस नहीं करता। इंस्पेक्टर को यह थोड़ा दुरूह लगा तो उसने आधिपत्यमूलक तरीके से पूछा : आप इनकी कोई नहीं हैं तो आप यहां क्यों हैं। सुनयना ने कहा : आप भी मेरे कोई नहीं हैं फिर भी आप यहां हैं। इंस्पेक्टर ने कहा आपको थाने चलना होगा। सुनयना ने कहा : मैं थाने नहीं जाऊंगी। इंस्पेक्टर ने कहा, आपको थाने चलना पड़ेगा। सुनयना ने कहा आपको यहां से निकलना पड़ेगा। अचानक कांस्टेबिल बाथरूम से चिल्लाया, सर! खून! इंस्पेक्टर का चेहरा चमक उठा। उसने सिपाही के हाथ में खून से रंगे कपड़े का मुआयना करते हुए कहा : तो यहां खून भी हुआ है। यह किसका खून है? मैं बहुत पराजित और बहुत डरा हुआ महसूस कर रहा था। मैंने कहा : यह मेरा खून है। इंस्पेक्टर ने कहा : पूरी बात बताओ! मैंने कहा : दो दिन पहले मैं अपनी दाढ़ी के बाल छोटे कर रहा था कि अचानक ऊपर वाले होंठ के बीच का एक हिस्सा ज्यादा कट गया। उसके बाद खून बंद नहीं हुआ। मैंने बताया कि मैं आई.ए.एस. की परीक्षा की तैयारी कर रहा हूं। थोड़ा सा इस बात का और इसी बीच हजार रुपये चुपचाप पकड़ाने का उस पर गहरा असर हुआ। उसने दीवार पर फैले लाल की ओर इशारा करते हुए कहा : यह क्या है? सुनयना ने कहा : यह टमाटर का सूप है। इंस्पेक्टर ने सुनयना की ओर इशारा करते हुए पूछा : ये आपकी कौन हैं? मैंने कहा : ये मेरी दोस्त है और विश्वविद्यालय से एम.फिल. कर रही हैं। इंस्पेक्टर ने जाते हुए मुझसे कहा : यह फ्रिज तो उन्होंने गिराया होगा? मैंने कहा कि मुझे भी।

सुनयना मुझे मलबे में छोड़कर चली गई। उसके जाने के बाद मेरी हालत बहुत खराब हो गई। आधी रात के आस पास मुझे उल्टियां आनी शुरू हो गईं। आवाजें कुछ इस तरह थीं कि जैसे सुअर

को काटा जा रहा हो। मुझे अचानक सिरदर्द हो रहा था और चक्कर आ रहा था। तीन दिन से कुछ न खाने के कारण उल्टियों में केवल पानी निकल रहा था और कुछ निकलने की बजाय। मुझे लगा कि शरीर में पानी की कमी शुरू हो गई है और अगर ग्लुकोज न चढ़ाया गया तो मेरा बच पाना नामुमकिन है। आस पड़ोस से कोई नहीं आ रहा था। मैं सोचने लगा कि काश, कोई सिपाही ही गश्त पर निकला हुआ हो। मैं जब बाथरूम में उल्टियां करने के लिए गोंगों कर रहा था तो दरवाजे पर किसी ने दस्तक की। इसके बाद किसी के बाथरूम की तरफ बढ़ने की आवाजें आने लगीं। आने वाले ने मेरी पीठ पर हाथ रखा। उसने मुझे उठाया। यह वही आदमी था जो पांच उपन्यास एक साथ लिख रहा था और जिसके हाथ जिसकी देह से लंबे थे। और जिसकी दाढ़ी के भीतर तीर जैसा नुकीला चेहरा चमक रहा था। वह मुझे बिस्तर तक ले गया। मैंने थोड़ा हंसने की कोशिश करते हुए कहा कि मेरी प्रेमिका आई थी और घर का मलबा बनाकर चली गई। उसने भी हंसकर कहा : आपकी प्रेमिका काफी तेजस्विनी जान पड़ती है। इसके बाद उसने मुझे नमक और चीनी का घोल बनाकर दिया। उसने धीरे धीरे मेरा सिर दबाना शुरू किया। उसकी दाढ़ी मेरी आंखों के सामने झूल रही थी। मैंने सोचा कि मैं उससे पूछूं कि क्या वह पांच उपन्यास एक साथ लिख रहा है लेकिन मुझे लगा कि इस समय वह मेरी किसी बात का जवाब नहीं देगा। मुझे वह इतना कम आत्ममुग्ध लगा कि मैं अपने होने से डर गया। सिर दबाते दबाते उसने मुझसे अस्पताल चलने के लिए कहा। मैंने कहा आप आ गए हैं तो मैं मरूंगा नहीं। उसने हताश आवाज में कहा : मेरा भरोसा मत कीजिए। मैं बहुत सारे लोगों को नहीं बचा पाया हूं। फुटबाल का मैदान नहीं बचा। मैंने कहा : बस आप मेरे साथ दो तीन घंटे रह जाइए और मुझे नमक और चीनी का घोल देते रहिए, मुझे कुछ नहीं होगा। लेकिन वह आदमी अस्पताल में ले चलने की जिद ठाने रहा। उसने कहा कि वह उल्टियों की डरावनी आवाजें सुनकर ऊपर आया था। मैंने अपने पास पांच हजार रुपये रखे, एटीएम कार्ड लिया। दरवाजे पर उसने ताला लगाया और जब मैं एक बार लड़खड़ाया तो उसने मुझे अपनी पीठ पर लाद लिया। मैं कहता रहा मैं चल सकता हूं। लेकिन वह चलता रहा। उसने कहा जल्दी ही कोई सवारी मिल जाएगी। मुझे लगा कि इस आदमी की पीठ पर सिर रखकर कितना रो लूं। मैंने सोचा कि क्या इस आदमी को इस शहर के नियम मालूम नहीं हैं। मैंने यह भी सोचा कि इस शताब्दी के आरंभ में क्या कोई किसी को पीठ पर लादकर चल पड़ सकता है। वह चलता रहा। मैंने देखा कि वह एक सरकारी अस्पताल के सामने खड़ा था। मुझे झुंझलाहट हुई : मैं किसी क्लिनिक में जाने के बारे में सोच रहा था।

डाक्टरों ने मुझमें पानी और खून की कमी बताई। खून की जांच के बाद मुझे खून की बोतल लगा दी गई। उसके खून का ग्रुप मुझसे नहीं मिलता था। अस्पताल के उस जनरल वार्ड में भयानक बदबू थी। मुझे जिस बिस्तर पर लिटाया गया था उस पर खून का एक बड़ा सा दाग था जो चादर के धुलने के बावजूद मौजूद था। वह स्टूल पर बैठा था और ज्यादातर खून की तरफ देखता रहा था। मैंने कहा अब आप घर जाइए। मैं ठीक हूं। उसने कहा मैं भी यहां ठीक हूं। मैंने सोचा मैं उससे उसके पांच उपन्यास के बारे में पूछूंगा। मैंने उससे पूछ लिया : आप क्या करते है? उसने जबाव में तीखापन भरते हुए कहा जो मैं चाहता हूं वह मैं कर नहीं पा रहा हूं। मुझे लगा कि इस आदमी के रहस्यवाद से निपट पाना आसान नहीं होगा। मैं कमजोर महसूस कर रहा था और इस हालत में नहीं था कि उधेड़बुन कर सकूं। मुझे नींद आ गई। अगले दिन सुबह जब मेरी नींद खुली तो वह स्टूल पर बैठा था। मुझे डिस्चार्ज कर दिया गया था। उसने मुझसे अस्पताल में ही विदा ले ली।

अस्पताल से लौटते हुए मैं एक नाई की दुकान में घुस गया। मैंने देखा कि कुर्सी पर वही पांच उपन्यास एक साथ लिखने वाला आदमी बैठा हुआ है। अभी वह शायद कुर्सी पर बैठा ही बैठा था।

नाई ने उसके बालों में कैंची घुसाते हुए पूछा कि तुम क्या काम करते हो? वह आदमी कुछ नहीं बोला। वह एक फिल्मी पत्रिका देख रहा था। नाई ने उस आदमी से कहा : तुम्हारे बालों में बहुत मिट्टी है। वह आदमी चुप रहा और पत्रिका के पेज पलटता रहा। नाई ने कहा तुम मिट्टी गारा का काम करते हो क्या। उस आदमी ने कहा : हां। मैं चौंक गयाः पांच उपन्यासों को एक साथ लिखने वाला आदमी ऐसा काम करता है। नाई ने कहा : तुम्हारे सिर में बहुत मिट्टी है। नाई ने कहा : तुम्हारे बालों में कोलतार चिपका हुआ हैं। तुम सड़क भी बनाते हो क्या? उसने कहा : हां। नाई ने पूछा तुम मूलतः क्या काम करते हो? उसने कहा : कुछ भी। लेकिन अचानक नाई ने कहा : सुनो मैं तुम्हारे बाल नहीं काट पाऊंगा। मेरी कैंची भोथरी हो जाएगी। उस समय तक उसके बाल आधा कट पाए थे। एक साथ पांच उपन्यास लिखने वाला आदमी आधा कटे बालों के साथ उठा। उसने कुछ सिक्के निकाल कर नाई को दिए। मैं बाल काटने की दूकान के कोने में बैठा था। मैं उठा इस कृतज्ञता के साथ कि उसने मुझे पीठ पर लादकर अस्पताल पहुंचाया था। नाई आधा कटे बाल के पैसे ले नहीं रहा था और वह पैसे देने की जिद ठाने था। जबरदस्ती। पैसे देने के बाद उसने मुझसे हाथ मिलाते हुए पूछा कैसे हो। फिर वह तेजी से निकला और मैदान के बीच से इस तरह से जाने लगा जैसे वह एक बड़ी सी चादर को दो हिस्सों में बांटने वाली कैंची हो। नाई के व्यवहार से मैं क्षुब्ध था। जब वह मैदान के पास चला गया तो मैंने उसके कटे हुए बालों को उठाया मुझे लगा कि उसके बालों में सफेद बाल भी हैं यद्यपि उनकी संख्या बहुत ज्यादा नहीं थी। कुछ बाल ऐसे थे जो न काले थे और न सफेद वे भूरे थे। उन बालों में सचमुच बहुत मिट्टी थी। उनमें कोलतार लगा था। उनमें पत्तों के टुकड़े थे। मैंने सोचा कि एक आदमी पांच उपन्यास एक साथ लिख रहा है और सड़क भी बना रहा है।

उस दिन मैंने अपने बाल बहुत छोटे करा दिए। दाढ़ी कटा दी। मेरा गोरा रंग निखरकर बाहर आ गया। मुझे यह भी लगा कि पांच उपन्यास एक साथ लिखने की जो छाया मुझ पर लगातार पड़ रही थी, वह कुछ कम हो गई है। मैं उसके दबाव को कुछ कम महसूस कर रहा था लेकिन कोई बड़ी दुविधा थी जो मुझे विचलित किये दे रही थी। मैं डर गया। मुझे लगा कि उसके प्रति कृतज्ञता प्रदर्शित करने के लिए उसके घर चलना चाहिए–उसने मेरी जान बचाई थी। लेकिन मुझे ठीक ठीक नहीं मालूम था कि दरअसल वह कहां रहता है। मैं उसका घर तलाश करने लगा।

धीरे धीरे अंधेरा उतर रहा था। बिजली के बल्ब जलने लगे थे। हवा धीमी और ठंडी थी। और इसमें भटका जा सकता था। सिर के बाल छोटे होने और दाढ़ी को छिलवाने के बाद मुझे हवा और ऋतु ज्यादा महसूस हो रही थीं। वह जिधर से कभी कभी निकलता हुआ दिखता था मैं उसी के आस पास घूम रहा था। अचानक मुझे वह बाहर आता दिखा। उसने मुझे देखा और हाथ हवा में लहराया। इसके बाद मैं बहुत तेजी से निकल गया। उस दिन मुझे लगा कि इस आदमी के पांच उपन्यास एक साथ लिखने का संबंध इसकी तेजी से है। यह आदमी जल्दी में रहता था तो शायद इसकी एक वजह यह हो कि इस आदमी को बहुत जीने की उम्मीद न हो। हो सकता हैं कि इस आदमी की हत्या होने वाली हो। अगर ऐसा है तो कौन हो सकते है उसके हत्यारे? लेकिन शायद मरने के पहले वह बहुत सारी बातें कहना चाहता था, बहुत सारे रहस्य खोलना चाहता था, बहुत सारी दुरभिसंधियों को अनावृत्त करना चाहता था और आसपास के आदिवास के मर्म को व्यक्त करना चाहता था। वह राज्य के फासिस्ट होते जाने के पीछे सक्रिय डीएनए को सामने ला सकता था। तो क्या यह आदमी अपनी बातें कहने की जल्दी में है। मुझे इस बात में ज्यादा दम लगा। उसे देख कर यह कभी नहीं लगता था कि उसके कथानक इतने सरल होंगे कि वह उन्हें फटाफट कह सुन डाले या धड़ाघड़ लिख मारे। मुझे लगा कि उसके कथानक जरूर उन धागों की तरह होंगे कि जो उलझे

होते हैं और जो सौ और लाख धागों का भ्रम पैदा करते हैं लेकिन उनमें एक धागा घूम रहा होता है। तो वह इस उलझे से दिखने वाले तंत्र को बहुत निहंग तरीके से पेश करने की संभावना था। इसीलिए उसकी हत्या हो सकती थी। उस कस्बे में सीआईएसएफ और सीआरपीएफ के ट्रकों का आना बढ़ गया था और अखबारों में जंगलों और पहाड़ों के लिए लड़ते आदिवासियों के मारे जाने की खबरों का। लेकिन आज सुबह पहले पेज पर यह खबर भी थी कि उस जिले के सांसद और पूरे इलाके के आदिवासियों को कर्ज के जाल में फंसाकर उन्हें गुलाम बनाने वाले अवैध माइनिंग और देसी शराब के सरगना को गोली मार दी गई थी जो फुटबाल के मैदान को मॉल और वॉटरपार्क में बदलने जा रहा था। कस्बे में बहुत तनाव था। हत्या करने वाले की खोज जारी थी।

सुनयना का फोन बजा। मेरी तरह वह भी नहीं जानती थी कि किसने सांसद को मारा लेकिन वह चिंतित थी कि आततायी को मारने वाला पकड़ न लिया जाय। उस दोपहर हम फोन पर बहुत देर तक बात करते रहे। हम भारतीय गणतंत्र के बहुत असुरक्षित नागरिकों की तरह बात कर रहे थे। हमने हिंसा पर बात की जो इतिहास के तमाम दौरों में अग्रगामी, मुक्तिकारक और प्रतिकार का बड़ा रूपक बनती रही वैसे ही जैसे एक बड़े उपन्यास का लिखा जाना। मुझे यह भी लगा कि मैंने जो राह चुन रखी थी चाहे अनचाहे उसमें ज्ञान व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा को हासिल करने का उपकरण होता है। वह ताकत और धन को पाने में मदद करता है। तो मैं अपने को कैसे बचाऊं? क्या पांच उपन्यास लिखने वाले आदमी पर कहानी लिखकर मैं अपने नैतिक पुनर्वास की शुरुआत करूंगा।

मैं कमरे में सिविल सेवा की परीक्षा का ऐडमिट कार्ड ढूंढ़ता रहा जो एक दिन पहले ही आया था। क्या मैं उसे फाड़ने के लिए ढूंढ़ रहा था, कह नहीं सकता। मुझे पसीना आ रहा था। मैं मेज पर बैठा। मेज पर मैं पांच उपन्यास लिखने वाले आदमी पर कुछ लिखने बैठा। उस समय रात का शायद एक बज रहा था। मैं कागज और पेंसिल लेकर बैठा। लेकिन सुबह के तीन बजे तक मैं एक भी वाक्य नहीं लिख सका तो मैं बाहर निकल आया और उधर की ओर चला जहां से मैंने उसे निकलते हुए कई बार देखा था। उस इलाके में अंधेरे में मैं घूमता रहा। मैं सुनयना के हॉस्टल की तरफ किसी दीवाने की तरह बढ़ रहा था। लेकिन मैं सुनयना की तरफ जा रहा था या कि मैं पांच उपन्यास लिखने वाले गुमनाम को खोज रहा था। घूमते घूमते मेरी नजर एक ऐसे मकान पर पड़ी जिससे पीली रोशनी बाहर आ रही थी। पांच उपन्यास लिखने वाला आदमी खिड़की पर खड़ा था। खिड़की की तरफ उसकी पीठ थी और कमरे में शायद बीड़ी का धुआं। मैंने सोचा क्या मैं उसे पुकारूं। अचानक मेरे मन में एक उस पर लिखी जाती कहानी का पहला वाक्य आया। वह वाक्य मैं तुरंत लिख देना चाहता था। मैं अपने कमरे की तरफ भागा कि वह वाक्य भूल न जाऊं। मेरा पहला पांव दूसरे पांव में और दूसरा पांव पहले पांव से उलझ गया। मैं गिरा और सामने की दीवार से टकराया। लेकिन मैं फिर उठा और फिर भागा। मैं होश खो रहा था लेकिन होश खोने के पहले मैं वह वाक्य लिख देना चाहता था जो उस आदमी पर लिखी जाने वाली कहानी या कि शायद उपन्यास ही का पहला संशयग्रस्त वाक्य भी होता।

मोह

मनोज कुमार पांडेय

चुटकी भर जहर

यह अचूक जहर था जिसे गौरीनाथ ने खुद ही तैयार किया था। एक ऐसा जहर जिसका सफल प्रयोग अपने जीवन में वह कई बार कर चुके थे। किसी को अंदाजा भी नहीं लगना था कि उनकी यह मृत्यु स्वाभाविक मृत्यु नहीं है। यह सामान्य जहर से पूरी तरह से अलग था। उन्हें शाम को इसे लेना था और रात में सोते सोते मर जाना था। कोई पीड़ा नहीं। बस एक घातक नशा। अनंत में उड़ता हुआ एक मारक सपना जो सम्मोहक भी हो सकता था। यह उस सपने की परीक्षा का समय था। उन्हें यह भी देखना था कि कहीं यह सपना मृत्यु ही तो नहीं है या मृत्यु से अलग इसका कोई अस्तित्व है। उन्होंने अपने आसपास चलती परछाइयों को देखा। जिनके विकृत चेहरे उनके आसपास तैर रहे थे, बिना किसी शिकायत के। गौरीनाथ ने अपनी आंखें मूंद लीं और देर तक न जाने क्या बुदबुदाते रहे। इस बुदबुदाहट में जो भी रहा हो पर जब वे शांत हुए तो पहले से कमजोर लग रहे थे। उन्होंने अपने से मन ही मन सवाल किया कि क्या वे जहर खाकर आत्मघात करने के लिए ही इस दुनिया में आए थे। बदले में उन्हें एक मासूम से बच्चे की मासूम हंसी सुनाई दी। यह हंसी उनकी गोद में बैठी थी और उनका गाल सहला रही थी।

गौरीनाथ ने खूब खूब पीसी हुई भांग में चुटकी भर जहर मिलाया और बिना इधर उधर देखे उसे घूंट भर पानी के साथ निगल गए। अब बिस्तर था और आगे की यात्रा थी। अब या तो सब कुछ खत्म हो जाने वाला था या फिर वे इस जीवन के अपने कर्मों के साथ एक नई यात्रा पर निकलने वाले थे जिसके बारे में तमाम धर्मग्रंथों में खूब खूब लिखा गया था। उन्होंने यही सोचा था कि इसके बाद वह अपने घर परिवार के बारे में कुछ भी नहीं सोचेंगे। उन्होंने जो कुछ किया उसके पीछे प्रारब्ध था। नहीं तो उनका ही जीवन इस तरह से क्यों होते जाना था। प्रारब्ध! एक विकट

हंसी उनके भीतर प्रकट हुई जिसका गला उन्होंने भीतर ही घोंट दिया। सच्चाई इसके एकदम उलट थी और यह बात अब वे बखूबी जानते थे कि इस दुनिया से मुक्ति की चाह में उन्होंने जहर नहीं खाया था। यह एक उनका ही बुना हुआ जाल था जो उन्हें इस स्थिति तक ले आया था। और अब वे गोली निगल कर मृत्यु के सम्मोहक सपने का इंतजार कर रहे थे। उनके पिता ने बताया था कि इस तरह से मरने वाले को महसूस होता है कि वह मर नहीं रहा बल्कि सशरीर उड़कर जा रहा है कहीं। किसी ऐसी जगह जहां वह हमेशा जाना चाहता रहा हो। वह अपने जीवन में आखिर कहां जाना चाहते रहे थे हमेशा?

और गौरीनाथ उड़ चले। अब रात भर उन्हें उड़ते ही रहना था। बहुत ऊपर जहां वे उड़ रहे थे वहां से वे अपने जीवन में कहीं भी उतर सकते थे। अपना ही जीवन उन्हें कुछ इस तरह से दिख रहा था जैसे वह किसी और का हो बल्कि वही कोई और हों। इस सम्मोहक सपने में प्रवेश का पहला ही असर यह हुआ कि वे उन घातक परछाइयों से मुक्त हो गए जिन्होंने पिछले कई सालों से उन्हें घेर रखा था। अब परछाइयां सशरीर थीं। उसी उम्र में ठहरी हुईं जिस उम्र में गौरीनाथ ने उन्हें मृत्यु के पास जाने के लिए विवश कर दिया था। वे इस संयोग से लगभग चकित रह गए कि उनके पिता माताफेर तिवारी हूबहू उनकी तरह ही लग रहे थे। कुछ इस तरह जैसे पिता न होकर एक साथ जन्मे जुड़वा भाई हों, एक दूसरे के हमशक्ल। इसका मतलब क्या यह था कि वे अपने अवैध होने के जिस संदेह को अपनी चेतना में ढोते रहे थे वह गलत था?

इस बात से उन्हें कोई आश्वासन नहीं मिला। बल्कि यह एक शुरुआत थी जब उनके लिए सारी चीजों का अर्थ बदलते जाना था। उन्होंने जान लिया कि यह नरक की नदी है जिसे पार नहीं करना है हमेशा उसी में बहते रहना है। एक पूरा जीवन जो गलत धारणाओं से नष्ट हुआ और क्या सिर्फ एक जीवन! क्या अभी भी वह स्वार्थ में इतने डूबे हुए हैं कि उन्हें दूसरों का जीवन नहीं दिखाई देता जिसे उन्होंने नष्ट कर दिया हमेशा के लिए। गौरीनाथ हमेशा अपने पिता से घृणा करते रहे। पर अभी मृत्यु के इस घातक सपने के भीतर वे जानते हैं कि वे अपने पिता से कई गुना ज्यादा घृणित हैं। उन्होंने अपने जीवन में पिता की उस छवि को अपरिमित विस्तार दिया है जिसे अपने भीतर वह हमेशा पाल पोस कर बड़ा करते रहे। तो क्या पिता यह बात जानते थे। क्या जहर बनाना उन्होंने इसीलिए सिखाया था कि जब अपने ही भीतर बजबजाती हुई यातना अपरिमित विस्तार पा ले तो उससे मुक्त हुआ जा सके? तो क्या पिता को यह भी मालूम रहा होगा कि इस जहर का पहला प्रयोग खुद उन पर ही होने जा रहा था?

पिता का जीवन

वह दिन जिसे गौरीनाथ तिवारी ने अपनी आत्महत्या के लिए चुना था वह उनका सरकारी जन्मदिन था। इस दिन वे सैतालीसवां साल पूरा करके अड़तालीसवें साल में प्रवेश कर रहे थे। जब उन्हें प्राथमिक पाठशाला में प्रवेश दिलाने को लेकर उनके पिता माताफेर तिवारी स्कूल गए तो उन्हें पता ही नहीं था कि प्रवेश के पहले बच्चे का जन्मदिन भी पूछा जाता है। माताफेर को उनका जन्मदिन याद नहीं था सो प्रधानाचार्य महोदय ने वही किया जो ऐसी स्थितियों में वे करते रहे थे। उन्होंने बालक गौरीनाथ को उदारतापूर्वक एक काल्पनिक जन्मतिथि दे दी। पहली जुलाई उन्नीस सौ अट्ठावन। और इस तरह गौरीनाथ सीधे तीसरी कक्षा के विद्यार्थी हुए।

माताफेर ने गौरीनाथ को स्कूल में दाखिल करके कुछ इस तरह का अनुभव किया कि जैसे उन्होंने बहुत बड़ी जिम्मेवारी पूरी कर ली। लौटते हुए रास्ते में उन्होंने गौरीनाथ को समझाया कि उन्हें खूब मन लगाकर पढ़ाई करनी है और जो सीखना है वह अपने छोटे भाई बद्रीनाथ को भी सिखाना है। हालांकि गौरीनाथ को दो बहनें भी थीं पर उनके बारे में उनके पिता ने कुछ भी नहीं कहा। गौरीनाथ के तीनों

भाई बहन उनसे छोटे थे और अभी दिन भर अपनी मां के पीछे पीछे नाक सुड़कते घूमा करते थे।

माताफेर तिवारी किसी जमींदार के यहां मुनीमी करते थे। वह सुबह उठते, लोटा लेते, लंगोट उठाते और गंगा की तरफ निकल जाते जो घर से दक्षिण की तरफ लगभग कोस भर की दूरी पर बहती थी। वहीं दिशा फरागत होते, दातून करते, नहाते, लंगोट बदलते और वापस आ जाते। बाद के दिनों में वह लंगोट वगैरह लेकर जाने की समस्या से भी मुक्ति पा गए थे। हुआ यह कि घाट पर रह रहे एक साधु से उनकी दोस्ती हो गई और वह अपना लंगोट उसी साधु के आश्रम—या झोपड़ी जो भी कहें—में किसी पेड़ वगैरह पर डालकर चले आते और अगले दिन वहीं से उठा लेते।

गंगा किनारे कई छोटे छोटे मंदिर बने हुए थे। नहाकर वह वहीं अपने आराध्य हनुमान की पूजा करते और साथ में शंकर पार्वती आदि अन्य देवी देवताओं को भी जल और फूल वगैरह चढ़ा आते। इसके बाद घर आते और खा पीकर जमींदार की चाकरी में निकल जाते। दिन भर अपना काम करते और शाम को सीधे वहीं से मंदिर चले जाते। मंदिर पर देर रात तक कीर्तन वगैरह चलता रहता। पंडित माताफेर का मन कीर्तन वगैरह में खूब खूब लगता। वहां से निकलते हुए कई बार वह परसाधी खाकर (भोजन करके) ही निकलते। उन्हें लौटते लौटते कई बार दस ग्यारह बज जाते।

पंडिताइन घर में इंतजार करती मिलतीं। गौरीनाथ, बद्रीनाथ, रामरती और फूलमती सो चुके होते। खाना ठंडा हो चुका होता। माताफेर कभी खाते तो कभी बताते कि वह परसाधी खाकर आए हैं और उन्हें भूख नहीं है। यह सुनकर पंडिताइन एक बार सिर उठाकर माताफेर की तरफ देखतीं भी नहीं। उनकी भूख मर जाती। कई बार वे कुछ खातीं तो कई बार बिना कुछ खाए ही रसोई समेट लेतीं। इसके बाद वह माताफेर का पैर दबातीं। कई बार मालिश करतीं। माताफेर उन्हें यह बताते रहते कहां कहां ज्यादा जोर देना है कहां कहां देर तक रुकना है और कहां कहां से बस सरसरी तौर पर निकल जाना है। यह सब बताते बताते उनके गले से घुरघुराने की आवाज निकलने लगती। पंडिताइन का मन विरक्ति से भर जाता। वे बगल में पड़ी दूसरी चारपाई पर जाकर लेट जातीं। कभी कभी तुरंत नींद आ जाती तो कई बार दिन भर की थकान के बावजूद रात रात भर नींद न आती। रात रात भर जीवन के तमाम दृश्य सपनों की तरह झिलमिलाते रहते।

पंडित कभी कभी मर्द भी बन जाते। मालिश करवाते करवाते पंडिताइन को अपनी तरफ खींच लेते और खुद भी मालिश में जुट जाते। पर यह क्रम कभी भी ज्यादा देर न चलता। इसके बाद वह हांफते हुए करवट बदल कर सो जाते। कई बार उठकर बीच रात में ही नहाने चल देते। इसके पीछे न जाने कहां से आकर भीतर बैठी यह भावना होती कि कुछ देर पहले जो कुछ वह कर रहे थे वह एक नीच और पातक कर्म था। कि इसके बाद शरीर तो क्या आत्मा तक अशुद्ध हो जाती है। अगले दो चार दिन वह मालिश या हाथ पैर दबाने के लिए भी मना कर देते। उनके मन में स्त्री शरीर को लेकर गहरी घृणा थी पर अपनी सारी कोशिशों के बावजूद स्त्री शरीर के बिना वह रह भी नहीं पाते थे। तो बीच का रास्ता यह होता कि पंडिताइन के पास जाते तो जल्दी से जल्दी वहां से मुक्त होना और भागना चाहते।

पंडिताइन को पुरुष शरीर से कोई घृणा नहीं थी। हां वे पंडित माताफेर से जरूर घृणा करती थीं। बेपनाह घृणा। पर स्त्रियों के सदियों पुराने अभ्यासवश इस घृणा का पता उन्होंने माताफेर को कभी भी नहीं चलने दिया और छोटे मोटे झगड़ों के बावजूद समर्पिता पत्नी बनी रहीं। पति की सेवा करते हुए, बच्चे पैदा करते हुए, दिन रात घर के कामों में डूबी रहते हुए। और ऐसे ही एक दिन सानी पानी करते हुए उनकी प्रिय स्वर्गीय गाय के एक जवान होते बछड़े ने जब अपनी सींगों पर उठाकर उन्हें फेंका तो उनका शरीर भले ही थोड़ी दूर पर जाकर गिरा पर आत्मा ऊपर की ऊपर ही उड़ गई थी।

मां की मृत्यु

पंडिताइन का नाम बेला था। ससुराल आकर वह खुद भी अपना नाम भूल गई थीं। यहां उन्हें इस नाम से पुकारने वाला कोई भी नहीं था। रही मायके वालों की बात तो वह एक बार ससुराल आईं तो मायके जाना नसीब ही नहीं हुआ। न जाने किस मक्खी ने माताफेर तिवारी को लात मार दी थी। वह बेला को मायके भेजने के लिए तैयार थे पर उनकी एक ही शर्त थी कि बेला वापस ससुराल लौटकर नहीं आएंगी। बेला मायके नहीं गईं। जब डरी डरी सी बेला ससुराल आई थीं तो उन्हें बताया गया था कि घर में न सास का चक्कर है न ससुर का झमेला। वे घर में राज करेंगी। बेला के शरीर से बेला सी ही सुगंध फूटती थी। पंडित माताफेर ने सबसे पहला सवाल इस सुगंध पर ही किया। महकना रंडियों का काम है भले घर की औरतों का नहीं, माताफेर ने कहा। बेला को खुद से निकलने वाली सुगंध के बारे में कुछ भी नहीं पता था। पर उन्होंने इस बात का पूरा इंतजाम किया कि अगर ऐसी कोई गंध है तो उसे मार दिया जाय।

इसके पहले कि पंडित माताफेर उठते वह उठ जातीं और काम में लग जातीं। रात के बर्तन साफ करतीं। घर बुहारतीं। पूरा घर लीपतीं। दिन भर की जरूरत के लिए कुएं से पानी भरकर रखतीं। माताफेर के लिए भोजन तैयार करतीं। एक गाय थी। उसकी जगह बदलतीं। गोबर काढ़तीं। गाय को चारा डालतीं। जब तक बच्चे नहीं हुए यह गाय उनकी इकलौती साथी रही। उनके ध्यान का केंद्र, उनकी सखी, उनकी दुश्मन। सब कुछ वही। गाय उन्हें अपने गौने में मायके से मिली थी। तब वह बछिया ही थी। एक और भी बात थी। ससुराल में कोई और उनका साथी हो भी नहीं सकता था। माताफेर जब बाहर निकलते तो घर में बाहर से ताला बंदकर निकलते। उनका मानना था कि पंडिताइन अभी बच्ची हैं और उन्हें किसी बात की समझ नहीं है। यह अलग बात है कि ताले में रखने के बावजूद वह रात को आने पर दिन भर की टोह लेने की कोशिश करते। यह जांचने की कोशिश करते कि कहीं बेला की इच्छा बाहर निकलने की तो नहीं होती? उनके बहुत मनुहार पर बेला ने एक बार कह दिया था कि हां उनकी इच्छा बाहर निकलने की होती है कभी कभी। वे दिन भर घर में बंद रहते रहते ऊब जाती हैं। कोई उनसे बात करने वाला नहीं है यहां पर।

बेला बात तो अपने अपमान की भी करना चाहती थीं पर उन्हें माताफेर की मनुहार पर इतना भी भरोसा नहीं हो पाया था। वे सही थीं। माताफेर ने तुरंत ही उनके बालों को पकड़ा और लात मारी। साथ में इसके लिए बेला पर जी भरकर लानत भेजी कि वे किसी से बात करना चाहती हैं। बाजार घूमना चाहती हैं। और घर में रहते हुए ऊबना यह तो माताफेर की समझ के बाहर था। औरत घर के लिए ही बनी है। वह घर में रहते हुए ऊब कैसे सकती है। घर में रहने से ऊबना पंडित माताफेर के लिए रंडियों का चाल चलन है। यह सोचते ही माताफेर को फिर से गुस्सा आ गया। उन्होंने जमीन पर बिखरी पड़ी बेला की पीठ पर फिर से एक जोरदार लात मारी और पूछा कि तुम्हारे लिए मैं कम पड़ता हूं क्या जो बाजार में निकलना चाहती हो।

और फिर बच्चों का आना शुरू हुआ जो करीब डेढ़ साल में एक की औसत से अगले बारह तेरह साल तक आते ही चले गए। पंडिताइन का पूरा समय बच्चों की सेवा में बीतने लगा। उधर गाय ने भी पंडिताइन के साथ ही बच्चे देने शुरू किए। अगले बारह तेरह साल तक, जब तक कि वह बूढ़ी होकर मर नहीं गई लगातार बच्चे देती रही। पर गाय और पंडिताइन में अंतर यह था कि गाय अपनी उमर में ही जाकर बूढ़ी हुई थी जबकि पंडिताइन अभी मुश्किल से तीस की भी नहीं हो पाई थीं कि बूढ़ी हो गई थीं। उनकी कमर ने उनका बोझ खुशी खुशी उठाने से मना कर दिया था और झुक गई थी। पंडिताइन जरा भी बैठतीं तो अकड़ जातीं। वह बिना किसी सहारे के खड़ी न हो पातीं। पहले

की तरह झुककर झाड़ू वगैरह न लगा पातीं। अब यह काम उन्हें बैठे बैठे एक जगह से दूसरी जगह घिसटते हुए करना पड़ता। वे बैठे बैठे एक जगह से दूसरी जगह घिसट रही होतीं और उनके पीछे मक्खियों की एक पूरी फौज के साथ उनके बच्चे घिसट रहे होते। जिनकी संख्या घटती बढ़ती रहती।

गाय और पंडिताइन में एक अंतर यह भी था कि गाय के सारे बच्चे जिए और स्वस्थ रहे। दूसरी तरफ पंडिताइन के कई बच्चे तो छठे सातवें महीने में ही गिर गए। जो पेट में अपना पूरा समय लेकर पैदा हुए उनमें भी ज्यादातर कई कई सालों तक पंडिताइन से सेवा कराकर उन्हें उऋण करके चलते बने। जब पंडिताइन के मरने से बच्चों के आने और जाने का यह सिलसिला समाप्त हुआ तो बच्चों की स्थिर संख्या बची थी चार–गौरीनाथ, बद्रीनाथ, रामरती और फूलमती। इस बीच बेला की महक गायब हो गई थी और उसकी जगह गाय के गोबर और बच्चों के गू मूत ने ले ली थी। यही वजह थी कि पंडित माताफेर अब थोड़ा उदार हो चले थे। उन्होंने घर से बाहर निकलते हुए घर में ताला लगाना बंद कर दिया था।

मां की मृत्यु के समय गौरीनाथ आठवीं में पढ़ते थे। स्कूल करीब पांच कोस दूर था। वह सुबह आठ साढ़े आठ बजे तक खा पीकर और दोपहर के लिए कुछ चबैना वगैरह लेकर स्कूल के लिए निकल जाते। गांव से एक और लड़का था जो उनके साथ जाता था। बाकी रास्ते में अक्सर कुछ और लड़के टकरा जाते। इस तरह खेलते कूदते वे स्कूल पहुंच जाते। मां की मृत्यु ने यह सब कुछ बदल दिया था। घर पर छोटे छोटे भाई बहन थे। अब उनका खयाल रखना बड़े होने के नाते उनकी जिम्मेदारी थी। इस जिम्मेदारी को निबाहते हुए कब गौरीनाथ अपने भाई और बहनों की मां में बदल गए यह वे खुद भी नहीं जान पाए। उनका नियमित स्कूल जाना बंद हो गया।

मां की रुलाई

गौरीनाथ ने बचपन में ही बाजरे या ज्वारी को आटे में बदलना सीखा और आटे से रोटियां बनाना। इसी तरीके से उन्होंने और भी बहुत सारे काम सीखे। चारपाई बीनना, कपड़े सिलना, स्वेटर बुनना से लेकर घर की खपड़ैल दुरुस्त करना, दीवालों में मिट्टी लगाना, सुतली से रस्सी तैयार करना जैसे न जाने कितने काम उन्होंने खुद से सीखे या कि जरूरत ने उन्हें सिखाया। घर के आसपास की खाली जगहों पर सब्जियां उगाईं। हल चलाना सीखा, खेती करनी सीखी। कुछ इस तरह कि उन्होंने अपने आपको पूरी तरह से घर को खड़ा करने और अपने भाइयों और बहनों को बड़ा करने में लगा दिया। आगे की पढ़ाई उन्होंने लगभग घर पर रहते हुए ही की। और इसी तरह से एक दिन कर कराकर वे प्राथमिक पाठशाला में शिक्षक हो गए।

इन सबके बीच गौरीनाथ हर पल मां को याद करते रहे। उन्होंने जांत पीसते हुए, धान या बाजरा कूटते हुए, कई बार मां को रोते हुए देखा था। वे छोटे थे समझ नहीं पाते थे कि मां क्यों रो रही है। कोई दुख है, इतना तो उन्हें पता चलता ही था। वह कई बार जाकर रोती मां से लिपट जाते। मां अमूमन अपना रोना छिपाती। कहती कि बाजरा कूटते हुए धूल उड़कर आंखों में जा रही है इस वजह से आंखों से डंहका बह रहा है। या कि कोई कीड़ा चला गया था या आंख में खुजली हो रही थी। उन्होंने आंखों को मसल दिया तो आंखों से पानी बहने लगा। मां के पास अपना दुख छुपाने के लिए ढेरों बहाने थे जिनके द्वारा मां गौरी को बहलाने की कोशिश करती। गौरी को अक्सर मां पर शक होता कि वह झूठ बोल रही है पर उसे खुश करने के लिए उसके बहाने सच मान लेते।

सिर्फ एक बार ऐसा हुआ था कि जांता चलाते हुए मां कुछ गा रही थी और रो रही थी। गौरीनाथ देर तक मां का रोना छुपकर सुनते रहे। मां का रोना सुनते सुनते उन्हें भी रुलाई आ गई।

वह रोते रोते ही गए और मां से लिपट गए। मां ने अचानक से अपनी रुलाई रोकने की कोशिश की पर इस कोशिश में वे भरभरा गईं और रोकते रोकते उनकी रुलाई तेज होने लगी। वे रुलाई को जितना ही रोकने की कोशिश करतीं वह उतनी ही तेज होती जाती। उन्होंने गौरी को अपने में भींच लिया और इसी के साथ रुलाई रोकने की कोशिश बंद कर दी। वह देर तक रोती रहीं। वह मां की कांपती हुई पीठ सहलाते रहे। उसकी आंखों से आंसू पोंछने की कोशिश करते रहे पर भीतर जैसे कोई आंसुओं का बांध था जो आज ढह गया था। बहुत देर बाद मां जब चुप हुई तो रोते रोते बेहोश सी हो गई थी। वह गौरी को अपने से चिपटाए हुए वहीं जमीन पर गिर गई।

गौरी ने मां को पहले भी कई बार रोते हुए देखा था पर उस दिन का रोना अचानक और भीतर तक भिगो देने वाला था। वैसी भीषण रुलाई उन्होंने इसके पहले कभी नहीं देखी थी। उस समय तो वह जैसे जड़ से हो गए थे। कुछ नहीं समझ में आया तो पानी ले आए और जबरदस्ती बेहोश मां को पानी पिलाने लगे। मां के दांत एक दूसरे पर कसे हुए थे। पानी पिलाने की उनकी कोशिश कामयाब नहीं हुई। फिर वह मां का मुंह धोने लगे। थोड़ी देर बाद मां को जब होश आया तो वह उसी डरी हुई स्तब्धावस्था में मां का सिर सहलाते हुए बैठे थे। मां ने उनका सिर सहलाया, गाल सहलाए। इस सहलाने में ऐसा कुछ शामिल था कि वे समझ गए कि उन्हें मां के रोने को हमेशा अपने भीतर छुपाकर रखना है। तब उन्हें नहीं पता था कि यह छुपी हुई रुलाई बहुत सालों बाद अपना रूप बदलकर और भी घातक और विराट होकर उनके भीतर से प्रकट होनी है।

जब घर के सारे काम काज करते हुए गौरी धीरे धीरे मां की भूमिका में उतरे तो उसमें कहीं उनके भीतर छुपी हुई इस रुलाई का भी गहरा योगदान था। यह भी मां की रुलाई ही थी जिसने उन्हें अपने पिता यानी माताफेर के प्रति एक बेपनाह घृणा से भर दिया। हालांकि इस घृणा को उन्होंने एकदम उसी तरह से अपने भीतर छुपाकर रखा जिस तरह से मां ने अपने भीतर छुपा रखा था या कि उन्होंने अपने भीतर मां की रुलाई छुपा रखी थी। इतने भीतर कि वह खुद उसे भूल गए थे धीरे धीरे। बहुत सालों बाद जब यह रुलाई बाहर आनी थी तभी उन्हें रुलाई के साथ मां की एक झलक भी देखनी थी और उस गाढ़े पल को याद करना था जो जीवन भर उनके भीतर बना रहा था।

पर क्या वह कोई इकलौता पल था? ऐसे न जाने कितने पल छुपे बैठे थे उनके भीतर। बस अंतर यह था कि वह उन पलों के दर्शक भर रहे थे। पर उन पलों की छवियां इतनी मारक और अमिट थीं कि एक दर्शक की तरह तटस्थ हो पाना संभव नहीं हुआ था। कई जगह तो दृश्य भी नहीं थे, बस आवाजें थीं। जैसे एक रात जब वह अचानक से चौंक कर उठे तो उस तरफ जिधर माताफेर और मां सोती थीं उधर से अजीब अजीब आवाजें आ रही थीं। वे डर गए। अंधेरे में कुछ दिख नहीं रहा था। बस आवाजें थीं। बहुत बाद में वे आवाजें मां की रुलाई में घुल गई थीं। न जाने कितनी बार मां को पिटते हुए देखना और हमेशा डर से कांपते हुए कहीं दूर खड़े रहना। उन्हें बस एकाध बार की याद है जब बदले में मां चीखी हो, नहीं तो बस पिटने की ही आवाजें थीं। मां ऐसे समय पर एकदम चुप हो जाती। इतनी कि गौरी अपने पिता माताफेर की सांस तक सुन पाते। गौरी भी मां की तरह अपनी सांस रोक लेते और देर तक रोके रखते। उन्हें लगता कि उनकी भी सांस की आवाज सुन ली जाएगी। उन्हें नहीं पता था कि तब क्या होगा पर गौरी हमेशा सचेत रहे कि इस बात का पता कभी किसी को न चले, मां को तो कभी भी नहीं कि वे सब कुछ जानते हैं। क्या सचमुच वे सब कुछ जानते थे?

यह उन्हीं दिनों की बात है कि उनके भीतर पिता के लिए बेपनाह घृणा भरती चली गई। वे पिता को पीटना चाहते थे, पिता को तड़पते हुए देखना चाहते थे। उनकी हत्या कर देना चाहते थे। पर गौरी ने कुछ नहीं किया। वे एकदम मां की तरह ही निरपेक्ष आज्ञाकारी बने रहे। अगर उन्होंने

पिता को कुछ नहीं किया तो इसके पीछे डर ही नहीं था, और भी अनेक चीजें और भावनाएं आपस में गुंथी हुई थीं। जिन्हें अलग अलग देख पाना उनके लिए संभव नहीं था। खासकर मां के मरने के बाद जो एक बेचारगी गौरी और उनके भाई बहनों को झेलनी पड़ रही थी वह उन्हें उस उमर में भी बहुत गंदी और तकलीफ देने वाली लगती थी। ऐसी स्थिति में पिता का न होना उनके पूरे जीवन को एकदम बदल देता। अपनी सारी लापरवाही के बाद भी माताफेर इन बच्चों के लिए एक छांव की तरह से थे, भले ही उन्होंने इन बच्चों को कभी गोद में नहीं उठाया, उनकी नाक नहीं पोछी। उनके होने के बावजूद वे भटकते रहे। यह गौरी थे जिन्होंने उन्हें संभाले रखा।

पिता माताफेर

पंडित माताफेर जिन्हें अब थोड़ा बदल जाना था और अपने छोटे छोटे बच्चों का ध्यान रखना था, पहले की तरह ही आवारा बने रहे। वे बस इतने से अपनी जिम्मेवारी की इति मान लेते थे कि घर में अनाज बना रहे। कभी कभार अगर वे घर के प्रति जिम्मेवारी महसूस करते तो गौरीनाथ को पास बैठा लेते और सीख देते कि घर में बड़े भाई का मतलब क्या होता है। अपनी बात रखने या कि गौरीनाथ को समझाने के क्रम में वे तमाम पौराणिक कहानियां और लोककथाएं सुनाते जिनमें घर के बड़े भाई द्वारा किए गए असीमित त्याग आदि का मार्मिक वर्णन रहता। गौरीनाथ उनके बिना बताए ही अपने कर्तव्यों का निर्वाह बेहद लगाव के साथ कर रहे थे। वे कई बार कहने को होते कि इस सीख की जरूरत अगर किसी को थी तो खुद उनके पिता माताफेर तिवारी को थी। पर यह बात वे उस समय न कहकर बहुत समय बाद कह पाए।

गौरीनाथ के प्रति जो दूसरी बड़ी जिम्मेदारी उनके पिता ने निभाई वह थी उनका विवाह करने की। मां के मरने के दूसरे साल ही उन्होंने गौरीनाथ का विवाह कर दिया। गौरीनाथ अभी विवाह नहीं करना चाहते थे पर पिता के सामने मना करने की उनकी हिम्मत नहीं पड़ी। उन्होंने वैसे ही निष्ठा से अपने विवाह की सभी तैयारियां कीं जिस निष्ठा से अब तक घर के सारे काम करते रहे थे। यहां तक कि निमंत्रणपत्र भी खुद ही तैयार किए। माताफेर ने निमंत्रण की मूल प्रति स्वयं लिखी और गौरीनाथ को थमा दी। गौरीनाथ ने उसकी नकल में निमंत्रणपत्र की बहुत सारी प्रतियां तैयार कीं। उन पर उन लोगों के नाम लिखे जिन्हें वे पहुंचाई जानी थीं। इसके बाद निमंत्रणपत्र नाई के हवाले कर दिए गए। विवाह से जुड़ी सारी खरीददारी माताफेर ने खुद की। बच्चों के लिए कपड़े खरीदे। बुआओं को जाते समय देने के लिए धोतियां खरीदीं। और भी छोटी बड़ी न जाने कितनी खरीददारियां। बहनों को ले आने के लिए उनके घर जाना। और इस तरह से गौरीनाथ का विवाह संपन्न हुआ।

दहेज में गौरी को बहुत सारे घरेलू इस्तेमाल में आने वाली चीजों के अलावा एक साइकिल भी मिली। साइकिल पाकर वे खुश थे। उन्हें लगा कि अब उनका स्कूल जाना आसान हो जाएगा। वे घर का खयाल रखने के साथ साथ स्कूल भी जा सकेंगे। कहीं आना जाना, सौदा सामान लाना सब कुछ अब वे ज्यादा आसानी से कर सकेंगे। पर साइकिल पिता ने झटक ली। गौरी को बहुत बुरा लगा पर वे चुप्पी साध गए। शायद साइकिल को लेकर उनकी आकांक्षाओं का थोड़ा बहुत अंदाजा माताफेर को भी हो गया। तभी तो उन्होंने एक दिन उनको बैठाकर समझाया कि गौरी का साइकिल लेकर बाहर निकलना अभी ठीक नहीं है। वे अभी बच्चे हैं और कोई भी राह चलते उन्हें दो तमाचे मारेगा और साइकिल छीन ले जाएगा। गौरी चुपचाप सुनते रहे। मन में आया कि कहें कि तुमने तो बिना मारे ही छीन ली पर कह नहीं पाए। वह किसी काम के बहाने से उठे और बाहर निकल गए।

गौना तीन साल बाद आना था। इस बीच गौरीनाथ ने अपने आपको पूरी तरह से घर के कामों

में झोंक दिया। उनकी सुबह चार बजे से ही शुरू हो जाती। घर बाहर के लगभग सारे काम उनके जिम्मे थे। भाई बहनों की देखभाल। भाई को पढ़ाना। थोड़ा बहुत बहनों को भी पढ़ाना। जानवरों की देखभाल, खेती, घर की साफ सफाई। कोई भी ऐसा काम नहीं था जो गौरीनाथ के जिम्मे नहीं था। माताफेर बस काम बताकर बाहर निकल जाते। गौरी ने पूरी जिम्मेदारी से सभी कामों को निबाहा। इस बीच अच्छी बात बस यह हुई कि उनके भाई बहन भी बड़े हो रहे थे और धीरे धीरे उन्होंने गौरी के कामों में हाथ बंटाना शुरू कर दिया था। और जब तीन साल बाद गौरी का गौना आया तो तब तक वह प्राथमिक पाठशाला में अध्यापक हो चुके थे।

उनके गौने के तुरंत बाद ही माताफेर ने गौरी की बहन रामरती की शादी तय कर रखी थी। उनकी योजना यह थी कि गौरी के गौने में जो कुछ भी मिलेगा वह बेटी की शादी के दहेज में काम आ जाएगा। गौरी की शादी में मिले बर्तन जस का तस संभाल कर रखे हुए थे। गौरी को शादी में एक अंगूठी मिली थी सोने की, वह भी उतरवा ली गई। इसी तरह रेडियो भी बहन के दहेज के काम आया। बस एक चीज थी जिसे गौरी ने देने से इनकार कर दिया। यह थी एक सुंदर सी जेबघड़ी। सीधे इनकार की आदत तो उनकी थी नहीं सो बहाना बनाया कि कहीं खो गई। माताफेर को जब भी घड़ी की याद आती बड़बड़ाने लगते। गौरी किसी न किसी बहाने से वहां से हट जाते।

रामरती की शादी के कई दिन बाद जब घर औरतों से खाली हुआ तब जाकर वह अपनी पत्नी से मिल पाए। इस बीच गौरी ने कई बार कोशिश की पर वह कोशिश विफल रही। उन्हें लगता कि जैसे घर भर के लोग इस बात की निगरानी कर रहे हों कि वह अपनी पत्नी से कभी न मिल पाएं। वे बिना किसी काम के बार बार घर के भीतर जाते। इधर उधर कोने अंतरे न जाने क्या कुछ खोजने की कोशिश करते। जब कोई पूछता तो कुछ न कुछ बता देते या कुछ भी, जो सामने दिखता लेकर बाहर निकल आते। फिर घुसते फिर निकलते। यह सिलसिला चलता ही रहता।

बेला पार्ट टू

वैसे एक दूसरी भी बात थी। गौरी को सही सही यह पता भी नहीं था कि मिल के वे क्या करेंगे, क्या बातें करेंगे, पर इतना वे साफ साफ जानते थे कि वह उनकी पत्नी है और उससे मिलना चाहिए। भीतर एक हलचल मची हुई थी। उत्तेजना थी, डर था। उन्हें नहीं पता था कि जब वे घर में घुसते हैं तो इस उम्मीद में उनकी धड़कनें क्यों तेज हो जाती हैं कि क्या पता बैजंती से सामना हो जाए। हां यही नाम है उनकी पत्नी का। और एक दिन जब वह पत्नी की कोठरी में घुस पाए तो इतने सकपकाए हुए थे कि कोठरी का किंवाड़ बंद करना भी भूल गए। घनघोर गर्मी के मौसम में उन्हें कंपकंपी लग रही थी। वे जाकर एक कोने में खड़े हो गए। फिर जैसे इधर उधर कुछ खोजते हुए जाकर पलंग पर बैठ गए। इसके पहले वे पलंग पर कभी नहीं बैठे थे सो पलंग पर बैठकर उन्हें अच्छा भी लगा। पत्नी से बोले कि तुम भी पलंग पर बैठ जाओ। जैसे उन्हें पता ही नहीं था कि पत्नी रोज उसी पलंग पर उनकी किसी न किसी बहन के साथ सोती थी और भौजी के साथ सोने को लेकर दोनों बहनों में झगड़ा भी होता था।

जब बैजंती यानी कि उनकी पत्नी उनके कहने पर पलंग पर आकर नहीं बैठी तो उन्होंने उनका हाथ पकड़कर उन्हें पलंग पर बैठाने की कोशिश की। हाथ पकड़ते हुए उन्हें हाथों में झनझनाहट हुई। भीतर जैसे धमाके से हुए। वे उन्हें पलंग पर खींच कर बैठा ही देना चाहते थे कि पत्नी के मुंह से निकला कि अरे बुद्धूराम किंवाड़ तो बंद कर लो। तब उन्हें किंवाड़ की सुधि आई। वे इस बात पर शरमा भी गए कि यह बात उन्हें पत्नी के बताने पर याद आई। उन्होंने तुरंत उठकर किंवाड़ बंद कर दिया। कोठरी

में एक कोने चिमनी जल रही थी। कुछ नहीं समझ में आया तो उठे चिमनी हाथ में पकड़ी और लाकर पत्नी का चेहरा देखने लगे। उन्हें अपनी किस्मत पर बहुत खुशी हुई। वे सुनते रहे थे कि उनकी पत्नी बहुत सुंदर है पर देखने का मौका अभी हाथ लग रहा था। पत्नी ने अपनी आंखें मूंद रखी थीं। वह भकुवाए हुए पत्नी को देखते रहे फिर पत्नी से आंख खोलने के लिए बोलने लगे। पत्नी ने आंख खोली और चिमनी पर फूंक मार दी। चिमनी बुझने को होते होते फिर जल उठी। गौरी ने चिमनी को दूर ताखे पर ले जाकर रखा। लौटकर पत्नी को गोद में उठाया और बिस्तर पर ले जाकर बिठा दिया।

उन्हें कभी समझ में नहीं आया कि अचानक उनके अंदर एक उत्तेजना कहां से प्रकट हुई थी। क्या यह घबराहट से पैदा हुई या कि इस एहसास से कि वे पहली बार किसी युवा स्त्री के इतने नजदीक थे और वह खूबसूरत युवती उनकी पत्नी थी। या कि इसके पीछे यह डर कि पता नहीं आज के कितने दिन बाद वह फिर से पत्नी के कमरे में आ पाएं? यह सब उनकी बाहरी खामखयालियां थीं जिनसे गौरी बाद में पत्नी के सामने अपने को बहलाते थे। और अपनी इन बातों पर इतने मुग्ध कि कई बार अकेले में भी इसी आधार पर अपने को बरी कर देते थे। यह तो उन्हें बहुत बाद में जानना था कि वे भी अपने पिता की तरह ही थे। वैसे ही जिन्हें पत्नी के साथ सोना पसंद था पर ऐसी रातें उनके जीवन में कभी नहीं घटी थीं जब पत्नी के साथ जागना भी उतना ही पसंद आया हो। वह भी अपने पिता की तरह ही होते गए थे धीरे धीरे। थोड़ा भिन्न तरीके से। वह अपनी पत्नी को उसके शरीर से अलग करके देख ही नहीं पाए कभी। एक बेहद खूबसूरत और कामनाओं से भरा हुआ शरीर जो उत्तेजक भी था। वह एक कमतरी के एहसास से घिर गए। पत्नी रंग रूप में पहले से ही उनकी तुलना में बहुत सुंदर थीं। उसकी सुंदरता में मिलकर यह एक नया डर सामने था कि क्या वे हमेशा अपनी पत्नी की कामनाओं का जवाब दे पाएंगे?

यह एक खानदानी डर था। गौरीनाथ कामनाओं से डरे तो उनके पिता बेला की गंध से डर गए थे। यह डर कितना सच था कितना काल्पनिक यह गौरी को नहीं पता पर यही वह बात थी जहां से उन्हें लगा कि उन्हें अपनी पत्नी पर नजर रखनी चाहिए। एक बार यह बात मन में आने की देर थी कि उन डूबे हुए पलों में पत्नी का उतनी ही गर्मजोशी से दिया गया जवाब भी उनमें शक पैदा करने लगा। कुछ तो गड़बड़ है नहीं तो जब वे पुरुष होकर सकुचाए हुए थे तो उनकी पत्नी में उनको बुद्धू कहने का साहस और किंवाड़ बंद करने की बात कहना आखिर कैसे सूझा। उनमें इतना साहस भी नहीं था कि पत्नी से सीधे सीधे इस बारे में पूछ पाते। यहीं से वह कायर संदेह पैदा हुआ और परवान चढ़ा जो जीवन भर उनके साथ रहने वाला था। उनको लगता था कि उनके शक की वजहें पत्नी के प्रति उनके प्रेम के भीतर ही छुपी हुई थीं। वे बैजंती को इतना प्रेम करते थे कि उन्हें सबसे बचाकर रखना चाहते थे। वे उन्हें बिल्कुल गड़े धन की तरह छुपाकर रखना चाहते थे कि बाहर की कोई छाया भी न पड़े उन पर। ठीक उसी तरह जैसे उनके पिता बेला को ताले में बंद करके रखते थे। यह व्यावहारिक रूप से मुमकिन नहीं था। घर में छोटा भाई था, बहनें थीं। गौरी ने यह सोच के खुद को बहुत सुरक्षित महसूस किया कि सब के रहते बैजंती ज्यादा छूट नहीं ले पाएंगी।

शुरुआत में बैजंती को इसमें प्रेम ही प्रेम दिखा पर यह जानने में भी उन्हें देर नहीं लगी कि यह बंधन ही बंधन था। उन्हें किसी भी तरह से इसे तोड़ फेंकना था। शुरुआत में उन्होंने प्रेम से समझाने की कोशिश की। रीझने का नाटक किया गौरीनाथ पंडित पर, उन्हें रिझाने की कोशिशें कीं। गौरीनाथ उन पर जितना ज्यादा रीझते, पहरा उतना ही कड़ा होता जाता। वे दिन दिन भर सब काम छोड़कर घर पर बैठे रहते। बैजंती की छाया तक की निगरानी करते हुए। कहीं बाहर निकलते तो यह सुनिश्चित करके ही बाहर निकलते कि घर में कोई न कोई सदस्य जरूर रहे। बाहर से आते ही इस बात की टोह लेने की कोशिश करते कि उनकी अनुपस्थिति में कोई आया तो नहीं

था। यह सब जान लेने के बाद ही उनके गले में ठंडा पानी उतरता। कोई प्रमाण नहीं था उनके पास पर एहतियात बरतने में उन्हें कोई बुराई नहीं दीखती। इस हद तक कि कई बार तो बैजंती जब सुबह और रात मैदान जाने के लिए निकलतीं तो उनसे एक दूरी बनाकर साथ चलते और किसी ऐसी जगह छुपकर बैठ जाते जहां से वह उनको देखते रह सकें।

झूठ के प्रमाण

और तब बैजंती ने उन्हें प्रमाण देने शुरू किए। वे उनके आगे चल रही होतीं और अचानक से गायब हो जातीं। खेत में घुसतीं और निकलतीं किसी और खेत से। अकेले रहने पर घर की सांकल अक्सर बंद मिलती भीतर से। भीतर से हंसने और बोलने बतियाने की आवाजें आतीं। गौरीनाथ कितना भी चुपचाप होकर कमरे में घुसते पर आवाजों को पता चल ही जाता और वे अचानक दूर कहीं उड़ जातीं। वे चुपचाप घर का कोना कोना छान मारते पर कहीं कुछ न मिलता। बैजंती के पास जाते इस आस में कि कोई साक्ष्य वहीं मिल जाय कहीं पर न मिलता। वह अपनी तलाश से निराश ही हो जाने वाले थे कि एक दिन बैजंती के शरीर से कोई एक अनजानी गंध उन्हें मिल ही गई। यह बैजंती के भीतर संचित हो रही उस घृणा की गंध थी जो न जाने कब से पैदा हो रही थी धीरे धीरे। गौरीनाथ ने उसे पराए पुरुष की गंध समझा। उन्हें एक गलीज किस्म की खुशी हुई कि वे अपने शक में कितने सही थे।

वे बैजंती से पूछने के पहले प्रमाण जुटाना चाहते थे। प्रमाण उन्हें कभी नहीं हासिल हुए। उधर बैजंती ने उनके प्रति वही ठंडी आज्ञाकारिता अपना ली थी जो गौरीनाथ की मां ने अपनाई थी। पर दोनों में एक भारी अंतर था। गौरीनाथ की मां बेला की आज्ञाकारिता आत्मघाती थी। वह भीतर ही भीतर उन्हें काट रही थी। उसमें अविश्वास और दुख की गहरी छायाएं थीं। यह छायाएं उन्हें दयनीय बना रही थीं। वे खुद ही खुद का उपहास उड़ातीं और यह उपहास एक दिन उन्हें अपने साथ लेकर उड़ गया था। इसके उलट बैजंती यह उपहास का भाव गौरीनाथ के प्रति रखती थीं उन्हें दुनिया का सबसे दयनीय प्राणी मानते हुए। उनकी सारी आज्ञाकारिता के बीच उनके होठों पर एक उपहास तैरता रहता था पति के लिए। एक ऐसा उपहास जो गौरीनाथ को अपने समूचे अस्तित्व पर सवालिया निशान की तरह लगता।

शुरू के दिनों में उन्होंने इस हंसी से सख्ती से निपटना चाहा। वे कहीं बाहर से घर आए, हमेशा की तरह चुपचाप। दरवाजे पर कान लगाने पर उन्हें किसी पुरुष की हंसी सुनाई दी जिसमें उनकी पत्नी की हंसी भी लिपटी हुई थी। उन्होंने दरवाजा भड़भड़ाया। बैजंती ने दरवाजा खोलने में देर लगाई। दरवाजा खुलते ही उन्होंने पूरा घर छान मारा। घर में उन्हें बैजंती के अलावा कोई नहीं मिला। इस बीच बैजंती उन्हें लगातार कुछ खोजते हुए देख रही थीं। उन्होंने पति से पूछा भी नहीं कि वे क्या खोज रहे हैं। यह इकलौती बार था कि उनकी आंखों में अपने हाल पर आंसू आए थे। जीवन इस तरह से कैसे कटेगा। वे भरी हुई आंखों के साथ घर से बाहर निकल आईं और बाहर पड़ी खटिया पर बैठ गईं। गौरीनाथ थोड़ी देर में बाहर निकले। उन्हें पक्का भरोसा था कि घर में कोई था जो किसी तरह से घर से बाहर निकल गया। किस तरह से, यह उनकी समझ में नहीं आ रहा था।

बाहर आकर उन्होंने पत्नी की आंखें आंसुओं से भरी हुई देखीं तो आंसुओं को डर से उपजा मान लिया। उन्हें लगा कि वे पकड़े जाने के डर से रो रही हैं। पंडित गौरीनाथ ने अपने आप को विजयी महसूस किया और बदले में पत्नी को चांटा मारा। एक के बाद एक कई चांटे मारे। उन्हें धक्का मार कर गिरा दिया और लात मारी। बैजंती शुरू में तो स्तब्ध रहीं। उनकी आंखों में अटके

हुए आंसू जैसे सूख ही गए हों। फिर उन्होंने गौरीनाथ का पैर पकड़ कर खींच लिया जो उनकी छातियों पर प्रहार के लिए उठा हुआ था। पंडित गौरीनाथ जमीन पर आ गए। वे उनके सीने पर चढ़ बैठीं और उनके गालों पर उपली पाथने लगीं। उनके गले से आवाज नहीं एक घुरघुराहट जैसे निकल रही थी। उसी घुरघुराहट के बीच बैजंती ने गौरीनाथ से कहा कि अगर आइंदा उन्होंने उन पर हाथ उठाया तो वे उनकी जान ले लेंगी और गंगा में डूबकर अपनी जान दे देंगी। गौरी के सीने पर बैठकर उन्होंने उनको बताया कि घर में कोई नहीं था। न आज, न पहले कभी। पर आगे भी नहीं रहेगा अब इस बात की कोई गारंटी अब वह नहीं ले सकतीं।

जब गौरीनाथ को बैजंती ने छोड़ा तो वे इतने निर्बल हो गए थे कि बहुत देर तक उठ भी नहीं पाए। उन्हें अपने सीने पर बैठकर उनका गाल पीटती पत्नी दिखाई दे रही थीं। वे अपनी पत्नी के गुस्से की आंच में जल कर रह गए थे। एक भय भरे सम्मोहन ने उन्हें अपने घेरे में ले लिया था। उन्हें शिव के ऊपर खड़ी साक्षात काली का चित्र दिखाई पड़ा पत्नी में। उस दृश्य को लेकर वे दुविधा के शिकार हो गए। कभी उनको लगता कि बैजंती का वह गुस्सा और तेज उसकी पवित्रता से उपजा था तो दूसरे ही क्षण वह उसे पत्नी की बेहयाई और खराब चाल चलन से जोड़कर देखते। दोनों ही स्थितियों में एक भय भरा सम्मोहन था जिसके शिकार वह हमेशा बने रहे। उन्होंने पत्नी की जासूसी छोड़ दी पर शक करना भी छोड़ दिया हो ऐसा नहीं था। वह आजीवन इस आंच में सुलगते रहे।

शुरू के दिनों में तो कोई जरूरत पड़ने पर भाई या बहनों के माध्यम से बात होती रही पर बाद में जब पत्नी के साथ उनकी बातचीत फिर से शुरू हो गई तब भी यह भय भरा सम्मोहन उनका पीछा करता रहा। यह इस कदर था कि उस घटना के बाद पत्नी से आंख मिला पाना उनके लिए संभव नहीं रहा। उनको लगता था कि आंख मिलाते ही वह फिर उस घातक सम्मोहन के शिकार हो जाएंगे जो उनकी समूची ताकत खींच लेगा। जब सबको लग रहा होता कि वह पत्नी की आंखों में देख रहे हैं तो वह आंखों के ऊपर माथे पर या आंखों के नीचे टुड्डी पर या नाक पर देख रहे होते। यह अलग बात है कि बैजंती के चेहरे पर एक कटु परिहास हमेशा ही उभर आता उनको देखते ही। इसके बावजूद वह उसी घर में साथ में खाते पीते सोते जागते रहे। बिस्तर पर भी जाते रहे पर संबंधों का वह दुचित्तापन कभी भी खत्म नहीं हुआ। बैजंती हमेशा आंख मिलाकर बात करतीं। बदले में गौरीनाथ कभी भी पत्नी से आंख न मिला पाते। वही माथा, वही ठुड्डी उनका रक्षा कवच थे।

उन्होंने बहुत चाहा कि उनके बहुत सारे बच्चे हों पर एक बेटे के बाद कई सालों तक दूसरी संतान नहीं हुई तो नहीं हुई। वे कभी जान नहीं पाए कि इसके पीछे बैजंती की बजबजाती हुई घृणा थी। वे कभी किसी भी हाल में गौरीनाथ के बच्चे की मां नहीं बनना चाहती थीं। उस घृणा का थोड़ा बहुत अंदाजा गौरीनाथ को भी था पर उनकी मुश्किल यह थी कि उनकी भाषा में इस घृणा का अनुवाद बदचलनी के करीब जाकर ही ठहरता था। पति कैसा भी हो पर उससे घृणा एक असंभव अवधारणा थी। ऊपर से वे अपने में कोई कमी देख नहीं पाए कभी। जवान थे। सरकारी नौकरी कर रहे थे। खेती बाड़ी ठीकठाक थी। उनकी मेहनत के दम पर पिछले कई सालों में घर में अनाज की कोई कमी नहीं हुई कभी। फिर भी उनकी पत्नी उनका उपहास उड़ाए। सब कलियुग की महिमा थी।

गौरीनाथ कभी नहीं जान पाए कि जो एक बेटा दीपक हुआ उसे भी बैजंती ने पेट में ही मारने की बहुत सारी कोशिशें की थीं। वह इन घातक कोशिशों को झेलते हुए भी बच निकला। और जब पैदा हुआ तो उसका मुंह देखकर बैजंती के भीतर का ममत्व जाग उठा। यह बच्चा दीन दुनिया से पूरी तरह बेपरवाह था। छोटेपन से ही वह न जाने किन चीजों में खोया रहता। मुंह से राल टपकती रहती, मक्खियां भिनभिनाती रहतीं, दूध पिए हुए या कुछ खाए हुए घंटों बीत जाते पर उसे रोते हुए शायद ही कभी किसी ने सुना हो। ऐसे ही वह बड़ा होता रहा। हवा में कुछ फुसफुसाता सा

न जाने किससे बातें करता हुआ जबकि गौरीनाथ या बैजंती से कोई बात किए उसे कई कई दिन बीत जाते। कहीं किसी कोने में पड़े पड़े पूरा दिन बीत जाता और उसे खाने पीने की सुधि भी न आती।

सबने दीपक को पागल का दर्जा दे रखा था पर कई बार वह एकदम सामान्य नजर आता। ऐसे ही गांव की प्राथमिक पाठशाला में गौरीनाथ उसे दाखिल करवा आए थे। इसी तरह से वह अध्यापकों की कृपा से कक्षा दर कक्षा आगे भी बढ़ता रहा था। उसे पूरी तरह से पागल उसके अध्यापक भी नहीं कह पाते थे। कई बार जब थोड़ी बहुत देर के लिए स्कूल में उसकी एकाग्रता किताबों पर केंद्रित होती तो वह अपने अध्यापकों को कुछ इस तरह से चकित कर देता कि वह उसे जीनियस मानने पर मजबूर हो जाते। यह सब बहुत थोड़ी देर के लिए होता। उसके बाद सब कुछ फिर से वैसे का वैसा। वह बेहद साधारण सवालों का जवाब भी नहीं दे पाता बल्कि ऐसा प्रदर्शित करता कि जैसे सवाल उसे समझ में ही नहीं आ रहे हैं। अध्यापक उसकी इस हरकत से चिढ़ जाते। उन्हें लगता कि जान बूझकर वह बदमाशी कर रहा है। कई बार उसकी भयानक पिटाई हुई पर ऐसी हर पिटाई के बाद वह और भी ज्यादा अपने भीतर गुम हो जाता। थक हारकर अध्यापकों ने उसे उसके हाल पर ही छोड़ दिया और एक चिढ़ से भरते गए। इस हद तक कि अब जब कभी उसे जीनियस होने के दौरे पड़ते तो उन्हें उस पर प्यार न आता न ही वह उस दौरे का विस्तार चाहते बल्कि एक भयानक गुस्सा उनके भीतर खदबदाने लगता। ऐसे में उसे पिटाई के एक दौर का सामना करना पड़ जाता कई बार...वह तुरंत तो चीखता चिल्लाता पर पिटाई के थोड़ी देर बाद वह वैसी अवस्था में फिर पहुंच जाता जो समाधि से ही तुलनीय होती। इसी अवस्था में वह कई बार जहां बैठा होता वहीं पेशाब तक कर देता...। स्कूल बंद हो जाता वह वहीं पड़ा रहता अकेले। कोई जाता और उसे ले आता।

कर्मयोगी गौरीनाथ

उनके मन में बहुत सारे सवाल उठते थे जिनका जवाब कलियुग भी नहीं दे पाता था। इन सवालों से बचने के लिए उन्होंने अपने आपको पूरी तरह से तमाम कामों में झोंक दिया। दहेज में मिली वह जेबघड़ी उनके पास हमेशा बनी रहती। बारहों महीने उसमें सुबह के चार बजे का अलार्म लगा रहता, हालांकि उसकी जरूरत शायद ही कभी पड़ती। गांव भर में उनके जैसा मेहनती कोई दूसरा मिलना मुश्किल था। सुबह उठते और लोटा लेकर निवृत्त होने के लिए निकल जाते। यह जगह उनका ही कोई खेत होती। वे हर हाल में अपने ही खेत में शौच के लिए जाते। यहां तक कि घर के दूसरे लोगों को भी ऐसा ही करने के लिए कहते। उनके हिसाब से यह जैविक खाद थी जो वे अपने खेतों में छोड़कर आते थे। इसका दूसरा लाभ यह भी था कि इसी बहाने वह नियमित रूप से अपने खेतों में पहुंचते। शौच के लिए जाने से पहले वह जानवरों को उनके बाड़े से निकालकर सानी पानी कर चुके होते। जिससे कि शौच से आते ही वह दूध वगैरह दुह सकें या कि बैलों को खेत में लेकर जा सकें। उन्होंने कभी भैंस नहीं पाली। भैंस उनकी निगाह में आसुरी प्रवृत्ति की जानवर थी। उसका दूध पीने से पीने वाले में आसुरी प्रवृत्तियां आ सकती थीं। उनकी इस सोच के पीछे महिषासुर नाम के राक्षस की धार्मिक कथा से लेकर ऐसी तमाम लोककथाओं का हाथ था जो उनके पिता ने उनकी मां के न रहने पर उन लोगों को सुनाया था। उन्हें ऐसे अनेक किस्से याद थे जिनमें भैंसों का संबंध विकराल सींगों वाले राक्षसों से जुड़ता था।

गाय दुहने के पहले वह गोबर बाहर निकाल कर ले जाते। बैजंती गोबर से उपलियां पाथतीं। बचा हुआ याकि उपलियां न पाथने लायक गोबर घूर में जाता जहां सड़कर वह खाद बनता।

जानवरों को नहलाने के लिए रविवार का एक दिन नियत था पर कोई जानवर किसी दिन ज्यादा गंदा दिखाई देता तो यह काम कभी भी किया जा सकता था। यह सब काम हर हाल में सात बजे तक हो जाते। इसके बाद वह जरूरत के अनुरूप हल बैल कुदाल फावड़ा या खुरपी उठाते और खेत में पहुंच जाते। वह खेतों में किसी घास की जड़ तक न रहने देते। यह उनके लिए दोहरे लाभ का काम था। एक तरफ जहां खेत साफ होते और फसलों को मिलने वाली धूप खाद पानी का बंटवारा न होता वहीं दूसरी तरफ जानवरों को नियमित रूप से हरी घास भी मिलती चारे के रूप में। गौरीनाथ यह भी मानते थे कि प्राकृतिक रूप से पैदा घासों में किसी बरसीम या चरी जैसे बोए गए चारे से ज्यादा पौष्टिकता होती है।

चारा काटने की मशीन में चारा काटना आम तौर पर बद्री और बैजंती का काम था। खेत से वह लगभग नौ साढ़े नौ बजे लौटते। नहाते और पूजा पाठ करने बैठ जाते। पूजा कम से कम घंटे भर चलती पर कभी कभी जरूरत के हिसाब से घट बढ़ भी जाती। मान लीजिए कि स्कूल में डिप्टी साहब या कि कोई अधिकारी आने को हों तो वह खेत से नौ बजे ही लौट आते। पूजा भी जल्दी ही निपट जाती। उठते उठते वह भगवान को वचन देते कि अगले दिन इस समय की भरपाई कर देंगे। इसी तरह मान लीजिए कि वह पूजा पर बैठे हैं और कोई मजूर मजूरी के लिए आ जाए तो अक्सर उनकी पूजा इतनी लंबी हो जाती कि मजदूर उकता कर चला ही जाए। ऐसा नहीं था कि वे मजदूरों को पैसा नहीं देते थे। पर इस तरह के काम उनकी तमाम दूसरी बेवजह व्यस्तताओं की तरह ही थे। और चीजों के मामले में भी वह बेवजह ही बहुत कुछ करते रहे। ऐसा नहीं कि वह अपने बेटे दीपक से कोई विशेष स्नेह करते हों पर स्कूल में बच्चों के लिए आया हुआ झूला उनके दुआर पर लगा हुआ पाया जाता किसी कोने। स्कूल में आई दरियों से घर भरा था उनका।

पर इस सबके पीछे बच्चों की कामना तो थी ही। वह बहुत सारे बच्चे चाहते थे। ऐसे बच्चे जिनमें उनका अपना अंश हो। जिनमें उनकी छवि दिखे देखने वालों को। यह उनकी सबसे बड़ी लालसा थी पर ऐसा होना संभव ही नहीं दिख रहा था। ले देकर उन्हें बस एक ही बेटा हुआ। वो भी ऐसा जिसमें अपनी छवि देखना उनके लिए कभी भी संभव नहीं हुआ। गौरी उस बच्चे का चेहरा देखते और संशय से घिर जाते। यह किसकी संतान हो सकती है। किसका पाप उनके खेत से इस रूप में उपजा है। ये सवाल उनके मन में हमेशा उतरते और उनको बेचैन बनाए रखते। इस बच्चे के बाद गौरी ने अगले बच्चों के लिए बहुत सारी कोशिशें कीं पर बैजंती ने उन्हें कभी संभव ही न होने दिया। गौरी को यह भी अपनी पत्नी की बदचलनी का ही सबूत लगता। वे बार बार बैजंती की बदचलनी के बारे में सोचते और उन्हें लगता कि इसी वजह से बैजंती की कोख बंजर हो गई है। इसीलिए एक बच्चा आया भी तो वह भी ऐसा जिसकी गिनती ही न की जा सके।

इस बीच जीवन अपनी गति से चलता रहा। बहन का गौना हुआ। दूसरी बहन का विवाह हुआ। दोनों बहनें अपनी ससुराल पहुंच गईं। बद्रीनाथ का भी विवाह हुआ। गौना हुआ और बद्री की पत्नी रूपा भी घर आ गई। यहां तक कि बद्रीनाथ ने बड़े भाई से अलग गृहस्थी बसा ली। माताफेर ने पूरी तरह से सधुक्कड़ी अपना ली। अब वह लंबे लंबे समय तक घर से गायब रहते। उन्होंने उसी गंगा किनारे वाले साधु से दीक्षा ले ली थी और वैरागी हो गए थे। कई बार लंबे लंबे समय तक वह आश्रम से भी गायब रहते। लौटकर बताते कि इस धाम या उस धाम की यात्रा पर गए थे। आते, प्रसाद वगैरह बांटते जो वे अपने साथ लाए होते। कई बार कुछ छोटे मोटे सामान भी होते तो कई बार कुछ रुपये भी। घर आकर वे खाली हो जाते और फिर आश्रम की तरफ लौट जाते।

ऐसे ही एक बार वह आए तो उनका ध्यान इस बात पर गया कि बहुत दिन हुए गौरी को कोई दूसरी संतान नहीं हुई। उन्होंने गौरी को अपने पास बुलाकर बैठाया और कुछ ऐसी जड़ी बूटियां

और उनसे निर्मित दवाओं के बारे में बताया जिनके दम पर औरत को पूरी तरह से वश में किया जा सकता था। माताफेर के अनुसार इन दवाओं में इतनी ताकत थी कि वह किसी दीवाल को भी बच्चा पैदा करने के लिए विवश कर सकती थीं। कुछ दवाएं किसी बहाने से बैजंती को खिलानी होंगी और कुछ गौरी को खानी होंगी। गौरी ने पूरी लगन के साथ वे दवाएं खानी शुरू कर दीं। उन्होंने पिता से हासिल हुई ताकत के दम पर बैजंती को भी समझाने की कोशिश की कि वह भी माताफेर की दी हुई दवाओं का सेवन करें। उन्होंने पत्नी को समझाया कि बच्चों के लिए कोशिश करने के हिसाब से अभी कोई देर नहीं हुई है और अभी तो वह कई पुत्रों की माता बन सकती हैं। गौरी ने बैजंती से यह बात अपनी तरफ से बहुत लगाव के साथ कही थी जिससे कि वह दवा खाने के लिए मान जाएं। बैजंती ने अपने उस उपहास के साथ दवा खाने की मंजूरी दे दी।

बैजंती को यह दवा गौरीनाथ खुद अपने हाथ से खिलाते। बैजंती ने उन दवाओं को खाने में कभी आनाकानी नहीं की। उनसे बेहतर कौन जानता था कि उन्हें ऐसी किसी भी दवा की कोई जरूरत नहीं थी। वे यह भी बेहतर जानती थीं कि बच्चे आते आते कहां आकर रुक जाते थे और उन्हें रुकते ही जाना था। बैजंती में एक जिद थी कि उन्हें गौरीनाथ के बच्चे की मां अब नहीं बनना है तो नहीं बनना है। एक बच्चे के जन्म के मामले में जो गलती उनसे हो गई थी उसे वह दोबारा नहीं दोहराने वाली थीं। ऐसा नहीं था कि उनमें मातृत्व की कामना नहीं थी। वह मां बनने की तीव्र कामना से भरी हुई थीं। मां बनना उनके लिए भी सौभाग्य का ही सूचक था। कई बच्चों की मां होना एक गौरव था उनके आसपास। यही देखा सुना था उन्होंने। वे अभी भी उस सौभाग्यशाली गौरव के सपने देखती थीं। क्योंकि वह एक बच्चा जिसने उनकी कोख से जन्म लिया था वह उनकी उर्वरता को गलत तरीके से प्रस्तुत करता था। हालांकि यह बात भी बैजंती से अच्छी तरह से कोई नहीं जानता था कि इसमें उस बच्चे की कोई गलती नहीं थी। बल्कि वह खुद अपने जन्मदाताओं की घृणा की उपज था।

दवाओं का असर हो या घर के माहौल का, यही दिन थे जब बैजंती में मातृत्व की कामना और प्रबल हुई। उन्हें लगा कि पति का व्यवहार और उसके प्रति घृणा अपनी जगह पर हैं पर मां बनना उनका हक है। इसके बावजूद वे इस बात पर कायम थीं कि उनके बच्चों का पिता होने का सुख वे गौरीनाथ को नहीं देंगी। तब उन्होंने अपने आसपास नजर दौड़ाई। वैसे लोगों की कहीं कोई कमी नहीं थी जो इस काम में उनके मददगार हो सकते थे। उन्हें बस इशारा भर करने की देर थी। अभी भी रूप और यौवन झरता था उनसे। आसपास जो दुनिया थी उसमें इससे अधिक चाह शायद ही किसी को थी। इससे अधिक की चाह सिर्फ गौरीनाथ जैसों को ही हो सकती थी। बैजंती एक बार इस कैद से उबर चुकी थीं। दोबारा इसमें फंसने की कोई चाह उनके मन में नहीं थी। एक उपहास भरी मुस्कान उनमें अब भी बनी ही हुई थी।

जहर की खेती

माताफेर ने तय कर लिया था कि वे दोबारा गौरीनाथ को पिता बनाकर ही मानेंगे। उनका आना जाना बढ़ गया था। अब वे फिर से कई कई दिनों तक घर पर ही रहते। एक के बाद एक दवाएं बदलते हुए, नई नई बूटियां आजमाते हुए। दरअसल इस बीच खुद उन्हें छोटे बच्चों को गोद में खिलाने की कामना ने पूरी तरह से जकड़ लिया था। जब उनके बच्चे यानी गौरी और बद्री या उनकी बहनें छोटी थीं तब कभी उनमें इस तरह से प्यार नहीं उमड़ा। तब दूसरी खुमारियां थीं। पत्नी के साथ जिस तरह का उनका संबंध था बच्चों को गोद में उठाते या दुलराते हुए वह भी बार बार आड़े आया। पत्नी की ठंडी अवज्ञापूर्ण आज्ञाकारिता ने भी उनमें एक निरपेक्षता भर दी थी जिसके फलस्वरूप उन्हें जिस

दिन लगा कि अब पत्नी इस काबिल नहीं बचीं कि उन पर नजर रखी जाय उसी दिन वह घर से भी निरपेक्ष हो गए। आज उनको पता है कि इधर उधर भटकते हुए वह उन्हीं दिनों के अभाव की यातना को जीते हैं। यह अभाव दिन पर दिन बढ़ता ही जा रहा था जिसकी पूर्ति वह बहुत सारे पोते गोद में खिलाकर पूरी करना चाहते थे।

अपनी इस कामना में माताफेर कुछ इस कदर निष्कवच थे कि यह बात उन्होंने एक दिन गौरीनाथ को भी बता दी। गौरीनाथ जो इन दिनों पिता के वैद्यक ज्ञान में डूब उतरा रहे थे वे पिता के इस अभाव पर विह्वल हो गए। पर यह विह्वलता पिता के लिए न होकर अपने ही लिए थी। वे इन दिनों पिता के साथ खूब समय बिता रहे थे। यह पिता को लेकर उनके भीतर जो अभाव था कुछ कुछ उसकी कमी पूरी करने जैसी बात थी। वे पिता के साथ खुश थे। वे इस बात से भी बहुत खुश थे कि देर से ही सही पर पिता उनके लिए चिंतित हैं। पिता की पोते गोद में खिलाने वाली बात ने उनकी खुशी की निर्मम हत्या कर दी। उन्हें लगा कि पिता अब भी उन्हें प्यार नहीं कर रहे हैं बल्कि अपने आपको ही प्यार कर रहे हैं। वह गौरी का अभाव दूर करने की कोशिश नहीं कर रहे हैं बल्कि अपना ही अभाव दूर करने की कोशिश कर रहे हैं। और पिता का यह अभाव तो छोटे भाई बद्री के बच्चों से भी पूरा हो जाएगा जो कि कभी भी पिता बन सकता है। गौरीनाथ के मन में पिता के लिए जितना भी जहर भरा था वह सब एक सांद्र गांठ के रूप में इकट्ठा हो आया।

यह गौरीनाथ के लिए पूरी तरह से अप्रत्याशित था जब माताफेर ने उनसे कहा कि वह उन्हें एक मारक जहर बनाना सिखाना चाहते हैं। गौरीनाथ सन्न रह गए। क्या पिता ने उनके मन में आ रहे भावों को पढ़ लिया था? उन्होंने सुन रखा था कि बहुत सारे साधुओं में दिव्य शक्तियां होती हैं और वे इस पर भरोसा भी करते थे। तो क्या उनके पिता भी कुछ दिव्य शक्तियों के अधिकारी हो चुके हैं? उसी क्षण उन्हें यह भी याद आया कि उनके पिता ने वैद्यकी में शायद ही कभी कोई रुचि दिखाई हो। जो जानकारियां वह इधर प्रदर्शित कर रहे थे और जिनकी वजह से अपने ही गांव में नहीं बल्कि आसपास के गांवों में भी सम्मान अर्जित कर रहे थे वह गौरी के लिए एकदम नई थीं। जो भी हो उन्होंने पिता से जहर बनाना खूब खूब मनोयोग से सीखा। जड़ियों की पहचान, उनका चयन, पत्तों का अर्क निकालना, धतूरे के बीजों का सत्व, और और कई चीजें और उन सबके मेल से बना एक रंगहीन भुरभुरा पदार्थ। गौरीनाथ को भरोसा ही नहीं हुआ कि उनके सामने ऐसा कुछ है जो किसी की जान ले सकता है।

माताफेर ने गौरीनाथ को बताया कि यह जहर इतना घातक है कि इसकी तोले भर मात्रा हाथी को भी हमेशा के लिए सुला सकती है। दूसरी तरफ यह इतना निरापद है कि किसी भी तरह से किसी को पता नहीं चलने वाला कि सामने वाले की मौत कैसे हुई।

यह शरीर के भीतर अपना काम करके गायब हो जाता है। अगले दिन तक इसका कोई भी अवशेष शरीर के भीतर नहीं बचता। इसकी एक खूबी यह भी कि यह पीड़ा नहीं पहुंचाता। यह बेहोश करता है और इस बेहोशी के भीतर सपनों की अथाह दुनिया होती थी। इस जहर का शिकार हमेशा के लिए उन्हीं सपनों में खो जाता है। कभी भी वापस न लौटने के लिए। और जब माताफेर अगली बार वापस आए तो गौरीनाथ ने उस मारक जहर का पहला प्रयोग अपने पिता पर किया।

यह बस एक प्रयोग था जो पूरी तरह से निरुद्देश्य था। या कि एक छोटा सा उद्देश्य यह था कि वह जहर का असर जांचना चाहते थे। जहर ने अपना काम किया और अगले दिन पिता उन्हीं मोहक पर जहरीले सपनों में खो गए थे। गौरीनाथ ने पिता का क्रिया कर्म विधि विधान के साथ किया। हालांकि इस बीच वह लगातार सोचते रहे कि उन्होंने अपने पिता की हत्या क्यों की? जितना सोचते वे अपने को पिता का हत्यारा महसूस करते। उन्हें बस कोई एक तर्क, कोई एक कारण

चाहिए था जिससे वह अपने को भरोसा दिला सकें कि यह हत्या नहीं थी और तब उन्हें पिता की वह सारी गैरजिम्मेदारियां याद आईं जिनकी वजह से मां के न रहने पर उनका पूरा बचपन तबाह हो गया था। आगे और पढ़ पाने का सपना चूल्हे की लकड़ी बनकर जल गया था। यह अपराध तो था पर इतना बड़ा अपराध नहीं कि पिता की हत्या को वध में बदल सके। इसी सोच विचार के दौरान उन्हें मां याद आई तो मां की वे तमाम रुलाइयां भी याद आईं जिन्हें वह छुप छुपकर सुना करते थे। या कि वह रुलाई जब मां उन्हें गोद में लेकर रोते रोते बेहोश हो गई थी। हां इस रुलाई की सजा दी जा सकती थी। पर यह मौत नहीं हो सकती थी। तब सबसे आखिर में वह बात आई जिस पर वह तय थे कि पिता को जहर देना एकदम सही था। यह सजा नहीं थी। यह एक बदला था। पिता पोते खिलाने के लिए पागल हो रहे थे। पिता को लेकर गौरी के मन में जो कुछ था उसको लेकर उन्हें वाजिब ही लगा कि पिता की यह कामना हमेशा हमेशा के लिए अधूरी ही रह जाय। अगर उन्हें बाप का सुख नहीं मिला तो बाप को भी बच्चे का सुख नहीं मिलना चाहिए, उन्होंने अपने आप से कहा।

रुलाई का नया पाठ

मां की याद अपने साथ एक विचित्र तुलना लेकर आई। गौरीनाथ ने मां और पत्नी की आपस में तुलना की। उन्होंने सोचा कि मां पिटते पिटते मर जाती पर पिता पर शायद ही कभी हाथ उठाती। उनका सिर मां के प्रति सम्मान से नीचे झुक गया। पर इसी के साथ एक सवाल यह भी कौंधा कि पिता मां से इतने विरक्त क्यों थे? क्या पिता को भी उनकी तरह मां पर शक था। क्या उन्हें इस बारे में कोई प्रमाण भी मिल गया था या फिर कोई और वजह थी। जवाब में उन्हें वह कुछ रातें याद आईं जिनमें मां या पिता के बिस्तर से कुछ अजीबोगरीब आवाजें सुनाई देती थीं, जिनमें कई बार मां के गले से घुरघुराने या रोने जैसी आवाजें निकला करती थीं। उन्हें अपनी पत्नी के गले की वह आवाज याद आई जब वह उनके सीने पर बैठी थी और उसके गले से वैसी ही आवाज निकल रही थी। उस आवाज में क्या था आखिर, रुलाई, क्रोध या कि इस सब से इतर कोई चीज थी जो उनमें आज तक एक भय भरा सम्मोहन पैदा करती थी।

वे समझ नहीं पाए पर इस कोशिश में उन्होंने मां और पत्नी की रुलाइयों को कुछ इस कदर आपस में मिला दिया कि उन्हें अलग अलग देख पाना असंभव सा हो गया था। इसी का अगला चरण यह था कि वे उन दोनों की छवियों को भी एक दूसरे में मिला दें। तो क्या उनकी पत्नी की तरह मां भी, आखिर थीं तो स्त्री ही, तो क्या पिता इसीलिए विरक्त होते चले गए थे? घर के प्रति? बच्चों के प्रति? और इसी क्षण उनके मन में एक और सवाल कौंधा। कहीं ऐसा तो नहीं कि वे अपने पिता की संतान हों ही नहीं? यह मां को दी गई गाली थी। उन्होंने अपनी जीभ काटी पर यह सवाल एक बार भीतर आ गया तो हमेशा उनके भीतर बना रहा। बल्कि यह अपने स्वाभाविक विस्तार तक गया कि अगर वह अपने पिता की संतान नहीं थे तो किसकी संतान थे? क्या उनके भाई बहन भी? तो क्या वे पिता के ही प्रतिरूप हैं? उन्हीं के जैसे दुख, उन्हीं के जैसा अभाव जीते हुए। और मां...उन्होंने फिर अपनी जीभ काटी।

उन्होंने अपने बचपन को फिर से याद करने की कोशिश की। एक एक स्मृति को तरतीब देते हुए। पिता का व्यवहार, आखिर एक पिता ऐसा कैसे कर सकता है कि वह अपने बच्चों से इस कदर निरपेक्ष रहे जिस कदर उनके पिता थे। कोई तो फांस रही होगी जो उनके मन में चुभती होगी। क्या बच्चों को देखकर उन्हें कुछ और याद आता था? गौरीनाथ अपने पूर्वाग्रहों में इतना डूब गए थे कि उन्हें पता ही नहीं चला कि वह लगातार अपने पिता की तरफ से सोच रहे हैं। पिता की तरफ से

भी नहीं बल्कि अपने खिलाफ। आज उन्हें लग रहा था कि जैसे यह बात उन्हें बचपन से ही पता थी बस खुल आज रही है। आज उन्हें मां की रुलाई में भी दोष नजर आ रहा था। मां का दुख उनकी स्मृतियों से दूर कहीं निकल गया था। बल्कि वह रुलाई भी, जब वे मां की गोद में लिपटकर देर तक रोते रहे थे। वह नहीं जानते थे कि उन्होंने अपनी स्मृतियों के साथ कितना घातक खेल रचा था। एक रास्ता था बाहर निकलने का उसमें आज उन्होंने खुद ही ताला मार दिया था।

उनका ध्यान आज बहुत दिनों बाद फिर से अपने बेटे पर गया जिसका नाम उनके पिता ने दीपक रखा था। जिस पर गौरी को हमेशा संदेह रहा कि वह उनका पुत्र नहीं है। वह नए सिरे से उसके प्रति घृणा से भर गए। उन्होंने तय किया कि वह उसको भी वहीं भेज देंगे जहां उन्होंने अपने पिता को भेजा था। बच्चे को आजकल भयानक सूखी खांसी आ रही थी। गौरीनाथ के लिए यह सुनहरा अवसर था। वह वैद से अदरक का पाग बनवा लाए उसके लिए। अब उन्हें कुछ नहीं करना था। उन्हें उसी पाग की गोली में बस चुटकी से भी कम जहर मिला देना था। इसी के साथ वह फांस समाप्त हो जानी थी जो उनके भीतर बच्चे के जन्म के पहले से ही चुभ रही थी और दिन पर दिन बढ़ती जा रही थी।

उस दिन जब पाग मुंह में डाल कर गरम दूध पिलाने को हुए कि बच्चे को खांसी आ गई और मुंह में डाली गई गोली दूर जा गिरी। खांसते खांसते बेदम हो रहे बच्चे ने गौरीनाथ का हाथ पकड़ लिया। वह उन कोमल हाथों की मजबूत पकड़ थी। खांसते खांसते उसका गला छिल रहा था। आंखों में आंसू आ रहा था। बच्चे ने उनसे पूछा मैं अच्छा हो जाऊंगा न बाबू...मुझे बहुत डर लगता है। मुझे लगता है कि जैसे मैं अब मर जाऊंगा। यह बात बच्चे ने एकदम खानदानी तरीके से कही थी। गौरीनाथ के परिवार में एक अजीब तरीके की विरासत पता नहीं कब से चली आ रही थी कि बच्चे जब बोलना शुरू करते तो बेहद साफ बोलते पर पांच सात साल की उमर तक उनकी जबान पर एक भयानक तोतलापन आ बैठता। इस हद तक कि कई बार बात समझ में ही न आती। कमाल की बात यह कि यह तोतलापन अगले एक डेढ़ सालों में अपने आप गायब हो जाता। बच्चे की बात अपने पूरे तोतलेपन के साथ कही गई थी। उसमें गहरी पीड़ा थी और बेहद तकलीफ से पैदा हुई निराशा। पर जिस बात ने गौरीनाथ को चकित किया वह थी उसकी बेहद सहज तरीके से कही गई बात। इस क्षण उसमें किसी बौद्धिक कमी का कोई भी लक्षण मौजूद नहीं था।

बच्चे ने खांसते हुए उनका हाथ कुछ उसी तरह थाम रखा था कि जैसे वह गौरीनाथ के हाथों के सहारे मृत्यु से बचने वाला हो। गौरीनाथ एक झटके में हाथ छुड़ा सकते थे। पर उस रात नहीं छुड़ा पाए तो आज तक नहीं छुड़ा पाए। वे उस स्थिति की भयंकर विडंबना से दहल गए। उसकी हकलाहट ने बता दिया था कि यह उनका ही बेटा है। वह अपने ही बेटे की हत्या करने जा रहे थे। इस समय वे बच्चे का हाथ छुड़ाकर कहीं बहुत दूर भाग जाना चाहते थे जहां वह चिल्ला चिल्लाकर रो सकें। जहां वह चीख चीखकर यह सबको बता सकें कि वह हत्यारे हैं और अपने ही मासूम बच्चे की हत्या का पाप उनके हाथों से हुआ है। पर वे कहीं नहीं गए। उन्होंने बच्चे को गले से लगाया और उसकी पीठ सहलाते हुए रोने लगे।

बैजंती यह सब दूर से देख रही थीं। उन्होंने समझा कि गौरीनाथ बेटे के दुख से विह्वल होकर रो रहे हैं। यह पूरी तरह से अविश्वसनीय था पर उनकी आंखें जो देख रही थीं उस पर भरोसा न कर पाना भी संभव नहीं था। उन्हें एक बार लगा जैसे वे गौरीनाथ को अब तक नहीं समझ पाई हैं। पति का यह रूप देखकर उन्हें एकदम शुरुआती दिन याद आ गए। उन्हें लगा कि जैसे गौरीनाथ बच्चे की बजाय उनकी ही पीठ सहला रहे हों। वह भी रोने लगीं। वे जानती हैं कि पेट में उसे मारने की कितनी कोशिशें की थीं उन्होंने। उनको बार बार लगता है कि बेटे में जो भी विकार हैं यह सब

उन्हीं घातक कोशिशों का नतीजा हैं। यह न भी हो तो भी गौरीनाथ के प्रति बेपनाह घृणा जिम्मेदार हो सकती है इसके लिए। वह खो गया है उनकी घृणा में। बैजंती के मन में फिर से मां बनने की जो इच्छा जोर मार रही थी वह एक निश्चय में बदल गई। उन्होंने उसी पल तय किया कि वे फिर से मां बनेंगी। उन्हें और बेटे चाहिए जो इस बेटे का ध्यान रख सकें।

पंडिताइन को कभी नहीं पता चल पाया कि गौरी उस बच्चे की खांसी से विह्वल नहीं हुए थे। यह तो उन्हें कभी पता ही नहीं चलना था कि वे इस शक में बेटे को मौत देने गए थे कि वह उसे अपना बच्चा नहीं मानते थे बल्कि उसके चेहरे में गांव के किसी अन्य व्यक्ति का चेहरा खोजा करते थे। यह बच्चा भी कैसी किस्मत लेकर आया था अपने साथ। जब पेट में था तो मां मारना चाहती थी और जब पैदा हुआ तो बाप की आंखों में शूल की तरह गड़ता रहा। इसी क्षण गौरी जान गए थे कि यह बच्चा किसी पूर्वजन्म के पाप से नहीं बल्कि उनकी घृणा से विक्षिप्त हो रहा था। और अब इसी पल से वह उसके लिए कुछ कर जाना चाहते हैं। ऐसा कि उसका जीवन चल सके और उनके अपराध की माफी हो सके। उन्हें नहीं पता कि वे क्या करेंगे पर कुछ न कुछ करेंगे जरूर। इस क्षण से वह उन्हें अपनी जान से भी प्यारा है।

भीतर के पाप

इस बीच एक दिन पेड़ से गिरकर भाई बद्रीनाथ को लकवा मार गया। सही समय पर इलाज के अभाव में बद्री हमेशा के लिए पंगु हो गए। झगड़े अपनी जगह थे पर रिश्ते अपनी जगह। कम से कम ऐसा दिखते तो रहना ही चाहिए। सो गौरीनाथ ने बद्री के खेत खलिहान का भी जिम्मा संभाल लिया। इस तरह से बद्री की पत्नी से उनका मिलना जुलना बढ़ गया। अपनी पत्नी से एक भय भरे सम्मोहन का रिश्ता जी रहे गौरी ने जल्दी ही ताड़ लिया कि बद्री की पत्नी की लाचारी को अपने हक में झुकाया जा सकता है। एक बेटा वह भी एकदम दुधमुंहा, पति चलने फिरने की कौन कहे बोलने तक से लाचार। मायके वाले घर से बहुत दूर और आर्थिक रूप से विपन्न। गौरी के लिए मौका ही मौका था। उनका प्रेम भाई की पत्नी पर दिन दूनी रात चौगुनी गति से बढ़ने लगा। बाकी घर से लेकर खलिहान तक मौके ही मौके थे। एक दिन रात में खलिहान में उन्होंने भाई की पत्नी को थाम लिया। भाई की पत्नी ने तरह तरह की मनुहार की पर वह नहीं पसीजे और अपने मन की करके ही माने।

धीरे धीरे यह सिलसिला चल ही निकला। जल्दी ही भाई की आंखों में गौरी ने वह सब पढ़ लिया जो वे कर रहे थे। इतनी जल्दी? उन्हें आश्चर्य हुआ। भाई उन्हें देखता तो दूसरी तरफ मुंह फेर लेता। पत्नी को देखता तो उसकी आंख से आंसू बहने लगते। चेहरे पर एक पागल बेचैनी दिखाई पड़ने लगती। मुंह से अजीब अजीब आवाजें आने लगतीं, राल बहने लगती। शरीर कांपने जैसा लगता, पूरे शरीर की ऐंठन उसकी आंखों में प्रकट हो जाती। गौरी ने बहुत जल्दी यह समझ लिया कि यह सिलसिला ज्यादा दिन तक नहीं चल सकता। जल्दी ही कुछ करना पड़ेगा। उन्हें कुछ नहीं करना था। बद्री को दी जा रही वैदकी दवाओं में उन्हें वह एक चुटकी जहर मिलाना था जिसका घातक प्रयोग वह अपने पिता पर कर चुके थे। इस बार भी यह सब कुछ इतनी आसानी और निर्दोष ढंग से घटित हुआ कि किसी को भी उन पर शक तक नहीं हुआ। अब वे अपने मनचाहे के लिए आजाद थे।

भाई की हत्या पर उन्हें उतना भी सोच विचार नहीं हुआ जितना पिता की हत्या पर हुआ था। उन्होंने खुद को समझा दिया कि पिता की हत्या बदला थी तो भाई की हत्या मुक्ति। भाई वैसे भी पीड़ा में था और एक विकलांग जीवन जी रहा था। उसके अच्छे होने की कोई दूर दूर तक उम्मीद नहीं थी। ऐसे में भाई की मृत्यु उसके लिए वरदान थी। पर यह सचमुच वरदान साबित हुई गौरीनाथ

के लिए। वे घर के बड़े थे। बेरोकटोक बद्री के घर में घुस जाते। बद्री की पत्नी कई बार घर में घुसने के लिए मना करतीं पर उनके विरोध की कौन सुनता। इसका दूसरा फायदा गौरीनाथ ने यह उठाया कि बद्री के हिस्से की जमीन पर भी अपना ही नाम चढ़वा लिया। यह लेखपाल के लिए बाएं हाथ की बाईं उंगली का खेल था। बद्री मर गए। कागज पर बद्री की पत्नी को भी मार दिया गया। रहा बच्चा तो किसी कागज पर उसका कोई अस्तित्व ही नहीं था।

बद्री की पत्नी को इस बारे में कई सालों तक पता ही नहीं चला। उन्हें तो इस बात का पता तब चला जब चकबंदी आई। वे बहुत चीखीं चिल्लाईं। बदले में गौरी ने उन्हें समझाया कि उनके हाथ में जमीन रहती तो कोई भी उन्हें फुसला सकता था या कि धोखे से अंगूठा लगवा सकता था किसी कागज पर। बल्कि इसका सीधा सा तरीका यह है कि जब बच्चे को स्कूल में दाखिला दिलवाएंगे तो पिता की जगह पर अपना नाम लिखवा देंगे। इस तरह से वो अपने आप ही सारी जमीन का हिस्सेदार हो जाएगा। बद्री की पत्नी ने उनसे बदले में दो सवाल पूछे। पहला यह कि अगर उनकी नीयत में कोई खोट नहीं था तो यह बात उन्होंने बद्री की पत्नी को भरोसे में लेकर क्यों नहीं की। कर भी लिया तो कभी बाद में ही बता देते। उन्होंने गौरी को गाली बकी कि इन सालों में कितनी बार जब मेरा अंग विशेष चाट रहे थे तब यह सारी सदिच्छा क्यों नहीं प्रकट हुई। उनका दूसरा सवाल यह था कि कागज में मां का नाम नहीं लिखते क्या? बाप तो बन जाओगे मां की जगह किसका नाम लिखवाओगे? गौरी ने उन्हें बहुत चुप कराने की कोशिश की पर बद्री की पत्नी ने न सिर्फ जमीन का मसला उछाला बल्कि यह भी सरेआम बोला कि गौरी उनकी मजबूरी का फायदा कई साल से उठा रहे थे।

गौरी पर गांव में सब तरफ से उंगली उठ रही थी। ऐसा नहीं था कि गांव के बाकी लोग एकदम दूध के धुले थे पर गौरी का पाप बड़ा था और खुलकर बाहर आ गया था। हर तरफ गौरी पर थू थू हो रही थी। गौरीनाथ ने कभी भी उन आरोपों को स्वीकार नहीं किया पर इससे क्या फर्क पड़ता था। दूसरी तरफ बद्री की पत्नी को अब यह भी शक हो रहा था कि बद्री की मौत के जिम्मेदार भी गौरीनाथ ही थे। उनके पास कोई प्रमाण नहीं था पर वह खुलेआम इस शक को जाहिर करतीं। एक बार यह बात मन में आई तो उन्हें अपने बेटे के लिए भी डर लगा। बदले में उन्होंने बेटे को ननिहाल भेज दिया। वह दिन भर गांव भर में घूमती रहतीं। कहीं भी बैठकर खा लिया। किसी के यहां बैठकर उसके काम में हिस्सा बंटा लिया। किसी की दाल दर दी। किसी के यहां आटा गूंथ दिया। कहीं रोटी बेल दी। गांव भर की सहानुभूति उनके साथ थी। जिनकी नहीं थी वे भी प्रदर्शित तो करते ही। इसी बहाने उन्हें अपने पाले में खींचने की कोशिश करते। गौरीनाथ ने बद्री की पत्नी पर भी जहर का प्रयोग करने की सोची फिर उन्हें लगा कि इस समय ऐसा करना उन सब बातों को सही साबित करना होगा जो बद्री की पत्नी सबसे कहती घूम रही हैं। वे स्थितियों पर चुपचाप नजर रखते हुए मौके का इंतजार करने लगे।

जीवन की तोतली शुरुआत

गौरीनाथ ने बेटे दीपक को योग्य बनाने में कोई कसर न छोड़ी। जहां पैसा लगा वहां पैसा लगाया, जहां दूसरों से कापी लिखवानी पड़ी वहां कापी लिखवाई। जो भी करना पड़ा किया पर दीपक को इंटर पास करवाकर ही माने। वह उसका विवाह भी कर देना चाहते थे क्योंकि उन्होंने सुन रखा था कि इस तरह का पागलपन कई बार विवाह के बाद पूरी तरह से समाप्त हो जाता है। पर दीपक के पागलपन के किस्से इतने मशहूर थे कि कोई भी उससे अपनी बेटी की शादी करने को तैयार

नहीं हो रहा था। कई बार दूर से कुछ लोग आते, बातचीत तय होती पर दोबारा लौटकर कभी न आते। जाहिर है कि इस बीच उन्हें दीपक की वास्तविकता का पता चल गया होता। रहा दीपक तो कभी तो वह इन चीजों से एकदम बेपरवाह दिखता। जैसे उसे किसी बात से कोई मतलब ही नहीं है तो कभी वह विवाह के लिए इस कदर उतावला नजर आता कि उसे थामना मुश्किल हो जाता। तब उसमें बला की ताकत भर जाती। वह खुश और उत्साही दिखता। घर के सारे कामों में हिस्सा बंटाता। देर देर तक आईने के सामने बैठकर अपनी धज निहारता। दिन भर बन ठन कर रहता।

ऐसे ही एक बार उसका यह परिवर्तन लंबे समय तक चला। इस हद तक कि डरते हुए गौरीनाथ भी खुश होने लगे। बैजंती भी खुश थीं। गांव वाले भी चकित थे। सबको लग रहा था कि दीपक अब लगभग ठीक हो गए हैं। गौरी हमेशा मन ही मन ईश्वर से प्रार्थना किया करते कि दीपक के भीतर का यह परिवर्तन स्थायी हो। वे घर में रहते तो ज्यादा से ज्यादा समय दीपक के साथ बिताते। उससे बात करते हुए। उसको जांचने की कोशिश करते हुए। और हर बार नए सिरे से मुतमईन होते कि अब दीपक की रोशनी बढ़ती ही जाएगी और उनका कुल अंधियारा होने से बच जाएगा। पर एक भयानक डर भी था इसके समानांतर।

गौरी जैसे जैसे बेटे को लेकर निश्चिंत हो रहे थे वैसे वैसे उनका डर भी विकराल हो रहा था। उनकी रात की नींद गायब हो रही थी। पूरी पूरी रात बीत जाती पर उनकी आंखों में नींद का एक कतरा तक न प्रकट होता। वह बिस्तर पर लेटे लेटे थक जाते। आंखें मूंदे मूंदे कड़ुवाने लगतीं पर नींद न आती तो न आती। वह लेटे लेटे दुनिया भर की बातें सोचते रहते। वह बेटे के बारे में सोचते। अपने जीवन के बारे में सोचते। अपने साथ हुए अन्याय के बारे में सोचते। बहुत छोटी छोटी बातें थीं जिन्हें वह रात रात भर गुनते रहते। जैसे दहेज में मिली साइकिल न जाने कितनी रातों उनकी आंखों में चलती रही थी। यह अन्याय था कि उनसे दहेज में मिली साइकिल छीन ली गई। पर वह क्या था जो उन्होंने अपने पिता, पत्नी, और भाई के साथ किया? इसके बारे में उन्होंने कभी भी सोचने की कोई कोशिश नहीं की। क्या यह हत्याएं इतनी न्यायसंगत या अनिवार्य थीं कि उसकी कोई छाया वह अपने भीतर महसूस ही नहीं करते थे। ऐसा कैसे हो सकता था?

रात की नींद बदले में दिन में प्रकट होती। एक उनींदापन हमेशा उन्हें अपने आगोश में लिए रहता। दिन में कई बार झपकी लग जाती उन्हें। यह झपकी इस कदर खतरनाक होती कि वह जिस भी हाल में रहते वैसे ही बस पल भर के लिए सो जाते। पूजा कर रहे होते और सो जाते। कक्षा में बच्चों को पढ़ा रहे होते और खड़े खड़े सो जाते। बैठकर चार लोगों से बात कर रहे होते और अचानक से सो जाते। यहां तक कि सुबह अपने खेत में बैठकर निवृत्त हो रहे होते और नींद आ जाती। कई बार वह सोते हुए अपने ही मल पर गिर गए। यह एक घृणित परिणति थी नींद की। एक दिन सुबह सुबह वह मल में लिथड़े हुए थे और साथ में लोटे का पानी भी गिर गया था। जब वह अरहर के पत्तों से अपना शरीर साफ करने की कोशिश कर रहे थे तो उन्हें अपने पीछे एक बच्चे की हंसी सुनाई दी। इस हंसी में धातुओं की खनक थी। वह डर गए। पीछे पलटकर देखा तो यह बालक बद्रीनाथ थे। वही जिसे गौरी ने पल भर में सपनों की दुनिया में भेज दिया था।

गौरीनाथ जड़ हो गए। जिनकी हत्या करके वह कब के भूल गए थे वह अभी उनके आसपास ही भटक रहे थे। उन्हें झुरझुरी हुई। इसमें डर से अधिक यह अहसास शामिल था कि वे उनके सारे कामों के साक्षी हैं और एक साथ हैं। क्या मरकर के उनको भी उन्हीं लोगों में जा मिलना है? यह एक ऐसा डर था जो हावी होने लगा गौरीनाथ पर। इसके बाद वह बालक उन्हें कई बार दिखा। इस हद तक कि जैसे वह ओझल होना ही भूल गया उनकी आंखों के सामने से। वह दीपक के साथ बैठे होते और दीपक की बगल में वह चुपचाप बैठा दिखाई देता। एक विकृत हंसी के साथ। ऐसा

लगता कि जैसे उसके चेहरे का स्थायी भाव ही विकृति का हो गया है। वह किसी और तरफ देखने लगते। वहां भी वही दिखाई देता। और एक दिन तो उसने उनकी गोद में आने की जिद की। उसी विकृत हंसी के साथ। न जाने कितनी बार उसे गोद में उठाया होगा गौरी ने। पर उस दिन वह उसे दूर कहीं झटक देना चाहते थे। वह उठकर बाहर भागे। बाहर चबूतरे पर माताफेर बैठे हुए थे।

इसके बाद यह सिलसिला चल निकला। वे दीपक की खिदमत में डूब जाना चाहते थे। पर बद्री और उनके पिता कभी भी उनके सामने आ खड़े होते। कभी भी, कहीं भी। एक दिन वह अपनी साइकिल से स्कूल जा रहे थे कि अचानक सामने उन्हें माताफेर साइकिल से आते हुए दिखे। माताफेर जवान थे और यह वही साइकिल थी जो गौरी को दहेज में मिली थी। गौरी अपने पिता से भिड़ ही गए होते अगर अचानक से उन्होंने अपनी हैंडिल बगल में न मोड़ दी होती। वे डर गए और साइकिल लेकर गड्ढे में जा गिरे। उनके पैरों में वहीं पड़ा हुआ कांच धंस गया पर उन्हें पता तक न चला। देर तक उनकी हिम्मत सड़क पर देखने की न हुई। यह तो कोई परिचित था जिसने उन्हें इस तरह से पड़े हुए देखा और बाहर निकाला।

बाहर के पाप

और फिर एक दिन गौरी ने बैजंती का पेट देखा। वह फिर से फूला हुआ था। बैजंती फिर से मां बनने वाली थीं। इसके पहले वह माताफेर के मरने से लेकर अब तक में दो बच्चों की मां बन चुकी थीं। दोनों बच्चे गौरी के नहीं थे। गौरी ने एक बार फिर से बैजंती पर हाथ उठाने की कोशिश की थी बदले में बैजंती फुफकारी थीं। उन्होंने कहा कि उन्हें गौरी के सब पाप पता हैं और अगर उन्होंने बाहर कुछ भी बोलने की कोशिश की या बच्चों से बुरा बर्ताव करने की कोशिश की तो वह गौरी के जीवन में आग लगा देंगी। गौरी चुप हो गए। उनके जीवन में पहले से ही आग लगी हुई थी और यह आग किसी और ने नहीं बल्कि गौरी ने खुद ही लगाई थी। इसलिए जब तीसरी बार उन्होंने बैजंती का पेट देखा तो बस एक तटस्थ सवाल भर पूछ पाए। उन्होंने बैजंती से पूछा कि किसका पाप है यह। बैजंती ने जवाब दिया कि जिसका भी है तुम्हारे पाप से अच्छा ही है। बैजंती इतने पर भी चुप नहीं रहीं। आगे उन्होंने कहा कि बस इतना जान लो कि यह जो भी है उन दोनों में से कोई नहीं है जिसके पहले के दो बेटे हैं। यह कोई तीसरा ही है।

गौरीनाथ ने पत्नी की तरफ देखते हुए घृणा से थूका और कहा कि एकदम रंडी ही हो गई हो क्या! बैजंती ने जवाब दिया कि रंडी तो उसी दिन हो गई थी जिस दिन तुम जैसे दलाल के साथ गांठ बंधी थी। गौरीनाथ क्रोध से पागल हो गए। इस क्रोध में वह भय भरा सम्मोहन कहीं ओझल हो गया जिसने पिछले कई सालों से एक तना हुआ संतुलन स्थापित कर रखा था। उन्होंने पत्नी को धक्का दिया और पेट पर लात मारने की कोशिश की। इस कोशिश में वह भहरा गए। बैजंती को उनका पैर छू भी नहीं गया था पर वह जोर जोर से चिल्लाते हुए बाहर भागीं। वह चिल्ला रही थीं कि पंडित पागल हो गए हैं और उन्हें मार डालना चाहते हैं। लोग इतनी तेजी से इकट्ठा हुए कि जैसे इसी पुकार के इंतजार में बैठे हुए थे। लोग गौरी पर लानत भेज रहे थे। यह इसलिए भी था क्योंकि गौरीनाथ के बहुतेरे कर्म उजागर हो गए थे। किसी के भी मन में उनके प्रति कोई इज्जत या सहानुभूति नहीं बची थी। इसके उलट बैजंती एक गरिमापूर्ण व्यवहार और गंभीरता बनाए रखी थी। उनके जीवन में अनैतिक कहे जाने जैसा जो कुछ भी था वह इतने पर्दों के नीचे छुपा हुआ था कि उसके बारे में किसी को कोई खबर नहीं थी।

गौरी ने चुपचाप मैदान छोड़ दिया। वह नहीं जानते थे कि यह बात लोगों के सामने जाहिर

हो जाने पर उन्हें कैसा लगेगा कि उनके तीन में से दो बेटे उनके अंश से नहीं हैं और जो चौथी संतान आने वाली है वह भी किसी और का ही पाप है। उन्हें लगा कि एक पर्दा जो उनकी इज्जत पर है वह भी तार तार हो जाएगा। जिसे आज बैजंती ने उतार फेंकने में कोई कसर नहीं छोड़ी थी। उन्हें फिर से अपने पिता की याद आई जिन्होंने उन्हें सीख दी थी कि स्त्री पर पहले दिन से सख्ती रखो अन्यथा उसे हाथ से बेहाथ होते देर नहीं लगेगी। तो फिर माताफेर ने उनकी मां बेला के साथ जो बर्ताव किया था क्या वह सही था। उन्हें फिर से मां की पिटाइयों और रुलाइयों की याद आई। वे अपने पिता के ही अंश थे सो अपनी मां पर शक भी करते थे, अन्यथा पिता उनके साथ इतना बुरा बर्ताव क्यों करते। पर कभी कभी ही सही मां की रुलाई भी उनके भीतर प्रकट होती थी और एक देर तक बना रहने वाला दुख दे जाती थी। यह तभी तक था जब तक गौरी ने मां और पत्नी की रुलाइयों को मिलाया नहीं था। उस दिन के बाद पत्नी के प्रति जो डर, संशय और द्वेष था वह जाने अनजाने मां पर भी आरोपित होता था कई बार। इसका उलटा भी हो सकता था कि वह पत्नी की रुलाई को भी मां की रुलाई के आईने में देख सकते थे। पर ऐसा हो पाता शायद इस बात की संभावना उनके खून में ही नहीं थी।

दूसरी तरफ इस दिन के बाद से पता नहीं क्या जादू हुआ कि बैजंती और बद्री की पत्नी दोनों एक हो गईं। वह रह अभी भी अलग अलग ही रही थीं पर दोनों का अधिकतर समय साथ साथ ही बीतता। एक तरह से अपने संशय के साथ बद्री की पत्नी बैजंती की रखवाली कर रही थीं और इस तरह से उनकी भी रखवाली हो रही थी। दोनों जिस व्यक्ति के प्रति घृणा और क्रोध में भरी हुई थीं वह गौरीनाथ थे। पर दोनों को एक करने वाली यह कोई इकलौती बात नहीं थी। उनके जीवन में उनके सुख दुख में बहुत सारा साझापन था। और उनका साथ इस साझेपन को हर दिन के साथ विस्तार दे रहा था। बैजंती के दोनों बच्चे बद्री की पत्नी के भी बच्चे हो गए थे। वह उनके प्रति कुछ इस तरह से स्नेह से भरी नजर आतीं जैसे कि वह उनके ही बच्चे हों। बैजंती ने जल्दी ही ननिहाल में रह रहे बद्री के बच्चे को भी बुलवा लिया। यह ऐसा काम था जिसने बद्री की पत्नी को नए सिरे से निहाल कर दिया।

सपनों भरी रातें

गौरीनाथ उन दोनों स्त्रियों और उनके बच्चों से पूरी तरह से निरपेक्ष हो गए। ऐसा नहीं था कि वह अपना जहर का फन भूल गए थे। वह जहर तो उनके खून में ही इकट्ठा हो रहा था धीरे धीरे। पर वह नहीं समझ पाए कि ऐसी कौन सी चीज थी जिसने उन्हें बैजंती को जहर नहीं देने दिया। यह उनके लिए खेल की तरह था। वे कभी भी वैजंती से मुक्ति पा सकते थे तो उन्होंने ऐसा किया क्यों नहीं। क्या वे बैजंती से प्रेम करते थे। यह ऐसी बात थी जिस पर गौरी ने खुद ही मुंह बिचका दिया। क्या वे दीपक की वजह से बैजंती को छोड़े हुए थे कि दीपक को उनकी तरह से बिना मां के न जीना पड़े। शायद, उन्होंने सोचा, दीपक की देखभाल के लिए वह खुद समर्थ हैं। आखिर अपने छोटे भाई और बहनों की देखभाल की ही थी उन्होंने।

अचानक से एक हंसी प्रकट हुई माताफेर के भीतर से। यह हंसी एक न समझ में आने वाली विक्षिप्तता से भरी हुई थी। हंसी के बीच से एक तोतली आवाज थी जिसने उनसे पूछा कि जिसे जहर दिया उसकी देखभाल भी तुमने ही की थी न। क्या जहर देना भी तुम्हारी देखभाल का ही हिस्सा था। यह तोतली आवाज गौरीनाथ के ही गले से निकली थी। वह स्तब्ध रह गए। यह आवाज इतनी अचानक नहीं थी। इस तरह की आवाजें वह सुनते आए थे पहले से ही। अंतर सिर्फ

यह था कि इस बार यह आवाज खुद गौरीनाथ के गले से ही निकली थी जबकि पहले इस तरह की आवाजें माताफेर या बद्रीनाथ की होती थीं। जो गौरी को कहीं भी पकड़ लेते और बतियाने की कोशिश करते। बद्री हमेशा बचपन में होते। बहती हुई नाक और हकलाती हुई जबान वाले। कई बार तो एकदम नंग धड़ंग। माताफेर अमूमन बुढ़ापे वाले रूप में प्रकट होते पर कई बार वह अपने जवान रूप में भी दिखते तब वह अक्सर अपनी साइकिल के साथ उपस्थित होते।

गौरीनाथ को लगता कि वह अब सब तरफ से घिर गए हैं। उन्हें बचाव का कोई रास्ता नहीं दिख रहा था। वे इस कदर डर गए थे कि एक बार तो उन्होंने एक ओझा तक के पास जाने की ठान ली। वे घर से निकले भी पर रास्ते से ही लौट आए। उन्हें इस बात का भी डर लगा कि बद्री और माताफेर अपनी हत्या के राज कहीं उगल न दें। फिर उन्होंने यह भी सोचा कि क्या उन दोनों को यह पता होगा कि उनकी मृत्यु मेरी वजह से हुई है? उन्हें तो पता भी नहीं चला होगा कि कब वह सोते सोते मर गए होंगे। क्या पिता को भी? पर अगर उन दोनों को पता नहीं चल पाया था तो वे दोनों उनका पीछा क्यों कर रहे थे? बहुत सारे सवाल थे। बैजंती और बद्री की पत्नी थीं उनकी छाती पर मूंग दलती हुई। दोनों की खिलखिलाहटों से घर गूंजता रहता। यह हंसी उनके कान के पर्दों में छेद कर जाती। उन्हें बार बार लगता कि कहीं इतनी दूर भाग जाएं कि इन सब मुसीबतों से एक साथ छुटकारा मिल जाए। और तभी उनके सामने दीपक का चेहरा घूमने लगता।

गौरीनाथ पागल ही हो जाते अगर नींद ने उनका साथ न दिया होता। उनकी कई सालों से गायब नींद वापस आ गई थी। पर वह अकेली नहीं आई थी। वह अपने साथ बहुत सारे सपने लाई थी। गौरी रात रात भर उन्हीं सपनों की दुनिया में विचरते रहते। सुबह उठते तो अक्सर आंखें कड़ुवाई मिलतीं। कई बार तकिया भीगा मिलता। क्या वे नींद में रोते हैं। क्या रोते हुए आवाज भी होती होगी? क्या वे कुछ बोल बोल कर रोते होंगे? उन्हें इन सवालों का भी कोई जवाब नहीं मिला। उन्हें तो बस सपने मिले। हर रात एक सपना। बेहद धीमे घटित होने वाले सपने, जिनके बारे में गौरीनाथ को लगता कि वह एक पूरी रात में देखे गए सपने थे। बेहद धीमी गति से चलते हुए कि गौरी उनका एक एक दृश्य अपने भीतर बिठा सकें।

जैसे गौरी ने एक दिन यह सपना देखा कि वे रोज की तरह अपने खेत में निवृत्त होने के लिए बैठे हैं। हवा इतनी शांत है कि एक पत्ता तक नहीं हिल रहा कहीं। अचानक उनकी बाग में एक पेड़ अरराहट के साथ गिरता है। इसके बाद दूसरा फिर तीसरा फिर चौथा...एक एक कर के सारे पेड़ गिर जाते हैं। एक भी पेड़ आधा भी खड़ा नहीं दिख रहा। गौरीनाथ नंगे ही बाग की तरफ भागते हैं। और तब उसी पटी हुई बाग से—जो अब लकड़ी और पत्तियों के ढेर में बदल गई है—वह नवजात बछड़ा जिसे कल ही गाय ने जना था, जलते हुए बाहर भागता है। वह कुछ इस तरह से जल रहा है जैसे उस पर कुछ छिड़क कर आग लगा दी गई हो। गौरीनाथ उसके पीछे पीछे भागते हैं। और भागते जाते हैं कि अचानक उनको लगता है कि वह जलते हुए बछड़े में बदल गए हैं जो एक गोल चक्कर काटते हुए खुद का ही पीछा कर रहे हैं।

एक दूसरे सपने में गौरीनाथ ने अपने को एक जल्लाद के रूप में पाया। उन्हें एक हरकारे से एक जिल्दबंद सरकारी आदेश हासिल हुआ कि उन्हें कई लोगों को फांसी देनी है। सजा पाए लोगों की सूची में एकदम नवजात बच्चे से लेकर सौ साल के बूढ़े तक मौजूद थे। सपने में गौरीनाथ को यह भी याद आया कि आखिरी फांसी उन्हें अपने पिता को देनी थी। हालांकि उनके पिता यहां भी बदमाशी करने से बाज नहीं आए। और जब फांसी देने के बाद उन्होंने पिता के चेहरे से कपड़ा हटाया तो पाया कि यह तो वे खुद यानी गौरीनाथ ही थे जिसे उन्होंने फांसी दी थी। और तब उन्होंने उस सरकारी हुक्मनामे को दोबारा पढ़ा जो उन्हें दिया गया था। और तब उन्होंने देखा कि

उस हुक्मनामे में आखिरी नाम उनका खुद का था। उन्हें इस बात के लिए सम्मानित भी किया गया कि वे अपने आप को फांसी देने वाले पहले जल्लाद थे।

तीसरे सपने में अनंत तक फैले दिखने वाले रेगिस्तान के बीच एक सड़क थी। गौरीनाथ को लगा कि यह सड़क अनंत को दो बराबर भागों में विभाजित कर रही है। अब वे जहां खड़े थे उनके दोनों तरफ दो अनंत लगे उन्हें। अनंत को बांटने के अपने इस पागल खयाल पर एक पागल ठहाका लगाया उन्होंने। सपने में ही उन्होंने यह भी याद करने की कोशिश की कि पिछली बार वह इस तरह की पागल हंसी कब हंसे थे। हंसने के बाद उन्होंने सड़क के दोनों तरफ देखा। पेड़ पौधे, सराय, कुआं, दुकानें कुछ भी नहीं। कोई दूसरा यात्री भी नहीं। पीछे देखा तो पाया कि आधा अनंत गायब हो चुका है। अब यह सड़क वहीं से शुरू हो रही है जहां वे खड़े हैं। वे आगे बढ़ चले, इस आशा में कि सड़क है तो कहीं न कहीं जाती ही होगी। जब वे चलते चलते थक गए और रास्ते का कोई ओर छोर नहीं मिला तो भूख प्यास ऊब थकान और घबराहट के मारे गौरीनाथ ने पीछे लौटने का निश्चय किया। पीछे मुड़ने पर उन्होंने पाया कि वापस लौटने के लिए कोई सड़क ही नहीं है। तो क्या वे चलने के भ्रम में जहां के तहां खड़े रह गए हैं याकि उनके पीछे की सड़क रेगिस्तान में गायब होती चली गई है। सब तरफ रेगिस्तान पसरा हुआ है किसी तरफ कोई ऐसी चीज नहीं जो किसी एक राय के पक्ष में गवाही दे सके। वे पागल होकर चिल्लाते हैं कि क्या यह रेगिस्तान और सड़क सिर्फ उनके लिए बना हुआ है...उनकी आवाज से हवा में तेज विक्षोभ पैदा होता है और रेगिस्तान सिकुड़ना शुरू कर देता है। सिकुड़ते सिकुड़ते अनंत में फैला पूरा रेगिस्तान उनके भीतर समा जाता है। तब वे पाते हैं कि वे बालू से बने हैं जो बहुत तेजी से झर रही है। वे भय से जड़ हो जाते हैं। चिल्लाना चाहते हैं पर भीतर से आवाज ही नहीं निकलती, बस एक रेगिस्तानी सनसनाहट सुनाई देती है। उनकी नींद टूट जाती है।

ऐसे ही एक और सपने में उन्होंने पाया कि उनका उनकी ही पत्नी यानी बैजंती के साथ विवाह हो रहा है। पर न जाने कहां से बहुत सारे लोग आ गए हैं जो उनकी पत्नी के साथ फेरे ले रहे हैं। वे लगातार अपनी बारी का इंतजार कर रहे हैं और लोग हैं कि बढ़ते ही जा रहे हैं। गौरी सपने में ही एक अनंत विक्षोभ से भरते जा रहे हैं कि क्या उनकी बारी कभी नहीं आएगी। वे जबरदस्ती आगे बढ़ने को होते हैं कि उनके पिता उनका हाथ पकड़ लेते हैं। पिता अपने जवान रूप में हैं और हूबहू गौरीनाथ की तरह लग रहे हैं। पिता उनसे गले मिलते हैं और उनके लिए रोते हैं। दोनों रोते रोते आपस में ही फेरे लेने लगते हैं। फेरे लेने के बाद पिता अपनी साइकिल पर बैठ कर चले जाते हैं। पिता के जाने के बाद अचानक गौरीनाथ पाते हैं कि पिता उनमें छूट गए हैं और खुद गौरीनाथ पिता के भेस में बाहर चले गए हैं। एक अन्य सपने में उन्होंने देखा कि उनका शरीर योनियों से भर गया है। कान, नाक, आंख, मुंह सब के सब योनियों में ही बदल गए हैं। पूरे शरीर में असंख्य योनियां हैं और उन असंख्य योनियों में असंख्य गौरीनाथ संभोगरत हैं। और थोड़ी ही देर में उन्होंने अपने शरीर से असंख्य दीमकों को निकलते हुए देखा जो अंधे लिजलिजे कीड़ों की तरह एक दूसरे पर चढ़े हुए थे। जो आपस में एक दूसरे को खाते हुए भयंकर गुंजार जैसी आवाज पैदा कर रहे थे।

अगली कई रातों तक गौरीनाथ ने रोज एक नया सपना देखा। जिस सपने के साथ उनकी आंख खुलती वह दिन भर उनकी आंखों में बना रहता। आम सपनों के उलट यह सपना उन्हें पूरा का पूरा याद रहता। इस हद तक कि वह उन्हें जस का तस लिख सकते थे। इसी में अगले दिन अगला सपना जुड़ जाता। फिर अगला...पर बाद में वे सपनों को लेकर दिग्भ्रमित से हो गए। सारे सपने आपस में मिल गए थे। उनके चरित्रों और दृश्यों ने आपस में अदला बदली का खेल खेला था। एक तो गौरीनाथ पहले ही उन सपनों को बूझने में खुद को असमर्थ पा रहे थे। ऊपर से उनका

यह खेल...वह अपने आपको उन सपनों का कोई भी अर्थ निकालने में सक्षम नहीं पा रहे थे। अब तो उन्हें यह भी शक हो रहा था कि कुछ शुरुआती सपनों का जो अर्थ उन्होंने किया था वह कितना सही या गलत था। इस बात की भी उतनी ही संभावना थी कि उनका निकाला अर्थ सपने के असली अर्थ से पूरी तरह से उलटा अर्थ रखता हो या कि क्या पता उन सपनों का कोई अर्थ ही न हो।

उन न समझ में आने वाले सपनों भरी रातों के बाद उन्होंने अगली कुछ रातों तक जागरण का निश्चय किया। रात में नींद आने के एक आदिम अभ्यासवश उनकी पलकें नींद से झपकती रहतीं। वे सो जाते पर यह सोना सचमुच का सोना नहीं होता। यह नींद और जागरण के बीच की अवस्था होती। एक ही साथ में उन्हें यह भी महसूस होता कि वे जाग रहे हैं दूसरी तरफ उसी समय वह कोई अस्पष्ट सा सपना भी देख रहे होते। आंख खुलती तो यह तो याद रहता कि कुछ देखा था पर क्या देखा था यह कभी न याद रहता। वे पूरा पूरा दिन रात में देखे गए सपने को याद करने में लगा देते। वे अपने इन सपनों में इस हद तक खो गए कि उनकी सारी दिनचर्या नष्ट हो गई। वह रोजमर्रा के अपने सारे काम भूल गए। स्कूल जाना भूल गए। यहां तक कि दीपक को भूल गए जिसकी चिंता में वह सपनों का आना शुरू होने के पहले तक घुलते रहते थे। ऐसे में एक दिन जब वह एक सपने से निकलकर दूसरे में प्रवेश करने ही वाले थे कि उनकी निगाह दीपक पर चली गई। उसकी घनघोर निस्संगता वापस लौट आई थी। वह सारी चीजों से बेपरवाह जमीन पर सिर लटकाए बैठा हुआ था। गौरीनाथ दौड़कर उसके पास गए और वहीं जमीन में उसकी बगल बैठ गए। दीपक ने जैसे उन्हें पहचाना ही नहीं। वह अपने में डूबा रहा। गौरीनाथ को रुलाई आ गई। उन्होंने दीपक को लगभग अपनी गोद में ले लिया और इस तरह से विलाप करने लगे जैसे उसकी मृत्यु हो गई हो।

जहर का आखिरी शिकार

गौरी का वह विलाप इतना करुण था कि बैजंती तक पसीज गईं। बैजंती के होंठों पर बनी रहने वाली उपहास भरी मुस्कान हमेशा के लिए गायब हो गई। उन्हें उस रात की रुलाई भी याद थी जब दीपक को खांसी की दवा खिलाते खिलाते गौरी रो पड़े थे। पर इस क्षण गौरीनाथ इतने दयनीय लगे कि उन्हें तरस आ गया। बेटे से लिपटकर रोते हुए गौरी एकदम अबोध लग रहे थे। दूसरी तरफ उनकी रुलाई पर दीपक एकदम से निरपेक्ष दिख रहा था। रोते हुए गौरी ने उसे जिस तरह से पकड़ रखा था उससे जरूर वह थोड़ा परेशान दिख रहा था पर इतना भी नहीं कि वह खुद को गौरी से छुड़ाने की कोशिश करे। बैजंती के लिए यह दृश्य इतना पवित्र था कि उन्होंने गौरी को इसी क्षण उनके सारे गुनाहों से बरी कर कर दिया। वे गौरी के निकट आईं और गौरी के कंधों पर हाथ रखा। सिर सहलाया और उन्हें अपने से चिपटा लिया। उनकी बांहों में दीपक था और वे खुद बैजंती की बांहों में थे। उनके समूचे दांपत्य में इतना मार्मिक क्षण इसके पहले कभी नहीं उपस्थित हुआ था।

इसी क्षण गौरीनाथ ने तय किया कि अब उन्हें भी उसी राह लगना चाहिए जिस राह पर पिता और भाई गए हैं। वह अपने हिस्से का पूरा जीवन जी चुके हैं। उन्हें कोई कारण नहीं समझ में आया पर उन्हें लगा कि उनके रहते दीपक कभी नहीं अच्छा हो सकता। वह शायद गौरी के अपराधों की सजा भुगत रहा है। उन्हें लगातार रातों में देखे गए सारे सपने याद आए जिनके दृश्य और चरित्र कबके आपस में घुलमिल गए थे। उन्हें पिता और भाई की याद आई जो उन्हें हर समय घेरे रहते थे। उन्हें कभी भी अकेला न छोड़ते हुए। गौरी को पता है कि वह दिन दूर नहीं जब वह खुद सबको चीख चीख कर बता रहे होंगे कि वह अपने भाई और पिता के हत्यारे हैं। कि उन्होंने अपनी मां पर भी शक किया है। कि दीपक की इस स्थिति के जिम्मेदार भी वही हैं शायद। उन्होंने ही बैजंती

का जीवन नष्ट किया है। उन्हें अपनी सारी बेइमानियां और पतन याद आए। वे बहुत थीं। उन्होंने जान लिया कि वह आजकल जिस मनःस्थिति में हैं क्या पता किस दिन सब को सब कुछ पता चल जाय। ऐसी स्थिति में घर और गांव में रहना असंभव हो जाएगा। क्या पता थाना पुलिस हो जाय। नौकरी भी जा सकती है। पता नहीं और क्या क्या हो। दूसरी तरफ गौरी के न रहने पर उनके पाप हमेशा के लिए छुप जाएंगे। बल्कि पिता और भाई की तरह से ही उनकी मौत भी स्वाभाविक मौत मान ली जाएगी। क्या पता दीपक का भी कुछ भला हो जाए।

सुबह जब सब गौरीनाथ को मरा हुआ समझ रहे थे तब वे जीवित थे। उनके शरीर में कोई हरकत नहीं थी। वे आंख खोलकर कुछ देख नहीं सकते थे, वे कुछ बोल नहीं सकते थे। उनके शरीर पर उनका कोई जोर नहीं था पर उन्हें सारी बातें जस की तस सुनाई पड़ रही थीं। दिमाग उन सारी बातों पर प्रतिक्रिया दे रहा था जो उनके आसपास थीं। यह आवाज बैजंती की है जो रोते रोते बेसुध सी होने का अभिनय कर रही है। यह बच्चे हैं। यह गांव का फला आदमी है। यह बद्री की पत्नी है जो चुपचाप रो रही है। आवाजें हैं बहुत सारी। बहनें आ गई हैं गौरी की छाती पर सिर पटक पटक कर रो रही हैं। दूसरी तरफ उनकी अर्थी तैयार की जा रही है। उनको नहलाया जा रहा है। नई धोती पहनाई जा रही है। निंदा हो रही है। तारीफ हो रही है। सब कुछ सुन रहे हैं गौरीनाथ। एकदम बेहरकत। एक नया यथार्थ खुल रहा है उनके सामने। उन्हें झुरझुरी हो रही है। वे जीवित कैसे हैं? क्या जहर बनाने में उनसे कोई गलती हो गई थी या कि पिता से सिखाने में ही कोई चूक हो गई थी। क्या जब माताफेर और बद्रीनाथ को जलाया गया तो वे भी जीवित थे! इसी तरह से सब कुछ सुनते और समझते हुए? क्या उन्हें भी इसी तरह से जिंदा जला दिया जाएगा?

वे लोगों को संकेत देना चाहते हैं, झिंझोड़ कर बताना चाहते हैं कि वे जीवित हैं पर यह किसी भी तरह से संभव नहीं हो पा रहा। तभी गौरी को पिता दिखाई पड़ते हैं गौरी का सिर सहलाते हुए। बद्री दिखते हैं जलते हुए और उनकी आंख खुली हुई है। वहीं बगल में खड़ा बालक बद्री एक तोतली आवाज में चीख रहा है। यह तोतली आवाज जल रही है। यह आवाज गौरी के कानों में तेजाब की तरह से गिर रही है। उनका शरीर तख्ती में बांधा जा रहा है और आखिरी बार उनके कान तरस रहे हैं दीपक की आवाज के लिए। इतनी सारी आवाजें हैं जो एक दूसरे में घुली मिली हुई हैं पर उनमें दीपक की आवाज कहीं नहीं सुनाई दे रही है। क्या दीपक यहां पर है ही नहीं। उन्हें इंतजार है उसका। उसकी छुवन का। वह उसकी छुवन लाखों में भी पहचान लेंगे। एक वही है जिसे अपने पीछे वह छोड़कर जा रहे हैं।

वह सपना देखते हैं। एक आखिरी सपना। दीपक अच्छा हो गया है। दीपक का विवाह हो गया है। उसकी पत्नी उसका कहना मानती है। उसकी पत्नी उसकी इज्जत करती है। दीपक को कई सारे बच्चे हैं। सभी बच्चे दीपक के ही अंश हैं। गौरी की जगह पर दीपक को अनुकंपा नियुक्ति मिल गई है। वह रोज मोटरसाइकिल पर बैठकर स्कूल जाता है। वह बच्चों को बहुत अच्छा पढ़ाता है। उसका बहुत नाम हो गया है। लोग उसे गौरीनाथ के बेटे के रूप में जानते हैं...। गौरी का सपना बीच में ही टूट गया। उनकी मिट्टी उठाई जा रही थी। तभी उन्हें वह आवाज सुनाई पड़ी जिसका उन्हें इतनी देर से इंतजार था। दीपक की रुलाई की आवाज। यह एक घुटी हुई रुलाई थी। अपने आपको रोकने की कोशिश करती हुई। अपने दुख को जज्ब करने की नाकाम कोशिश करती हुई। आखिरकार रुलाई का बांध टूट गया था।

दीपक हूबहू गौरीनाथ की मां की तरह रो रहा था।

रिश्तों के शहर

निर्मला तोदी

निर्मला तोदी अब तक कविताएं लिखती रही हैं; कहानी पहली बार जो यहां 'तद्‌भव' में प्रस्तुत।

कलकत्ता बंबई बैंगलोर

वह तीन बक्सों के साथ आया था। वही तीनों लेकर तीन साल बाद चला गया। जैसे कि इन तीन सालों में कुछ हुआ ही न हो। मिष्टी का दूसरा जन्मदिन आनेवाला था, मैंने कहा भी उसके जन्मदिन तक रुक जाओ।

''वो मेरी भी बेटी है मुझे मालूम है; मैं दूसरे शहर में नहीं रहता हूं...।'' 'अनिशा के पापा की तरह' यह उसने कहा था नहीं, फिर भी मैंने सुना।

उसका एक कमरे का अपार्टमेंट था। मेरा दो कमरे का। हमें दो कमरों की जरूरत थी। एक अनिशा के लिए, दूसरा हम दोनों के लिए। इसीलिए हमने तय किया कि मेरे एपार्टमेंट को घर बनाएंगे। उसकेवाले को भाड़े पर उठा देंगे। मेरा फ्लैट घर नहीं बन सका : वह अपने फ्लैट में लौट गया :

विकास और मेरी दोस्ती को चार साल हो गए थे। उस समय मेरे पास आठ साल की अनिशा थी। मैं जहां काम करती थी, विकास का आफिस भी उसी बिल्डिंग में था। दोनों आफिस के बीच काम भी होता था। लेकिन हमारी मुलाकात काम के सिलसिले में नहीं हुई थी। एक दिन उसकी गाड़ी का टायर पंक्चर हो गया। बरसात जोर से हो रही थी, लग रहा था पूरा शहर डूब जाएगा। मैंने उसे लिफ्ट दी। चेहरा पहले से ही जाना हुआ था। कॉम्प्लेक्स की गाड़ियां अंडरग्राउंड में लगती थीं। उसकी चमचमाती सफेद मारुति को देखते ही पहचान लेती थी कि कड़क सफेद शर्ट, काले पैंट

में, एक नौजवान उतरेगा। उसकी टाई रोज नई लगती थी। गाड़ी की चाभी हथेलियों में उछालता हुआ वह हमेशा जल्दी में रहता था। बिना दाएं बाएं देखे लिफ्ट में इतनी जल्दी पहुंच जाता कि मैं उसी समय या कुछ मिनट पहले गाड़ी से उतरने पर भी, उसके साथ लिफ्ट में नहीं होती थी।

गाड़ी में आमतौर पर दो अजनबियों के बीच जैसे बात होती है, हमारी बात भी वैसे ही शुरू हुई। बैंगलोर की बरसात, वहां का मौसम और फिर सड़कों और ट्रैफिक के बारे में। जान पहचान होने में ज्यादा समय नहीं लगा। बातों बातों में मैं यह जान गई कि वह अकेला ही रहता है। उसके पैरेंट्स अहमदाबाद में उसके बड़े भाई के साथ बड़े से घर में रहते हैं। मैंने भी बताया कि मुझे बैंगलोर आए तीन साल हुए हैं। घर में आठ साल की बेटी अनिशा है। फिर नौकरी, पसंद नापसंद ...सब सब। ढेर सारी न खत्म होने वाली बातें। बारिश के कारण ट्रैफिक का बुरा हाल था फिर भी बातों का ऐसा सिलसिला शुरू हुआ कि आधे घंटे के सफर को एक घंटे से ऊपर लग गया : यह भी मालूम नहीं पड़ा। बातचीत के बाद दोस्ती। मेरी वो उम्र नहीं थी कि बरसात की पहली मुलाकात में कुछ कुछ होने लगे। हां फिर भी यह सच है कि घर जाकर मुझे अच्छा अच्छा लग रहा था। मैंने उसे घर पर कॉफी के लिए कहा तो उसने उसी मुस्कुराहट के साथ जवाब दिया–एक जगह आफिस, एक ही रूट पर घर, अब कॉफी पीने आता ही रहूंगा।

दूसरे दिन सुबह मैंने मैसेज से उसकी गाड़ी के बारे में पूछा। पहले दिन वाले बादल अभी भी बरसने को वैसे ही डटे हुए थे। उसका फोन आया ''चलिए, कल वाली लिफ्ट का कर्ज उतार देता हूं, आपको लेने ठीक समय पर पहुंच जाऊंगा।'' मैंने हामी भर दी।

गाड़ी में मैंने बताया कि ड्राइवर गांव गया हुआ है। सुबह अनिशा को स्कूल छोड़कर आई हूं। धन्यवाद, लेने के लिए। ''तब तो स्कूल से लेने भी जाना होगा?'' ''नहीं मासी ले आएगी।'' इस तरह हम लोगों की रोज की बातें भी होने लगीं। हम लंच की छुट्टी में प्रायः मिलते। सुबह मैसेज आ जाता–''टिफिन मत लाना।'' वो मेरी पसंद का बहुत ध्यान रखता था। कभी रोल, कभी पाव बड़ा, कभी इडली बड़ा पैक, ले आता था। दोनों का घंटे भर साथ बैठना हो जाता था फिर शाम को आफिस के बाद मिलना शुरू हुआ। कभी कभी अनिशा को साथ ले जाती, उस समय वो छोटी थी। कभी घर देर से लौटने पर पता नहीं वो कैसे सूंघ लेती थी कि मैं विकास के साथ थी। एक दिन मैं आफिस के लिए तैयार हो रही थी कि अनिशा ने पूछा ''ऑफिस के बाद विकास अंकल के साथ काफी के लिए जाना है? जरूरी बात करनी है?'' मैंने पूछा ''ऐसे क्यों पूछ रही है।'' ''आप ऑफिस के लिए इस तरह तैयार नहीं होती ना, इसीलिए।'' ''हे भगवान! ये लड़की कितना नोटिस करती है!'' ''अच्छा बता कैसी लग रही है तेरी मम्मी?'' उसने कोई जवाब नहीं दिया : पहले उसके पास न खत्म होने वाले ढेरों कमेंट्स होते थे : मैं भी हड़बड़ी में थी : मेरे पास उन बातों का उस समय समय नहीं था।

यह बात नहीं है कि मानव से डिवोर्स के बाद मेरी और किसी से दोस्ती हुई ही नहीं। जब उसके साथ थी तब भी थे, बाद में नए भी बने। उनके साथ ग्रुप में घूमना फिरना, डिस्को जाना, पार्टीज में जाना तक ठीक था। कभी भी रिश्ता बनाने वाली बात नहीं बनी। नए दोस्त टाइम पास के लिए होते हैं, बचपन के पुराने दोस्तों के सामने ही दिल खोला जा सकता है। मेरी वैसी एक ही दोस्त है। बंबई वाली 'सरिता'। साथ साथ स्कूल कॉलेज, साथ साथ दोनों की शादी भी, बंबई में। अब विकास से मैं रोज अपने मन की छोटी छोटी सी परेशानियां शेयर करने लगी थी। अनिशा को भी उसकी दोस्ती और दोस्तों जैसी ही लगती थी। वह अपनी भावनाओं को खुलकर दिखाने लगा था। मैं भी बराबर में उसके साथ थी।

एक दिन वह हमारे घर में रुक गया। दूसरे दिन उसका बर्थ डे था। मैंने खास उसकी पसंद

का खाना बनाया था। स्टार्टर में चीज बॉल, हरे भरे कबाब। स्ट्राबेरी केक, स्ट्राबेरी के फूलों से सजी हुई। ड्राइंगरूम में उसकी बैठने की जगह फिक्स थी–जैसे सभी की होती है : मैंने उसके पास की टेबल पर लाल गुलाब और ओरकिड का बड़ा सा गुलदस्ता सजाया था : वो हाथ में एक पैकेट लिए हुए आया–''तुम्हारा जन्मदिन है, गिफ्ट मैं दूंगी, तुम क्या ले आए?''

''आज शैंपेन खुलेगी मैडम! मुझे पता है तुम वो फ्रिज में पड़े हुए बीयर के टिन ही पिलाने वाली हो।''

शैंपेन के साथ वो क्रिस्टल के दो गिलास भी लाया था। उसका टेस्ट बहुत अच्छा है, मैं जान गई थी। खाने की मेज भी खूब सजी धजी थी। खाने के बाद आइसक्रीम फिर कॉफी फिर बारह बजे केक काटना। इस तरह जन्मदिन मनाते मनाते वह रुक गया। अनिशा सो गई थी। शायद वह शुरू से रुकने के मूड में ही था।

रोज सुबह उठकर मैं अनिशा के कमरे में जाती थी। कम से कम दस मिनट उसके बिस्तर पर सोकर थोड़ी मस्ती करके उठाती थी। उस दिन वो जोर जोर से दरवाजा खटखटा रही थी। सुबह के छह बजे थे। जैसे ही मैं...उसने पूछा–''वो हमारे घर में रुक गए हैं? वहां सोए हैं। आप के कमरे में।''

बेटा उनका बर्थडे है, घर में अकेले रहते हैं...लेकिन मैं अचकचा गई थी। कंठ से आवाज अटक अटक कर निकल रही थी। वो कुछ बोली नहीं। लेकिन मैं उसका चेहरा पढ़ सकती थी। विकास आराम से वैसे ही सोया रहा। उसने हमारी बातें सुनी भी या नहीं, मालूम नहीं। वो झट से पलटी। उसके कमरे के दरवाजे के जोर से बंद होने की आवाज सुनाई दी। मैंने विकास को जल्दी से उठाना चाहा। वो तो हिलने के मूड में भी नहीं था। बार बार एक ही बात–''मैडम! जन्मदिन पर खास तरह से उठाना चाहिए।'' मुझे उस वक्त उसका जन्मदिन नहीं अपनी बेटी का चेहरा दिखाई दे रहा था। मैं बाहर आकर एक बेजान मूर्ति बन सोफा पर बैठ गई। वह स्कूल जाने के लिए पूरी तैयार होकर ही अपने कमरे से निकली। बिना कुछ खाए, बिना कुछ कहे, केवल दूध पीकर बिजली सी निकल गई। मैं भी उससे कुछ कहूं, इस स्थिति में थी नहीं। उसके स्कूल जाने के बाद भारी मन को हल्का किया गया। विकास का जन्मदिन था मनाया गया। मैं आफिस नहीं गई। वो भी जाना नहीं चाहता था, लेकिन मैं नहीं चाहती थी कि आयशा जब स्कूल से आए उसे वो घर पर ही मिले। स्कूल से आकर भी मेरे कमरे को इस तरह देख रही थी, जैसे कुछ ढूंढ़ रही हो। खिड़की पर हवा जोर जोर से थप थप कर रही थी। मुझे लगा मेरी चोरी पकड़ी गई है।

अनिशा अपने दादा दादी के घर छुट्टियों में बंबई जाती थी। डिवोर्स के समय ही तय हो गया था कि साल में इतने दिन उसे वहां भेजना होगा। वे उसमें एक दिन भी कम नहीं होने देते थे, मैं एक दिन भी ज्यादा। जब वह बंबई जाती विकास आकर मेरे पास रह जाता। वो कहता–जब अनिशा नहीं होती है, तुम एकदम बदली हुई लगती हो। एकदम फ्री एकदम लाइट। वो रहती है तो तुम्हें उसी की फिक्र रहती है। मैं भी हंसकर कह देती–हां मां हूं, अपनी बेटी का ध्यान तो रखना ही चाहिए। याद रखो, मैं तुम्हारा भी उतना ही ध्यान रखती हूं।

''यस मैडम!'' सिर हिला देता। दोनों में क्या कॉमन था, मालूम नहीं, हमारी केमेस्ट्री मैच हो रही थी। बातों बातों में हम आगे के जीवन के बारे में भी बात करने लगे थे। हमारे संबंध को चार साल होने जा रहे थे। जो काफी होते हैं एक दूसरे को समझने के लिए। अब हमें निर्णय ले ही लेना चाहिए। अनिशा बड़ी हो रही थी। उसमें बदलाव दिखने लगा था। समझने लगी थी। इस रिश्ते से शादी का रिश्ता उसके लिए भी बैटर होगा–मैंने सोचा। मेरे पैरेंट्स खासकर मम्मी को जल्दी लगी थी। मां और छोटी बहन अंजु भी विकास से मिल चुके थे। लेकिन वह शायद शादी की जिम्मेवारी से दूर रहना चाहता था। उसके ऊपर अपने माता पिता की कोई जिम्मेदारी नहीं है। वे अहमदाबाद

में रहते हैं और हमारे यहां लड़कियों को अपने पीहरवालों के प्रति कोई जिम्मेदारी कभी होती ही नहीं, वे चाहते हैं बेटी सुखी रहे। जिम्मेदारी के लिए बेटा है ही। हमारी इनकम भी बराबर सी थी।

विकास से मिलने के बाद मुझे एहसास हुआ कि मैं अपने साथ क्या कर रही थी। सब मुझे कहते मैं अपना अच्छे से ध्यान रखती हूं। हमेशा फिट फाट, अप टू डेट। मैं 'अपने आप से प्यार करो' का फंडा भी पूरी तरह से निभा रही थी। रोज सुबह उठकर तीन बार बोल लेती हूं–'आई लव माईसेल्फ।' अब पता चला वो अपने से प्रेम भी अधूरा है। मसोसा हुआ नकली नकली सा। पहले अपने आप को शीशे में देखती थी, अब निरखने लगी हूं। मां बेटी खुश थे। हमारी सीधी, शांत, सरल जिंदगी सुखी तो थी सूखी भी थी। सब मालूम हुआ विकास से मिलने के बाद।

एक दिन मैंने कहा–''आज काम की बात करते हैं। अगर तुम्हें शादी बंधन लगती है तो साफ साफ कहो। अनिशा को लेकर कोई बात मन में है तो वह भी खुलकर कहो।''

उसने कहा–''जिस तरह हम लोग अभी रह रहे हैं, मुझे उसमें भी कोई तकलीफ नहीं है। वैसे भी मेरी शादी नहीं हुई है, जल्दी होनी चाहिए।'' मैं चौंकी, उसने बात को मजाक में उड़ा दिया।

खाना खाकर हम घर गए। मेरे अपार्टमेंट में। उसने संजीदगी से कहा–''मुझे शादी करनी है, शादी के बिना मुझे बच्चा कैसे मिलेगा?''

मैं फिर एक बार चौंकी–''आज तक तुमने कहा ही नहीं कि तुम्हें बच्चा चाहिए।''

वो बोला–''अनिशा हमारी बेटी है, मुझे मेरा बेटा चाहिए।''

''तुम्हारा वंश बढ़ाने वाला?'' मैंने मजाक में पूछा।

''मुझे लड़का चाहिए सचमुच।''

''मेरी उम्र पता है?''

''अरे! तुमने अपने आप को इतने अच्छे से मैनटेन कर रखा है। अभी तो तुम चार बच्चे पैदा कर सकती हो।''

''हूं! ये तो सच है, कोई डाउट नहीं, तो आप को चार बच्चे चाहिए? चलिए जनाब, वो भी कर लेंगे।''

बात फिर अधूरी रह गई। दूसरे दिन उसी ने पहल की–''चलो शादी कर लेते हैं, मेरे मम्मी पापा भी बूढ़े हो रहे हैं। वे भी बेटे का घर बसा हुआ देख लें।''

अब मेरे सामने संकट का समय था। अनिशा से कैसे बात की जाए। विकास ने कहा–''मैं बात कर लेता हूं, कहूंगा–मैडम! तुम्हारी मम्मी से शादी करनी है, क्या आप उनका हाथ मेरे हाथ में देंगी'?'' इतने टेंशन में भी मैं जोर से हंस पड़ी। लेकिन फिर तुरंत वही डर, वही घबराहट सामने खड़ी थी। मैंने उसे मना कर दिया। मेरी बेटी से मैं ही पूछूंगी, मैं ही समझूंगी।

शनिवार को आफिस से छुट्टी लेकर मैं और अनिशा 'दिल तो पागल है' फिल्म देखने गए। लौटते हुए मैंने कहा–''वाह क्या फिल्म थी और वो डायलॉग–'उस ऊपरवाले ने सबके लिए किसी को तय करके भेजा है।' मुझे भी शादी कर लेनी चाहिए।'' वो चुप रही। गाड़ी का शीशा खोलने लगी। फिर बोली–''आपकी मर्जी!'' फिर चुप्पी।

''क्या विकास अंकल से करेंगी?'' ''हां!'' मैंने गियर बदला–''तुम्हें भी वो पसंद है!''

''मेरी पसंद से क्या फर्क पड़ता है।'' ग्यारह साल की लड़की इस तरह बोल रही थी। सिंगल पेरेंट के बच्चे जल्दी मैच्योर्ड हो जाते हैं। फिल्म के बाद हम आइसक्रीम खाने जाने वाले थे। उसने कहा–''अब घर चलो।''

रविवार को विकास आया। वो उससे थोड़ी ज्यादा ही खिंची हुई रही। उसके जाने के बाद उसने पूछा–''क्या आप शादी के बाद उसके घर में रहेंगी?''

‘‘हम दोनों यहीं रहेंगे नीशु। उसके पास एक ही कमरा है वो हमारे साथ रहेगा। यहां...’’

‘‘आपके साथ।’’ उसने कंधे उचका दिए। उसका यह रिएक्शन मुझे बिल्कुल समझ में नहीं आया।

हमने सोच लिया था कि मेरे अपार्टमेंट को घर बनाएंगे। अनिशा को कमरा बदलना नहीं होगा, वो अपने कम्फर्ट जोन में रहेगी और वहां एक ही कमरा था।

उसने अपने पैरेंट्स को बुलाया। मेरे मम्मी पापा आए। शादी की बात हुई। आपस में मिलना हुआ। हम सिंपल शादी चाहते थे। लेकिन वह कहता रहता था कि उसकी तो पहली शादी है। सिंपल ठीक है फिर भी थोड़ा कुछ तो होना ही चाहिए। मैं दूल्हा बनूंगा, शेरवानी पहनूंगा, तुम्हें लहंगा पहनना ही चाहिए। पहली शादी, पहला हनीमून, पहला बच्चा, ये सब सुन सुनकर मैं पक गई थी, पर ऊपर से एकदम शांत थी। वह यह समझ ही नहीं रहा था कि यह ‘पहला...पहला...’ सुनकर मुझे कैसा लगता होगा।

सिंपल शादी सिंपल शादी, सोचते कहते, बहुत कुछ तामझाम हो ही गया। कुछ मां बाप ने किया, कुछ दोस्तों ने, कुछ भाई बहनों ने। भइया ने कहा–‘‘उस शादी में मैं बहुत छोटा था, कुछ कर नहीं सका, अब मुझे भइया बनने का मौका मिला है, मैं अपने मन की तो जरूर ही करूंगा।’’ अजय मुझसे छोटा है, जब वह पैदा हुआ दादी ने कहा–तेरे भइया हुआ है। तब से मैंने उसे कभी नाम से नहीं पुकारा, हमेशा ‘भइया’ ही बुलाती हूं। अब वो भइया होने का हक और फर्ज दोनों ही निभा रहा था।

मेरा और भइया का मानना था कि पापा से थोड़ी हड़बड़ी हो गई। उन्हें चार लड़कियों की शादी करनी थी। दो हम बहनें और दो चाचाजी की। मम्मी पापा और चाची की हम चार बेटियां थीं। जिम्मेदारियों ने पापा के स्वभाव में जल्दबाजी ला दी थी।

मम्मी पापा, भइया भाभी उनका पिंटू, अंजु, अविनाश, मामाजी मामीजी और मेरे दोस्त करीब बीस लोग कलकत्ते से आए। विकास के मम्मी पापा, दीदी जीजाजी, रिश्तेदार सब थे। सबको एक ही होटल में ठहराया गया। तीस लोग हो गए थे और यहां के दोस्त। शादी सिंपल ही थी। सब खूब नाचे। अनिशा भी मौसी के साथ खूब नाची। अंजु ने अनिशा के साथ बकायदा डांस तैयार कर लिया था। कब किया मालूम नहीं चला। अनिशा ठुमुक ठुमुक कर नाच रही थी–‘बन्नो तेरा मुखड़ा चांद सा, बन्नो तेरा बन्ना ...।’ यह देखकर मेरा चेहरा लाल जरूर हो गया था। मेहंदी लगी, हल्दी लगी। लाल, पीला, हरा रंग चारों तरफ फैल जाता लेकिन जैसे ही अनिशा की तरफ देखती, सारे रंग उड़ जाते। मुझे उसके चेहरे को पढ़ने की आदत नहीं बीमारी लग गई थी। जब विकास का फोन या मैसेज आता रंग फिर चढ़ने लगता। इस तरह धूप छांव के साथ खेलते खेलते मेरी शादी हो रही थी। शादी को लेकर मेरे अंदर क्या उमंगें फूट रही हैं, मैं महसूस ही नहीं कर पा रही थी। सब याद दिलाते तेरी शादी है, तू दुल्हन बनकर सजधज कर बैठी रह, लेकिन...। मैं। मुझे लगा इस तरह घरवालों की चाव देखकर अनिशा भी शादी को अच्छी तरह एक्सेप्ट कर लेगी। वह नार्मल दिख रही थी। विदाई के लिए मुझे रोना ही नहीं था। होटल में शादी हुई और अपने फ्लैट में आ गई। अंकल आंटी ने स्वागत की रस्में निभाईं। अनिशा अपनी नानी के पास होटल में ही थी। शाम को रिसेप्शन था। हमें तैयार होकर होटल जाना था। मम्मी से मिली उनके चेहरे से संतोष टपक रहा था। मेरी आंखें झिलमिला गईं।

विकास के लिए घर में मेरे साथ मेरे कमरे में काफी दिनों से जगह बनी हुई थी। अब उसके सारे सामान को समाना था। मेरी आलमारी में उसके दो चार जोड़ी कपड़े रहते थे। अब एक पूरी आलमारी खाली करनी थी। शादी के पहले ही यह सब सेट कर रही थी। कमरे में कुछ भी नया जोड़ा जा सके, इसकी गुंजाइश नहीं थी। एक दीवार पर ढाई अलमारी, बगल में छोटी सी टेबल, जिसके सामने एक कुर्सी रखी जा सके बस। एक दीवार पर पलंग जिसके सिरहाने खिड़की थी। एक दीवार

पर दोनों दरवाजे। पलंग के सामने क्यूरियो जिस पर टेलिविजन है : हमारी छोटी सी ड्रेसिंग टेबल बाथरूम में। मेरी और विकास की फोटो, अब मैं सजा सकती थी, अपने कमरे में।

बंबई छोड़ने के बाद मम्मी पापा ने कहा–सबसे पहले घर खरीद लो। मैं उनसे पैसे लेना नहीं चाहती थी। दो साल भाड़े के फ्लैट में रहकर मैंने यह अपना घर लिया था। मेरे पास इससे छोटे घर के ही पैसे थे। मम्मी नहीं मानी, जबर्दस्ती यह घर दिलवाया–''तुम इतनी पराई कैसे हो गई मेरी बच्ची!'' बच्ची की मां बच्ची ही थी उनके लिए। घर बहुत सोच समझकर लिया गया। नया शहर है पूरी सिक्योरिटी होनी चाहिए। स्कूल, आफिस पास में हो। उनके दिमाग में ये बात घर कर गई थी कि दोनों लड़कियां हैं, बच्ची है, अकेली है। वैसे कलकत्ते से मासी आई थी, सचमुच मासी दोनों का पूरा ध्यान रखती। मम्मी पापा, भइया भाभी जब आते अनिशा के कमरे में ठहर जाते। अनिशा को मेरे पास सोने का मौका मिल जाता था।

अब यह घर छोटा पड़ रहा है। उसने कहा–''अपनी किताबों का पहाड़ छोटा करो। कितनी भर रखी है।''

विकास यह क्या कह रहा है? मेरी समझ के बाहर, अनोखी बात थी। इन्हीं किताबों को देखकर वह इंप्रेस हुआ था। कहता अच्छा तुम तो खूब पढ़ेसरी हो। विकास का बड़ा सा म्यूजिक सिस्टम था। बुक शेल्फ, क्यूरियो, शोकेस सब उलट पुलट करके मल्टीपरपस रैक बनवा लिया गया। मेरे पास एक मार्बल का स्टैंड था, वो अंजु को दिया–''प्लीज इस पर मनीप्लांट ही सजाना।'' मेरे मुंह से निकल गया था, अपने आप। घर छोटा पड़ रहा था, जैसे अचानक कपड़े छोटे हो जाने से साइज के बढ़ने का पता चलता है। उसे सब घचपच लग रहा था।

शादी के बाद भी अनिशा के सामने विकास के साथ रहने में मुझे झिझक होती थी, उसे झुंझलाहट। उसका मानना था यह मेरे दिमाग का फालतू का पेंच है। वो कहता–''वो अब बच्ची नहीं है, तुम नार्मल रहोगी, तो ही वो भी नार्मल रहेगी।'

यह सच है हम अपनी सुविधानुसार बच्चे को बड़ा छोटा बना लेते हैं। आसानी से निर्णय कर लेते हैं कि हमारा बच्चा अभी क्या समझ सकता है, क्या नहीं समझ सकता। हो सकता है हमारी समझ में ही लोचा हो। हम जो उसके बारे में समझ रहे हैं, बात उससे ठीक उल्टी ही हो।

विकास को हनीमून पर जाना था। उसका पहला हनीमून जो था। पहले भी हम दो तीन बार घूम आए थे। तभी जब अनिशा अपने दादा दादी के पास जाती थी। मैंने कहा–''इस बार भी हम वैसा ही करते हैं।''

''उसका कुछ बंदोबस्त करो न यार।'' सहेली के घर छोड़ते हुए मुझे गिल्ट हो रहा था। उसकी आंखों में कोई शिकायत नहीं थी। एकदम सपाट चेहरा लिए अपना बैग लेकर चली गई। उसने कहा नहीं, मैंने सुना–''ये तो होना ही था।'' मैंने भी अपने आपको 'चीयर' करने की पूरी पूरी चेष्टा की।

घर भरा भरा था। जीवन भी भरा भरा लग रहा था। अधूरेपन का एहसास खत्म हो रहा था। मैं शादी के पहले पिल्स पर थी। अभी कुछ दिन वैसे ही रहना चाहती थी। पर वो नहीं चाहता था। मुझे लगा वो सही है। मेरी उम्र को देखते हुए मुझे और देर नहीं करनी चाहिए। सुना था पिल्स छोड़ते ही कनसीव कर लेते हैं। वही हुआ भी। एक बार फिर अनिशा को बताने की समस्या मेरे सामने खड़ी थी। विकास के पास वही जुमला तैयार था–''बड़ी हो गई है, सब समझ जाएगी।'' मैं नहीं समझ पा रही थी कि उसे कैसे बताया जाए। उसका रिएक्शन क्या होगा?

दूसरे दिन खाने के टेबल पर विकास ने सीधे से पूछ लिया–''तुम्हें छोटा भाई बहन चाहिए क्या?'' मैं सुनकर दंग रह गई। अगर उसने 'नहीं' कहा तो? अगर शादी से पहले भी पूछते और वो ना कर देती, तो विकास क्या करता? मान जाता? उसका जवाब और भी झटकेदार था। आमलेट

काटते हुए आराम से–''चाहिए से क्या मतलब है? हो ही रहा है।''

क्या इसे मालूम है मैं सोच ही रही थी कि...

''दादी ने बताया था, अभी दो महीने बाकी हैं, मेरे पापा बहुत खुश हैं।''

मेरे मुंह से फिसला–''ओ।'' विकास ने कहा–''बहुत अच्छी खुशखबरी है। तुम्हें भाई बहन दोनों ही मिल जाएंगे शायद।''

''नहीं ट्विन्स नहीं है।''

''अरे बाबा! तुम्हारी मम्मी को होगा।''

''बड़ी दीदी।'' कहकर वह जोर से हंस पड़ा। मैंने नीची नजरों से ही देखा–छोटी सी अनिशा ने उसे ऐसी नजरों से देखा कि उसकी हंसी उसी सांस के साथ दब गई।

मैं सांस रोके सुन रही थी। प्लेट में पड़ा टोस्ट ठूंसे जा रही थी, पानी से गटक रही थी कि जोर से उबकाई आई। नहीं यह प्रेगनेन्सी वाली उबकाई नहीं थी। खाना ठूंसा गया था, सांस रुक गई थी और उसकी बातचीत मेरे गले में अटक गई थी। विकास को वैसे भी कोई फर्क नहीं पड़ने वाला था। वो भी एकदम 'कूल' थी। जैसे मुझसे कहती थी–''चिल, मम्मी...चिल...।'' मेरी नजरें मेरी प्लेट पर गड़ी थीं। मुझे लगा बात खत्म होने के बाद वो मुझे एकटक देख रही थी। जिस घड़ी का सामना करने से मैं डर रही थी, वह ऐसी भी हो सकती है, यह मेरी सोच के एकदम बाहर थी।

मैं उठी, एक घंटे शावर के नीचे रही। तब जाकर फ्रैश हुई। मुझे किस बात पर इतना झटका लगा? अपने लिए पहले से ही तैयार रहना चाहिए था। अच्छा ही हुआ मुझे नहीं बताना पड़ा। क्या मानव के बच्चे की खबर से? वह भी होना ही था। उसकी शादी को दो साल हो गए थे। सुना है कि उसकी यह भी अरेंज मैरिज है। अनिशा वहां जाती है, रहती है, लौटकर आती है। मैं उनके बारे में उससे कुछ भी नहीं पूछती। कभी कभी कुछ कुछ सुनना जरूर चाहती हूं। अनिशा कुछ भी नहीं बोलती। सब वहीं छोड़कर इस तरह आती है जैसे कहीं जाकर आई ही नहीं हो। वह ठीक करती है जब पहली बार वो वहां जाकर आई थी, कुछ बताने ही वाली थी कि मैं छोटी सी बच्ची पर चिल्ला पड़ी थी–''मुझे वहां की कोई बात नहीं सुननी, कभी नहीं।'' वह दिन है और आज का दिन। उसने वहां के बारे में कभी मुंह नहीं खोला। आज उसने टेबल पर बड़े मजे से जो कहा, वो क्या था? बड़ी हो रही थी इसलिए? या मां बेटी के अलावा जो तीसरा था, उसे खास बात खास तौर से सुनाना था?

चार साल पहले जब विकास से दोस्ती हुई, तभी जल्दी शादी कर लेनी थी। अनिशा उस समय छोटी थी। मुझसे कहीं देर हो गई थी, तो कहीं हड़बड़ी। बच्चा एक साल रुककर होता तो मेरी उम्र में ऐसा क्या फर्क पड़ जाता। अनिशा थोड़ी संभल जाती। मैं इस भ्रम में नहीं थी कि विकास उसके पापा की जगह ले लेगा, वो अंकल है, अंकल ही रहे। चार साल से जो अंकल का रिश्ता बना हुआ था वह भी एकदम खत्म हो रहा था। यह सब मेरे ऊपर पूरी तरह छा रहा था। पहले जब अनिशा स्कूल जाती तो अपनी मम्मी को टाइट हग करती। मैं कहती–''अरे! छोड़ कहीं दूर थोड़े ही जा रही है।'' अब वो मुझे अपनी तरफ से कभी 'बाई' भी नहीं करती। मेरे करने पर बस जवाब वाला 'बाई'।

मां बेटी के बीच की दोस्ती, बहनापा सब खत्म हो रहा था। उसके लिए अब मैं विकास की पत्नी थी। कभी कभी थोड़ी थोड़ी पहले वाली मम्मी बनती थी, उस समय को मैं पकड़कर रोक लेना चाहती, लेकिन समय जैसे खिसकता है, ठीक खिसक लेता।

मेरे में प्रेग्नेंसी वाले हारमोनल चेंजेज हो रहे थे। अनिशा में टीन एज वाले। विकास में प्रेमी से पति बनने वाले। हम तीनों किसी भी स्थिति में नार्मल रिएक्ट नहीं कर पा रहे थे। हम दोनों को ही एक दूसरे की छोटी छोटी बातें बहुत बहुत इरिटेट करने लगी थीं। पांच सात रोज साथ में रहना, हमेशा साथ रहने में बहुत फर्क है। अब जान पाई। यह सब बोतल से निकले जिन की तरह पूरे घर

पर हावी हो रहा था। बच्चा होने पर आया चाहिए। मम्मी ने कलकत्ते से एक बंगाली 'आया' भेज दी। अब वो गाड़ी का चौथा पहिया थी। अब झमेले पूरी स्पीड में हो रहे थे। घर में या तो सन्नाटा या फिर झांऊ झांऊ की आवाजें। ऐसे में एक बच्चा और आने वाला था। चिंता में घिरी मैं विकास से शांति से बात करना चाहती। वो भी हो नहीं पा रही थी। बातचीत में किस बात पर माथा लड़ जाता, यही समझ में नहीं आ रहा था। कॉम्युनिकेशन गैप बढ़ता जा रहा था।

विकास जबतब झट से बोल देता—''तुमको तो अनुभव है ना।''

''हां दो का है।''

''सिर्फ दो का ही है!''

''शादी वाला तो दो का ही है, अब दो बच्चों का भी हो जाएगा।'' मजाक में व्यंग्य, व्यंग्य में मजाक चल रहा था। जो हंसी को भी खट्टी कर देता था।

उसी बीच अनिशा की दादी का फोन आया। बहन हुई है देखने आओ। एकदम तुम्हारी जैसी है। तुम अपने पापा जैसी हो, ये भी अपने पापा जैसी है। लड़कियों का अपने पिता से हुणियारा मिलना शुभ होता है। अनिशा जो कभी भी वहां की बात अपनी जुबान पर नहीं लाती थी, आज यह सब बातें चटकारा लेकर सुना रही थी। अच्छा कोई बताए अनिशा का क्या शुभ हुआ? जिस इंसान से उसका चेहरा मिलता है वही हम मां बेटी के लिए शनी सरीखा है। मैं उसे अपने संस्कार देना चाहती थी, वो भी मुट्ठी से रेत की तरह फिसल रहा था और मैं कुछ नहीं कर पा रही थी।

अनिशा अभी मुझसे लंबी हो गई थी। बगल में खड़ी होकर कहती—''देखो तुमसे थोड़ी लंबी हूं।''

''ओए ओए तुझे मुझसे बहुत लंबी होनी है।''

सब कहते मिष्टी अपने पापा पर गई है। दोनों बहनें अपने अपने पापा पर। फिर दोनों में आपस में कुछ भी कॉमन नहीं होगा। बंबई वाली वो भी अपने पापा जैसी दिखती होगी तो अनिशा और वो दोनों बहनें लगेंगी। सिर्फ देखने में। अनिशा और मिष्टी साथ साथ रहेंगी। बहनों का प्रेम इन दोनों में होगा। होगा ना?

मैं पांच फुट एक इंच। मानव छह फुट लंबा था। एक बार हमने एक जैसी लाल रंग की टी शर्ट, बड़ी सी डॉलफिन प्रिंट की पहन कर फोटो खिंचवाई। ड्राइंगरुम के साइड टेबल पर पड़ी थी। शायरा हमारी दोस्त आई। फोटो देखकर नॉटी वाली मुस्कान के साथ बोली—यार तेरी तो ब्रोस्ट मानव की तोंद के साथ भिड़ जाती होगी। मानव हो हो करके हंस रहा था। मैं उन दोनों का चेहरा देख रही थी। कोई विटी जवाब याद ही नहीं आया। ओह कहां कहां, दिमाग के किस किस कोने में, धरी पड़ी है, ये कैसी कैसी बातें। मैं चाहती हूं चाहे जो भी हो जाए बंबई वाली बातें, वे साल, वे दिन कभी मेरे पास फटकें भी नहीं। पर मैं हार जाती हूं। मेरे साथ जीती जागती बंबई है अनिशा।

कभी कभी मुझे लगता कि मैं एक रोबोट बन गई हूं। विकास की पत्नी, अनिशा और मिष्टी की मम्मी, अच्छी सी नौकरी, सब निभाए चली जा रही हूं। मेरे मम्मी पापा, भाई बहन शादी के बाद कभी हमारे घर नहीं ठहरे। एक बार मैंने कहा भी—मम्मी आपलोगों को होटल में नहीं ठहरना चाहिए। पहले के जैसे अनिशा के कमरे में क्यों नहीं रह सकते? मालूम नहीं विकास ने अपने डैने इस तरह फैलाए थे कि कोई आकर रुकना ही नहीं चाहता था। वे कहते उन्हें संकोच होता है। मुझे इसका कोई कारण समझ में नहीं आता था। विकास के पैरेंट्स भी तभी आए, जब अनिशा बैंगलोर में नहीं थी। अपने नाना नानी के पास कलकत्ता गई हुई थी। उसके आने के दो तीन दिन पहले विकास बोला—''वो दो चार दिन वहां रुक जाए तो मेरे पैरेंट्स भी उतने दिन और रुक जाते।''

वे उसके साथ भी रह सकते हैं विकास। लेकिन उसे नहीं जंचा। अंकल आंटी (हम दोनों एक

दूसरे के पैरेंट्स को अभी भी अंकल आंटी ही कहते थे) को अनिशा अच्छी लगती थी। वे कहते—''बड़ी प्यारी बच्ची है।'' लेकिन अनिशा उनसे एकदम दूर रहती थी। ऐसे भी वो एकदम से गंभीर हो गई थी। अनिशा ही नहीं पूरी दुनिया ही बदल रही थी। मैं सबसे ज्यादा। मुझे खिड़की खोलकर रोशनी में रहना अच्छा लगता। विकास को हर समय एयरकंडीशन चाहिए। एयरकंडीशन के कारण ताजा हवा पत्तों की खड़खड़ाहट, चिड़ियों की चहक सब बंद। बंद दरवाजा खोल देने से पूरा घर एक हो जाता है। विकास जब घर में नहीं रहता, मैं सब खिड़कियां दरवाजे खोल लेती, पर्दे सरका कर धूप और रोशनी घर में भर लेती।

प्रेग्नेंसी में विकास मेरा बहुत ध्यान रखता था। मेरे खाने का, डाक्टर से चेकअप का, आराम का। बस उसके काम में थोड़ी सी भी गफलत नहीं होनी चाहिए। उसका अपना सब कुछ परफेक्ट होना चाहिए। एक रात को जोर की बरसात हो रही थी। मुझे पिज्जा खाने का मन हुआ। वह एक घंटे बाद पिज्जा लेकर ही आया। वह आने वाले बच्चे की जोरदार तैयारियां कर रहा था। मुझे कोई एक्साइटमेंट नहीं हो रही थी। घर का अजीब सा माहौल। मम्मी ने मालती को भेजा। वो भी पहले वाली मासी के जैसी नहीं थी। मैंने अपनी गरज मानकर उसे टिका रखा था। बच्ची हुई। बारी बारी से दोनों दादी और नानी एक एक हफ्ते के लिए आईं। उसके होते ही मेरे मुंह से निकला—'मिष्टी।' विकास गुड़िया बुलाता था। एक दिन बोला—''अच्छा बताओ तो ये मिष्टी नाम कहां से आया?''

कलकत्ते से। 'मिष्टी यानी मीठा' कितनी मीठी है देखो। अच्छा अब जब बेटा हो उसका नाम रसगुल्ला रख लेना। रसगुल्ला, चमचम, रसमलाई सब...।

और 'आबार खाबो'। पहली बार तुम घर आए थे, मैंने तुम्हें 'आबार खाबो' मिठाई खिलाई थी। जनाब उस पर ही फिदा हो गए थे। घर, घरवाली, चाय, काफी, सब पर : तुमने कहा—'आबार चाय पीबो।' मैंने कहा—नहीं, चाय पानी, कॉफी सब केवल खाबो। और महाशय का आबार आबार ऐसा चालू हुआ कि चलता ही रहा। कुछ खट्टे मीठे पलों के साथ जिंदगी चल रही थी। मिष्टी हम दोनों को नजदीक ला रही थी फिर भी मुझे क्यों लगता था कि मेरी ममता छोटी पड़ रही है। क्या ममता छोटी हो सकती है। उसका एहसास सिकुड़ गया था शायद। कहीं डोर कस रही थी, कहीं ढीली पड़ रही थी। ऐसे में संतुलन रखना मुश्किल दिख रहा था। सरिता कहती—हड़बड़ी मत करो, समय दो, सब ठीक हो जाएगा। पहली शादी में उम्र कम थी इसलिए संभालने में मुश्किल हुई अब उम्र ज्यादा है तो भी मुश्किल हो रही है।

जब से मैं अकेली रहने लगी थी, गर्मी की छुट्टियों में हमारा 'फैमिली हॉलीडे' होता था। मम्मी पापा, भइया भाभी उनका दो साल का पिंटू (जो अनिशा की जान था) अंजु अनरव। अकेले रहने वालों के लिए छुट्टियों के ये दस पंद्रह दिन स्वर्ग जैसे होते हैं। मैंने सोचा, इस बार विकास भी साथ होगा। कुछ सुंदर सपने संजोये। वह परिवार के साथ पंद्रह दिन रह लेगा तो अपनापन आ जाएगा। उनसे जुड़ जाएगा। ऐसा नहीं हो पाया। प्रेग्नेंसी पहले आ गई। अनिशा अकेली गई। विकास बोला—इसके तो बड़े ऐश हैं। कभी दादा दादी के साथ, कभी नाना नानी के साथ घूमना होता रहता है।

''हां! अब अपनी मम्मी और नए पापा के साथ घूमेगी।'' वो चुप रहा हमेशा की तरह और बात खतम हो गई। इस तरह बात का खत्म होना मुझे अखर जाता था फिर भी पता नहीं क्यों मैं भी चेष्टा नहीं कर पाती थी कि हमारी बातचीत कम न हो।

हम मिष्टी के लिए पालना लेने गए। घर छोटा था नहीं, लेकिन पड़ रहा था। मैंने विकास से कहा—''चलो थोड़ा बड़ा घर खरीद लेते हैं।'' दोनों फ्लैट मिलाकर अपना बड़ा घर। जिसमें दोनों बेटियों के अलग अलग कमरे हों। अनिशा नौवीं क्लास में जाएगी उसकी पढ़ाई शुरू होने वाली है। मुझे भी अपनी बालकनी चाहिए। उसने हामी से सिर हिलाया। उस हामी का मतलब साफ दिख रहा था।

उसने सिर्फ हामी भरने के लिए सर हिलाया था। वो अपना फ्लैट छूने के लिए भी तैयार नहीं था। उसने भाड़े का भी अलग से एकाउंट खुलवा लिया था। उसके साथ तीन साल रहकर मैं भी और और और समझदार हो रही थी। पांच सात दिन साथ रहना और हमेशा साथ रहने में क्या फर्क है अब समझ में आ रहा था। जब वो पहले पांच सात रोज के लिए आता, हम डिपार्टमेंटल स्टोर जाते, वहां से बीयर, मक्खन, चीज, जूस, फल, ढेर सारा सामान लाकर फ्रिज भर देते थे। पैसा वो देता था। इस समय भी वह उतना ही देना चाहता है। उस समय मुझे उससे पैसे लेने भी नहीं थे। लेकिन अब हमारी गृहस्थी थी : जिसमें दोनों के पैसे लगने ही चाहिए : अब समझ में आता है कि वो अपने कंफर्ट जोन से बाहर कभी आया ही नहीं था। मुझे उसे इस तरह रखने में सुख मिलता था। उसका काम करना, उसका मनपसंद खाना बनाकर खिलाना अच्छा लगता था। दोनों के प्रेम में फर्क था, उसने मुझे यूज किया, अब समझ रही हूं मैं।

मेरा पहले जितना एक महीने का खर्च था, शादी के बाद उतना निकाल लेती। वह पंद्रह बीस दिनों में खर्च हो जाता। फिर मुझे उससे पैसा मांगना पड़ता था। वह मांगने पर ही देता था, वह भी बड़े हिसाब से। मैंने देखा खर्च डबल हो गया था। उसका रहन सहन, खाने पीने का टेस्ट हमसे अलग था। प्रेग्नेंसी में मैं ज्यादा संभाल भी नहीं पाती थी। मालती का हाथ खुला था। मासी से उसका महीना भी दुगुना था। डिवोर्स के समय मैंने मानव से पैसे लिए थे। पैसे के सिवाय उसके पास और कुछ था भी नहीं। उसी की धौंस थी। मैंने उस पैसे को हाथ भी नहीं लगाया। सारा का सारा अनिशा के नाम पर जमा करा दिया। हम दोनों कमाने वाले थे। कहीं कोई मुश्किल नहीं होनी चाहिए, लेकिन यहां थी। चलते चलते उसे खंजर भोंकने की आदत पड़ गई थी। उसके खंजर बहुत धारदार थे। जाने या अनजाने वह उन्हें हंसते हंसते घोंप देता था।

सुबह का नाश्ता, दोपहर का टिफिन। लगता है एक रेलगाड़ी चलती है। विकास से पूछती– टिफिन में क्या पैक करवा लें? ''मेरे लिए मटर चावल छौंकवा दो और तुम लोग अपना देख लो।''

''तुमलोग?'' माने हम तीनों। इसी तरह बोलने लगा था वो। ये कैसी विभाजन रेखा खींची थी उसने? और क्यों? मैं आज भी नहीं समझ पायी।

हमारी तीसरी एनिवर्सरी आने वाली थी। मैं विकास को सरप्राइज पार्टी देने का प्रोग्राम बना रही थी। अपनी गुड़िया के साथ खेलते खेलते उसने कहा–'मेरी मिष्टी।' मैंने भी आंखें टिमटिमाते हुए कहा–'मेरा बंगाली बाबू।' वो उसे उछाल उछाल कर हंसा रहा था। अचानक पूछ बैठा–''अनिशा का नाम किसने रखा? तुमने या मानव ने।''

''ओह विकास, मैंने तुमसे कितनी बार कहा है उसका नाम मेरे सामने मत लिया करो। मेरा मूड ऑफ हो जाता है। बने बनाये मूड का पूरा कबाड़ा कर दिया।''

''मैंने इसमें गलत क्या पूछ लिया। आजकल तुम्हारा मूड अच्छा कब रहता है। छोटी छोटी बात पर चिढ़ जाती हो, एकदम चड़चड़ी भाजी (बंगाल की एक सब्जी) की तरह।''

''तुम्हें तो चड़चड़ी भाजी बहुत पसंद है।''

''अब नहीं। अब तुमसे बात करने का मन ही नहीं करता। भाषण या प्राब्लम दो ही चीज है तुम्हारे पास।''

मैं चुप। एनिवर्सरी का कोई चाव ही न रहा। बात यहीं खत्म नहीं हुई। रबड़ की तरह खिंचती चली गई। एनिवर्सरी वाले दिन तक। एनिवर्सरी के पहले दिन ही अनिशा अचानक अपनी दोस्त के घर रहने के लिए चली गई। दो दिन के लिए। मुझे लगा सोच समझकर गई है। वो थी नहीं, हम लड़ते रहे।

विकास ने बैग में अपने कपड़े भरे और बाई बाई करके इस तरह निकला जैसे कि घर छोड़कर

नहीं ऐसे ही जा रहा हो। सभी बातें सिर्फ भइया को मालूम है। मम्मी पापा को मैं एक और झटका नहीं दे सकती। उन्हें यह मालूम है कि मुझे बहुत एडजस्ट करना पड़ रहा है। मम्मी हमेशा कहती–''बेटा, सभी को एडजस्ट करना ही होता है, आदत पड़ जाती है। एक बार तू अपने आप को उसके हिसाब से ढाल ले। फिर वो भी ढल जाएगा अपने आप।'' मैं उनकी बातें मानती हूं। मेरा मन किया कि पूछूं–क्या आपने भी पापा के साथ बहुत एडजस्ट किया था? अब भी कर रही हैं? लेकिन पूछा नहीं। ऐसे भी मेरा मानना है कि कोई किसी को बदल नहीं सकता। मैंने उसे बदलने के बारे में कभी सोचा भी नहीं।

मुझे दिखलाई दे रहा था कि कुछ गड़बड़ी होने वाली है। बड़ी वाली गड़बड़ी। फिर भी दिखलाई देने में और हो जाने में बहुत फर्क होता है। जब हो जाता है तो दर्द भी होता है। किसी भी परिस्थिति में अपने आप को पूरी तरह तैयार नहीं किया जा सकता, कि ऐसा होगा तो वैसा कर लेंगे।

आज मेरे हाथ में ये डिवोर्स के पेपर हैं। मैंने सरिता से कहा, तुम आ जाओ। दो दिन के लिए ही सही, बस...आ जाओ। मैंने फोन भी बंद कर दिया था। पूरी दुनिया से अपने आप को अलग कर लेना चाह रही थी। सरिता आई, रिलीफ बनकर–''मिष्टी इतनी बड़ी हो गई।''

''देखकर बता किस पर गई है, मेरे पर या अपने पापा पर?''

वो मेरा मुंह देखने लगी।

''इस तरह क्या देख रही है? कुछ भी नहीं बदला। देख वैसी की वैसी खड़ी हूं, जिंदा...। तेरे सामने...।''

शाम हो रही थी। मैंने बत्ती नहीं जलायी। फिर एक नाइट लैंप जलाकर एक एक ड्रिंक लेकर हम दोनों बैठ गईं। दोस्तों की भीड़ में ड्रिंक लेना अलग है, एक दोस्त के साथ लेना अलग बात। युनिवर्सिटी के दिनों की याद ताजा हो गई। आज मैं अपने ताजा घाव लिए बैठी थी। मैंने कहा–''देख लो! अरेंज मैरिज, लव मैरिज दोनों करके देख ली। परिणाम एक ही निकला। एक में धोखा खा गई, दूसरे में धोखा मिल गया। दोनों से दो बेटियां।

''मैं कहां गलत थी, समझ नहीं पा रही हूं। उस शादी में गुस्सा आता था, इसमें झुंझलाहट। दोनों को ही बचा नहीं पाई। उसमें उम्र छोटी थी, बचपना। इसमें बड़ी। दोनों बार मैं ही गलत।'' एक बड़ी घूंट लेनी पड़ी। बोलने के लिए ताकत चाहिए थी।

''अब लगता है पहले वाली को बचाना आसान होता, पर उस समय असंभव लगा था। एडजस्ट सभी को करना पड़ता है, मैंने भी किया।

''तू सब जानती है, बता ना–प्लीज...आज सच सच बता, मैं कहां गलत थी। मुझसे कौन सी चूक हो गई? अगर भूल होती तो तू भी टोकती, इस बार चोट गहरी है, यार।''

''कितने दिनों तक आशा लिए बैठी रही कि वो लौट आएगा। पिछली बार मैं छोड़ आई थी, इस बार वो छोड़ गया। बात तो एक ही हुई ना!''

वो मुझे सुनने के लिए आई थी। बात करने नहीं। चुपचाप सुनती रही।

''ऐसा क्यों हुआ? वो कहता है वो मुझे अभी भी प्रेम करता है, पर साथ रहना मुश्किल है।''

''ये कैसा प्रेम है?

''कोई मुझे समझाए, बताए। ऐसा भी प्रेम होता है? मैं भी उससे प्रेम करती हूं, उसके साथ रहना चाहती हूं। आराम तकलीफ सब सहकर।''

मुझे ठंड लगने लगी। एयरकंडीशनर थोड़ा ठीक करने उठी। सरिता ने इसी बीच दूसरा ड्रिंक बना लिया।

''सरिता! मैं साथ रहकर दुखी थी। हर समय झुंझलाई हुई। तो क्या अलग रहकर सुखी हूं?

वो जब दो चार दिन के लिए बाहर जाता, मैं हल्का, रिलीफ महसूस करती। पूरे घर में लगता हवा, धूप, रोशनी भर गई है। फिर भी मैं उससे अलग होने के बारे में सोच भी नहीं सकती थी। अब मैं लुटी हुई हूं। क्या मेरा निर्णय गलत था?''

सरिता जवाब नहीं दे रही थी। उसका स्पर्श जवाब दे रहा था। मैं बोलती जा रही थी, उसकी आंखें मुझसे बुलवा रही थीं। ''घर छोटा पड़ रहा था। क्योंकि वहां एक बड़ा सा त्रिकोण खड़ा था। त्रिकोण फैलता जा रहा था, उसके कोण इतने नुकीले होते जा रहे थे कि घर ही टूटकर धराशायी हो गया।''

उसने कहा–''चल खाना खाते हैं।'' लेकिन मेरे पास बताने को बहुत कुछ था।

''वो भी एडजस्ट कर ही रहा था, अपने हिसाब से। जो मैं उस वक्त नहीं देख पा रही थी।

''तू पूछ न शादी के पहले कुछ नहीं पता लगा?'' वो केवल मुस्कुरा दी।

''शादी के पहले कुछ दिखता भी था, तो अनदेखा हो जाता था। टीन एज वाली पट्टी आंखों पर नहीं बांधी थी फिर भी।

''मुझे लगता था, शादी के बाद एक ठहराव आ जाएगा। एक किनारा मिल जाएगा, ऐसा कुछ भी नहीं हुआ। शादी के पहले मुझे लगता मैं अधूरी हूं। शादी से पूरी हो जाऊंगी। अब मैं एक पूरी औरत थी। जिसके साथ 'टंग आफ वार' हो रहा था। एक तरफ मां खींच रही थी, दूसरी तरफ पत्नी। कोई जीता भी नहीं, मैं पूरी की पूरी हार गई।''

सरिता उठकर पानी लाई। मैंने अपनी आंखें बंद कर लीं''वो लौटा नहीं। हमारा डिवोर्स हो रहा है। मेरे ही मांगने पर।'' वो खाना लाई, बोली–''चल कुछ खाते हैं, मिष्टी सो रही है मैं देख कर आई हूं। पालने में मीठी नींद में सोयी है हमारी एंजल।''

''उसका मिष्टी के साथ भी किस तरह का संबंध है, मैं आज तक नहीं समझ पाई।'' मैंने कहा– ''उसके जाने के बाद मैं रोई नहीं। कितना रोती? बहुत रो चुकी थी। वह अपने फ्लैट का खाली होने का ही इंतजार कर रहा था। अब अपने घर में अपने पूरे डैने फैलाकर पहले की तरह रह रहा है। क्या इसीलिए वो अपना फ्लैट नहीं बेच रहा था?

''वह हमसे मिलने आता था। फल फूल चाकलेट लेकर। रहना चाहता था लेकिन मुझे अटपटा लगता। वो शादी के पहले की तरह ही रहना चाहता था। 'छुट्टियां मनाने यहां चली आओ, वाली।' शादी के पहले भी मैं उसके यहां रहने नहीं जाती थी। वही आता था। यहां आराम था। सुन–वो कहता है मैं तुमसे अभी भी उतना ही प्यार करता हूं। बस पता नहीं क्यों, हम सब साथ में एक छत के नीचे नॉर्मली नहीं रह पा रहे थे। वहां आया बच्चों की देखभाल करती ही है, तुम यहां चली आया करो।

''मुझे यह सेटिंग बड़ी चीप लगी। मैंने भी उसे साफ साफ शब्दों में कह दिया–हम लड़ते झगड़ते, चिड़चिड़ाते एडजस्ट करते साथ साथ रहेंगे। नहीं तो पूरी तरह अलग रहेंगे। यह जो बीच का रास्ता तुमने ढूंढ़ा है, मैं इस पर नहीं चल सकती। अपने आप को अपनी ही नजरों में और नहीं गिरा सकती।

''सुन ना! लोग कहते हैं कि कलकत्ते की लड़कियां जादू जानती हैं। मेरा जादू बंबई में चला न बैंगलोर में। कलकत्ते की जादूगरनी पत्नी बनती है तो उसका जादू खत्म हो जाता है क्या? मैं उससे प्रेम करती थी। करती हूं और शायद...लेकिन इस तरह का समझौता कैसे कर लेती, तू ही बता...।''

रात के दो बज रहे थे। दोनों को सोना था ही नहीं। मैं बोली–''दरवाजे पर हमने दोनों का सिर्फ नाम टांगा था। 'सोनम विकास'। अब फिर पहले वाली नेमप्लेट टंग जाएगी। मेरा नाम स्कूल कालेज वाला, पुराने पासपोर्ट वाला, अपनी पहली टाईटल के साथ। आगे क्या होगा देखा जाएगा। दोनों बहनों की उम्र में तेरह साल का गैप है। अनिशा के पास उसके दादा का बहुत सारा पैसा है। उसके दादा उसे पढ़ने के लिए बाहर भेजना चाहते हैं। मिष्टी को मैं रखूंगी।

''वो बिना किसी जिम्मेदारी के मुझसे प्रेम करता था? करता है, लेकिन मुझे ऐसा प्यार नहीं चाहिए। मैंने डिवोर्स मांग लिया। ये देख, उसने इस पर साइन भी कर दिया है। अब मेरी एक साइन और एक बार फिर सब कुछ खत्म।'' खाली हाथ में डिवोर्स पेपर फड़फड़ा रहे थे। रात और गहरी और लंबी हो रही थी। दोनों की आंखों में नींद नहीं थी। हम दोनों चुपचाप अंधेरे को देख रही थीं।

बैंगलोर कलकत्ता बंबई

क्या मैं एबनार्मल हूं? हे भगवान! ये श्रेया भी मेरी कैसी सहेली है? न मैं उसकी कोई बात मानती, समझती हूं, न वो मेरी। हम हैं एकदम पक्की सहेली। मैडम जी, जब तब भाषण पिलाती रहती हैं।

आज सलोनी की सगाई के बाद सभी कॉफी पीने गए। मैं नहीं गई। श्रेया का फोन आया– ''अब बता तू कॉफी पीने क्यों नहीं आई। तुझे हमेशा घर जाने की जल्दी रहती है। घर जाकर ऐसा क्या नौ का तेरह का?''

''फाइव स्टार होटल में लंच लेकर फिर कॉफी के लिए जाना, मुझे कॉफी का इतना शौक नहीं है।''

''कॉफी के लिए कौन जाता है? कॉफी का शौक नहीं है महारानी को, दोस्तों के साथ की भी जरूरत नहीं है।''

''हां तुझे सब पता है। रविवार फैमिली डे होता है। फिर भी!''

''पता है तभी तो...।''

''मम्मी मिष्टी मेरा इंतजार कर रही थीं। हम तीनों ने साथ में बैठकर आइसक्रीम खायी। मैंने खाने के बाद उन्हें मैसेज कर दिया था कि अब आ रही हूं।''

''पार्टी में मैसेज भी चल रहा था। कूल!''

''सिर्फ एक बार।''

''नहीं नहीं दस बार कर लेती।''

''तुम तो ऐसे बोल रही हो जैसे मुझे दोस्तों का साथ अच्छा ही नहीं लगता हो। इतने दिन बाद सबसे मिलना हुआ, कितना अच्छा लग रहा था।''

''मितेष भी था। तुझे खास अच्छा लगना था। फिर भी पहले चली आई।'' फोन पर ढेर सारी फटकार सुनकर हंसते हुए मैंने उसे 'बाय' किया।''

अगले हफ्ते मिष्टी का जन्मदिन है। बारहवां बर्थ डे। सचमुच मेरी जान है वो। अभी मेरा पूरा फोकस उस पर ही होना चाहिए। इस उम्र में उसे बहुत एटेंशन की जरूरत है। मैं इतनी ही बड़ी थी जब मम्मी की शादी हुई थी। मम्मी और उनका रिश्ता निभा नहीं, क्यों? पक्का एक कारण मैं भी थी। मिष्टी उस समय दो साल की थी। जब भी मिष्टी का जन्मदिन आता है। उसका दूसरा जन्मदिन याद आ जाता है। उन दिनों मम्मी एकदम खिंची खिंची रहती थी। एक मशीन जैसी। हंसती भी तो लगता खिलौने में चाभी भरकर हंसाया गया है। मम्मी और मैंने, और कोई था भी नहीं, प्रोग्राम बनाया–मिष्टी के जन्मदिन पर उसे खूब घूमाएंगे। पार्क, मॉल, उसके लिए बहुत से खिलौने और सामान खरीदेंगे। उस दिन सुबह ही मिष्टी के पापा उसके लिए साइकिल और केक लेकर आ गए। मम्मी ने नाश्ता देते हुए कहा–''मुझे ऑफिस में जरूरी काम है। वे चली गईं। उन्होंने कहा–केक फ्रिज में रख दो। शाम को काटेंगे। मम्मी ने केक उसी समय कटवाया। शाम का टंटा उसी समय खत्म कर दिया। सारा प्रोग्राम धरा का धरा ही रह गया। दोपहर को मैंने फोन किया। मिष्टी को लेकर मैं ऑफिस गई। साथ में लंच। फिर बहुत सारी मस्ती।''मम्मी हमारे साथ मस्ती

कर रही थी लेकिन उनकी उदासी भी साफ नजर आ रही थी।

बंबई में भी मिष्टी ही दिमाग में रहती थी। वैसे भी बांबे वाले मुझे एकदम अपने नहीं लगते। दादी ने इस बार फिर कहा—''अब तुम बड़ी हो गई हो, तुम्हारा जहां मन चाहे रह सकती हो। जितने दिन चाहे। अब यह दिन गिन गिनकर रहना छोड़ो। तुम्हारा घर है। अपना भरा पूरा परिवार। आकर आराम से रहो।''

''हां दादी! अब मैं जहां चाहूं, वहां रह सकती हूं। जितने दिन चाहूं, उतने दिन। यहां और कम भी आऊं तो वैसे वाली मुश्किल नहीं है।''

''नहीं बेटा! ऐसा नहीं कहते।''

''पहले तुम कितने शौक से आकर रहती थी।'' (मुझे याद नहीं पड़ता मैं कभी वहां बहुत शौक से गई थी।)

''मैं छोटी थी। तुम्हीं तो कह रही हो, अब मैं बड़ी हो गई हूं। अपनी जिम्मेदारियां समझनी चाहिए।''

वे मुझसे और उलझना नहीं चाहतीं। कुछ कुछ अंदर ही अंदर बोलती हुई उठ गई।

पहले पहले दादी से सुना था—दो साल की थी जब उठाकर ले गई मेरी बच्ची को। देखने को आंखें तरस जाती थीं। मुझे अपना बचपन बैंगलोर से ही याद है। वहां के प्ले स्कूल, वहां के फ्रेंड्स, वहां का सब कुछ। शायद छह सात साल की थी, दादी लेने आई थी। वो लेने आती छोड़ने आती। उनके साथ बंबई जाती। तब दूसरा घर था। घर में केवल चार लोग थे। दादाजी, वो और चाचा वे तीनों आफिस चले जाते। मैं और दादी घर में रहते। दादी मुझे खूब घुमाती। बैंगलोर जाकर मम्मी से वहां की बात करनी नहीं थी, इसलिए दोस्तों से खूब बढ़ा चढ़ाकर बंबई शहर की बात करती। लेकिन आखिर कितनी बार। वो शौक पांच सात बार में पूरा हो गया। फिर वैसे भी मुझे समझ आ गई थी कि दोस्तों के बीच भी बंबई की बात नहीं करनी है। एक बार एक ने कह भी दिया था—''हां, हां, मालूम है। बंबई में तुम्हारे पापा रहते हैं। तुम्हारे मम्मी पापा का डिवोर्स हो गया है।'' वहां एक रूटीन की तरह जाना होने लगा। मैं बड़ी हो रही थी, दादी को लेने छोड़ने नहीं आना पड़ता था। एयर होस्टेस को हेंड ओवर कर दी जाती और पहुंच जाती बंबई, बैंगलोर। बंबई का घर बदली हुआ। घरवाले बदली हुए। चाची और 'वो', दोनों आ गए थे। चाचा की शादी में मैं गई थी। उनकी में नहीं गई। किसने यह तय किया, मालूम नहीं। दादी अब पहले से ज्यादा व्यस्त हो गई थी। ऐसे में दादाजी मेरा ध्यान रखते। अपने साथ आफिस ले जाते। मैं उनके कम्प्यूटर पर बैठती। डिजाइंस बनाती। उन्हें मेरी सभी डिसाइन्स बहोत पसंद आतीं। खूब ध्यान से देखते,खूब तारीफ करते : बैंगलोर में भी बदलाव आ रहे थे। उन अंकल का आना जाना बढ़ रहा था। मम्मी कुछ कुछ बदल रही थी।। अब मेरे बांबे जाने पर मम्मी उतनी मुरझाई सी नहीं दिखती थी। कभी कभी मुझे लगता, वो और खिली खिली लग रही है। अब समझ में आ रहा है, वो क्यों खिली खिली दिखती थी। उस समय समझ भी जाती तो क्या होता? खुश थोड़े ही होती। और जलती, और कुढ़ती : कलकत्ता बिल्कुल नहीं बदला था, इसलिए मुझे सबसे ज्यादा अपना लगता। दादी का फोन आता। मेरा प्रोग्राम अब मेरे से सीधे सेट हो जाता। मुझे बाद में ही मालूम हुआ कि पहले मेरे आने जाने के प्रोग्राम की सभी बातें दादाजी की पीए मिसेज चावला मम्मी से करती थी।

बंबई में इतने सारे लोग हैं। दादा दादी, चाचा चाची उनके दोनों बच्चे, 'वो' दोनों और उनकी बेटी आरोही। दादी बहुत लाड़ दिखाती। दादाजी ज्यादा बातें नहीं करते, उनकी चुप्पी बातें करती। खाने की टेबल पर मैं उनकी बगल की कुर्सी पर बैठती, दादी की कुर्सी पर। शायद दादाजी ने ही मेरी ऐसी आदत डाली थी। दादी को मुझसे नहीं, मेरे रिश्ते से प्रेम है। उनके बेटे की बेटी हूं इसलिए।

बाकी सबके लिए मैं मेहमान हूं। तीनों बच्चे मेरे से दस बारह साल छोटे। मुझे दीदी दीदी बुलाते हैं मुझे अच्छा लगता है। मुझे आरोही, उन दोनों कजिन जैसी ही लगती है।

जब हम लोग चारों भाई बहन होते मुझे वे अपने से लगते। जब पूरा परिवार होता सभी पराए से। वहां सात आठ दिन रहती, 'उनसे' एक दो बार ही मिलना होता। वे आफिस से सीधे क्लब चले जाते। हमारे खाने के बाद उनका खाना टेबल पर सजा दिया जाता। अपना खाना अपने आप लेते, खाते और सोने के कमरे में चले जाते। रविवार को सुबह जल्दी ही गोल्फ खेलने चले जाते। किसी किसी रविवार को सब साथ खाना खाने जाते। पूरे घर पर दादी का साम्राज्य फैला था। चाची चाचा से और 'उनसे' भी एक औपचारिकता थी, बस।

रात को खाने के बाद दादाजी अपनी स्टडी में अपनी कुर्सी पर बैठते अपनी पाईप मुंह में दबाये ऐनक चढ़ाये। उस समय उनकी पर्सनैलिटी अलग ही होती। एक दार्शनिक जैसी। दादाजी बोले– ''कहानी सुनना है? बचपन की सुनी कहानियां याद हैं क्या?''

मैं खुश–''दादाजी याद हैं। सभी याद हैं।''

''अच्छा! कौन सी सबसे ज्यादा इन्सपायर करती है?''

मेरे मुंह से निकला–''आपकी, जिस तरह आप राजस्थान से आए, अपने आपको यहां जमाया, अपना बिजनेस शुरू किया वो सब।''

हंसी अचानक जिस तरह आई, उसी तरह गायब हो गई और एकदम ढीले पड़ गए। अपना चश्मा खोलकर मेज पर रखा और हंस पड़े। एकदम फीकीवाली हंसी : ''मैंने बिजनेस को तो आगे बढ़ाया। मेरी जरूरत, मेरा नशा, मेरा जुनून था उस समय। समय का वही तकाजा था शायद। लेकिन मेरा घर पीछे छूट गया। फिर दोनों लड़के बड़े हुए। वे दौड़े, और जोर से दौड़े। मेरे से आगे निकल गए। घर वहीं खड़ा रहा। वे भी उसे साथ लेकर नहीं दौड़े। फासला और बढ़ गया।''

दादाजी एकदम अचानक से चुप हो गए। मैं उनके नजदीक खिसक आई। लग रहा था वे उस दौड़ को देख रहे हैं और चलते जा रहे हैं। मैंने अपने दोनों हाथ उनके हाथ में दे दिए और चुपचाप बैठी रही। उन्होंने मुझे, बड़ी होकर सुनु और समझु वाली कहानी सुनाई थी।

हम चारों भाई बहन बैठकर बात कर रहे थे। दादी पास आकर बैठ गई। बोली–आरोही, अनिशा दोनों बहनें एकदम एक जैसी हो। (मुझे ऐसा कभी नहीं लगा)

उन्होंने पूछा–''तेरी वो बहन, क्या नाम है उसका...?'' मिष्टी...वो कैसी दिखती है?''

मेरे फोन में उसकी सैकड़ों फोटो हैं। मुझे मालूम है दादी को दिखाऊंगी तो बड़े इंटररेस्ट से देखेगी। मैंने उन्हें नहीं दिखाई। जवाब जरूर दिया–''एकदम मेरी जैसी है। नानी ने बताया है–हम मां जायी बहनें हैं।''

दादी का चेहरा एकदम लटक गया। तीन दिनों तक लटका रहा। जब वापस आ रही थी उन्होंने मुझे हमेशा की तरह ही विदा किया।

दादी कहती–''तुम 'वो' 'वो' क्यों कहती हो, मम्मी पापा बोला करो। वे तुम्हें बहुत प्यार करते हैं। तुम उनकी बेटी हो। तुम भी थोड़ा अपनापन लाओ। एक हाथ से ताली नहीं बजती।''

''देखो दादी मुझे अपनापन तो आता है, पर ताली बजाना, तुमसे सीख रही हूं।''

आरोही की मम्मी, जब शादी करके आई, किसी से बात नहीं करती थी। मुझसे एकदम नहीं। आरोही के होने के बाद उनका मुंह खुला। आरोही से खेलने के समय थोड़ी बहुत बातचीत शुरू हुई। बाद में उन्होंने मुझे करीब लाने की बहुत कोशिश की। मुझे घूमने, शापिंग जाने के लिए पूछती। ना करने पर खुद जाकर सामान ला देती। खास मेरे लिए केक बनाती। लेकिन मैंने अपनी दीवार बनाए रखी। आज तक। हारकर उनकी तरफ से भी सब कम हो गया। वो दादाजी के साथ ऑफिस जाती।

उनका चैंबर दादाजी के चैंबर के पासवाला ही था। दो तीन बजे, आरोही के स्कूल से आने के समय तक आ जाती।

मैंने अपने भीतर एक चीज नोटिस की। जाने अनजाने, जब तब, चाहे अनचाहे मैं अपनी मम्मी से उनकी तुलना करने लगती थी।

कलकत्ते में भी नाना नानी, मामा मामी और पिंटू। अंजु मासी भी अपने बच्चों के साथ आ जाती। कलकत्ता, बैंगलोर मिल जाता। मुझे वहां बहुत अच्छा लगता है। सभी दोस्त कहते–कलकत्ते में घूमने का कुछ भी नहीं। लेकिन मेरे पास वहां के लिए एक लंबी लिस्ट होती। यहां यहां तो जाना ही है। ये ये खाना ही है; वगैरह वगैरह। नानी कुछ डिशेज ऐसी बनाती जो दुनिया में कोई नहीं बना सकता। मम्मी भी अच्छा खाना बनाती है लेकिन नानी उसमें मेरे लिए खास प्यार घोलती है।

मामा गाड़ी चलाते। गाड़ी में जितने ज्यादा से ज्यादा लोग ठूंसे जाते, उसकी अटकल आ गई थी हमें। लाउड म्यूजिक हमें और अधिक ठूंस देता। कलकत्ते में जितने भरे हुए बैंगलोर में उतने ही खाली।

बंबई में छोटी नानी रहती है। एकदम नानी जैसी। मम्मी से पांच साल ही बड़ी। मम्मी की एकदम खास। एकदम नजदीक। मासी सहेली का मिश्रण। मैं जब भी बंबई जाती छोटी नानी मिलने आती। घर के अंदर कभी नहीं आई। मैं ही जाती। दो चार घंटे साथ रह लेते और बस। सरिता मासी के साथ भी वैसा ही था। इन दोनों से, इनके परिवार से मम्मी का मिलना बैंगलोर या कलकत्ता में ही होता। मम्मी बंबई कभी गई ही नहीं। लक्ष्मणरेखा खींच रखी थी। नानाजी के चेकअप के लिए नाना नानी बंबई गए। मम्मी का बहुत मन था, उस समय उनसे मिलने का। लेकिन मम्मी उस शहर न जा सकी। छोटी नानी की बेटी की शादी बंबई में होनी तय हुई। मम्मी को स्ट्रेस शुरू। शादी के दिन गई, एयरपोर्ट पर चेहरा एकदम सूख गया था। बीस साल बाद आई थी उस शहर में। हम शादी के तुरंत बाद लौट गए।

मैं भी कहती–''मुझे बैंगलोर मेरा शहर लगता है। कलकत्ता मेरा घर। बंबई बेगाना।'' श्रेया बोली थी–''वहां रणवीर कपूर के साथ डेट पर जा आएगी तो भी तुझे बंबई बेगाना लगेगा।''

गर्मी की छुट्टियों में बंबई जाना नहीं हुआ। मिष्टी को बुखार हो गया था। दादी का फोन आया–''राखी पर आ जाओ। तीन बहनों के बीच एक भाई है। भाई को राखी बांध जाओ।''

छोटी नानी ने भी कहा–बारिश में लोनावाला दो दिन चलेंगे। सचमुच बारिश में लोनावाला झर झर झर रहा था। घाट पर घूम घूमकर चढ़ना, रास्ते में झरने ही झरने। हरा और सफेद रंग पूरे शहर को सजा रहा था। बहुत सुंदर। घाट पर गाड़ी गोल गोल घूमते घूमते चढ़ती। आगे पीछे की गाड़ियां ऊपर नीचे घूमती दिखतीं।

हमारे साथ सौरभ भी था। छोटी नानी की ननद का बेटा। उसका परिवार अकोला में रहता था। छोटी नानी का लाडला बेटा। उसका बंबई रोज का आना जाना। होटल की बालकनी से नाना ने दिखाया–''वो सामने वाला पहाड़ हमारा है।''

''अच्छा पहाड़ भी हमारा तुम्हारा।''

''हां! जैसे जमीन, वैसे ही पहाड़, वो पहाड़ हमने खरीदा है।''

''पहाड़ भी किसी की जायदाद होते हैं।''

''जैसे यह होटल पहाड़ पर है, पहले पहाड़ खरीदा गया होगा। तराशा भी गया होगा। सड़क बनाई गई होगी। फिर होटल।''

दूसरे दिन हम उस पहाड़ पर घूमने गए। वहां बादल भी घूमने आते हैं। पहाड़ों पर सुस्ताने। फिर बरस कर पक्षी की तरह उड़ जाते हैं। छोटी नानी नहीं गई। नाना, सौरभ, मिताली (छोटी नानी की बेटी)

और मैं। साथ में एक बड़ा सा छाता लेकर पांडे जी। 'छाता हर समय रखना होता है।' पांडे जी ने बताया। मुझे हंसी आ गई। पहाड़ों पर छाते भी पहाड़ की तरह बड़े बड़े। चार लोग एक छाते में।

उस दिन पहली बार मुझे सौरभ का साथ अच्छा लगा। रास्ता था नहीं। यात्रा कठिन। वह हम तीनों को संभाल रहा था। नानाजी हिम्मत वाले हैं, मानना पड़ेगा—मैं बोल पड़ती। उस रात मैं, मिताली और सौरभ देर तक साथ रहे। बहुत बहुत बातें हुईं। वह बिजनेस की बातें भी बड़ी सहजता से बता रहा था। अभी दो साल हुए, अपने पिता का पूरा कारोबार संभाल रहा है। वह पहाड़ नानाजी और उसके पिताजी दोनों का है। वे आधा पहाड़ बेचने आए हैं। उसे एक फैक्टरी लगानी है। उस दिन मुझे पता चला पहाड़ कैसे नापे जाते हैं।

"जब जमीन या संपत्ति इन्वेस्टमेंट के लिए खरीदी जाती है। उस पर कुछ बन जाए तो ठीक, वरना बेचने से भी फायदा होता ही है।" थोड़ा बहुत मिलना, बातचीत पहले भी कई बार हुई थी। आज मैं इंप्रेस हो रही थी।

लेकिन उसके बाद उसके मैसेज आए। मैंने एक 'स्माइली' यानी कि 'फुलस्टाप' जवाब में भेजा। श्रेया ठीक कहती है, सचमुच मैं किसी भी नए रिश्ते के लिए तैयार नहीं हूं। सौरभ मेरे बारे में सब कुछ जानता है। जानता मितेश भी है, घर पर आया है। मम्मी, मिष्टी से मिला है। सौरभ छोटी नानी के रिश्तेदार की तरह जानता है। मितेष दोस्त की माफिक। मुझे हंसी आती है जब श्रेया कहती हैं, तुझे कुछ दिखाई नहीं देता। मुझे सब समझ में आता है—मितेष भी, सौरभ भी। लेकिन मेरा रिमोट मैंने मेरे हाथ में कसकर पकड़ा है, सौरभ हो या मितेष। उसकी बटन कोई नहीं छू सकता।

सलोनी की शादी बड़े धूमधाम से हुई। सहेली की शादी का मजा ही कुछ और है। कितने ऐसे दोस्तों से भी मिलना हो जाता है। जिनसे मिले बहुत बहुत साल हो गए हों। मुझे मेहंदी लगवाने का बहुत शौक है। मेहंदी वाले दिन अंताक्षरी भी थी। आज मुझे भी बहुत कमेंट्स मिले। कोई कुछ भी कितना भी कहे कि अपने को दूसरे के दर्पण में नहीं देखना चाहिए। लेकिन जब अच्छे अच्छे कमेंट्स मिलते हैं तो अच्छा लगता ही है। मम्मी ने अपनी साड़ी पहनाई, बैंगनी रंग की लाल जरी बॉर्डर वाली। कान में छोटे छोटे साउथ वाले झुमके। बाल मैंने पार्लर में जाकर बनवाए थे, खुले एकदम स्ट्रेट। तैयार होने पर वो मुझे चुपचाप निहार रही थी। निहारे जा रही थी। फिर फोटो खींची। मैनें कहा "क्या देख रही हैं आपसे ज्यादा सुंदर नहीं हूं।"

सलोनी के पापा नहीं हैं। जब उनका देहांत हुआ वह बहुत छोटी थी। उससे छोटी बहन भी है। उसकी मम्मी ने दूसरी शादी नहीं की। अपनी जिंदगी बेटियों के नाम कर दी। मेरी मम्मी ने शादी की तब मैं अकेली थी। बाद में उन्होंने भी जीवन हमारे नाम लिख दिया।

एक बार दादी कह रही थी—"तुम हमारी सबसे बड़ी पोती हो। तुम्हारी ऐसी शादी करेंगे कि दुनिया देखती रह जाएगी।"

मैंने भी कह दिया—"मम्मी और मिष्टी को छोड़कर।"

दादी झट से बोली—"बेटा कन्यादान तुम्हारे मम्मी पापा ही करेंगे। कन्यादान मम्मी पापा मिलकर ही करते हैं।"

मैं जानती हूं मम्मी ऐसा कभी नहीं करेगी। मम्मी बंबई शहर, यहां के लोगों की बात से भी मीलों दूर रहती है, वो 'उनके' साथ बैठेगी। असंभव!

सलोनी का कन्यादान उसकी मम्मी ने अकेले किया। वहां मालूम पड़ा हमारे हिंदू शास्त्र में अकेली मां कन्यादान नहीं दे सकती। जबकि आर्य समाज में ऐसा कोई नियम नहीं है। मैंने उसी समय तय किया कि मैं कोर्ट मैरिज करूंगी या आर्य समाज के नियम से शादी करूंगी। वैसे भी मुझे शादी पर ज्यादा खर्च नहीं करना है। पैसे मिष्टी के लिए बचाकर रखूंगी।

शादी से आई। मिष्टी मेरा इंतजार ही कर रही थी। आते ही मैडम बोली—''अब दीदी की शादी का नंबर है। उनकी सभी दोस्तों की शादियां हो रही हैं।''

मम्मी भी बोलने को तैयार ही थी—''एकदम सही उम्र है। न छोटी, न बड़ी।''

''दीदी, आपके लिए लड़का ढूंढ़ा जाए?''

''आप ढूंढ़ेंगी मेरे लिए लड़का आंटीजी!''

''आपके बहुत से काम करती हूं। यह भी कर दूंगी। वैसे ढूंढ़ रखा हो तो वो भी बताओ, जल्दी से सारा इंतजाम कर दूंगी।'' दादी अम्मा की तरह मिष्टी बोल रही थी।

मैंने कहा—''देखो! मम्मी!''

मम्मी को देखा। वो हमारे साथ नहीं थी।

मिष्टी एकदम बच्ची है, जब बच्ची थी, तब बड़ों जैसी बातें समझानी पड़ी थी। मुझे ठीक से याद है, मैं बंबई जा रही थी। मिष्टी साथ में जाने की जिद कर रही थी। मम्मी ने उसे बताया था—बंबई में दीदी के रिश्तेदार रहते हैं। वह उनके पास जा रही है, हम वहां नहीं जाएंगी। वे हमारे कुछ नहीं लगते। एक गहरी चोट मुझे भी लगी थी। मिष्टी ने पूछा—''कौन रिश्तेदार? वो हमारे रिश्तेदार क्यों नहीं हैं?'' मम्मी के मुंह से शायद निकल गया था—''तुम्हारे भी हैं वैसे वाले रिश्तेदार। अहमदाबाद में।'' यह खबर है कि वो अहमदाबाद चले गए। अपने बड़े से घर, अपने परिवार, अपने बिजनेस के पास। उन्होंने पलटकर कभी किसी की खबर नहीं ली। मम्मी ने कहा—''तुम भी जब बड़ी हो जाओगी। अपने रिश्तेदारों के पास जाना।'' यह शुरुआत थी। धीरे धीरे मिष्टी को सारे रिश्ते समझ आने लगे थे। उसके पास नए नए सवाल होते थे। एक अच्छी बात यह थी कि वे सवाल मेरे से पूछे जाते। मम्मी से नहीं। अगर वो मम्मी से पूछे जाते उदास मम्मी को और उदास कर देते। मुझे यह विश्वास हो गया था कि वो मेरी सब बात मानती और समझती है। मैंने उससे कभी झूठ नहीं कहा। हां सच को सजाया धजाया जरूर कि वह बदसूरत कम दिखे।

हम दोनों का रिश्ता केवल दो बहनों का रिश्ता नहीं है। वैसे भी बहनों का रिश्ता बहुत नजदीकी होता है। हमारे में उम्र का फसला था। उसके ऊपर मेरी ममता जैसी चीज उमड़ती थी। वो भी मुझे अपना भगवान मानती। मेरी वो जिंदगी है। शादी करके मैं कितना अपने आपको उससे दूर कर पाऊंगी, मालूम नहीं। वो और थोड़ी बड़ी हो जाएगी तो अपने आप मेरे ऊपर उसकी निर्भरता कम हो जाएगी। अपने आप में बिजी भी। जब इस उम्र में मैं थी, मम्मी की शादी हुई थी, उस समय मम्मी मुझे कुछ भी बताती, समझाती, मैं बिल्कुल भी नहीं सुनती समझती थी। मेरे अंदर यह बात पालथी मारे बैठी हुई थी कि मुझे जो भी जानना समझना है, अपने ही समझूंगी। उनकी बातें (मम्मी की) बिल्कुल नहीं सुननी और माननी। सिर्फ नानी की बात मैं सुन लेती थी। मान भी लेती थी।

श्रेया का फोन आया। आज फ्री है। मैं आती हूं। आंटी और मिष्टी से भी मिले बहुत दिन हो गए। उसे मुझसे बहुत सी बातें करनी थीं। लेकिन आते ही पहले मैंने पूछा—''बता तो, तू मुझे विचित्र प्राणी क्यों कहती है?''

''बिल्कुल गॉन केस, तुम तीनों आपस में इतने गुथे हुए हो कि नया रिश्ता बन ही नहीं सकता। तू अपने ककून से बाहर निकल, अनिशा।''

''विदेश जाकर दो साल पढ़ आई, ककून से बाहर निकलना बाकी रह गया।''

''कौन सा वहां से एक राजकुमार साथ लाई है कि न कहूं। अच्छा बता तुझे मितेष की आंखों में कुछ नहीं दिखता?''

''उसकी आंखों में क्या देखूं, मैं आंख की डाक्टर हूं क्या?''

''मजाक नहीं अनिशा, आज मैं सीरियस हूं। मैंने उसकी आंखों में तेरे लिए 'खास' देखा है।

आवाज में सुना है। हजारों बार सूंघा भी है। तुझसे हमारी तरह धमाल नहीं करता, अलग तरह से छूता भी है।''

''बस तूने चखा नहीं।''

''वो तेरे लिए छोड़ा है।''

''चल कॉफी पी।''

''बात को टालो मत। मितेष से तेरी अच्छी पटती है। तू उसे बात करने का मौका ही नहीं देती। मम्मी, मिष्टी, मितेष, म म म थ्री एम इन योर लाइफ। अरे वाह क्या जुड़ा है। तेरी उससे अच्छी पट जाएगी।''

''मैं 'म' नहीं हूं।''

''अच्छा है! एक राशि वाले पति पत्नी में बहुत झगड़े होते हैं।''

''तुम दोनों एक राशि के नहीं हो। इसलिए पांच सालों से एक से ही चिपकी पड़ी हो।''

''वही गलती हो गई। द्रोपदी की तरह पांच साल के पांच होते, फिर एक को 'चूज' करती।''

''अभी देर नहीं हुई है।''

मम्मी ने बाहर से आवाज लगाई–''चलो खाना खा लो।''

''आंटी अभी अभी कॉफी पी है।''

लेकिन मैंने कहा–''चल खाना खाते हैं।'' मैं और इस विषय पर बात करना नहीं चाहती थी। इसलिए मजाक में उड़ा भी रही थी। श्रेया सही कह रही है, यह जानती हूं मैं। फिर भी...।

खाना खाते समय मुझे सौरभ की याद आई। मैंने श्रेया को उसके बारे में बताया। वो चहक उठी–''अरे वाह! दो दो। अब तू क्या करेगी? किसे 'चूज' करेगी?''

''ऐसी कोई बात नहीं है। मैं उससे सिर्फ मिली थी, वही बता रही हूं।''

सचमुच कोई बात थी नहीं। कोई बात बन भी नहीं सकती। उसके लिए पहले मुझे तैयार होना होगा।

यह पक्की बात है, मम्मी ने मुझे बांध नहीं रखा है, मैं ही बंधी हूं। थोड़ा भी ढीला छोड़ना नहीं चाहती। उनके जाने के बाद मम्मी को उदास देखती थी तो सोचती कि वो कुछ दिनों में ठीक हो जाएगी। मैं बहुत खुश थी, जैसे पूरी दुनिया मिल गई हो। मैं सोचती–जैसे पहले मैं और मम्मी खुशी खुशी रहते थे, अब मिष्टी भी है और मजा है। तीनों आराम से रहेंगे। थोड़े दिनों बाद ही (शायद मैं बड़ी हो गई थी) हां, थोड़े दिनों बाद ही मैं देखने लगी थी मेरी खुशी से बड़ा मम्मी का दुख है। मैं उस बात पर खुश हो ही नहीं सकती, जिससे मेरी मम्मी खुश न हो। वो अपनी तकलीफ अपनी बेटी से छुपाती रही। मम्मी ने समभाव का, संतोष का मुखौटा पहना है, मैं इस भुलावे में नहीं आ सकती। मैं सीख गई थी कि मुझे कहां और कब यह दिखाना है कि मैं कुछ नहीं समझ पा रही हूं। मम्मी ने वो मुखौटा पहना है अपने लिए, अपने आप को विश्वास दिलाने के लिए कि उन्हें कुछ फर्क नहीं पड़ रहा है और हम दोनों को दिखाने के लिए भी कि वो खुश है। जबकि उन्हें नकलीपन से बहुत चिढ़ है। कोई थोड़ी सी भी बनावटी बातें करे या कोई दिखावा करे तो उन्हें वो ड्रामाबाज इंसान बिल्कुल नहीं सुहाता। उनका मुखौटा उनकी मजबूरी है और अब आदत भी।

दादी को हमारी सब बात कैसे मालूम होती थी, मैं आज तक जान नहीं पाई। ऐसा लगता है कि उन्होंने एक हिडन कैमरा लगा रखा है। सब जान जाती है। उन्होंने बड़े ही अलग अंदाज से पूछा– ''वो तुम्हारा अंकल मिष्टी का पापा भी अलग हो गया? तुम्हारी मम्मी की उससे भी बनी नहीं?''

''आपको सब खबर है, फिर और मुझसे भी जानना चाहती हैं। सब अपना अपना संभालें तो ही अच्छा है।''

हमेशा की तरह दादी अंदर ही अंदर कुछ कुछ बोलते हुए चली गई। इतना जरूर समझ में आया—यहां सब संभला है वहां ही...

मम्मी ने मुझे कभी भी बंबई वालों की बात नहीं करके यह सिखा दिया था कि मुझे अपने घर की कोई बात वहां नहीं करनी है।

श्रेया और मैं बहुत दिनों बाद मिले। कभी कभी जिंदगी कितनी व्यस्त हो जाती है। यह भी नहीं समझ पाते कि हमारा समय कहां खत्म हो रहा है। श्रेया बोली—तू ठीक कहती है अनिशा। तुम्हारे पीछे से मैं आंटी से मिलने जाती थी। वो वैसे ही व्यस्त, ठीकठाक दिखती थी। उन्हें मुखौटों की आदत हो गई है।

''हां जब बाहर जाने की बात हुई, मैंने झट से ऐसे ही कह दिया मैं आप दोनों को अकेले छोड़कर नहीं जाने वाली।''

''जब ससुराल जाएगी तब?'' मम्मी ने भी वैसे ही कह दिया।

मैं चुप। अच्छा हुआ मैं चुप रही। अगर मैं उस समय कह देती कि मुझे ससुराल नहीं जाना शादी नहीं करनी, आपके पास रहना है तो दो कारण जरूर निकालती। पहला उनकी शादी देखकर मुझे शादी से नफरत हुई है, दूसरा दोनों अकेली रह जाएंगी। दोनों ही हालात में वे अपने आपको जिम्मेदार मानकर दुखी होती।

''वैसे भी श्रेया शादी मैं जरूर करूंगी। मुझे अधूरी जिंदगी नहीं चाहिए। मम्मी को दिन के चौबीस घंटे कम पड़ते हैं। अपना काम, घर, हमारी जिम्मेदारी और लिखना पढ़ना। फिर भी उनका खाली समय एकदम से खाली हो जाता है। उसे कोई भी नहीं भर सकता। हम भी नहीं। हम तीनों इस तरह सूखे सूखे क्यों रहें? जैसे हमारे जाने से नानी हरी हरी हो जाती है। मम्मी को भी मैं उन खुशियों से भरना चाहती हूं। जिम्मेदारियों से भागना भगोड़ापन है। जिनमें सपने सजाने की हिम्मत नहीं वे कमजोर होते हैं। मैं कमजोर नहीं।''

श्रेया को आज मैं वो सब कुछ बोल देना चाह रही थी जो रात दिन मेरे अंदर चल रहा था। मैं उसे बाहर उड़ेल कर खुद भी सुनना चाहती थी शायद।

''देख, सुन, जब मिष्टी बड़ी होगी उसके सामने भी वही सब खड़ा होगा—दोनों को अकेले कैसे छोड़ दूं। मेरी दीदी ने मेरे लिए शादी नहीं की। अब मैं कैसे उन्हें छोड़ूं? उसके अंदर भी यह 'ना' वाली सोच पनपेगी। जो सही नहीं है। मैं अपनी जिंदगी जीऊंगी तभी मिष्टी भी अपना नार्मल जीवन जीएगी। उसे अपना स्वतंत्र जीवन मिलेगा। हम तीनों तभी खुश रहेंगे।

''वो सब बात तो है ही। सबसे मेन बात मैं अपनी जिंदगी जीना चाहती हूं। अपने हिसाब से जीऊंगी। अलग रहकर भी अपने परिवार की देखभाल कर सकती हूं। क्यों नहीं कर सकती, बता!

''मुझे अपना बच्चा चाहिए। अपना संसार। श्रेया! मैं अपने घर का सुंदर सा सपना देखने लगी हूं। तू डर मत। मैं शादी करूंगी। वह मितेष हो सौरभ हो या कोई और...''

श्रेया की आंखें चमकने लगी थीं। चेहरे पर एक मुस्कुराहट। वो मुझसे चिपक कर बोली—''आज मैं बहुत खुश हूं। बहुत...। बहुत...। बहुत...''

बैंगलोर बंबई यूएस

तीन दिन हुए 'दी' आई हुई है। जब वह आती है, शहर बदल जाता है। मौसम बदल जाता है। आज सुबह उठते ही—''मिट्टू! मेल देख। तुझे कोई एक्साइटमेंट ही नहीं है।''

''देख रही हूं दी, देख रही हूं। पहले मुझे सामान लाने की लिस्ट बनाने दो। कल मैं अच्छी अच्छी

डिश बनाऊंगी। 'जू' आ रहे हैं।''

''तू उनके लिए ही बना। मेरे लिए तो कभी नहीं बनाती।''

''ये तो सच है। आपको मालूम है, फिर भी बोलती है।''

''वो ही बार बार मैसेज कर रहे हैं। यूनिवर्सिटी का क्या हुआ। आज रिजल्ट निकलने वाला था।''

''ओ दी! जू से कह दो कि ये बात कभी नहीं भूलें कि मिष्टी किसी परीक्षा में फेल नहीं हो सकती। मिष्टी वहां एडमिशन लेगी तो वे भाग्यशाली होंगे। उन्हें एक कोहिनूर हीरा मिलेगा।'' मैंने अपने हाथों से बड़ा सा कोहिनूर हीरा दिखा दिया।

''तेरा नाम मिट्ठू ठीक ही है। अपने मुंह मियां मिट्ठू।''

''मैं जू से कहे देती हूं, कल उनके आने के बाद ही वो मेल देखा जाएगा।''

''मुझे आज ही जानना है। मम्मी आप भी कुछ कहो।'' दी ने मम्मी को आवाज लगाई।

''एक काम कर मिष्टी, मेल बिना देखे अपने जीजू को फारवर्ड कर दे।''

मम्मी की बात मानी गई। जू का फोन आया—''चलो मिष्टी मैम, अब जाने की तैयारी करो।''

मैं खुश हुई भी, नहीं भी हुई। जाने के लिए मैं राजी थी भी, नहीं भी थी। पढ़ना है यह पक्का था। मम्मी को अकेले छोड़कर जाना है, वही उधेड़बुन में थी। इसी के बीच सब कुछ हो भी गया। जवाब भी आ ही गया। अब जाना था ही, फिर क्यों न राजी राजी जाऊं। सभी खुश हैं मैं भी खुश हो जाऊं। वही सही है।

''दी, आपको मालूम है मेरे पापा भी आजकल वहीं रहते हैं।'' मैंने पूछा।

''हां! तू उनसे आज तक कभी मिली नहीं, फिर भी इस नाम से बुलाती है, मैं उन्हें आज तक कभी इस तरह नहीं बुला पायी।''—ऐसा दी के मुंह से फिसल गया था।

दी...को सब बात मालूम होती है। मॉम उनसे सभी बातें करती हैं। मैं छोटी हूं, वो बड़ी है, समझदार है, इसलिए।

मैंने उनकी फोटो देखी है। मैं उनकी गोदी में हूं। क्या उनके पास हमारी फोटो है? दी के पास से मैंने वह फोटो चुरा ली है। अपने पास रखी है। मेरे पहले जन्मदिन की फोटो। हम चारों की। एक हैपी कंपलीट फैमिली। दी ने बताया, उन्होंने कम्प्यूटर से उनकी सभी फोटो डिलीट कर दी है। बस मेरे जन्मदिन की एक दो रख ली। क्या मम्मी के पास उनकी फोटो है?

दीदी भी कभी मुझे ऐसे रखती है जैसे मैं उनसे बहुत छोटी हूं। एकदम बच्ची। कभी ऐसे जैसे मैं उनके बराबर की हूं।

एक दिन दी ने कहा—''तेरे पापा ने दूसरी शादी नहीं की। उन्होंने कर ली।''

''हां दी। वे किसी के साथ रह ही नहीं सकते। कुछ लोग केवल अपने साथ ही रह सकते हैं। उन्होंने दूसरी शादी कर ली तो क्या हुआ। उस घर में तुम्हारा आना जाना है। घर, घर के लोग तुम्हारे हैं। मेरा कोई नहीं।''

''वो घर मेरा नहीं। वो तीनों जैसे तुझे लगते हैं, वैसे ही मुझे भी। उससे ज्यादा कुछ नहीं।''

हम दोनों के पापा की फोटो देखकर मैं दोनों में तुलना कर बैठती। दोनों ही हैंडसम, पढ़े लिखे। मम्मी भी वैसी ही स्मार्ट पढ़ी लिखी। फिर भी...। क्यों...?

वे अहमदाबाद का घर, अपना परिवार छोड़कर अकेले बैंगलोर रहने आए। शादी की। फिर अकेले। मम्मी से, हमसे प्रेम रहा भी हो शायद। कुछ लोग परिवार के लिए बने ही नहीं होते। वापस अपने घर परिवार के पास गए। फिर छोड़छाड़ कर अमेरिका। फिर अकेले। दी कहती—''जब वे गए, मैं कितना समझ पाई उन्हें। इसलिए ज्यादा कुछ बता पाना मुश्किल है। एक बात और, मेरी आज तक

मम्मी से बंबई वालों के बारे में भी कभी कोई बात नहीं हुई। उनके बारे में तो सवाल ही नहीं उठता।''

''दी, मैं भी मम्मी से कभी भी वो वाली बात नहीं करूंगी। हमारी मम्मी बहुत समझदार हैं, उन्हें जब जो बताना होगा, बता देंगी।''

मेरी मम्मी दुनिया की सबसे अच्छी मम्मी हैं। बेस्ट वुमेन हैं फिर भी ...सभी उनकी इतनी बड़ाई करते हैं। कितना मीठा बोलती हैं, हंसती रहती हैं। उनसे मिलते ही सभी उनके साथ कम्फर्ट जोन में आ जाते हैं। घर कितना सुंदर से रखती हैं। संभालती हैं। वगैरह वगैरह। फिर भी।

दी, जू और मॉम, तीनों मेरे जाने की तैयारी में लगे हैं। मम्मी हमेशा दी से कहतीं–''तूने इसे सर चढ़ा रखा है।'' मम्मी एकदम गलत कहती थी। इन तीनों ने मुझे सर चढ़ाया है। अब मुझे अकेले ही जाना है। ठीक है, मॉम साथ जा रही हैं। दी के साथ नहीं गई थीं। बांबे वालों के दोस्त, रिश्तेदार काफी लोग वहां थे। दी को संभालने के लिए। दी ने इस बार मॉम का प्रोग्राम बनाया। उनसे कहा–''बच्ची है अकेले जाने लायक नहीं है।'' मुझसे कहा–''इस बहाने मम्मी का घूमना हो जाएगा। हम वहां एक स्टूडियो एपार्टमेंट लेकर रहेंगे।

राघव और मेरा एक कॉलेज में एडमिशन नहीं हुआ। उसका कॉलेज मेरे कॉलेज से चार घंटे दूर है। दी कहती है–''अच्छा हुआ। दोनों मन लगाकर पढ़ो, दूर रहकर दोस्ती पक्की, अच्छी और सही होती है।'' दीदी सब जानती है।

तीनों बैठकर बातें कर रहे हैं वहां का प्रोग्राम बना रहे हैं। मैं मजे से रोकिंग चेयर पर बैठी डोल डोल करती, पूरे घर को देख रही हूं। दिमाग भी डोल रहा है लगातार। मेरे जाने के बाद घर कैसा दिखेगा। पूरा बदला बदला। मेरा कमरा वैसा का वैसा। रोज सुबह मम्मी मुझे जगाती हैं, एयरकंडीशनर ऑफ करती हैं। खिड़कियां खोलती हैं, अब खिड़कियां बंद ही रहेंगी। खाली कमरों में खुली खिड़कियों का क्या काम। चलते चलते इधर उधर बिखरी चीजें उठानी नहीं पड़ेंगी। मम्मी मेरी सभी चीजों को सजाए रखेंगी। मेरे कमरे में जब मैं होती हूं तो म्यूजिक जोर से बजता ही रहता है। अब कमरा मौन। उसे पक्का बुद्धत्व प्राप्त हो जाएगा।

ड्राइंग रूम में सोफा पर ही एक तरफ पड़ा होता है मेरा ईयरफोन। एक टेबल पर किताब दूसरी पर मैगजीन उसके नीचे आधे दबे पेपर फड़फड़ाते हुए। जिस सोफा पर बैठती हूं चारों सोफा के कुशन वहीं आकर छितर जाते हैं। पता नहीं कैसे? उन्हीं के बीच में मेरा आई पैड। वे अपनी जगह पर ही सजे रहेंगे। मम्मी को तो आदत है सोफा से उठेंगी, उनके पीछे वाला कुशन थोड़ा सा टेढ़ा हो तो उठते हीउसे सीधा करेगी। कोई सामान, एक किताब, पत्रिका कुछ भी अपनी जगह से टस से मस नहीं होती। पूरा ड्राइंग रूम चौबीसो घंटे एक जैसा दिखेगा। बोरिंग, कमरे में उनका सामान कम मेरा ज्यादा दिखता है। मेरे कपड़े उनके पलंग पर। अपने कमरे में जाएंगी, फैले हुए कपड़े उठाते हुए कहती हैं–हे भगवान! इस लड़की का क्या होगा? अब मैं कहती हूं इस कमरे का क्या होगा। बेचारा... पता नहीं क्यों मैं अपना ज्यादा समय, ज्यादा काम उनके कमरे में ही करती हूं। उनकी ड्रेसिंग टेबल खाली खाली, जची जची। मेरे पास इतना सामान होता है कि एक चीज निकालो, उसके बगल वाली दो चीजें गिर पड़ती हैं। शॉपिंग मैं नहीं करती। दी और जू हैं ना, वे ही लाते रहते हैं। और किचन, वो तो एकदम चुपचाप। फ्रिज खाली खाली। रात को सूप, खिचड़ी, दलिया कोई एक। नाश्ता और भी सुंदर एक टोस्ट, थोड़ा सा दूध, कार्नफ्लैक्स और क्या? बस। मम्मी का खाने का डब्बा उससे भी सुंदर। इसीलिए वो इतनी यंग दिखती हैं। हे भगवान! मेरे लिए ही इस घर में छप्पन तरह की चीजें बनती हैं। मम्मी डाइनिंग टेबल पर अकेली नहीं खाएंगी। मालती दी के चार बार पूछने पर बोलेंगी–''यहीं ला दे वहां अकेले अच्छा नहीं लगता।''

तेरा क्या होगा मालती दी? जबान में जंग लग जाएगी। पूरे शरीर में जंग लग जाएगी। जब सामान

फैलेगा ही नहीं तो वो बड़ बड़, बड़बड़ाते हुए क्या करेगी। घर साफ सुथरा सजा धजा। रोज हर समय एक सा। लेकिन वो घर क्या घर जैसा लगेगा? जिसमें सुई गिरने की आवाज भी गूंज उठे। हर रविवार को हम क्लब स्वीमिंग के लिए जाते हैं। उसके बाद लंच वहीं खाते हैं। मम्मी स्वीमिंग बंद न भी करें शायद, लंच घर पर ही लेंगी।

सुबह मम्मी के सारे काम जल्दी पूरे हो जाएंगे। कोई डिस्टर्ब करने वाला नहीं रहेगा। शायद कभी कभी शाम को विजयलक्ष्मी आंटी चाय पीने आने लगे। रोज शाम को उनके घर पर मेडिटेशन और फिर दोनों का शेशन होता है। शायद वह थोड़ा लंबा चले। अंकल के जाने के बाद मम्मी और आंटी के संबंध और भी गाढ़े हो गए हैं। आंटी कहती है–''मिष्टी तुम आराम से जाओ। मन लगाकर पढ़ो। यहां मैं हूं ना।'' आंटी कभी कभी हिंदी बोलने की चेष्टा करती है। उस समय बहुत क्यूट लगती है। लेकिन मेरी हंसी नहीं रुकती।

आंटी भी तो एकदम अकेली है। मिसेज विजयलक्ष्मी मुडगन। हमारे फ्लैट के पास के फ्लैट में रहती है। दोनों रोज शाम को ऑफिस से आकर फ्रेश होकर मम्मी और वो, उनकी बालकनी में मेडिटेशन करती हैं। मम्मी को उनकी बालकनी में मेडिटेशन करना बहुत अच्छा लगता है और फिर उनकी फिल्टर कॉफी भी।

अब मैं जा रही हूं। मम्मी अकेली रहेंगी। दी की शादी को चार साल होने वाले हैं। उनकी शादी के बाद घर एकदम खाली। मैं सोचती अब मुझे मम्मी का ध्यान रखना होगा। मम्मी मेरा ज्यादा ध्यान रखने लगीं। शायद वह भी वही सोचती थीं। हम दोनों के बीच की जगह खाली...दोनों मिलकर उसे भर नहीं पा रहे हैं। कभी कभी हम दोनों बहनें, मम्मी के कमरे में सोतीं, मैं हमेशा बीच में। एक बार दी ने कहा–''मम्मी बीच में सोएगी। हम दोनों को मम्मी मिलेगी।'' मैंने कहा–''मुझे दोनों चाहिए।'' मैं बीच में सोऊंगी। मैं एक बार जो कह देती हूं वो हमेशा के लिए सुन ली जाती है। मैं बीच में सोकर गाना गाना कभी नहीं भूलती–''आर बार दरबान, बीच में भगवान।'' गाड़ी में भी गाड़ी दी चलाए या मम्मी, मैं हमेशा आगे की सीट पर। ड्राइवर चलाए तो पीछे मैं दोनों के बीच में। दी की शादी के बाद मैं बास्केट बॉल खेलने बैंगलोर के बाहर जाती, मम्मी अकेली रहती। वो कहतीं–''अच्छा है, इस तरह मुझे अकेले रहने की आदत हो रही है। मुझे अकेले रहने की आदत डाल लेनी चाहिए। तू भी तो चली जाएगी।''

शादी के बाद भी 'दी' हमारी छोटी छोटी बात का ध्यान रखती है। फोन करती रहती है। उन्होंने शादी भी मेरी दसवीं की परीक्षा के बाद ही की। मम्मी के बाल कंधे तक, दी के कान तक और मेरे कमर के नीचे तक झूलते हैं। दी कहती–रेशम से भी रेशमी बालों को कटाना नहीं चाहिए। अपनी परीक्षा के दिनों में भी वो मेरी चोटी जरूर बनाती। उसकी शादी के साथ एक चिंता यह भी थी कि मेरे बालों का क्या होगा। मैंने अभी तक बाल नहीं कटाए। 'दी' की अमानत हैं।

मेरी दसवीं के बोर्ड की परीक्षा के बाद ही 'दी' ने शादी की। दी को 'जू' वहां यूनिवर्सिटी में मिले। जाते ही दोनों में बात बनी और बनते बनते बन ही गई। जब दी छुट्टियों में आई, वो भी आए। अपने रिश्तेदार के यहां ठहरे। दी ने उन्हें दोपहर के खाने पर बुलाया। मॉम बहुत स्ट्रेस में लग रही थीं। मुझे उनका आना अच्छा लग रहा था। मैंने उनको पहले फेस टाइम में देखा था।

जू देखने में ठीक थे। लेकिन बात में मुझसे मैच करते थे। उनकी बातें 'मिष्टी मिष्टी' थीं। दूसरे दिन 'दी' ने उन्हें चाय पर बुलाया। वे मुझे और ज्यादा मिष्टी मिष्टी लगे। मम्मी का चेहरा अभी भी तना हुआ था। मैं और मम्मी खूब बातें किया करते थे। बस मैं हमेशा छोटी सी बच्ची बनी रही। कभी भी उनके मन की बात नहीं कर पाई। उसके लिए दीदी थी : लेकिन उस दिन मैं मम्मी से पूछ बैठी–मॉम क्या आपको अविनाश जीजू अच्छे नहीं लगे?

''ये कैसा सवाल है।'' मम्मी ने झिड़की दी ''वो जीजू कब से हो गया।''

''मम्मी आप स्ट्रेस में क्यों हैं? आपको देखकर लग रहा है कि...।

''ऐसी कोई बात नहीं।'' मम्मी का छोटा सा जवाब था।

''आप किचन में थीं। 'दी' के कहने पर केक बना रही थीं। आपके हाथ का घुमाव बोल रहा था, आप बिना मन के कर रही हैं सब कुछ।''

मॉम चुप रहीं फिर धीरे से बोलीं–''मुझे डर लगता है।'' और झट से बाथरूम में चली गई।

मुझे दी के आने से हमेशा जैसा लगता है उससे भी बहुत बहुत ज्यादा अच्छा लग रहा था। लेकिन मॉम के इन चार शब्दों ने मुझे एकदम सुन्न कर दिया। पूरे दिन वही शब्द सुन रहे थे। रात को उन्हीं शब्दों के साथ सोई। सुबह रोज से जल्दी उन्हीं शब्दों के साथ उठ गई। कमरे से बाहर आहिस्ता से निकली कि दी को डिस्टर्ब न हो। बाहर आकर सोफे पर धंसी ही थी कि पीछे पीछे दी भी आ गई। शायद वो मुझे और मॉम को लगातार परख रही थी। मुझे उनके पास बैठने का उस समय मन नहीं हो रहा था। मैंने कहा–''मालती दीदी सोई है। मैं चाय लाती हूं।''

''अरे बैठ ना, ऐसी क्या जल्दी है।''

मैं उठ गई। जाते जाते–''दी मैं बहुत अच्छी चाय बनाने लगी हूं।'' चाय छानते हुए मॉम की बातों का जवाब मिला। 'दूध का जला चाय भी...। नहीं छाछ भी फूंक फूंक कर पीता है।'

चाय का कप उठाते हुए मुंह से फिसल भी गया–''दी, क्या कहावत है दूध का जला छाछ भी फूंक फूंक कर पीता है।'' और चाय फूंक कर घूंट लेने लगी।

दी ने भी उसी तरह जवाब दिया–''हां ठीक है। दूध का जला छाछ से भी डरता है। देख मिट्टी, फूंकने से कुछ नहीं होनेवाला। डर को गटकना पड़ता है। दूध चाय या छाछ जो भी हो।''

मेरे और दी के बीच कभी चुप्पी नहीं आ पाती थी। आज आकर पालथी मारकर बैठ गई। मालती दीदी ने आकर उसे जोर से तोड़ा। चाय कौन बनाया? मुझे क्यों नहीं बुलाया वगैरह वगैरह। जब वो शुरू होती थी जल्दी बंद नहीं होती थी। दी इस बीच उठकर चली गई।

मम्मी की हम दोनों दो पलकें हैं। मालती दीदी के साथ ऐसा नहीं है। जब वो आई थी, दी बड़ी हो रही थी और मैं पैदा। उनकी ममता मुझ पर अब भी अलग से बरसती है।

घर में हमलोग तीन लोग थे। किसी पर एक छोटी सी परछाई पड़े, पूरे घर में अंधेरा फैल जाता था। एक बार मामा ने कहा था–घर में ज्यादा लोग हों तो वे कभी कभी चिंता को बढ़ा देते हैं, कभी कभी एकदम हल्की भी कर देते हैं।

मॉम और दी में उसके बाद क्या बात हुई मालूम नहीं, लेकिन मॉम काफी नार्मल हो गई थीं। मैंने भी दी से पूछ ही लिया–''दी आप कहती हैं ये आपके दोस्त हैं। क्या ये आपके सिर्फ दोस्त हैं?

''दी! माना मैं उतनी बड़ी नहीं हुई, लेकिन उतनी छोटी भी नहीं हूं कि न समझूं, समझी...।''

''फ्रैंड से थोड़ा ज्यादा, सीरियस वाले से थोड़ा कम।''

''अब ये बात मैं नहीं समझी।''

''मुझे भी थोड़ा समय लगेगा, मिट्ठू, समझने में। और तुम तो न ही समझो तो अच्छा है।''

''ठीक है नहीं समझूंगी।'' बचपन से बहुत कुछ समझते हुए, न समझने का नाटक करती रही हूं। अब तो एक्सपर्ट हो गई हूं। मैं अंदर ही अंदर बोली।

इसके एक साल बाद दी की शादी तय हुई और एक साल बाद शादी। 'जू' कन्नड़ हैं। मॉम कहतीं–''मुझको इससे कोई फर्क नहीं पड़ता।'' फर्क पड़ रहा था शायद। लेकिन शादी के समय जू के परिवार से मिलकर हम सब और मॉम इतने खुश थे कि क्या कहूं। वो बहुत सिंपल और समझदार लोग हैं। शादी में दोनों तरफ के रिवाज को माना गया। कहीं कोई मतभेद नहीं। हमने दी की शादी

आर्य समाज की रीति से की। पूरा कलकत्ता आया। नाना नानी, मामा मामी, पिंटू, अंजु मासी, मासा और मयंक मयूर। बंबई से दादी और हमारा बी.बी.सी. ग्रुप। ग्रुप माने बांबे बैंगलोर कजिन। बांबे से आरोही, अंकित अंकिता आए।

उनके रिवाज के अनुसार वे वधू को लक्ष्मी की तरह गृहप्रवेश करवाते हैं। अपने गहने कपड़ों से सजाकर वे विदाई कराकर ले गए। उस समय दी सचमुच लक्ष्मी सी लग रही थी। मॉम ने भी यह बात बाद में कही। उनके यहां गृहप्रवेश के समय दरवाजे पर बहनों, भाभियों ने द्वार रुकाई की। दी और जू दोनों को कुछ गाकर या कोई कविता, शायरी एक दूसरे के बारे में कहना था। उसमें पास होकर लक्ष्मी महारानी मेरी दी का गृहप्रवेश हुआ। मुझे न जाने कब कब की सुनी बातें, कहावतें याद आने लगीं कि लड़की पराया धन होती है। चिड़िया होती है फुर्र से उड़ जाती है वगैरह वगैरह। सचमुच मेरी दीदी पराई हो गई।

पहले पहले मम्मी जितनी स्ट्रेस में थीं अब उतनी ही खुश। जू से उनका मोह देखने लायक था। दी कभी कभी मॉम को छेड़ती भी रहती थी—''अब तो आपका वही है सब कुछ,सबसे प्यारा। हम दोनों बस ऐसे ही। मिष्टी पहले सब कुछ उसे मिलेगा। फिर जो बचेगा, वो हमें।'' मम्मी की मंद मंद मुस्कुराहट। उन्हें कुछ बोलने की जरूरत ही नहीं थी। मैं तो पूरी की पूरी उन पर 'न्यौछावर'। इसके पहले भी क्रश हुआ है। लेकिन 'जू' एकदम स्पेशल। एक दिन मैंने दी से कह दिया—''मैं शादी नहीं करूंगी।''

उन्होंने कहा—''अच्छा है, करनी भी नहीं चाहिए।''

''ठीक बोल रही हूं।''

''अच्छा पहले ये बता, अचानक तेरे मन में यह बात आई कैसे?''

''अरे मेरी दी! जू से अच्छा...नहीं, उनके जैसा कोई मिलने से रहा, इसीलिए।''

''अच्छा सो तो है।'' दी खुश...।

''दी अगर आप को नहीं करनी, तो उनसे मैं शादी कर लूं?''

दी ने मेरे ऊपर कुशन दे मारा। जब वो हार जाती है, ऐसे ही करती है।

दी की शादी के करीब एक हफ्ते पहले की बात है। दी और मैं सोने की तैयारी कर रहे थे। दी को देखकर लगा उन्हें कुछ कहना है। अंदर ही अंदर कुछ गहरा चल रहा है। मैंने अपनी रजाई जमीन पर धीरे से सरकाई और उनकी रजाई में घुस गई। मुझे कुछ कहना हो तो मैं ऐसे ही करती हूं। दी ने धीरे से कहा—''कहिए।'' मैं चुप थी। मुझे सुनना था अंदर का। उन्होंने कहा भी—''उस समय अगर मैं थोड़ी समझदार होती तो तेरे पापा तेरे और मम्मी के पास होते। मेरी ही गलती थी। नानी ने कहा भी कि कलकत्ते आ जा, लेकिन मम्मी को मेरी पढ़ाई दिखी। मैं सोची उन्होंने मेरे घर पर अपना डेरा जमाया है। उनके लिए मैं क्यों अपना घर अपना स्कूल छोड़कर जाऊं। मुझे उनसे हिंसा थी। उन्होंने मेरी मम्मी मेरे घर पर अपना अधिकार जमाया था। मैं कभी यह समझ ही नहीं पायी कि नानी अपनी बेटी की भलाई के लिए यह सब कर रही है।'' मुझे रुलाई फूटी। दी को भी। दोनों के बीच एक तकिया एक रजाई भीगते रहे। वो शायद अपनी गलती पर और मैं उसके गलत सोचने पर। एक दुख दोनों के सामने और भी खड़ा था। उनके जाने का दुख। जिस इंसान ने आज तक हमें पलटकर नहीं देखा, दी उसके लिए अपने आप को दोषी मान रही थी। आज दी इतनी गलत कैसे हो गई?

दसवीं क्लास में जाते ही दी ने कहा—''अब एकदम सीरियस होकर पढ़ना है मिष्टी!'' मैं बास्केट बाल स्टेट लेवल में खेल चुकी थी, जीत चुकी थी। लेकिन उनका मानना था कि मैं पढ़ाई में भी बहुत ही अच्छा कर सकती हूं। पहले पहल मुंह से एक दो बार निकल भी गया था कि इतनी बुद्धि कहां से आई, किस पर गई है। फिर अपनी गलती का एहसास। हमारे घर में ऐसी बातों के लिए कोई

जगह नहीं थी। अब यह सब बात भूल से भी नहीं निकलती। दी को मालूम हुआ बांबे में मि. पॉल हैं। बच्चों को सही गाइड करते हैं। वो साइकोमेटिक टेस्ट लेते हैं। उसमें इंटरव्यू लेते हैं। बच्चे से बातचीत करके उसकी रुचि उसकी क्षमता जानकर आगे क्या करना चाहिए, किस विषय में वो सबसे अच्छा करेगा, पूरा गाइड करते हैं। हम बांबे गए। मैंने टेस्ट दिया। एक महीने बाद फिर जाना होगा। तब सवाल जवाब होंगे, टेस्ट के पेपर देखकर।

टेस्ट देकर हमारा अपने बी.बी.सी. ग्रुप से मिलने का प्रोग्राम था। वहीं पास के कॉफी शॉप में वे हमारा इंतजार बड़ी बेसब्री से कर रहे थे। हम उसी दिन वापस लौटने वाले थे। मेरे बारहवें जन्मदिन पर बना था हमारा यह ग्रुप।

मेरा बारहवां जन्मदिन था। मुझे आज मेरा सबसे प्यारा तोहफा मिला। मेरा अपना फोन। मेरे ग्यारहवें जन्मदिन पर ही दी ने कह दिया था। अगले जन्मदिन पर मिलेगा। मेरे बहुत से दोस्तों को दसवें ग्यारहवें जन्मदिन पर मिल चुका था। खैर मेरे हाथ में मेरा फोन। पिंक कलर का। मुझे उस समय उसके सिवा कुछ भी दिखाई नहीं दे रहा था। थैंक गॉड उस दिन स्कूल की छुट्टी थी। सुबह से कितनी सेल्फी मम्मी के साथ, दी के साथ। एक मालती दी के साथ भी। उसने भी बड़ी बढ़िया सी पोज दी। अपने पान के लाल लाल दांतों के साथ। मालती दी एक कोने में घुसकर लटर पटर, खटर पटर करती रहती है। हमें पता है, वो वहां बैठकर पान बनाती है। मॉम कहती–बेचारी को बंगला पान पत्ता नहीं मिलता। शाम को दोस्त आए केक काटना, गेम खेलना सब। मेरा मन मेरे फोन में लगा था।

रात को दी ने व्हाट्स एप में ग्रुप बनाया बी.बी.सी.–'बांबे बैंगलोर कजिन'। आरोही, अंकिता, अंकित और मैं–दी 'एडमिनिस्ट्रेटर'। मेरी उन तीनों से फोन पर बात हुई थी पहले भी लेकिन आज नया फोन, नया ग्रुप और नई उम्र। मेरे पंख निकल आए थे। अंकिता–'हाय मिठाई', अंकित 'सुगर केन।' आरोही–मिष्टी मिष्टी। हम चारों एक उम्र के थे और दी 'हमारी दी'। दी में कोई खासियत थी। वे तीनों भी उन्हें बहुत प्यार करते थे उनकी बात मानते थे। मैंने उनकी फोटो देखी है अंकित एकदम दी जैसा दिखता है। मेरा उनसे कोई रिश्ता नहीं। दी का है। खून का रिश्ता। दी के रिश्तेदार मेरे लिए खास रिश्तेदार। एक अलग तरह का खिंचाव महसूसती हूं इन तीनों से। एक दिन अंकिता जी ने फरमाया– मिष्टी, मारवाड़ी में मिट्टी माने kiss होता है। o miss kiss miss ये अंकित था। मैं मिट्ठी नहीं मिष्टी हूं। अब आरोही जी वा मठरी, ओ मठरी, कुरकुरी नमकीन मठरी। मैंने भी उन्हें नाम दिया आरोही को अवरोही–रोही, आरोही अवरोही : अंकिता–वंकिता, चंकिता। अंकित को अंकी बंकी चंकी।

दी ने मुझे पहले ही नाम दे रखा था। मिट्ठू। सचमुच एकदम तोता है ये लड़की। जो मैं बोलूं वही ये भी बोलती है। दी को आमीन एडमिनिस्ट्रेटर–एडमिन–आमीन।

हम पांचों पहली बार आमने सामने। वैसे पहली बार जैसा कुछ भी नहीं लग रहा था। हमारी काफी बातचीत होती थी। फिर भी एक अलग तरह का एक्साइटमेंट तो होता ही है। उन्होंने खाना आर्डर किया। बिना हमसे पूछे। उन्हें हमारी पसंद नापसंद सब पता जो थी। वहां की बहुत सी चीजें उन्हें खिलानी थीं। हम ऐसे कर रहे थे जैसे जनम जनम के बिछड़े मिले हों। केक काटी गई। हमारे मिलने की खुशी में। मेरा मॉम से इस विषय में कोई बात करने का सवाल ही नहीं उठता। दी करेगी या नहीं, मालूम नहीं। अगर करेगी तो कुछ दिनों बाद करेगी। मुझे बताएगी जरूर।

मेरा सामान पैक हो रहा था। दी ने एक लिस्ट बना दी है कि मुझे वहां जाकर क्या क्या लेना है। यूनिवर्सिटी की फोटो देखकर लगता है कि एक ड्रीम लैंड है। दी ने कहा है मम्मी के रहते दी भी आएगी। मेरी छुट्टियां देखकर। हम तीनों घूम आएंगे। दी ने मम्मी से अभी कुछ नहीं कहा है।

हमने वहां एक स्टूडियो एपार्टमेंट कॉलेज के बिल्कुल पास बुक किया है। मैं और मॉम एक कमरे में रहेंगे। हम लोगों ने मॉम के लिए शॉपिंग की। पैंट्स, शर्ट्स, स्वेटर। दोनों का कोट वहीं लेंगे। मॉम आफिस में हमेशा साड़ी पहनकर जाती हैं। उन्हें लगता है उसमें ग्रेसियस लगते हैं। बाकी सलवार सूट। पैंट्स जब बाहर जाती हैं या कभी कभी छुट्टियों में पहनती हैं। मैंने मॉम के लिए एक लाल स्कार्फ ब्राउन चौकस वाला खरीदा है। अपनी पेटी में रखा है। वहां जाकर पहनाऊंगी और बहुत सारे फोटो खींचूंगी। मॉम उसमें बहुत सुंदर लगेंगी। मुझे मालूम है।

मेरे जाने की तैयारियां चल रही थीं। बी.बी.सी. ग्रुप में लगातार मैसेज चल रहे थे। आरोही बैंगलोर आ रही थी। दी न कहा सुबह आठ बजे आरोही को लेने चलेंगे। उसे लेकर सीधे घर आ जाएंगे। मेरे मुंह से सिर्फ इतना ही निकला–दी! मॉम...हां मॉम से मिलेगी। हम सब साथ में रहेंगे। उसे शाम को पार्टी में जाना है।

''दी आपने मॉम से पूछा है।''

''नहीं! सुबह बता देंगे।''

''हां दी, उनमें जो झमेले हों हम बच्चे क्यों बीच में आएं।''

दी और मैं बिस्तर पर लेट गए। दी बोल रही थी–''अरे! झमेला था। अब काहे का झमेला। एक जमाना बीत गया मिष्टी। उन बातों की अब कोई जगह नहीं। पुराने को पढ़ते रहे तो नया कैसे पढ़ेंगे। बता...हो सकता है मम्मी भी अब वो सब खत्म कर चुकी हो। घाव पुराना है। दर्द होगा लेकिन कुछ कम जरूर हुआ होगा। जब तक पकड़े रहेंगे, दुखता रहेगा। जब मैं छोटी सी थी मम्मी ने डांटकर कहा था–मेरे सामने कभी बांबे की बात मत करना। मैंने इतनी कसकर गांठ बांधी जो आज तक नहीं खुली। पच्चीस साल होने को आए। हो सकता है अब मम्मी उस तरह हो ही नहीं।''

''हां दी! आपकी शादी में सब कुछ नार्मल ही रहा।''

''हां! मम्मी दादी से अनौपचारिक ढंग से मिली। पर मिली ठीक से ही।''

''आरोही, अंकिता और अंकित से अच्छे से मिलीं।''

''दादी भी दादाजी के जाने के बाद बदलने लगी है। समय से साथ साथ इंसान को बदलना ही चाहिए।''

''मम्मी बहुत अच्छी हैं, कोमल है, समझदार भी हैं दी। वो भी यह सब सोचती ही होंगी।''

''आरोही का इस घर में आना पहला कदम होगा। हमें नजदीकियां नहीं चाहिए। लेकिन दूरियां– उसे भरना ही होगा।''

''दी! जब दादाजी की खबर आई थी मॉम अपसेट हुई थी।''

''हां वही तो। मैं यहां थी नहीं। आस्ट्रेलिया से वहां पहुंची तब एक सप्ताह हो गया था। मेरी शादी के समय ही बहुत बीमार थे। शादी के बाद मैं और अविनाश उनसे मिलने गए, उनसे बोला नहीं जा रहा था। हमेशा की तरह उनकी आंखों ने हमें ढेर सारा आशीर्वाद दिया। उसके बाद मैं पापा के साठवें जन्मदिन पर गई।''

''पापा के!''

''हां पापा के। मेरे पापा के। दादी का फोन आया था। 'उनका' 'पापा' का 60वां जन्मदिन मना रहे हैं। तुम आओगी तो अच्छा लगेगा। अविनाश को भी बुलाया था। मैं जन्मदिन वाले दिन सुबह पहुंची। वो घर एकदम सूना पड़ा था। दादाजी एकदम शांत रहते थे। फिर भी मिष्टी, उनके जाने से घर में बिल्कुल अजीब सी बेचैन करनेवाली शांति फैल गई है। वहां दादी और पापा दो लोगों की पर्सनैलिटी रोबदार थी। दोनों एकदम फीके। दादी मुझे देखते ही खुश हो गई। उन्हें मेरे आ जाने की आशा जो नहीं थी। तुझे बताऊं–दादी को खुश देखकर मुझे बहुत खुशी हुई। मैं कभी सोच भी

नहीं सकती थी कि उन्हें खुशी देकर मुझे खुशी मिलेगी। होता है...ऐसा कभी कभी होता है। मिष्टु।

''दादी ने कहा–'तेरे दादाजी के जाने के बाद घर में उदासी ऐसी जम गई थी कि थोड़ी सी भी सरक नहीं रही थी। इसलिए मैंने कहा–मुझे मेरे बेटे का 60वां जन्मदिन मनाना ही है। घर के माहौल को बदलना जरूरी था अनिशा।' दादी इतनी होशियार है, मुझे उस दिन मालूम हुआ। अपने मन पर पत्थर रखकर पार्टी का उत्साह दिखा रही थी। मैं पापा के इस जन्मदिन में भी जाऊंगी। अब हर साल जाऊंगी। हम दोनों आपस में बात करना चाह रहे थे, लेकिन इतने सालों बात नहीं करने से बात जमा नहीं हुई थी। गुम हो गई थी। मैंने उन्हें दोषी के कटघरे में खड़ा किया था। जज बनाकर फैसला भी कर लिया था : उन्होंने कभी कोई सफाई देने की चेष्टा भी नहीं की। उनका मौन मुझे और दृढ़ करता रहा। हम अपनी अपनी जगह पर खड़े रहे और बीच में दूरियां बिछी रहीं : मिष्टि! अब सभी गुम हुई चीजों को वापस लाना है मिष्टी। जो गुम हो जाना चाहिए, उसे हटाना है। हम कब तक उन बोझों के तले दबे रहेंगे। इन दिनों एक बात और समझ में आई नए रिश्ते भी तभी फलेंगे फूलेंगे, जब पुराने अपनी सही जगह पर होंगे।''

''हां...दी।'' उनका यह सब सुनकर मेरे अंदर ही अंदर कुछ चलने लगा। कुछ देखना चाह रही थी। मैंने आंखें बंद कर लीं। दी ने भी। हम दोनों अपना अपना बुनते बुनते सो गए।

सुबह आरोही आई। दी की शादी के बाद हमारा मिलना हुआ। मम्मी उससे वैसे ही मिलीं जैसे मेरी किसी सहेली से मिलती हैं। वैसे ही बातचीत।

रात को देरी की प्लेन थी। दी हमें छोड़ने आई। हमें प्लेन में बैठाकर अपने शहर लौट जाएगी। मालती दी अपने गांव चली गई। पूरा बैंगलोर शहर खाली। प्लेन में मम्मी को नींद आ रही थी। मुझे दी की बातें याद आ रही थीं। सभी बातें। पहले कही हुई भी। अभी उस रात की भी। मैंने कहा था–''दी हम अपने अपने पापा को माफ कर देंगे।''

दी ने कहा था–''हम माफ करने वाले कौन होते हैं मिठू! न हम माफ करेंगे, न वो सब याद करेंगे। जो हो गया, उसे स्वीकार करेंगे। जो हो गया सो हो गया। उसे छोड़कर आगे हमें जो अच्छा लगेगा वही करेंगे। कोई दुविधा नहीं। कोई गिला नहीं। जो अपने हैं, उन्हें अपना बनाएंगे।''

वहां जाकर सुमन मासी से मेरे पापा का नंबर लेकर बात करूंगी। जरूर करूंगी। उन्होंने पीछे मुड़कर नहीं देखा। न सही। मैं पीछे को पीछे छोड़कर आगे बढ़ूंगी। जरूर जरूर बढ़ूंगी। मैंने उनकी फोटो देखी है। मैं एक साल की उनकी गोदी में हूं। मुझे देखना है, अब वो कैसे दिखते हैं।

खिड़की से देखा–बादल बहुत नीचे थे। ऊपर से धूप चमक रही थी। धूप की तिरछी रेखा मम्मी के आधे चेहरे पर पड़ी थी। उनका चेहरा ज्यादा ही साफ दिख रहा था। एकदम साफ। आसमान की तरह। जो कुछ कह रहा था मैं मम्मी के मन को पढ़ सकती हूं। मम्मी भी वही चाह रही थी। जो मैं चाहती हूं।

जो रे जमाना

अरुण कमल

यह एक प्रहसन है। यहां सब कुछ झूठ है। केवल मजा मिले, ऐसा उद्‌देश्य है। इस प्रहसन के लेखक स्वनामधन्य श्री अरुण कमल जू हैं जो पटने के वासी हैं। कविता के अभ्यासी हैं। परंतु कविता के खेल में फाउल खेलने के कारण निष्कासन उपरांत इधर प्रहसन में हाथ आजमाने और हो सका तो हाथ साफ करने का विचार किया है। यहां गद्य भी है और जहां तहां पद्य भी। चंपू है, ऐसा भी कुछ कहेंगे। इसमें कहीं भी राजनीति नहीं है। जिस तरह कपड़ों के टुकड़ों से कथरी बनाई जाती है उसी तरह चालू नारों, मुहावरों, प्रसंगों से यह प्रहसन बना है। यदि पाठकों का जरा भी मनोरंजन हुआ तो हम धन्य होंगे। संपादक ने बहुत कहा कि हम इधर प्रवृत्त न हों परंतु 'जानामि धर्मं न च में प्रवृत्ति' इसलिए यदि कुछ भी खोट हो या राजद्रोह हो तो वध का भागी केवल लेखक होगा। वैसे प्रत्येक पाठक वा दर्शक को कहीं भी कुछ भी बदलने काटने का सर्वाधिकार है। जैसे दादा की पतलून से बाप का पैंट बेटे का हाफपैंट और पोते की जांघिया बन जाती है याने के एक जिंस चार पुश्त खेपता है वैसे ही एक ही प्रहसन से कई कई खेल बनाए जा सकते हैं। आशा है कि इंडियन नाटक ऐक्ट और सिडिशन ऐक्ट देशभक्त सरकारों द्वारा संशोधित हो चुके हैं 1947 के बाद। वैसे अगर अंग्रेजों के कानून स्वदेश में चल रहे हैं जबकि उनके सिक्के कब के बाहर हुए तो मानिए कि लेखक अंग्रेजभक्त है। श्री अरुण कमल जू भारतेंदु, ब्रेख्त, भिखारी ठाकुर और शेक्सपियर के भक्त हैं। विश्व भर के कवियों की जै!

(माथा खुजलाते हुए नट का प्रवेश)

नट : हाय! आज तो फिर मेरे पास कुछ भी नहीं।
न पेट में न थैले में न माथे में। क्या करूं कहां जाऊं? दर्शकगण आकर बैठ रहे हैं। यवनिका क्षण भर में उठेगी। हालत ये है कि कुछ भी कहने से डरता हूं।

कहना मतलब फंसना। कुछ भी कहो तो देशद्रोह हो जाता है। न कहो तो भी देशद्रोह। हालत ये है कि हमने आज तक देश देखा ही नहीं। न हिमालय पर्वत न हिंद महासागर। इस गड़हे से आगे और उस घूरे से पीछे मेरा कोई देश नहीं। क्या करूं कहां जाऊं।

(दौड़ते हुए नटी का प्रवेश। हाथ में झाड़ू।)

नटी : कहां गया रे नटुआ? घर में भूंजी भांग नहीं और बाहर पूड़ी हलुआ? तेरे को भी घूरे पर न फेंका तो मेरा नाम कंदुकी नहीं। पहला कवित्त करता था। दिन रात यही नशा था। कहता लिटफिट में जाना है। दूसरा मास्टर था। कहता था संविदा पर हूं पर राष्ट्र निर्माता हूं। सबको फेंका। अब तेरी बारी है।

(नेपथ्य से : इसलिए कि जो है उससे बेहतर चाहिए। सारी दुनिया साफ करने के लिए एक मेहतर चाहिए।)

नटी : एक से क्या होगा
सबके हाथ में झाड़ू चाहिए
पोंछना से क्या होगा रे
हाथ में नश्तर चाहिए।
लेकिन नटुआ गया कहां? दर्शक विराज रहे हैं। भारी भीड़ है और नट्ट गायब!

(नट का प्रवेश)

नट : कहते डरता। चुप रहते डरता। जगते डरता। सोते डरता। हंसते डरता। रोते डरता

(नट गाल फुलाए एक तरफ खड़ा हो जाता है। नटी उसके पास तेज कदम जाती है।)

नटी : अरे ऐसे क्यों खड़े हो? कुछ बोलते क्यों नहीं?

नट : अपने शरीर के सारे द्वार बंद करने का अभ्यास कर रहा हूं। ताकि कहीं से कोई आवाज न निकले। यह स्वामी बाबा का नया आसन है–प व न बंद आसन।

नटी : हाय रे बिधना! डरने से अच्छा है मरना।

नट : हे प्यारी नटी बतलाओ मैं क्या करूं? कहीं से कोई नाटक नहीं मिलता। लेखक कहते हैं सहिष्णु बनो। बताओ नटी,
मैं भूखा प्यासा
जमाने का डांसा
कब तक रहूं सहिष्णु
कहं हैं ब्रह्मा कहां हैं शंभु कहां रमापति विष्णु?
कोई कहानी बताओ नटी आज कोई बताओ कहानी
थोड़ी सी मिट्टी थोड़ी हवा और अंगुश्ताना पानी
ऐसी कहानी सुनाओ नटी आज
ऐसी सुनाओ कहानी
काटा पीटा कूटा तुरत धान
आए हमारी चुहानी

नटी : नहीं नटुए नहीं। कुछ भी मन से बनाना ठीक नहीं।
न मन की बात
न तन की बात

न धन की बात
न रन की बात

सीधा जेल चले जाओगे। सबसे अच्छा है जो है वही दिखाना याने के जीवन का सीधा प्रसारण बिना किसी कमेंट्री के।

नट : याने के आंखों देखा हाल

नटी : हां, और ये घोषणा भी जो हर आम और खास लेखक को करना अनिवार्य और वधकारी है...

(नेपथ्य से : वधकारी नहीं बाध्यकारी)

हां, बाध्यकारी है, इसमें कुछ भी ऐसा नहीं है जो किसी अच्छी सरकार या अच्छे व्यक्ति के विरुद्ध हो–

(स्थान : बाजार)

तीन चोर नशे में चूर मोसंबी का रस पी रहे हैं। उनकी जेबों से नोट झांक रहे हैं या गिरे जा रहे हैं। तीनों एक साथ गटगट पीकर गिलास नीचे फेंक देते हैं और तीनों पांच पांच सौ का नोट रसवाले की तरफ फेंकते चल देते हैं। रसवाला पुकारता है–ओ बाकी पैसे तो ले ले। तीनों एक हाथ हिलाते हैं–रख ले रख ले। हमारे पास रखने की जगह नहीं है।

रसवाला : अरे इतना पैसा कहां से आया?

तीनों : समझा क्या है, हम हैं–विजय माल्या।

(फिर तीनों अंडेवाले के पास जाते हैं। तीनों एक साथ कई अंडे मुंह में ठूंसते हैं और पांच पांच सौ के नोट अंडेवाले की तरफ फेंकते हैं।)

अंडावाला : अरे बाकी पैसे ले ले

तीनों : रख ले रख ले रख ले
हमको रखने की जगह नहीं है।

अंडेवाला : अरे इतना पैसा कहां से आया?

तीनों : अपना समझो राह में पाया
राज है अपना पाट है अपना
धाया धाया धा के पाया

(दूसरी ओर से तीन युवतियों का प्रवेश। उनको छूते हुए)

युवतियां : अरे ये तो बटुआ है
अरे ये तो गुल्लक है
अरे ये तो ए टि एम है
कहां से लाया इतना रुपया
बोल मेरे बहुरुपिया
कहां से लाया इतना रुपया
बोल मेरे खुदबुदिया

तीनों : ले ले ले ले पैसे ले ले
यहां छुपा ले वहां छुपा ले
फोकट के ये पैसे ले ले
जो चाहे सो मन भर कर ले

धर ले धर ले धर ले ले ले

(सभी मंच से बाहर। अब मंच पर एक थानेदार बैठा है। दो लोग खड़े हैं। एक के कंधे पर गमछा है। दूसरे के माथे पर टोपी।)

गमछावाला : चोरी हो गई। नेता जी के बंगले में।

टोपीवाला : चोरी चोरी चोरी। सरकार जी के महल में चोरी।

थानेदार : बंगले में चोरी कैसे हो गई?

गमछावाला : गेट खुला था। द्वारा खुला था। सेफ खुला था। खुली तिजोरी।

थानेदार : ताला क्यों नहीं डाला?

गमछावाला : नेता जी कहते हैं, किसको हिम्मत है उनके बंगले में घुसे?

थानेदार : फिर घुसा कौन?

गमछावाला : पता नहीं। संसद है मौन।

थानेदार : तू कहां था?

गमछावाला : पता नहीं।

थानेदार : नेता जी कहां थे?

गमछावाला : पता नहीं भई पता नहीं इसमें मेरी खता नहीं।

टोपीवाला : सरकार जी के महल में चोरी हो गई।

थानेदार : कैसे हो गई?

टोपीवाला : तोड़ के ताला मकड़ी जाला
नहीं थी अम्मा नहीं थी खाला

थानेदार : संतरी कहां थे?

टोपीवाला : संतरे के बाग में।

थानेदार : तू कहां था?

टोपीवाला : कुछ नींद में कुछ जाग में।

थानेदार : और सरकार जी? कहां थे सरकार जी?

टोपीवाला : देश चला रहे थे। सुनिए थानेदार जी।

(थानेदार चहलकदमी करता है। बार बार 'हूं' कहता है। तब तक नेताजी का प्रवेश।)

नेताजी : काफी बड़ी लूट है। ये साले देश को तो लूट ही रहे हैं, मेरे घर पर भी हाथ साफ कर दिया।

थानेदार : आपको ताला तो...

नेता : कैसा ताला? मेरा नाम ही ताला है। आज तक किसी ने उधर ताकने की जुर्रत न की। ऊपर चिड़ा भी उड़ा तो धाह से झुलसा। चूहा घुसा तो उसकी मूंछें जलीं। और ये राष्ट्रद्रोही लूट कर ले गए।

गमछवाला : किसी विदेशी शक्ति का हाथ प्रतीत होता है।

थानेदार : सी.आई.ए. इंक्वायरी सही होगी।

नेता : अरे अभी तो देख क्या हुआ माल का?

थानेदार : कितना था?

नेता : बारह करोड़!

थानेदार : बारह करोड़!

नेता : ज्यादा लगता है?

थानेदार : नहीं नहीं। मैं तो सोच रहा था कि इसे अंकों में कैसे लिखूं?

(तब तक रोते हुए एक महिला का प्रवेश)

महिला : लुट गई लुट गई
खाते खाते घुट गई घुट गई

नेता : सब गहने चले गए। बिन पहने चले गए।
दिन में आए। रात में चले गए।
हाय रे हम तेरी मुस्कान से छले गए।

थानेदार : कितने थे?

महिला : तीन थे। तीन किलो से कम न थे। सब चले गए। मैं कहती रही एक तुम्हीं नहीं कुछ और भी होंगे। ताला लगा लो। पर एक न सुनी। बस अपनी ही धुनी। अब न लकड़ी रही न कुन्नी।

थानेदार : सब्र से काम लें बहन जी। सब्र का फल मीठा होता है। सब हो जाएगा। साबुन से बढ़िया रीठा होता है।

गमछावाला : और रोटी से बढ़िया पीठा होता है।

थानेदार : *(टोपीवाले की ओर मुड़कर)* अब आप बताएं। आगे आएं।

टोपीवाला : मैं अकेले में बोलूंगा।

थानेदार : क्यों?

टोपीवाला : है। कुछ बात है।
यहां दिन वहां रात है।

(दोनों थोड़ा अलग हो जाते हैं। टोपीवाला कान में कुछ कहता है।)

थानेदार : हें! हें? हें!!

(टोपीवाला कान में मुंह सटाता है।)

थानेदार : ब्लू फिल्मों की सी डी भी! शराब भी! कबाब भी! ये कैसे चोर हैं! कुछ बिलो स्टैंडर्ड लगते हैं। पैसे कहां रक्खे थे?

टोपीवाला : टूटी संदूकची में ताकि किसी को शक न हो।

थानेदार : इतने पैसे घर में रखते क्यों थे?

टोपीवाला : पशु, नारी और पैसे तो घर ही में शोभते हैं। सरकार जी जनकल्याण के बिजड़े रोपते हैं।

(तब तक सरकारजी का प्रवेश)

सरकारजी : यह क्या करवा दिया थानेदार?
रह गए ताकते सारे पहरेदार?
लुट गए हम लुट गई सरकार।
पता नहीं चोर तीन थे या चार।
शाम की खुराकी भी लूट ली।
एक के माल पर सौ की छूट ली।

(दृश्य बदलता है।)

तीनों चोर तीन युवतियों के साथ बाजार में घूम रहे हैं। युवतियों के हाथ कंधे उंगलियां सबसे थैले लटक रहे हैं। पीछे पीछे एक मजमा इकट्ठा हो गया है।

मीडिया वालों की भीड़ लग चुकी है। उन तीनों से पूछा जा रहा है–

–हां, बताएं आपको कैसा लग रहा है?

–इतने पैसे सडेनली मिलने पर आप कैसा कैसा फील कर रहे हैं?

–इतनी बड़ी सफलता आप किसको डेडिकेट करेंगे?

–मान लीजिए आप देश के सबसे अमीर व्यक्ति घोषित हो जाएं तो राष्ट्र को क्या संदेश देंगे?

तीनों गंभीर स्वर में एक साथ–

सब उसी का है। हम तो सेवक हैं।
नदी उसी की है। हम तो केवट हैं।
मुखड़ा उसका। हम तो केवल ऐनक हैं।
(भीड़ तालियां बजाती है)

(तब तक चारों तरफ से पुलिस उन्हें घेर लेती है और वे गिरफ्तार हो जाते हैं। तीनों युवतियां रोने लगती हैं। उनके सामान छिन जाते हैं। गहने भी पुलिस उतार लेती है।

पुलिस : तुम लोग क्यों आ रही हो पीछे पीछे?

युवतियां : हम सब आते रीझे रीझे। पीछे। पीछे।

पुलिस : अब क्या? खेला खतम पैसा हजम।

स्त्रियां : पैसा खतम पर हम हर दम। हम यारी करते हैं। हम प्यारी करते हैं।

(फिर से थाना। तीनों चोर एक साथ।)

थानेदार : तुम लोगों ने ऐसा किया क्यों?

तीनों : क्योंकि हम यही करते हैं। यह हमारा पेशा है।

थानेदार : तुम लोग चोरी करते क्यों हो? जितना है उतने में रहो। अच्छा दर्जी जितना कपड़ा है, उतने ही में काटता है।

तीनों : नहीं, एक अच्छा दर्जी और कपड़ा मांगता है।

थानेदार : तुम्हारा मास्टरमाइंड कौन है?

तीनों : हम किसी मास्टर को नहीं जानते। कभी स्कूल नहीं गए।

थानेदार : तुम्हारा सरगना कौन है?

तीनों : जो आपका है।

थानेदार : मतलब?

तीनों : एक ही तो है जो सबके सर पर तना है। वही तरगना है वही सरगना है। घी में छना है।

थानेदार : कहां रहते हो तुम लोग?

तीनों : हम तो अपने देश में रहते हैं।

थानेदार : यह देश तुम्हारे बाप का है?

तीनों : देश किसी के बाप का नहीं।

थानेदार : क्या करते हो तुम लोग?

तीनों : सेवा। देश की सेवा। सेवा।

थानेदार : यही है देशसेवा?

तीनों : जब बैंकों का दस लाख करोड़ तुम खा जाते हो तब तो देशसेवा

जब कामगारों को काम से बाहर फेंक देते हो तब भी देशसेवा
जब मोर्चे पर मासूमों को मरने भेजते हो तब भी देशसेवा।

थानेदार : तुम्हारी जाति?

तीनों : हम गरीब हैं। सभी गरीबों की एक जाति होती है। हम दोपाए हैं।
हम फिर से चारों पैरों पर चलना चाहते हैं।
जाति तो बाहर देह की चाम में होती है,
जो अपनी ही देह की चाम लिये खड़े हैं
बाजार में उनकी कोई जाति नहीं होती।

थानेदार : तुम्हारा धर्म?

तीनों : सभी धर्मों के जन्म के पहले का धर्म।

थानेदार : स्त्री या पुरुष?

तीनों : जब जैसा तब तैसा। आधा औरत आधा मरद।

थानेदार : उफ्! ये तो पूरे नटवर हैं।
भागा दौड़ा इतना कि चाम अपना छिल गया।
ताड़ था मैदान का, ऐसा घिसा बन तिल गया।
शास्त्रों में सही लिखा है कि एक चोर के पास हजार राजे की बुद्धि होती है।

(तब तक गमछावाला, टोपीवाला, नेताजी, सरकारजी और महिला का प्रवेश)

थानेदार : आइए जी आइए माल सारा मिल गया।

सब : लाइए जी लाइए दिल हमारा खिल गया।

थानेदार : ये रहे रुपए। और ये गहने। कुछ रुपये ये खा गए।

सब : अरे कुछ नहीं, तनगोजर की एक टांग टूट ही जाए तो क्या फर्क पड़ता है।

थानेदार : जिधर हो राह जन्नत की उधर ही नर्क पड़ता है।

महिला : ये कुछ अपने बच्चों के वास्ते रखिए। आशिवार्दी है। ये समझिए।

(तभी दो लोगों का तेजी से प्रवेश)

दोनों : हम इनकमटैक्स डिपाट से आए हैं।
हम विजिलेंस डिपाट से आए हैं।
छापा। रेड। छापा।

थानेदार : छापा?
कैसा तिलक कैसा छापा
हमने तो संसार बेंतों से नापा
रेड? कैसा रेड? हम ही ए हम ही जेड।

दोनों : इनसे पूछना है इतना पैसा कहां से लाए?
कहां उड़ाया? कहां से मारा? देख लिया ललचाए।

नेता जी

सरकार जी : हमसे पूछना? हमसे? नहीं नहीं।
ये रुपए पैसे हमारे हैं ही नहीं।

दोनों : और बहन जी इतने गहने?

महिला : नहीं नहीं ये गहने अपने हैं ही नहीं

दोनों : ये रुपए गहने तो आपके ही घरों से चोरी गए।

इन पर केस होगा
मामला कल पेश होगा
चोरी की, करचोरी की
अब केस चलेगा रेस चलेगा हमरमेश चलेगा

वे सब : नहीं नहीं हमारे घरों से चोरी नहीं गए
ये तो हमारे हैं ही नहीं।

थानेदार : लेकिन रपट तो आपने लिखाई
हमें डांट भी पिलाई
कुरता फाड़ा भरो सिलाई

वे सब : चोरी जहां भी हो रपट हम लिखवाएंगे
सेवक हैं जन के हम नंगधड़ंग धाएंगे
पर पैसे हमारे नहीं हैं। नहीं हैं। नहीं हैं।

थानेदार : तो क्या यहीं कहीं वहीं हैं?

वे सब : नहीं हैं नहीं हैं नहीं हैं।

थानेदार : *(चोरों से)* कहां से चुराए थे सब

तीनों चोर : बंगलों से।

थानेदार : किसके बंगलों से?

तीनों : बगुलों के बंगलों से।

वे सब : नहीं नहीं यह झूठ है सरासर। हमारा कुछ भी चोरी नहीं गया। था ही क्या जो जाता? भूल चूक लेनी देनी सब बराबर।

दोनों : तो ठीक है इन्हें जब्त किया जाता है।

वे सब : ठीक है। तो हमें आज्ञा दें। हमें विश्व के सर्वश्रेष्ठ लोकतंत्र की न्याय प्रणाली पर पूरा भरोसा है।

दोनों : लेकिन ये पैसे फिर आए कैसे?
बोल, तू बोल, मारे कहां से कैसे?

तीनों चोर : हम तो कहे जा रहे हैं कि बंगलों में थे वहीं से उड़ाए। अब ये बंगले किसके हैं हम कैसे बताएं।

दोनों : लेकिन वे तो कह रहे हैं कि उनके घर चोरी ही नहीं हुई।

तीनों : तो फिर ये पैसे हमें दे दीजिए। ये हमारे हैं।

उनकी युवतियां : ये पैसे हमारे हैं ये भी हमारे हैं
चांद हैं सूरज हैं तारे हैं तारे हैं

दोनों : तुम्हारे कैसे हैं?

तीनों : पैसा उसका होता है जिसको चाहिए होता है
ऐ बंदे मैल हाथ का काहे रोता धोता है
जिसके पास नहीं है पैसा पैसा उसका बनता है
खान उसी की बनती है जो हीरे सोने खनता है

महिला : अरे तुम लोग तो शायर हो
मैं भी एक शायर से इश्क करती थी।

तीनों चोर : हम न तो शायर हैं न डायर हैं

जमाने के जुल्मोसितम पर फायर हैं

थानेदार : रस्सी जल गई पर ऐंठन न गई

तीनों : जब तक ऐंठन है तब तक रस्सी है
जब तक रस्सी है बकरा है खस्सी है

दोनों (थाने वाले) : सवाल ये है कि ये बकरा है किसका

गमछावाला : मामला पूरा गबरघिचोर है

टोपीवाला : मामला क्या है खड़िया का घेरा है
सदन सभा मसान है भूतों का डेरा है
कैसा रहा?

थानेदार : चाहे जो हो ये तीनों तो चोर हैं पक्का चोर हैं।

तीनों चोर : कैसे? जब पैसे चोरी ही नहीं हुए तो चोर कैसे?

थानेदार : तो फिर ये पैसे आए कैसे?
न इनका है न उनका है
चोर है चोरी है
पर किसी दाढ़ी में एक नहीं तिनका है।

(तभी टेलीविजन चालू होता है। ब्रेकिंग न्यूज। ब्रेकिंग विंड। ब्रेकिंग न्यूज। एक दढ़ियल चौरस आवाज बूम मारती है)

जंबू द्वीप की संपदा में सेंधमारी।
अभी तक की सबसे बड़ी चोरी।
करोड़ों करोड़ रुपए और गहने बरामद।
चोर तो पकड़े गए पर चोरी कहां हुई इसका खुलासा अभी तक नहीं हुआ। अभी अभी महामात्य श्री का बयान आया है कि इसमें राष्ट्रविरोधी शक्तियों का हाथ है। हो सकता है ये तीनों चोर पंचमांगी हों (विज्ञापन)

तीनों चोर : एक जमाना था जब हम चलते थे तो धूर उड़ती थी।
एक जमाना यह भी है जब कुत्ता हम पर भूंके है।

थानेदार : *(चोरों से)* बताओ तुम कौन हो?

पहला चोर : मैं सिल लोढ़ा जाता कूटता हूं, तीन महीने से काम नहीं मिला।

दूसरा चोर : मैं कुआं खोदता हूं। छह महीने से काम नहीं मिला।

तीसरा चोर : मैं घोड़े की नाल ठोंकता हूं। साल भर से काम नहीं मिला।

थानेदार : अब सच सच बताओ पैसे कैसे मिले?

तीनों : बताया तो। बंगले भी बता दिए। जाकर चीन्हा भी दिया। अब क्या?

थानेदार : लेकिन ये तो कहते हैं कि ये पैसे उनके नहीं हैं।

वे सब : नहीं नहीं हमारे नहीं हैं। हम तो कर्ज में डूबे हैं। हम पर बैंकों का दस हजार करोड़ का लोन है।

थानेदार : वही तो। तीनों को बंद करो।

(फिर टेलीविजन पर न्यूज ब्रेक। अभी अभी पता चला है कि तीनों चोरों को देश के सबसे नेक काजी ने फांसी की सजा दी है। कल तड़के गांधी मूर्ति के नीचे इन्हें फांसी दी जाएगी। निर्णय पर नेता जी, सरकार जी एवं

समस्त देशभक्तों ने अपार हर्ष व्यक्त किया है।)

तीनों चोर हाथ पीछे बांधे एक पंक्ति में खड़े हैं। भारी भीड़ है। सारे पात्र चोरों के दोनों तरफ खड़े हैं।

थानेदार : *(चोरों से)* बताओ तुम्हारी अंतिम इच्छा क्या है?

पहला चोर : मरने के पहले मैं भर पेट भात दाल चोखा खाना चाहता हूं

दूसरा चोर : मरने के पहले मैं धुली हुई सफेद कमीज पहनना चाहता हूं

तीसरा चोर : मरने के पहले मैं मुलायम बिस्तर पर सोना चाहता हूं

(तभी नट और नटी का प्रवेश। हजारों दर्शक मौजूद। जै जै के नारे)

नट : *(चोरों को देखकर)* अरे ये तो हमारे नाटक के पात्र हैं

नटी : अरे ये तो हमारे नाटक के पात्र हैं। ठहरो ठहरो, ये तो हमारे नाटक के पात्र हैं। पात्रों को फांसी थोड़े देते हैं। कवियों कलाकारों को तो ठग भी नहीं छूते थे। क्या तुम ठगों के भी ठग हो?

थानेदार : तो फिर ये रुपए कहां से आए?

नटी : बताती हूं बताती हूं। सुनो प्यारे भाइयो और बहनो। सुनो उपस्थित दर्शको। ये रुपए जिसके भी हों आकर ले ले।

सारे दर्शक : ये रुपए हमारे हैं रुपए हमारे हैं अपने ही हाथों से झारे हैं।

नेपथ्य से : भारत माता की जै!\
गरीब भारत माता की जै!\
गरीबों की माता की जै!\
भारत माता के नालायक बेटो भारत छोड़ो भारत छोड़ो\
भारत माता के भ्रष्टाचारी बेटों भाग पनामा भाग पनामा\
दुनिया की मांओं एक हो मां माता मम्मी और अम्मा एक हो

नट : ऐसी कहानी सुनाओ नटी आज\
ऐसी सुनाओ कहानी\
पिसता रहे तिल गिरता रहे तेल\
चलती रहे अपनी घानी

(इस प्रहसन में पर्दा नहीं गिरता)

कुंवर नारायण की कविताएं

क्या हम सब कुछ जानते हैं

क्या हम सब कुछ जानते हैं
एक दूसरे के बारे में

क्या कुछ भी छिपा नहीं होता हमारे बीच
कुछ घृणित या मूल्यवान,
जिन्हें शब्द व्यक्त नहीं कर पाते।

जो एक अकथ वेदना में जीता और मरता है
जो शब्दित होते हमारे बहुत बाद
जब हम नहीं होते
एक दूसरे के सामने
और एक की अनुपस्थिति विकल हो उठती है
दूसरे के लिए।

जिसे जिया उसे सोचता हूं
जिसे सोचता उसे दोहराता हूं
इस तरह अस्तित्व में आता है पुनः
जो विस्मृति में चला गया था,

जिसकी अवधि अधिक से अधिक
सौ साल है।

एक शिलाखंड पर
दो तिथियां
बीच की यशगाथाएं
हमारी सामूहिक स्मृतियों में
संचित हैं।
कभी कभी मिल जाती हैं
इस संचय में
व्यक्ति की आकांक्षाएं और विवशताएं
तब जी उठता है
दो तिथियों के बीच का वृत्तांत।

कुछ आवाजें

यह आवाज,
लोहे की चट्टानों पर
चुंबक के जूते पहन कर
दौड़ने की आवाज नहीं है।

यह कोलाहल और चिल्लाहटें,
दो सेनाओं के टकराने की आवाज है।

यह आवाज,
चट्टानों के टूटने की भी नहीं है,
घुटनों के टूटने की आवाज है।

जो लड़ कर पाना चाहते थे शांति,
यह कराह उनकी निराशा की आवाज है।

जो कभी एक बसी बसाई बस्ती थी,
यह उजाड़ उसकी सहमी हुई आवाज है।

बधाई उन्हें जो सो रहे बेखबर नींद
और देख रहे कोई मीठा सपना,
यह आवाज उनके खर्राटों की आवाज है।

कुछ आवाजें जिनसे बनते हैं
हमारे अंतःकरण,
इतनी सांकेतिक और आंतरिक होती हैं,
कि उनके न रहने पर ही
हम जान पाते हैं कि वे थीं,
सूक्ष्म कड़ियों की तरह

आदमी से आदमी को जोड़ती हुई
अदृश्य श्रृंखलाएं।

जब वे नहीं रहतीं तो भरी भीड़ में भी
आदमी अकेला होता चला जाता है।

मेरे अंदर की यह बेचैनी
ऐसी ही किसी मूल्यवान कड़ी के टूटने की
आवाज तो नहीं

जितना ही उन्हें खुश रखना चाहता हूं

जितना ही उन्हें खुश रखना चाहता हूं
उतनी ही उदास होती जाती हैं मेरी कविताएं,
विह्वल प्रार्थनाओं में बदल जाते हैं शब्द
बीहड़ रेगिस्तानों में
बंजारों की तरह भटकते
या काल्पनिक अभयारण्य में
शरण पाना चाहते हैं वे।

नृशंस हत्याओं का रक्त जल्दी सूखने से इंकार करता
उसकी चिनगारियां बहुत दूर तक पहुंचती हैं।
जितना ही हम चाहते हैं बड़ा फासला बना रहे
अत्याचारियों और निर्दोष जन के बीच
उतना ही भयानक होता जाता है
हमारे समय का सच।
हमें आक्रांत करता एक आदिम अंधेरा
होता जाता है गहरा
और गहरा।

गीत चतुर्वेदी की कविताएं

माइक्रोफोन माफिया

इतिहास मेरी प्रेमिका है
जिससे मैं हर शाम लड़ लेता हूं और कहता हूं–
'आज के बाद मुझसे बात मत करना।'

और थोड़ी देर बाद दबी जबान में कहता हूं–
'आ जाओ यार!
तुम्हारे बिना उतना ही अकेला हूं जितना एक पैर की चप्पल।'

जब बहुत उदास होता हूं
तो किसी स्त्री को याद नहीं करता
बल्कि इतिहास की कोई किताब पढ़ता हूं
इस तरह खुद को छलता हूं
और बेमानी चीजों के इतिहास में गर्क होता हूं

जैसे पायजामे का इतिहास :
दोनों पैरों को जोड़ने वाली जगह पर वे अक्सर थोड़ा फटे रहते हैं
और जुराब अंगूठे के पास से इसलिए नहीं फटते कि

अंगूठे को सांस लेने के लिए हवा चाहिए

इतिहास की सबसे पतली किताब भी इतनी मोटी होती है
कि उसका उपयोग हत्या करने के लिए किया जा सके :
हथौड़े की तरह उससे सिर फोड़ा जा सकता है

बहुत सी आवाजें अनसुनी रह जाती हैं
क्योंकि माइक्रोफोन पर कुछ खास लोगों का कब्जा है
इतिहास, वर्तमान, राजनीति, साहित्य, कला, संस्कृति
सब पर कब्जा है इसका
माइक्रोफोन माफिया

एक बात पर गौर करना :
जब भी मैं कमर पर हाथ रखकर तिरछा खड़ा होता हूं
मैं भारत के नक्शे जैसा दिखता हूं

मैं ओस बीनता हूं

उसने कहा था :
तुम कितना रुलाते हो मुझे, फिर भी मैं तुमसे प्रेम करती हूं
रोते रोते चिपक जाती हूं तुम्हारी अनावृत्त देह से
देह से चिपक कर और रोने लगती हूं

मेरे प्रिय कवि
तुम्हारी देह पर नमक का जो स्वाद है
तुम्हारे पसीने के नहीं, मेरे आंसुओं के कारण है

कवियों और आशिकों के पाप
गंगा भी नहीं धोती, सिर्फ ओस धोती है

मैं तब से ओस बीनता हूं

जाने कितना समय हुआ
रोज सुबह घर के पास एक उपवन में जाता हूं
एक छोटे से बरतन में
इकट्ठा करता हूं ओस
किसी पत्ती पर लटकी हुई   (बस अभी गिर जाएगी)

कभी घास पर फैली हुई (तपस्या में डूबे तालाब जैसी शांत)

चलते समय जितनी
मेरे पैरों में चिपककर खराब हो जाती है
उस ओस के लिए खुद को कोसता हूं
मैं वह कवि जिसके लिए ओस की हर बूंद अनमोल

हर रोज कल्पना करता हूं :
कि मैंने एक बाल्टी ओस जुटा ली है
मग में भरकर थोड़ी सी अपने सिर पर उंड़ेलता हूं
महसूस करता हूं बहती हुई ओस को
माथे पर, गालों पर, कंधों पर, छाती पर।

लेकिन

इस दुनिया में आंसू कितने ज्यादा हैं
ओस कितनी कम।

पहली मुलाकात

सब कुछ भूल जाने के लिए
मैं बूढ़ा होने का इंतजार नहीं करूंगा।
उससे पहले ही
एक उम्र तक पहुंचते पहुंचते
सब भूल जाऊंगा।

कठिन उच्चारण वाले दार्शनिकों के नाम
और सरल उच्चारण वाले भी।
महान किताबें। सारे गाने। मीरो गालिब के शेर।
बचपन में हाथ जोड़ जो प्रार्थना गाते थे स्कूल के मैदान में हर रोज, वह भी।
आम का स्वाद। जुलाई की बारिश। पांव के छाले। नमक की आंख।

जिस स्त्री को पहली बार चूमा था जीवन में
सिर्फ उसी को नहीं,
बल्कि यह भी साफमसाफ
कि जीवन में चुंबन नाम की कोई चिड़िया भी थी।
कुछ अभी ही शिकायत करते हैं कि मैं उन्हें भूल गया।

उनकी शिकायतों समेत उन्हें भूल जाऊंगा।
स्त्रियों। बच्चों। मित्रों। शत्रुओं। चीजों के नाम।

हो सकता है, मैं रेलगाड़ी को कंबल कह दूं
छुरियों को नौलखा हार
जहर को गम कहूं और उसकी सलाह मानूं जो कहता है
गम खाने से ही जीवन आगे बढ़ता है।

कविताएं और फोन नंबर मुझे वैसे भी याद नहीं रहते
ना अपने, ना दूसरों के।
मैं अपनी कविताओं को ऐसे पढ़ूंगा
जैसे मैंने नहीं, किसी और ने लिखी हों
इस सत्य से मैं तब परिचित होऊंगा।

उंगलियों से खोदूंगा मिट्टी
छोटे छोटे गड्ढे बनाऊंगा
कागज समेत कविताओं को उनमें गाड़ दूंगा।
कुछ लोग इसे अंत्येष्टि मानेंगे
और कहेंगे, मैंने कविताओं का कब्रिस्तान बनाया है।
लोग वहां से डरते हुए गुजरेंगे।
बच्चों को मना करेंगे अपनी खोई हुई गेंदें वहां खोजने से।

बीज भी तो आखिर मुर्दों की तरह ही दफन रहते हैं।
इसलिए उम्मीद करूंगा कि
उन गड्ढों से कुछ पेड़ उग आएं।
इस धरती से जितना लिया है
कम से कम उतना कागज तो लौटा कर ही जाएं
मेरी कविताएं।

उम्मीद को मैं तब भी नहीं भूलूंगा
भले ही वह प्रेमिकाओं से ज्यादा बेवफा रही।

आधी अधूरी पंक्तियां जो कभी कविता न बन सकीं
उन्हें यूं ही हवा में उड़ा दूंगा
जैसे पिंजरा खोल उड़ा देते हैं चिड़ियाएं।
ऐसा करके मैं खुश होऊंगा।

'खुश होना' भूलने का सवाल ही नहीं उठता :
क्योंकि खुशी से वही पहली मुलाकात होगी।

देखी तेरी कासी

हमारे भीतर का अंधेरा हमारी कंखौरियों तले छुपा होता है
किसी किसी रात हम जुगनू भी नहीं होते
हवा की परछाईं कांपती है मेरे रोमों पर
मन मैदान पर बेतरतीब उगी घास छंटने को अनमनी है

इच्छाएं दुखों की पूर्वज हैं
सारे विचार दरअसल दुख के वंशज हैं
मुझे यह सिर्फ बुद्ध ने नहीं बताया
मेरे अपने जीवन ने भी, जीवन ने तुम्हारे भी

मुस्कान क्या है धीरे धीरे फैलती एक सीमित दूरी के सिवाय
चुंबन धीरे धीरे गोल होती एक दूरी है

मिट्टी का स्वाद हर जगह बदलता
समंदर का स्वाद हर जगह एक सा रहता

भीतर जो शोर उठता है
डाकिया है अपनी साइकिल टिनटिनाता
मेघों को जल से भरने का दायित्व मुझ पर है
मैं कालिदास का एकमात्र वंशज

मैं महज कुछ
मानसिक अवस्थाओं का अनुक्रम

कोई तुमसे इतना प्रेम करेगा
कि प्रेम कर करके तुम्हारा नुकसान कर देगा
तुम कुछ कह भी नहीं पाओगे
हर आघात के बाद वह पूछेगा
तुम प्रेम में भी नफा नुकसान देखते हो

एक दिन तुम उस वंश के बादल बन जाओगे जो जरा से आघात से रो देता है

जीवन में क्रम का कोई महत्व नहीं
कई बार पहले हम बूढ़े होते हैं
फिर धीरे धीरे बच्चा बनते जाते
जैसे सात साल पहले मैं
ज्यादा परिपक्व था

एक मौन पेड़ मुझे देखता रहता है
चाहे कितना भी दूर क्यों न चला जाऊं
इतिहास गवाह है
जालिमों को अत्यंत समर्पित प्रेमिकाएं मिलती हैं

यह दुनिया समुद्री जल है
पियोगे तो पचेगा नहीं
उल्टे, उल्टी कर दोगे

भाषा के भीतर छिपकर सोया होता है
गलत व्याख्याओं का देवता

यहां मैं कविता लिख रहा, इतिहास नहीं
इतिहास को कविता की तरह लिखना बुरी आदत
यह हमसे बेहतर
इस देश भूमि से बेहतर भला कौन जान सकता

जो लिख गए वे तो खप गए
पाप बेचारी संततियां ढोती हैं

सही हिज्जे जानने का अर्थ यह नहीं
कि गलती नहीं होगी
गलती होने का अर्थ हमेशा अज्ञान नहीं होता

लौटकर लेकिन
अपने वाक्यों को हम शुद्ध नहीं कर सकते
जीवन में संपादन की सुविधा नहीं मिलती

फिर भी एक दिन लौटूंगा मैं
जैसे ओडिसस, इथाका लौटा था
धरती से पैदा हुई सीता
धरती को लौट गई थी

अपना मौन तोड़ेगा पेड़
फिलहाल वह मेरे चलने की
भाषा का व्याकरण रच रहा

मैं नाभि से ब्रह्मा उगाने का उद्यम करता
किसी समंदर में सोया हूं

नींद, मृत्यु का दैनिक अभ्यास है

जा रे जमाना
देखी तेरी कासी
जहां मालिक तो हजार, लेकिन एक ही खलासी

बोले तो कुछ भी

खाली कागज पर मैं कोलंबस की तरह घुसता हूं : भारत खोजने निकलता हूं : और जिस भी नई जगह पहुंचता हूं : उसे भारत मान लेता हूं : हकीकतन भटकात्री हूं : लोग मुझे यात्री मान लेते : बारिश की रंगहीन बूंदों को स्याही समझ सलाम करता : लेवाइस की नीली जींस पर पानी से एक स्त्री का नाम लिखता हूं : पुरुषों को मैं क्या कहूं? अपने जीवन का सबसे लंबा एकांत वे एक स्त्री के पेट में गुजारते हैं : और जीवन में सबसे कम, एक स्त्री को ही समझ पाते हैं :

जिंदगी उस लाइब्रेरियन की तरह है
जिससे आप बोर्हेस मांगें
और जो इतराते हुए आपको पाउलो कोएलो थमा दे

ग्रेगर साम्सा एक सुबह जागा तो कीड़ा बन गया था
एक कीड़ा एक सुबह जागा तो वह ग्रेगर साम्सा क्यों न बन पाया?

जागना, हमेशा कायांतरण नहीं होता
जागना, एक धंधा भी होता है।

सिगरेट पीते हो या न पीते हो : अंधेरों से डरते हो या न डरते हो : कवियो, अग्नि से आचमन करना : माचिस की नन्ही डिबिया से आशीर्वाद लेना : सोनिया की तरह जेल से बाहर खड़े रहना : अपने अंत तक रस्कोलनिकोव का इंतजार करना : वह बेकेट का गोदो नहीं है : जिस सुंदरता को रचने में ईश्वर असमर्थ होता है : उसकी रचना कवियों पर छोड़ देता है : कविता ईश्वर की असमर्थता है : किताब तीन तरफ से खुली दुनिया है : चौथी तरफ से अगर वह बंद न हो, तो उसमें कुछ भी टिक न पाएगा : कल्पना।

स्मृति। स्वप्न। किताब के तीन बाजू : चौथा बाजू यथार्थ है : हे हे हे : किताब में वहां से नहीं घुसा जाता : न ही वहां से बाहर निकला जाता : फिर भी वह किताब को बांधे रखता है : यथार्थ की बस इतनी ही भूमिका है :

अब इस कागज से बाहर निकलूंगा
सिकंदर की तरह निकलूं जो कभी लौटता ही नहीं?
या गौतम की तरह?
जो शाक्यमुनि बन लौटेगा
बोले तो न लौटे जैसा लौटेगा।

यह जो कागज है न, मेरा खेत है
मैं इस पर रोज खुदकुशी करता हूं
किसी को घंटा फरक नहीं पड़ता।
कवि और किसान की यही समकालीनता है।

श्रीप्रकाश शुक्ल की कविताएं

यातना एक जिद है

उठती हैं लहरें तो याद आता है अतीत
गिरती हैं तो रेत में लिपटा सरकता है भविष्य
सूखी हुई देह में चिपका जो नमक तब
खिलखिलाता है वर्तमान

वर्तमान यूं गुदगुदाता है
आदमी बस नमक बन
फिजां में फैल जाता है...

यातना एक जिद है
जो यातना में होता है वह बहुत जिद्दी होता है
जैसे कि हमारे पुरखे
जिनकी जिद ही उन असंख्य घावों के लिए मरहम थी
जो तब मिले थे जब वे
'काला पानी' की काल कोठरी से अपनी माटी को पुकार रहे थे!

घर

जब घर पर होते हैं
चौखट चिल्लाने लगते हैं   और
घर से बाहर जाने का मन करता है

जब घर से बाहर जाने का समय आता है
भीतर के कमरे उछलने लगते हैं   और
हम घर के भीतर खुद को टहलते हुए पाते हैं

घर के भीतर ही हमारी दुनिया है
और हम समझते हैं हम घर से दूर है
शायद बहुत बाहर भी!

दूरी असल में कुछ नहीं होती
सिवाय इसके कि हम घर के बाहर से
घर के भीतर झांकते हैं   और
और बेचैन हो उठते हैं।

रात

अंतिम सांझ विदा हो रही थी
पहली सुबह का पता नहीं
नाविक के पास चाल थी
गंगा फटेहाल थी

कौन कहता है
यह हाल हाल की बात थी
फावड़ा तो चल गया
बस तसले भर की रात थी!

देवदारु की दुनिया

मेरी देह
स्मृति की आंच में पकी
और संघर्ष के पसीने से छकी है

इसे बेवक्त मौसम की मार भी
अपने जड़सिक्त आकाशीय संकल्प से
विचलित नहीं कर सकती

मेरी फैली हुई भुजाएं
महज भुजाएं नहीं हैं
ये हर नवागंतुक के स्वागत को आतुर
बिछा हुआ वक्ष है
जहां से मेरी जड़ें सांस लेती हैं।

जिसने भी कान लगाकर
मुझे मेरी जड़ों में कुछ कहना चाहा
मैंने उसे सुना और अगले तक सुनाया

मुझे मेरी ऊंचाई में मत देखो
यह भी सोचो की नुकीले पथरीले किनारों पर उगा हुआ मैं
अपनी पातालमयी जड़ों में कितना संतुलित होकर उगा हूं
जाने कितनी रात जगा हूं

मेरे तने हुए तन के नीचे
कितनी रोयेंदार नसें हैं
कभी इसको भी सोचो
तो जान पाओगे
अकड़ना व तनना एक ही नहीं होता
अकड़ना अपनी नसों में खिंच जाना है
जबकि तनना
अपने हर रेशे को सही जगह पाना है।

काले काले बादल आए

काले काले बादल आए

भीतर मेरे उजले छाए।

धरती पर हरियाली छाई
दाने बिन सब रोएं भाई

दिन दिन लगे आस का मेला
फंसे सांस ज्यों योग अकेला

बात बात पर मौसम बदले
बिना बात के ज्यूं तन फिसले

अब तो मुक्त करो ये भाई
बचुया दुर्गति सही न जाई

बरसो बादल जब तुम आए।
देखो जग पर कैसे छाए।

काले काले बादल आए
मेरे भीतर काले छाये।

नवता

गंगा ने परंपरा दी
बुद्ध ने दी पुनर्नवता
कबीर ने दी अल्हड़ता
तो रैदास रचे मानवता!

सदियों से बहता हूं
इनकी लिए
भवता

जाने किस घाट लगे
मेरी पगी
नवता!

हलचलें

आने वाले दिन
जाने वाले दिनों के संकेत दे रहे हैं
और जाने वाले दिन
इस बात के प्रमाण हैं
आने वाले दिन बहुत अच्छे नहीं हैं

यह अच्छे दिनों की तमन्ना नहीं
बुरे दिनों के ख्वाब हैं
जो पड़ोस की हलचलों से छनकर आ रहे हैं।

यूं कोई भी इसमें खुद को न देखे
ये मेरे कुछ दर्द हैं
जो टीस बनकर छा रहे हैं!

बुरे दिनों के ख्वाब

बादल बरस रहे हैं
मेरे भीतर धूल उड़ रही है

धरती पर चारों ओर हरियाली है
मेरे भीतर मणिकर्णिका दहक रही है।

सब कुछ विकासमय है
और मैं स्मार्ट होते शहरों में जंगल की हत्या देख रहा हूं

कहने को तो महीना आषाढ़ का है
मुझे शिशिर में पतझड़ की आवाज सुनाई दे रही है

जो इस बारिश में भीग जाएंगे
मैं उनमें हड्डियों के चटकने की आवाज सुन रहा हूं

यूं तो यह दूबों के हरे होने का समय है
लेकिन इससे पेड़ों के दरकने की आवाज आ रही है

यह किसी देश का संकट नहीं है मित्रो
ये तो बुरे दिनों के ख्वाब हैं
जो अच्छे दिनों की तमन्ना से छनकर आ रहे है।

अरुण देव की कविताएं

स्पर्श

मेरी आकांक्षा का पुष्प तुम्हें स्पर्श करने से पहले ही खिल गया है

टूट कर गिरने से पहले
तुम मुझे छू लो।

अगर मैं

अगर मैं गिरा तो प्रेम में गिरा
झुका तो सामने प्रेम खड़ा था

अगर मैं अनैतिक हुआ तो प्रेम में हुआ
अगर समझौते हुए होंगे तो प्रेम बचाने के लिए
चालाकियां प्रेम पाने के लिए

अगर मैं नालायक था तो इसलिए कि प्रेम के लायक बन सकूं

जब लोग असरदारों के सामने गिरे, झुके, घिघिया रहे थे

और अपनी तरफदारियां चुन रहे थे
मैं प्रेम में था
मुझे इसके लिए आज भी लज्जित किया जाता है

शुक्र है मैं बदनाम दुनियादारी के लिए नहीं हुआ।

औजार और हथियार

हमारे पास औजार थे
तुम्हारे पास हथियार

हमने खेतों के लिए हल बनाए
मिट्टी के लिए कुदाल
घास के लिए खुरपी

हमने कुल्हाड़ी से पेड़ जरूर काटे पर जरूरत भर

धागों के लिए तकली, चरखे और सुई
तुम्हारे जंगली केशों के लिए कैंची, उस्तरे
तुम्हारे बेढंगे नाखूनों के लिए नेलकटर
घरों के लिए संदूक बनाए हमने
चूल्हे के लिए फुकनी और रोटी के लिए चिमटे

शिशु के लिए चम्मच बना कर जो खुशी मिली उसका बयान शब्दों में नहीं हो सकता
वह कभी कभी बच्चों के डकार में हिलती है

हमने सबसे पहले पहिये बनाए
इसी पर सवार सभ्यता आगे बढ़ी

हम कारीगर थे
भट्टी की आग में तपते हमारे चेहरे कभी बर्तन बनाते थे
कभी चूड़ी
कभी लैंप का शीशा

हमने जतन से झुमके गढ़े कि वे हिलें पर टूटे नहीं
हार को जीत ले मन

हम कामगार थे
मेहनतकश
हमने हथियार नहीं बनाए
चाकू हमने बनाए पर उससे तेज की कलम की धार
हमने मनुष्यों के रक्त में सने अपने हुनर के बारे में कभी सोचा भी नहीं

जब पहली बार औजार पर खून लगा वह हथियार बन गया
औजार धीरे धीरे हथियारों में बदलते गए
हथियार बढ़ते गए
तेज, नुकीले और धारदार

बढ़ती गई उनकी प्यास

हम कारीगर थे पर हमसे हथियार मांगे गए
भाले की नोक पर हमारा हुनर हमसे छीन लिया गया
तलवार की धार पर हमारी उंगलियों से टपका खून था

पर हम हिंस्र नहीं हुए कभी भी
हम उसी भट्टी से तवे बनाकर घर लाते थे
हमने उसमें लकड़ी के हत्थे लगाये कि न जले किसी स्त्री का हाथ

हमने कुल्हाड़ी जरूर बनाई पर उसे किसी की गर्दन पर कभी नहीं रखा

हम औजारों से दुनिया रहने लायक बना रहे थे
पर वे हमसे हथियार मांग रहे थे

घोड़ों पर सवार तलवारों ने रौंद दी थी धरती
नावों पर सवार बंदूकों ने खून की नदी में डुबो दी थीं संस्कृतियां

शस्त्रागार भर गए हथियारों से
राजा राजा नहीं हथियार था
देश देश नहीं उन्नत हथियार थे
हथियारों ने खुद चुने हत्यारे
हथियारों की प्यास बुझती ही नहीं

अब तो हत्यारों ने हथियारों पर पवित्रता की शान चढ़ा दी है
वे मारक ही नहीं अचूक हो गए हैं

हमने हड़प्पा, मोहनजोदड़ो, मेसोपोटामिया, रोम, यूनान और मिस्र बनाए
हमने नदियों के किनारे आबाद की दुनिया

तुमने वीरान किये द्वीप, तुमने हिरोशिमा जलाया
तुम्हारे हथियार अब युद्धों में ही नहीं प्रार्थना में झुके बच्चों पर भी गरजते हैं

बंदूक के सामने सिरिंज रखकर देखो
हमें हथियारों की कभी भी जरूरत न थी।

क्रासिंग

जहां सड़क को काटती है रेल वहां रेल के आने पर सड़कें ठहर जाती हैं
अभी सड़क के नीचे न सुरंग है न पुल
कि यात्राएं न काटें एक दूसरे को

तभी एकाएक आ गए कुछ बच्चे अधनंगे, मटमैले, धूप में तपे हुए
पिंजरों में लिए तोते

उनकी याचनामूलक ध्वनियों का सभी भाषाओं में एक ही अर्थ था
वे मुंह से नहीं पेट से बोल रहे थे

घरों में पक्षियों की आवाजें कब से चुप थीं कि अब वे स्मृतियों से भी धुल गईं थीं
बच्चों के पास खेलने के इतने यंत्र थे कि वे उसी में सुन लेते तमाम तरह के शोर
मासूमियत, जंगल, पक्षी, जानवर इनका अब आपसी रिश्ता नहीं बचा था

पके अमरूदों में खुश तोतों को यह सोच कर पकड़ा गया था कि
उनकी नकल की कला का कोई मूल्य अभी बचा हो बाजार में

बिकने से रह गए तोते न जाने राहत महसूस कर रहे थे कि लज्जा

जो पक्षियों से प्यार करना भूल जाते हैं वे एक दिन उन्हें मार देते हैं

वे उन्हें मारते हैं धुंए और शोर से मोबाईल टावर के रेडियेशन से
वे पहले एक पेड़ की हत्या करते हैं फिर धीरे धीरे मर जाता है जंगल

अब अगर यह मनुष्यों की यात्रा थी तो इसमें पक्षियों की जगह नहीं रही
और इस सड़क को काटती नहीं है कोई भी सड़क।

मुसलमान

आतंकवाद के बारे में आपका क्या ख्याल है?
अलविदा का यह समय था

उठते उठते बैठ गया
मुझे अब अपने को निर्दोष सिद्ध करना था

यह सही है कि मुझे एक ईश्वर, एक पैगंबर और एक किताब पर आस्था है
पर मैंने किसी की हत्या के बारे में नहीं सोचा

मैं नमाज पढ़ता हूं रोजे रखता हूं
पर मैंने कहीं गोली नहीं चलाई

मैं मांसाहारी हूं जैसे विश्व के अधिसंख्य लोग हैं
मुझे निर्मम और क्रूर आप क्यों समझते हैं?

मैं परिश्रम से अपनी आजीविका कमाता हूं, ईमानदारी से रहता हूं

अगर आपको मेरी टोपी, मस्जिदों और मदरसों से दिक्कत है
तो दरअसल आपको हिंदुस्तान के संविधान से समस्या है

अरब और इस्लामी मुल्क जो कर रहे हैं उसमें मेरा क्या कसूर
आइसिस, तालिबान और अलकायदा से मेरा कोई लेनदेना नहीं
हो सकता है वे मुझे मुसलमान भी न मानें

मैं वही इस्लाम हूं जो ताजमहल बनवाता है, पद्मावत लिखता है,
शेर सुनाता है और लजीज बिरयानी खिलाता है

मैं शेरशाह हूं, अकबर हूं, रहीम हूं
मैंने इस महाद्वीप को रजिया सुल्तान दिया
खुसरो, मीर, गालिब, कबीर दिए

इसी धरती पर सूफी फूल की तरह खिले
जिनकी सुगंध आज भी बिखरी है हवाओं में
सहिष्णुता और उदारता मेरे भी विरसे में है।

परंपरा

पितृपक्ष में दिवंगत पिता को जल देते देख
मेरे चार साल के पुत्र ने मुझसे कहा

जब तुम नहीं रहोगे
मैं भी तुम्हें जल दूंगा

दूसरी परंपरा

जब मां ने पुत्र से कहा जाओ दे आओ पितरों को जल
क्या वह पितरों में पिता की स्वर्गीय मां को भूल गई थीं

यह जानते हुए कि उनके न रहने पर जल
पितरों को ही दिया जाता रहेगा

क्या माओं के लिए वर्ष में नियत नहीं कोई मातृपक्ष
जब उन्हें कृतज्ञता से जल दिया जाए

क्या पुत्रियों की आंखों में जल नहीं है अपने पितरों के लिए।

आदमजात

मेरे जन्म ने तय कर दी मेरी पहचान

मुझे जो कुछ रटाया गया मैंने याद किया
मैंने सीख लिए रस्मो रिवाज
अपने धर्म को अंतिम मानते हुए मैंने उसे स्वीकार किया

मुझे संभावित नर्क से बचने के लिए
अपनी तरफ से न कुछ देखना था, न सुनना था, न सोचना था, न बोलना था

अब मुझे कृपानिधान, सर्वशक्तिमान के इस सृष्टि में कर्मफल भोगते हुए
स्वर्ग की चाह में मरना था

और इस तरह मैंने अपनी मनुष्यता खो दी।

निखिल आनंद गिरि की कविताएं

युवा कवि निखिल आनंद गिरि की कविताएं पहल, पाखी, परिकथा, दूसरी परम्परा, जैसी प्रतिष्ठित पत्रिकाओं में छपकर चर्चित हो चुकी हैं।

तीस की उम्र

चांद तक जाती हुई एक सीढ़ी
टूट जाती है शायद
टूट जाते हैं सब संवाद
चांद जैसी धवल प्रेमिकाओं से
तीस साल की उम्र तक आते आते।

अकेले कमरे में सिर्फ सिगरेट ही नहीं जलती
पुरानी उम्र जलती है कमरे में
भूख जलती है पेट में,
बिस्तर पर
यादें जलती हैं
जिंदगी जलकर सोना हो जाती है
तीस की उम्र तक आते आते।

समय इतनी तेजी से घूमता है
इस उम्र में
कि सब कुछ थम सा जाता है
आंखें नाचती हैं केवल।
बहुत सी सांसें भरकर
रोकना होता है भीतर का ज्वार
बहुत तो नहीं रुक पाता फिर भी।

कंधे पर एक तरफ होता है
तमाम जिम्मेदारियों का बोझ
बेटी जागती है रात भर
तो प्रेमगीत लोरियां बनते हैं।
पिता पहली बार लगते हैं बूढ़े
मां किसी खोई हुई चाबी का उदास छल्ला।
दूसरे कंधे पर झूलता है ऐसे में
सूखी पत्तियों की तरह हरा प्रेम।

दुनिया में सब कुछ हो रहा होता है पूर्ववत
कुछ भी नया नहीं
सड़क पर लुटते रहते हैं मोबाइल
बहकते रहते हैं नए लौंडे
कानून तब भी अंधा
एक ही तराजू पर तोलता रहा है
उम्र और जुर्म के बटखरे।

सिर्फ नया होता है
एक उम्र का दूसरी उम्र में प्रवेश
अपनी अपनी बालकनी में खड़े सब भाई बंधु
युद्ध के मैदान में अचानक जैसे।
तीस की उम्र का रथ होता है एक
कोई सारथी नहीं
जिसके पहिए घिसने लगते हैं पहली बार।

ये जिंदगी से लंबी सड़कें किसने बना दीं

किसने बिछा दिए कंकड़?
कौन है रातें इतनी अंधेरी कर गया

किसने छीन ली आग कलेजे से।
कोई तो है छल से
रहता है छिपकर भीतर।

एक लड़की भी हो सकती है शायद
छोटे बालों वाली
या कोई गौरेया दाना लिए
छिपकर बैठी किसी कोने में
घुटनों में चेहरा छिपाए
कैसे तोड़ दूं छिपना किसी का।

आकाश छिप गया मन के भीतर
मौसम छिप गए सारे वहीं
मैं भूल गया वो कोना
जहां छिपना था सबसे बचकर।

जितना संभव था

जितना संभव था
बचाया जाना चाहिए था।

जीने के लिए सांसें,
प्रेम के लिए मौन
जगमग रातों के लिए अंधेरे
मौन अपराधों के लिए क्षमा।

शोर में बचायी जानी थी
एंबुलेंस के सायरन की आवाज
ब्रह्मांड में रोने की आवाज
शहर के लिए हरियाली
और कम से कम एक थाली
या निवाला भर ही
चिड़ियों के लिए।

बचाने को बचायी जा सकती थीं सब स्मृतियां
कम से कम कुछ इमारतें ही
जिन्हें बुलडोजरों के आगे घुटने टेकने पड़े।

सड़क पर पैदल चलने की जगह
बूढ़ी महिला के लिए हर डिब्बे में एक सीट
भीड़ में थोड़ी विनम्रता
हरे भरे पार्क शहरों में
जहां पढ़े जा सकें असंख्य प्रेम गीत।

वर्णमाला के कुछ अक्षर भी बचाए जाने थे
कम से कम हलंत या विसर्ग ही।
हाशिये बचाये जाने थे कागजों पर
जितना संभव था कागज भी।

बहुत अधिक व्यस्त या क्रूर समय में से
थोड़ा सा समय
निर्दोष बच्चों के लिए।
या इतना तो बचाया ही जा सकता था समय
कि बचा पाना सोचते उतना
जितना संभव था।

अकेली लड़की के लिए

एक लड़की अकेली है जैसे
पत्थरों के हजारों देवता और एक अकेला याचक
सैंकड़ों सड़कें सुनसान, गाड़ियां, धुएं और एक विशाल पेड़
हजारों मील सोया समुद्र और एक गुस्ताख कंकड़
इन सबसे बहत बहुत अकेली है एक लड़की
मुकेश के हजार दर्द भरे गानों से भी ज्यादा...

उस लड़की से उनको बात करनी चाहिए
फिलहाल जो सेमिनारों में व्यस्त हैं
स्त्रीवादी संदर्भों की सारगर्भित व्याख्याओं में
आंचल, दूध, पानी की बोरिंग कहानियों में
उनको बात करनी चाहिए
जो जमाने को दो गालियां देकर ठीक कर देते हैं
क्रांति की तमाम पौराणिक कथाओं में खुद को नायक फिट करते हुए

जो 'ब्रेक के बाद दुनिया बदल जाएगी'
इस सूत्र में भरोसा रखते हैं

उन्हें ब्रेक भर का समय देना चाहिए लड़की के लिए
लड़की के पास इतना भर ही है समय
जिसमें ठहर कर ली जा सकती है
एक गुस्से भरी सांस
और मौन को पहुंचाया जा सकता है
उस अकेली लड़की के पास

वो आपके हमारे बीच की ही लड़की है
थोड़ा थोड़ा घूरा था जिसे सब ने
पीठ पीछे गिनाए थे उसके नाजायज रिश्ते
मजबूरन जिसे करनी पड़ी थी आत्महत्या
आपकी दुआओं से बची हुई है आज भी

एक लड़की एफआईआर से लड़ रही है
एफआईआर से लड़ते लड़ते अचानक वो दुनिया से लड़ने लगी है
दुनिया उसे हरा देगी देखना
जो उसके खिलाफ गवाही देंगे
उसमें भी कई लड़कियां हैं
जो आज मजबूर हैं
कल अकेली पड़ जाएंगी

पहले कदम से पहले

पहली बार चलना सीख रही है मेरी बच्ची
फिर गिरेगी, उठना सीखेगी
लड़की को चलना सीखना ही पड़ता है
इस तरह दुनिया का शुक्रिया।

उस तरफ चलना मेरी बच्ची
जिधर सूरज सबके लिए बांहें फैलाए खड़ा हो
उस भीड़ का हिस्सा कभी मत बनना
जहां आग लगाकर चल रहे हैं लोग
उधर नहीं जहां चलने से पहले देखने पड़े खतरे
जो भटक गए हैं चलकर, उन्हें थामना
चलना सबको साथ लेकर।

इस तरह चलना
कि कदमों की आहट से डरे न कोई

ऐसे जैसे चलकर आती है सुबह की पहली किरण
या कोई मीठी याद चुपके से सपनों में
जो बहुत तेज चल रहे घबराना नहीं उनसे
ठंडी ओस की तरह छूना जमीन को
बुलडोजर की तरह नहीं मेरी बच्ची।

जहां सबसे अधिक जाम था सड़कों पर
पैदल चलने वाले ही पहुंचे सबसे पहले मंजिल पर।
दुनिया जो बहुत तेज चल रही है
उससे कोई गिला नहीं रखना
चलते चलते कोई नहीं उड़ सका आज तक
इसीलिए चलना चलने की तरह।
थक कर सुस्ताना किसी नरम घास पर।

दुनिया के सब रहनुमाओं
सब योद्धाओं, मसीहाओं से प्रार्थना है मेरी
जो चल रहे हैं किसी का घर जलाने
किसी से लड़ने बीच सड़क पर
गालियां बकने किसी के मोहल्ले में
या बिना बात कई खेमों में बंटने
मार काट करने
कुछ देर आराम कर लें
शोर न करें अपनी आहट से।

मेरी बच्ची ने अपना पहला कदम
चलना सीखा है
और अब थक कर सोना चाहती है।

राहुल कुमार की कविताएं

जन्म : 1987, पूर्वी चंपारन, बिहार। राहुल कुमार कविताएं काफी दिनों से लिख रहे हैं किंतु प्रकाशन पहली बार। गोपालगंज, बिहार में बतौर जिलाधिकारी उनकी जनोन्मुखी गतिविधियों की व्यापक सराहना।

दुरूहता

दुरूहता के आरोपों से जूझते हुए
सोचा,
ठिठक कर आत्मचिंतन कर लेना
हमेशा श्रेयष्कर होता है।
दिशा भाषा की हो
या कि जिंदगी की,
अनियंत्रित ठीक नहीं होती।

ठीक उसी वक्त
अंतस के सांकल में जबरन
कैद कर दिए गए कोनों से
गूंजा एक प्रश्न 'वाकई'?
'दिशा' और 'नियंत्रण' की

आवश्यकता तय करने वाले हम,
और क्या क्या तय कर लेते हैं
'स्वयं' की जिंदगी में!

जिस 'समझ' के भरोसे
यह कलम थामी है,
वह स्वयं नहीं स्वतंत्र,
वशीभूत है संस्कारों के
परिस्थितियों ने जिन्हें अपना 'खांचा' दे रखा है।

'तर्क' जिनके सहारे हम
पार पाना चाहते हैं
हर द्वंद्व, हर विरोध से,
वह स्वयं नहीं स्वतंत्र
'सिद्धि' हेतु पैनेपन के अतिरिक्त
अपने अवलंब पर है आश्रित
बुरी तरह से।

जब कि
'समझ' एवं 'तर्क'
स्वयं नहीं स्वतंत्र
जकड़े हुए हैं अदृश्य बेड़ियों से
पहरा जारी है शनै शनै,
तो भी
एक द्रष्टा मन है,
'संजय' की आंखों से देखता,
अतिक्रमण करता हर पराजयबोध का
शंखनाद करता है—
'इंसान लिलिपुट नहीं है'

यद्यपि जीवन गणित नहीं
एवं 'आगमन निगमन' के दायरे भी
स्वयं को पाते हैं असमर्थ
'डिकोड' कर पाने में इसे पूर्णतः
हू ब हू 'थ्योरी' की तरह,
तो भी,
अनसुलझे प्रश्नों को

नियतिवाद का वाहक क्यों होना चाहिए?
मैं प्रश्न करूंगा
क्यूंकि प्रश्न करना जिंदा होना है
और मैं जानता हूं कि
जिसे 'नियति' कहा जाता एवं
'नियंता' माना जाता है,
वह 'कर्म इकाइयों' का
अंतराल मात्र है।

और जब
'दिशा' एवं 'बोध' पर नियंत्रण
का प्रश्न
कृत्रिम आग्रह है,
'अतिक्रमण' को युग का
मुहावरा बन जाना चाहिए
एवं 'दुरूहता' आरोप नहीं
चुनौती हो,
'सहजता' को झकझोरने को,
आवरणों से मुक्ति हेतु।

और भले ही
समझ के स्तर पर
दुर्बोध रहूं,
भाषाई पर्यावरणविदों के फतवों
के समक्ष साफ कर देनी हैं
कुछ बातें
अभी की अभी।
दुरूहता और शुद्धतावाद में
नहीं है अन्योन्याश्रय संबंध
वरन विशुद्धता सीमा है,
रोक है,
मौत है
एवं मिश्रण—प्रगति,
शृंखला
शाश्वतता।

व्यर्थता

अर्धनिद्रा और अर्धस्वप्न के मध्य कहीं
स्याह झुरमुटों से गुजरते हुए
व्यर्थता
'अर्थ' की परिभाषा से टकरा रही थी।
'सब कुछ' के पीछे की नियति
'हर कुछ' के पीछे का कारण
अपने वजूद का
अपने होने का,
व्यर्थता
'अर्थ' मांग रही थी।

हर कोई कर रहा जतन
कोई न कोई जवाब पाने को
पर
सवाल मौजूद है
शाश्वत है
खड़ा है चुनौती की तरह
'होने' पर।
हर इंसान चलता फिरता
प्रश्नवाचक चिह्न है।

कहीं से चलकर
कहीं भी
पहुंचने की जद्दोजहद में
कहीं भी
न पहुंच पाने की व्यर्थता।
शून्य से उत्पन्न व्योम
शून्य से ऊर्जस्वित व्योम
भूलकर अपना उत्स,
गफलत की रफ्तार में है
और
बगैर उसकी जानकारी के
एक असीम शून्य
तारी हो रहा क्रमशः हर कहीं
बाहर भीतर।

शून्य देख रहा रफ्तार को
शून्य हंस रहा बेसबब
व्यर्थता पर सारी कवायदों की।

फड़कती रहती है
कनपटी की नस,
नींद की बड़बड़ाहट सरीखा
बेमतलब है हर कुछ।
या फिर,
'अर्थ' स्वयं भ्रम है,
धोखा है,
बेमानी है,
अर्थहीन है!
और 'व्यर्थता'
शाश्वत,
पवित्र,
असीम एवं
अर्थवान!
शून्य 'जवाब' मांग रहा।

शब्द ब्रह्म है

'शब्द ब्रह्म है'
यह नहीं कि इस शब्द समूह
की महत्ता से परिचित नहीं हूं मैं,
या फिर
इसके सत्य को
संदेह के कठघरे में
खड़ा किया हो कभी भी।
स्वयं रहा मैं उपासक साधक
शब्दों का,
मुग्ध होकर देखता रहा हूं
उस जादुई बिंब को
जो हो जाता है निर्मित
ध्वनियों के मेल के इर्द गिर्द।

पर, जब कभी

शब्द करने लगते हैं अभिव्याप्त
अर्थ को,
सीमा विस्तार शब्दों के
महात्म्य का,
करने लगता है भाव को
पंगु,
मुझे आपत्ति है!

जितनी निरीह है
ओढ़े हुए खोल से
अंतस के खोखलेपन को
ढंकने की कोशिश,
उतना ही आपराधिक
शब्दों का 'अर्थ' की सीमा में
अतिक्रमण।
किसने दे दिया संकुचन का यह अधिकार
'ब्रह्म' को?
मुझे आपत्ति है!

मुझे स्वीकार नहीं
कि
शब्द तो सीना ताने
अपने औदात्य के मद में रहें चूर
और अर्थ!
बेबसी के कोने में
मंथन को अभिशप्त
कि कहां तो तय था
जिसका वाहक होना
वह क्योंकर बन बैठा नियंता!
अभिव्यक्ति ही तो शर्त थी
शब्द और अर्थ के बीच
अनुबंध की।

और भले ही,
पुराने उपमानों को
मैला बताने वाले युग कवि ने
स्थापित किया,

कि
'काव्य सबसे पहले शब्द है
और सबसे अंत में भी
यही बात बच जाती है
कि काव्य शब्द है'
मुझे आपत्ति है!

नताशा की कविताएं

चुपचाप लिखते हुए नताशा कविता में अपनी जगह बना रही हैं।

एकांत के सहचर

एकांत के सहचर
भीड़ में गुम जाते हैं
नहीं होती उन्हें जरूरत
धूप हवा पानी की
द्रुत उच्छ्वास में रेत की किरकिरी सी
झरने लगती हैं मृत जुगनुएं
फिर रह जाता है विलंबित अंतराल
अंधेरे के उत्सव के बाद
यूं दम तोड़ता है देहराग!

एकांत के सहचर-2

मृत जुगनुओं के गिरने के बाद
रात अपने अंगूठे के सिरे से

नींद को खींच माथे लगाती है
किसी टूट चुके वादे की मानिंद
शर्मिंदा सी रात मुंह ढांप लेती है
स्मृतियों के लंबे हाथों का
उढ़के हुए अतीत के किवाड़ तक पहुंचना
राख में दबी हुई चिंगारी से उलझना है
गैरजरूरी दराजों की बहुत पुरानी आवाज से
कांपता है कोई सिरा
जैसे गांठ बांधनी रह गई हो
विस्मृत हुई हो
बहुत पुरानी कोई पगडंडी
जिसकी देह पर वर्षों से कोई धुन नहीं रची गई
और भटकी हुई किसी रेल के मृत शवों का
इल्जाम ढो रही हो!

गुजारिश

प्रेम मत करना नए कपड़े की तरह
कि घिर रहे हैं हर वक्त गंदगी के भय से
जिस चौकन्नेपन से वह देह को घेरे रहता है और घर की देहरी में लौटते ही
हाथ बेचैनी से बटन तक पहुंच जाते हैं

करना घरेलू कपड़े के सूत की मानिंद
जो देह को अच्छी तरह पहचानता हो
घर्षण की लय में
रोमावलियों को लपेट लेता हो

प्रेम में छप्पन व्यंजनों वाले भोग के स्वाद से बचना
कि उंगलियां रहें तब भी उधेड़बुन में
जब वे दुनिया का सबसे जरूरी काम कर रही हों

करना वैसे
कि मान से मिले जगह
थाल में हर प्रकार को
और व्यंजन यह भांप ले
किस कौर में
पहुंचेगी वह जिह्वा तक

प्रेम करना वैसे
जैसे गले से उतरती है गर्म घूंट सर्दियों में
पहुंचती हो उसकी भांप देह के हर पोर तक
प्रेम में आंच थोड़ी कम हो
तो बढ़ता ही है ताप
प्रेम ज्यादा चढ़े परवान
तो उतरना ही शेष रह जाता है।

पहला प्रेम

उम्र की महसूस होने वाली
वह पहली हवा थी
उस हवा की नरमाई
झाड़ झंखारों के लिए नहीं थी
पेड़ों की जड़ों
और टहनियों के लिए भी नहीं
न थी वह हवा
किसी बूढ़े पीपल की
जमीन छूती अड़ी हुई लटों के लिए
वह हवा चली
केवल उस पत्ती के लिए
जिसने कोंपलों के बीच
जगह बना ली थी
जो अपनी अंगड़ाइयों के नये अर्थ गढ़ रही थी

किसी देश पर बम गिरने की खबर जैसा
गिरा था आंगन में प्रेमपत्र
और अंगारों की जगह बरसने लगे थे फूल
अप्रत्याशित गंध से उमग उठी थी श्वास

वह प्रेम कर रही थी
जैसे युग बदल रहा था!

जो है यही है

हम तय कर रहे थे प्रेम का अंतहीन सफर
एक एक सीढ़ियां चढ़ रहे थे

वहां तक के लिए
जिसकी अंतिम कोई सीढ़ी नहीं थी
सुना है
प्रेम उंचाइयों में ही विस्तार पाता है

प्रेम में बहुत कुछ टूटता भी है
छूट भी जाता है हाथों में आते आते
मुझे टूटे और छूटे हुए में से
उस खुरचन को रख लेना है
जो सीढ़ियों की सतहों से खुरच कर
मेरे विस्तार का आकाश बन रहा है।

मैं आकर्षण की अंतिम तह तक जाना चाहती हूं
देखना चाहती हूं उसके प्रस्थान बिंदु को
नक्काशियों के पीछे का खुरदुरापन
होगा वहीं कहीं ध्वंस का वर्जित इलाका भी

प्रकारांतर रास्तों से होकर भी
प्रेमी प्रेम तक ही पहुंचते हैं
मैं जानती हूं
वहीं किसी के मलबे की कोख में
हमारे प्रेम का भ्रूण लेगा आकार

जब धसेंगे शब्द मेरे भीतर तुम्हारे
निकलोगे वहीं से तुम नया अर्थ लेकर!

एकांत का स्पंदन

चांदनी घुलती है
रात के अंधेरे में
अंधेरा अदृश्य होता है
चांदनी की पहरेदारी में
नींद सोती है बेफिक्री से
शेष रह जाता एकांत का स्पंदन!

मौन के मनके फेरती है पहर
झींगुर रात के पैरों में

लयबद्ध मात्राओं का संतुलन साधता है
पृथ्वी सरकती है धीरे धीरे अपने अक्ष से
तारीख भी अगला दांव खेलता है
प्रेमी स्थायी से अंतरे की खोज में
पुरसुकून से भरा
एक गीत पूरा कर लेते हैं!

कविता स्पंदित हो रही
रात अब बीतने को है!

प्रारंभ से

मुझे स्वरों में साधो
तो गंधार की जगह रखना
सप्तकों में मंद्र
ताल में तीन
राग में यमन

आलाप के आरंभ की अवस्था
होती है आह्वान की
सुर हो उठते जब उद्धत
साज से फूट पड़ने को
प्रारंभ के उस क्षण
मैं छेड़ूंगी वह तान
आरोह से अवरोह तक

प्रस्थान का वह बिंदु
जहां लौटने की उम्मीद
बची रहती हर बार!
जैसे जीवन का प्रारंभ
जैसे वर्ष का प्रारंभ
जैसे प्रेम का प्रारंभ

हों लबालब उत्कंठाएं
जीवन के संगीत का
हर उलझन सुलझा करे
बार बार प्रारंभ से!

10, ब्रयुकेन श्ट्रास्से, 54290, ट्रिया, जर्मनी

सुहेल वहीद

सुहेल वहीद कौमी आवाज, नवभारत टाइम्स, नई दुनिया के संपादकीय विभाग में काम करने के बाद कुछ वर्षों से उ.प्र. सरकार की सेवा में। मूलतः कथाकार। 'परिश्तश बर्फ की' नाम से एक कहानी संग्रह उर्दू में। हिंदी में भी समान गति। 'उर्दू पत्रकारिता की भाषा' शीर्षक से एक अन्य पुस्तक प्रकाशित।

कार्ल मार्क्स बचपन से ही कार्ल मार्क्स में इतनी गहरी दिलचस्पी पैदा हो गई थी कि उनका चेहरा दिमाग में बस चुका था। हमारा ननिहाल और ददिहाल दोनों, सीतापुर में थे। नहीं पता कि क्यों, पर हमने अपने बचपन का काफी हिस्सा ननिहाल में बिताया। वहां छोटे मामू काफी बड़े कामरेड थे, उन पर मार्क्सवाद इस कदर सवार था कि उन्हें कुछ और सूझता ही नहीं था। अपनी जिंदगी में उन्होंने इसे पूरी तरह से उतार भी रखा था। दास कैपिटल उनके सिरहाने रखी रहती थी, लेनिन की लाल कवर वाली किताबें भी उनके बेड के आसपास ही दिखती थीं। सीतापुर में कम्युनिस्ट पार्टी के दफ्तर में उन्होंने अपनी जवानी गुजार दी। जब उन्हें कोई कामरेड कह कर बुलाता तो वह इस तरह मुस्कुराते जैसे कुछ मनचाहा मिल गया हो। हम भी उनके चेहरे में अक्सर मार्क्स को देखा करते थे।

उन्हें जब पेंटिंग का चस्का चढ़ा तो उन्होंने सबसे ज्यादा कार्ल मार्क्स और लेनिन पर ही हाथ साफ किया। मार्क्स को शायद उनकी यही श्रद्धांजलि थी। मार्क्स के वह इतने दीवाने थे कि जब तब उनकी पेंटिंग्स बनाया करते थे। मार्क्स और लेनिन की फोटो को देख उन्होंने न जाने कितनी पेंटिंग्स बना डालीं और खूब बांटी। टूटे हुए रंगबिरंगे कांच के टुकड़े लगाकर मार्क्स की बड़ी बड़ी पेंटिग्स को वे उतनी ही मेहनत और लगन से तैयार करते थे जितनी मेहनत एक कारीगर बनारसी जामदानी तैयार करने में करता है। उनको मार्क्स के दीवाने के तौर पर देखते हुए हमारा बचपन बीता था और हमारी बचपने वाली जवानी के दिन वही थे जब भारत में रूसी साहित्य का बोलबाला हुआ

करता था और दिल्ली लखनऊ तो छोड़िए, हर शहर में हिंदी और उर्दू में रूसी साहित्य की किताबें बेहद सस्ते दामों पर मिल जाया करती थीं। टीचर और बड़े बुजुर्ग उभरते हुए नौजवानों को गोर्की की 'मां' गिफ्ट किया करते थे। लिहाजा मार्क्स की दास कैपिटल उन्हीं दिनों हिंदी में पढ़ डाली थी। पुश्किन की कविताओं और चेखफ की कहानियों पर सिर भी तभी खूब धुना था।

14 मार्च 1983, कार्ल मार्क्स की सौवीं बरसी, यही वह दिन था जब सीतापुर से हमने अपने उन्हीं मामू की सरपरस्ती में एक टेबलॉयड साइज का उर्दू हफ्तावार अखबार 'निशान' निकाला, जिसके पहले पूरे पेज पर कार्ल मार्क्स की दाढ़ी वाली तस्वीर छपी थी। उस जमाने में सीतापुर जैसे छोटे से शहर के मुस्लिम इलाके से पहले पूरे पेज पर मार्क्स की तस्वीर छाप कर उर्दू अखबार निकालने का हौसला दीवानेपन के अलावा कुछ नहीं था। आज सोचता हूं तो झुरझुरी दौड़ जाती है कि कैसे इतना बड़ा काम कर गया, यह सोचे बगैर कि अंजाम क्या होगा, अखबार का और खुद मेरा, लेकिन जो करना था सो कर दिया। इस पूरे अखबार की डिजाइनिंग, खबरों का संकलन, उनकी किताबत और प्रूफ रीडिंग और न जाने क्या क्या...सब कुछ हमने अकेले किया था। लखनऊ के नामी प्रेस से छपवा कर 14 मार्च 1983 को सीतापुर में वह अखबार क्या बंटा कि हमें कामरेड (काफिर) घोषित कर दिया गया। ज्यादातर लोगों ने कहा कि छुटपन में ही बिगड़ गया। जिधर से निकलते लोग न जाने किन निगाहों को देखते। कोई चोर निगाहों से देखता तो कोई देखकर दांत किटकिटाने लगता, कोई ख्वामखाह मुंह बिचका देता और कोई देखता ही नहीं था। यह सब वही लोग थे जो या तो रिश्तेदार थे या मिलने जुलने वाले। कई दोस्त कुरबान हो गए क्योंकि उनके बाप और घरवालों ने हमसे मिलने जुलने से मना कर दिया। कॉलेज में भी इसका असर पड़ा और मुझे महसूस हुआ कि कोई टीचर अचानक हमसे करीब हो गया है और कोई मुझे देखते ही कुछ बक देता है, जो गाली ही हो सकती है।

लेकिन तब तक काफी रूसी साहित्य पढ़ चुके थे और संघर्ष का मतलब समझ आ चुका था। सो झुकने या हारने का तो सवाल ही नहीं था। उन दिनों हम सीतापुर के आरएमपी डिग्री कॉलेज से बीए कर रहे थे तो सबसे पहले अपने कॉलेज के प्रिंसिपल से उस अखबार के सालाना चंदे की रसीद कटाई थी, बाकी लोगों से बाद में, और जल्दी ही लोग हमें 'निशान' के उभरते हुए संपादक के रूप में जानने लगे। लेकिन ऐसे लोग कम थे और उन दिनों पत्रकार होना भी कौन सा अच्छा मुकाम हासिल कर लेना था। पत्रकारों की फटीचरी से कौन नहीं वाकिफ था और एक एक चाय के लिए इधर उधर दौड़ते दिखने वाले लोगों को पत्रकार माना जाता था। यह वही दौर था जब किसी से यह बताने पर कि पत्रकार हैं, वह पलटकर पूछता था कि काम क्या करते हो। जिला प्रशासन में बैठे अफसर भी गिरी निगाह से देखते थे, मीडिया का भौकाल तब तक छोटे शहरों की सरहदों में दाखिल नहीं हो पाया था क्योंकि अखबारों के जिला संस्करण और क्षेत्रीय टीवी चैनलों के छुटभैय्या पत्रकारों की फौज की गुंडागर्दी से तब तक छोटे शहर वाकिफ नहीं हो पाए थे।

थोड़ा और बड़े होकर लखनऊ आए तो लखनऊ यूनिवर्सिटी में भी माहौल वाम वाम था। एआईएसएफ के सहारे जितने लोग मिले वह सब के सब वामपंथी थे ही, यह वे दिन थे जब यूनिवर्सिटी के छात्रसंघ की अध्यक्षी से हटे अतुल अंजान को दो तीन साल ही हुए थे। कम्युनिस्टों का जलवा माहौल में साफ महसूस किया जा सकता था बल्कि यह कहा जाए तो गलत नहीं होगा कि कामरेड होना उन दिनों गर्व की बात तो थी ही। वहां से पैदल कैसरबाग के कम्युनिस्ट पार्टी के दफ्तर में लोगों से मिलना जुलना भी एआईएसएफ के सहारे होने लगा। हजरतगंज में चेतना केंद्र पर वामपंथी लेखक जमे रहते थे और हम जैसे वहां खड़े रहते थे। चेतना केंद्र में रूसी साहित्य भरा पड़ा था, वही खरीद भी सकते थे क्योंकि एक तो वह मन को भाता था दूसरे सस्ता भी था। उसके पास

ही कॉफी हाउस में कॉफी के साथ सिगरेट पीते बुद्धिजीवी, पत्रकार और लेखक सब के सब कम्युनिस्ट ही थे शायद, या हम उन्हीं से मिलते थे, जिनसे नहीं मिल पाते थे उन्हें दूर से बैठे देखा करते थे।

यहां से दिल्ली पहुंचे जेएनएयू में दाखिला नहीं मिला तो अगले साल दिल्ली विश्वविद्यालय में दाखिला लिया और जिस प्रोफेसर के अंडर में एमफिल करना नसीब हुआ वह तो बड़े भारी कम्युनिस्ट थे। प्रोफेसर कमर रईस, तरक्की पसंद मुसन्नफीन यानी प्रगतिशील लेखक संघ के जनरल सेक्रेटरी। उनके घर आना जाना बढ़ा तो कामरेड होने के और गुर सीख लिए। बुर्जुआ और वर्ग संघर्ष जैसे शब्दों के अर्थ तो पहले से पता था यहां आकर उसकी अवधारणा भी समझ आ गई। 1986 की शायद फरवरी थी जब दिल्ली में कमर साहब ने एक बहुत बड़ा अंजुमन तरक्की पसंद मुसन्नेफीन का जलसा किया। इसमें अहमद फराज और इफ्तिखार आरिफ को भी आना था लेकिन वह नहीं आ सके थे। लेकिन पाकिस्तान से कतील शिफाई, फहमीदा रियाज, मुनीर नियाजी, किश्वर नाहीद, एहसान दानिश और परवीन शाकिर आई थीं। अली सरदार जाफरी, कैफी आजमी, इसमत चुगताई, महरूह सुलतानपुरी, कैफ भोपाली, वामिक जौनपुरी, असगर अली इंजीनियर, काजी अब्दुस्सत्तार, अहमद हसन और न जाने कितने तरक्की पसंद लेखकों से इसी जलसे में मुलाकात हुई और जहन जो थोड़ा सा कच्चा था तरक्की पसंदी को लेकर वह पक्का हो गया। कॉमरेडों की तरह रहन सहन अपनाने के जतन आदतों में शामिल होने लगे और अच्छे भी लगने लगे थे, कार्ल मार्क्स को हम सबका खुदा कहा जाने लगा था। यूनिवर्सिटी में उन लोगों से सोवियत यूनियन के किस्से सुनने में बड़ा मजा आने लगा जो रूस होकर वापस आए थे। खुद कमर रईस क्रेमलिन और ताशकंद आते जाते रहते थे। रूस में भारत के राजदूत रहे आई. के. गुजराल उनके बड़े पक्के दोस्त थे। शायद उन्होंने ही उन्हें ताशकंद में भारत का कल्चरल सेक्रेटरी बनवा रखा था।

लखनऊ में बंद पड़े कौमी आवाज के शुरू होने की उन्हीं दिनों भनक लगी तो अपनी इस ख्वाहिश का जिक्र कमर रईस साहब से कर दिया। उन्होंने फौरन अपने साथी उसमान गनी को एक खत लिख दिया। हम वह खत लेकर लखनऊ आए। यूं तो भारत में उर्दू के सबसे पसंदीदा इस अखबार के संपादक गांधीवादी इशरत अली सिद्दीकी थे लेकिन उसमें भरे सबके सब तरक्की पसंद लोग ही थे। यह सब हयातुल्लाह अंसारी का कारनामा था जिन्होंने इस अखबार को जवाहर लाल नेहरू के कहने पर डिजाइन किया था। हयातुल्लाह साहब खुद बहुत बड़े स्वतंत्रता सेनानी, गांधीवादी के अलावा बड़े भारी तरक्की पसंद थे। दर्जनों किताबों के लेखक, तो जिन दिनों हम दिल्ली यूनिवर्सिटी से एमफिल कर रहे थे तब उनसे मिलने वेस्टर्न कोर्ट में उनके घर जाया करते थे। शाम को कॉफी के बड़े प्याले के साथ उन्होंने हमें उर्दू पत्रकारिता के उतार चढ़ाव खूब समझाए थे। यह कहना शायद ज्यादा गलत नहीं होगा कि उनसे मिलने के बाद पत्रकारिता में आने की अकुलाहट कुछ ज्यादा ही बढ़ गई थी।

खैर, हयातुल्लाह साहब के डिजाइन किए हुए कौमी आवाज में जब हम दाखिल हुए तो इशरत साहब के अलावा उसमान गनी, अंसार किदवई, शौकत उमर, चौधरी नसीर, हुसैन अमीन, सलीम उमर जैसे लोग संपादकीय विभाग की शान हुआ करते थे। शाफे किदवई को कौमी आवाज छोड़े कुछ ही दिन हुए थे। अहमद जमाल पाशा और मंजर सलीम जैसे लोगों को इस अखबार से निकले बहुत ज्यादा वक्त नहीं हुआ था। इसके अलावा देश भर के तरक्की पसंद लेखकों की रचनाएं इसी अखबार में छपा करती थीं। उन दिनों कोई ऐसा तरक्की पसंद कलमकार नहीं था जो कौमी आवाज के दफ्तर आता न हो। लिहाजा यहां की फजा में कठमुल्लेपन की गुंजाइश बिल्कुल नहीं थी। यहां रहकर भी तरक्की पसंदी की हमारी जड़ें और मजबूत हुईं और उन दिनों जब भारत के बाजारों में विदेशी शराब दिखती तक नहीं थी, लखनऊ के प्रेस क्लब में एक शाम शौकत उमर के साथ ही हमने

पहली बार रूसी वोदका से गला तर किया। गरज कि अब तक की जिंदगी में जो कुछ जाने अनजाने हुआ था मार्क्स की विचारधारा से जुड़ा हुआ या उससे बहुत करीब था।

उसी मार्क्स के घर जाना मेरे लिए किसी बहुत बड़े कौतुहूल से कम नहीं था। जर्मनी जाने का जब कन्फर्मेशन आया था तब भी सबसे पहला यही ख्याल आया था—मार्क्स का जर्मनी। जर्मनी में जिस शहर में नौकरी मिली वह वही शहर था जहां मार्क्स ने शिक्षा पाई यानी बॉन, और बॉन की जिस स्ट्रीट पर पहले पहल रहने को जगह मिली वह भी कार्ल श्ट्रास्से यानी कार्ल स्ट्रीट। बार बार ख्याल आता था कि कहीं न कहीं तार मिल रहे हैं, जो भी हो जर्मनी पहुंचने तक कार्ल मार्क्स के प्रति मेरी श्रद्धा में कोई कमी नहीं आई थी। उसी मार्क्स के घर जाना था। जर्मनी आने पर मेरा सबसे अहम एजेंडा ट्रियर में उनके घर को देखना था, जिसे जर्मन भाषा में ट्रिया बोलते हैं। दुनिया के चंद सबसे प्राचीन जिंदा शहरों में ट्रियर का भी शुमार होता है जैसा अपने बनारस के लिए कहा जाता है कि वह उतना प्राचीन है जितना समय। ट्रियर के लिए कहा जाता है कि यह करीब 2000 साल पुराना शहर है और जीवंत भी है, लेकिन शायद सिर्फ कार्ल मार्क्स के कारण नहीं। इसे रोम के राजा अगस्ता सीजर ने ईसा पूर्व 16वीं शताब्दी में बसाया था। मोसेल नदी के किनारे बसे जर्मनी के सबसे प्राचीन इस शहर में जाने के लिए कौतुहल स्वाभाविक था।

तो जाहिर है कि मार्क्स के घर जाने में सनसनी तो होनी ही थी। सुबह करीब सात बजे जमीर और भाई सरवर भी बॉन के हाफ्तबॉनहाफ पहुंच गए। तीनों ने टिकट लिया और सवार हो गए ट्रेन पर, यह ट्रेन हाई स्पीड ट्रेन नहीं थी, यानी कम लग्जरी। चली और थोड़ी ही देर के बाद जो बाएं टर्न लिया तो ट्रेन का ट्रैक कुछ ऊंचा हो गया, थोड़ी देर और हुई थी कि ट्रैक और ऊंचा होने लगा तो मुंह से निकल ही गया कि माजरा क्या है। बाईं तरफ खिड़की से लगे टू सीटर पर हम लोग बैठे थे, भाई सरवर सामने वाली सीट पर थे, उन्होंने ही खिड़की की तरफ देखकर एक नदी के बारे में बताया कि यह मोसेल नदी है और उसी के समानांतर हमारी ट्रेन ट्रिया की तरफ चली जा रही है।

उनके बताने पर हमने भी खिड़की से झांका तो मंजर बेहद सुंदर था। नदी के तट कम ऊंचाई वाली छोटी पहाड़ियों से लगे थे और बेहद खूबसूरत थे। कई रंगों के पौधे थे। उनके फल यानी अंगूर ट्रेन से बेहद खूबसूरत लग रहे थे; कत्थई, सुर्ख, नारंजी, हल्के हरे और कुछ कुछ काले या नीले भी थे। फिल्मों में जिस तरह के खेत दिखाए जाते हैं जिनमें हीरोइन ठुमक ठुमक कर नाच रही होती है और हीरो उसके पीछे पीछे...तकरीबन वैसे ही खेत। भाई सरवर ने बताया कि ये सब अंगूर के खेत हैं।

ट्रेन चलती जा रही थी और साथ साथ मोसेल भी लहराती इतराती और मुड़ती घुमड़ती, कभी टेढ़ी दिखती तो कभी हल्की सीधी। एक स्टेशन पर ट्रेन रुकी और फिर उसके बाद चली तो ट्रैक थोड़ा और ऊंचा हो गया। एक पुल आसमान से लगा दिखा। सड़क पुल, इतना ऊंचा, बाप रे, हम लोग देखते ही रह गए। लग रहा था कि आसमान में चलने के लिए बनाया गया है। इतना ऊंचा था कि लग रहा था कि आसमान में कोई पट्टी लगा दी गई है। चंद मिनटों में ही वह पुल आंखों से ओझल हो गया। इस तरफ कभी वाइनरी दिखती और उसके पास भूरे हरे और लाल पीले खेत तो कभी उस तरफ दूसरी तरह के पहाड़ों पर चढ़ते उतरते खेत जिनमें अंगूर की खेती होती है वाइन और बियर बनाने के लिए। इतने खूबसूरत खेत कि दूर से लगता था कि बड़े करीने से सजाए गए हैं। इसी तरह का दो सवा दो घंटे का मजेदार सफर कब गुजर गया पता ही नहीं चला और आ गया ट्रियर या ट्रिया।

रेलवे स्टेशन पर उतरते ही कॉफी पीने के लिए हम तीनों एक वेंडर के पास पहुंचे। भाई सरवर को हम तीनों में सबसे ज्यादा जर्मन आती थी लिहाजा उन्होंने ही कॉफी आर्डर की। कॉफी के बाद हम तीनों बाहर निकले तो सबसे पहले जिस चीज ने हमारा स्वागत किया वह था एक बहुत बड़ा

सा पैर। यानी रेलवे स्टेशन के पास स्थित इंपीरियल बाक्स के बाहर रखी बाएं पैर की मूर्ति। करीब डेढ़ मीटर ऊंचा पत्थर का पैर। पूरा पंजा और टखने के बाद टूटा हुआ, एक पैडस्टल पर जड़ा हुआ। भाई सरवर ने बताया कि यह किसी जर्मन कैसर के पैर की मूर्ति का अंश है। हम तीनों वहीं पर ठहर गए और उसके आस पास टहल टहल कर उसे देखने लगे। भूल गए कि ट्रिया जर्मनी का इकलौता शहर है जहां सबसे ज्यादा रोमन मान्युमेंट्स को सहेज कर उन्हें धरोहर बना कर रखा गया है। यह उन्हीं की नकल के तौर पर तैयार किया गया है। क्या मतलब है इसका, इस पर हम लोगों ने कोई बहस नहीं की। हम तीनों ने उस पर बैठ बैठ कर फोटो खिंचवाई और आगे बढ़ लिए।

जर्मनी आए काफी दिन हो गए थे और अब तक हमने यह सीख लिया था कि कहीं पानी नहीं खरीदना है क्योंकि पानी की बोतल दो यूरो के आसपास मिलती है और कई तरह का पानी होता है और हर जगह प्लेन वाटर मिलता भी नहीं है क्योंकि जर्मन बबल्स वाटर यानी सोडा वाटर ही ज्यादा पीते हैं तो एक बेहद उम्दा तरकीब निकाल ली थी हमने। कोई भी तुर्की या अरबी होटल दिखता हम बहुत अदब से जाते और अस्सलाम अलैकुम करते और वह जवाब में वालैकुमुस्सलाम कहता और फिर खट से उससे पानी मांग लेते तो वह मना नहीं करता और हम अपनी पानी की बोतल भर लेते थे। जहां एशियाई होटल होता तो वहां तो और भी आसान होता क्योंकि बांग्लादेशी हों या फिर पाकिस्तानी वहां सब भाई भाई हैं।

हमारी पानी की बोतल में पानी खत्म हो गया था और स्टेशन से चलते ही थोड़ी दूर पर दाहिनी तरफ एक अरबी होटल हमें दिख गया और भाई सरवर के लाख मना करने के बावजूद हमने वही तरकीब अपनाई और बोतल में पानी भर लाए। आगे चलने लगे और थोड़ी ही देर में हम लोग रोमन पोर्टा नीगरा पहुंच गए। एक लम्हे में हमें दिल्ली का पुराना किला और अपने लखनऊ की रेजीडेंसी याद आ गई। बिल्कुल वैसी ही खंडहरियत और उसी की तरह का वीरानापन था इस इमारत में, लेकिन यहां माहौल में रौनक भी थी, काफी टूरिस्ट तो नहीं थे लेकिन कम भी नहीं थे। हल्की और खुशनुमा धूप निकल आई थी और मौसम ऐसा था कि हमेशा ऐसा ही रहना चाहिए... कभी बदलना ही नहीं चाहिए। ऐ ट्रिया तू पूरी दुनिया पर छा जा अपना मौसम लेकर, पूरी दुनिया पर नहीं तो कम से भारत का मौसम तो जरूर ऐसा बना दे और वह भी मुमकिन नहीं तो मेरे लखनऊ का मौसम जरूर ऐसा करदे यार ट्रिया...मान जा प्लीज।

आसमान में देखा और पोर्टा नीगरा की ऊंचाई का अंदाजा लगाया हम तीनों ने और उसके चारों ओर टहल टहल कर देखा और फिर से एक जगह खड़े हो गए और कैमरा निकाल लिया गया। दो दो लोगों ने बारी बारी से फोटो खिंचवाए और फिर एक फिरंगी की मदद से हम तीनों ने पोर्टा के सामने फोटो खिंचवाए और आगे बढ़े। इसे स्याह दरवाजा भी कहा जाता है। पोर्टा नीगरा को शहर का मुख्य द्वार कहा जाता है। इसे अपनी दिल्ली में लाहौरी, कश्मीरी, दिल्ली, तुर्कमान गेट के परिप्रेक्ष्य में समझा जा सकता है। यानी किलाबंद शहर यानी वाल्ड सिटी। गाजियाबाद भी कभी इसी तर्ज पर बसा था। भारत के कई शहर इसी तरह बसे हैं जिनमें अंदर दाखिल होने के लिए चारों दिशाओं पर भारी भरकम द्वार हुआ करते थे।

रोम में भी यही सिस्टम था, शहर में दाखिल होने के चार दिशाओं से गेट हुआ करते थे। पोर्टा नीगरा का मतलब नार्थ वाला गेट, पोर्टा आल्बा सफेद गेट होता था और इसकी दिशा पूरब होती थी। पोर्टा मीडिया यानी मध्य गेट जिसकी दिशा दक्षिण होती थी और पश्चिमी गेट को पोर्टा इन्क्लिटा कहा जाता था। ट्रिया में यह 186 में बनना शुरू हुआ और 200 ईस्वी में बनकर तैयार हुआ यह पोर्टा नीगरा। रोमन काल में दिशाओं के अलावा यह भी ध्यान रखा जाता था कि कौन सा पोर्टा किस दिशा के हिसाब से किस पत्थर से बनेगा। जैसा नीगरा आम तौर पर काले और स्लेटी पत्थर से बनता

था। पश्चिम के लिए लाल पत्थर और पूरब वाला सफेद पत्थर से।

गाइड बताते हैं कि 1028 में इसे चर्च में तब्दील कर दिया गया और इसके कुछ ही समय बाद इसने ईसाई मठ की शक्ल अख्तियार कर ली। इसके निशान अभी मौजूद हैं इसकी दूसरी मंजिल पर। जीने में अभी भी ऐसा लगता है कि ऊपर जाने के लिए जगह जगह ताक जैसे बनाए गए थे जिन पर मूर्तियां लगी थीं और कुछ जगहों पर ईसाई धर्म के बारे में ग्रीक या जर्मन भाषा में कुछ लिखा था। नेपोलियन बोनापार्ट ने 1802 में इसके चर्च और और मठ को तबाह करने के आदेश दिए। कुछ समय बाद जब वह ट्रिया आया तो उसने इसका बतौर खास मुआयना भी किया और इसकी मेहराबदार जीनों की तारीफ की। इन्हें संरक्षित करने का भी हुक्म दिया। आज यह यूनेस्को का वर्ल्ड हेरिटेज स्मारक है। हालांकि ट्रिया शहर स्वयं यूनेस्को की वर्ल्ड हेरिटेज की लिस्ट में शामिल है। लक्जमबर्ग से बिल्कुल करीब सिर्फ 50 किलोमीटर पर, वही लक्जमबर्ग जिसे अपनी कुदरती खूबसूरती के कारण छोटा मोटा स्विटजरलैंड भी कहा जाता है। जो ट्रिया जाता है पास ही में लक्जमबर्ग जरूर जाता है। लेकिन हम तीनों ने सिर्फ ट्रिया का ही प्रोग्राम बनाया था।

पोर्टा नीगरा से आगे चले मार्क्स के घर के लिए खरामां खरामां। रास्ता बहुत अच्छा था जर्मनी के अन्य रास्तों की तरह। हर तरफ आधुनिक आउटलेट्स और सड़क किनारे रेस्ट्रां। आते जाते खूबसूरत जोड़े और अपने में मगन जर्मन। इस शहर को इसके पुराने वास्तु पर ही सहेज कर रखा गया था। लेकिन खूब बड़े और इंटरनेशनल स्टैंडर्ड के कई बड़े होटल और ढेरों रेस्ट्रां। वैसे भी जर्मनी के हर छोटे बड़े शहर में रोड साइड रेस्ट्रां का चलन है, यह तो काफी बड़ा और जाना माना, मार्क्स की वजह से और मशहूर हो गया शहर है। यहां तो टूरिस्ट आते ही हैं। आगे बढ़े तो चौड़ी सड़क लेकिन थोड़ी दूर पर ही वह गलीनुमा मोड़ लेती हुई और अंदर चलने पर बड़ा सा बाजार और फिर उसी तरह चलते जाने पर सामने गोल पार्क और एक खूबसूरत मूरत। यहां से आगे चले तो रास्ता फिर पतला हो गया और थोड़ी ढलान भी, जरा सा और चले कि रास्ता और गली जैसा हो गया और इसमें थोड़ा सा ही आगे बढ़े तो दाएं तरफ कार्ल मार्क्स का घर...धड़कनें एकदम तेज और सांसें ज्यादा हो गईं।

कोई बहुत बड़ा गेट नहीं जैसे आम घरों के दरवाजे होते हैं उसी तरह का है मार्क्स के घर का दरवाजा, दो तीन लोग ही एक साथ निकल सकते हैं। मेन दरवाजे के पास दो दरवाजेनुमा खिड़कियां जो पहले अपने यहां भी घरों में होती थीं। दरवाजों से औनी पौनी। ऊपर अंग्रेजी के शब्द पी. एस. जेड. थोड़ा दूर दूर लिखे हैं नीचे की तरफ ए.एम.एस. लिखे हैं ठीक दरवाजे के ऊपर, दाईं तरफ नंबर लिखा है 10, यानी मकान नंबर 10 था मार्क्स का। टेन डाउनिंग स्ट्रीट, दस रेस कोर्स रोड...मार्क्स भी ब्रिटिश और भारत के पीएम की तरह 10 नंबर में, गुड। यानी कार्ल मार्क्स के घर का पता हुआ : 10 ब्रयुकेन श्ट्रास्से, 54290, ट्रिया, जर्मनी। इस घर का फोन नंबर है : 49 651 970680।

इनके घर के बाहर जो तख्ती लगी है उस पर योहान्निश्ट्रास्से 28 भी लिखा था। इसका अर्थ हुआ योहन्नि रोड, यह यहां की मेन स्ट्रीट हो सकती है, पता नहीं चला यह क्या नंबर है और न पता करने की कोई कोशिश की, अंदर जाने की जल्दी जो थी। टिकट 10 यूरो, महंगा लेकिन कोई बात नहीं। अंदर दाखिल हुए तो सबसे पहले रिसेप्शन पर हम लोगों को वाकी टॉकी स्टाइल का गाइड डिवाइस दिया गया जिसका इयरफोन काफी आधुनिक था और कई भाषाओं में उसमें कार्ल मार्क्स के घर या म्यूजियम का विवरण भरा हुआ था। उसमें यह भी सिस्टम था कि उस म्यूजियम के जिस कमरे में आप उसे लगाकर पहुंचेंगे वह वहां के बारे में आपको बताना शुरू कर देगा। हम तीनों उससे लैस हो गए।

यह पुराने स्टाइल का घर था दोमंजिला। जैसे पुराने घरों में तीन ओर कमरे होते हैं और उनके

आगे दालान, बिल्कुल वैसा ही। दालान में ऊपर की तरफ छज्जे और उन पर उसी तर्ज की आगे को निकली छपरकट जो बारिश और उसके छींटे रोकने के लिए बनाई जाती है। घर में इधर से उधर आने जाने के लिए लंबे लंबे गलियारे और उनसे सटी दीवारें। यह घर बिल्कुल सीतापुर, शाहजहांपुर और लखनऊ के पुराने घरों जैसा था, जिसमें कोई आधुनिकता नहीं थी। न उसके वास्तु में और न इसकी बनावट में। जैसे पुराने घरों में बाहरी दीवारें भी इतनी ऊंची बनाई जाती थीं कि बाहरी आदमी चाह कर या उचक कर घर में झांक न सके, बिल्कुल उसी तरह का डिजाइन था इस घर का। इस घर में जाकर हर तरफ टहल टहल कर देखने से बिल्कुल नहीं लगता था कि मार्क्स के जमाने तक जर्मनी की सिविल इंजीनियरिंग आधुनिक हुई थी।

कार्ल मार्क्स और फ्रेडरिक एंगल्स की जगह जगह जुगलबंदी वाली मूर्तियों के साथ उनके लेखन काल को हर कमरे में करीने से दर्शाया गया था। इस घर के पीछे वाले कोने में जो मार्क्स का शयनकक्ष था, उसे लगता नहीं था कि जिस बिस्तर और बेड को दिखाया गया था वह उनके दौर का था। पुराना कम लग रहा था शायद इसलिए और पास में ही दूसरे कमरे का सामान भी उतना पुराना नहीं लग रहा था। भाई सरवर ने कहा कि ठंडे मुल्कों में सामान कम खराब होता है, देखते नहीं हो कि यूरोप के हर देश में म्यूजियम्स की भरमार है। इसीलिए तो हैं क्योंकि यहां सामान कबाड़ में तब्दील ही कहां होता है। बात में दम नजर आया लेकिन फिर भी कुछ खटका तो उन्होंने ही कहा कि और अभी कोई सौ सवा सौ साल ही तो गुजरे हैं मार्क्स को गुजरे हुए।

पीछे की तरफ बने कमरों में कुछ ज्यादा देखने को नहीं था। लेकिन सामने की तरफ यानी घर के मुख्य द्वार की ओर ऊपर पहली मंजिल पर जो दो तीन कमरे थे उनमें इतना कुछ था देखने और महसूस करने को कि लगा कि सब कुछ तो पा लिया यहां आकर। मार्क्स का हैट, उनका लांग कोट, उनके कपड़े, उनकी बेल्ट, उनकी किताबें और उनका अन्य सामान। उनका सिगार, उनकी शर्ट्स, ट्राउजर्स और टाई को भी बड़े करीने से हैंगर और उस सामान को रखने के लिए डिजाइन किए गए स्टैंडीज पर सजा कर डिस्प्ले किया गया था। हमने और जमीर ने मार्क्स के खाकी लांग कोट के पास खड़े होकर फोटो खिंचवाया। भाई सरवर ने इसमें कोई दिलचस्पी नहीं दिखाई। इस कमरे में उनके कपड़ों को जिस ढंग से हैंगर पर शीशे में बंद कर रखा गया है उससे लगता है कि इस म्यूजियम को संवारने वाले लोगों में सबके सब मार्क्सवादी जरूर रहे होंगे। हर काम में बेहद सलीके से उनके विचार शामिल किए गए थे, जिसे देखकर हर कोई जरूर प्रभावित होगा जिसने मार्क्स को पढ़ा होगा।

पूरे घर और विशेष रूप से गलियारों की दीवारों पर दुनिया भर के क्रांतिकारी नेताओं की वीर गाथाओं को जर्मन भाषा में लिख कर उन नेताओं की फोटो के साथ सजाया गया है। इन दीवारों को देखने और जर्मन भाषा में जो कुछ लिखा है उसको भाई सरवर की मदद से हम लोगों ने पढ़ा तो अहसास हुआ कि दुनिया के कितने बड़े हिस्से के देश मार्क्स के प्रभावक्षेत्र में आते हैं। करीब एक चौथाई दुनिया ने एक समय में मार्क्स की क्रांतिकारी समाजवाद की विचारधारा को अपनाया और पूंजीवाद की अंधी दौड़ में भी मार्क्स के आधुनिक अर्थशास्त्र की थ्योरी को तरजीह दी।

मार्क्स के इस घर को म्यूजियम बनाने में इस बात का भरपूर खयाल रखा गया है कि उन्नीसवीं सदी के मध्य से मार्क्स के बढ़ते प्रभाव को कितने देशों ने किस प्रकार से अपनाया और किन देशों में मार्क्स की विचारधारा के तहत क्रांति आई। हर उस देश की सिग्नेचर बिल्डिंग या सेवीनियर फोटो के साथ उस देश के मार्क्स की विचारधारा से प्रभावित नेता की तस्वीर को भी मार्क्स की जीवन गाथा के साथ इस घर की दीवारों पर दर्शाया गया है। पोलैंड हो या जर्मनी या ब्रिटेन और फ्रांस या फिर अमेरिका। किस नेता ने मार्क्स को किस तरह से अपनाया, इसका संक्षिप्त विवरण हम लोगों

को भाई सरवर जर्मन भाषा में लिखे विवरण को पढ़ पढ़ कर बताते रहे। हम केवल नेताओं के फोटो देख देख कर समझते रहे कि जो बताया जा रहा है वह सही है और वही लिखा है।

सोवियत संघ के गठन और रूसी क्रांति को कई दीवारों पर और फिर पूरी एक दीवार पर खूब सलीके से उन देशों को सजाया गया है जहां के नेताओं ने मार्क्स की विचारधारा को सबसे अधिक अपने देश में लागू किया और सबसे ज्यादा इसका प्रसार भी किया। रूस और मास्को और क्रेमलिन आदि के बारे में खूब लिखा और दर्शाया गया है। इसके अलावा चीन में कम्युनिस्ट नेताओं के बारे में लिखा है और इसे भी मार्क्स के प्रभाव वाले क्षेत्र में शामिल किया गया है। इसके अलावा क्यूबा और वहां के मशहूर नेता के बारे में भी जर्मन भाषा में लिखा है। मजे की बात यह है कि इन देशों के नेताओं और वहां की क्रांतियों के बारे में अपडेट भी किया जाता है क्योंकि वहां साठ के आखिरी दिनों से लेकर अस्सी के दशक तक सोवियत रूस में जो कुछ हुआ, और उसके बाद कहां कहां क्या क्या हुआ वह सब लिखा हुआ था।

यह सब तो ठीक रहा और हम लोग इन सबको धीरे धीरे देखते हुए भाई सरवर से कुछ कुछ जर्मन पूछते हुए आगे बढ़ते रहे। भाई सरवर से जब भी हम लोगों ने वहां लिखी बातों का तर्जुमा पूछा तब तब वह थोड़ा असहज हुए। जमीर और मैं यह बात समझ रहे थे लेकिन मार्क्स के घर में होने का इतना उत्साह था और एक अजीब किस्म की झुरझुरी और सनसनी बदन में दौड़ रही थी कि भाई सरवर का रवैय्या हमारे लिए इरिटेशन का सबब बना ही नहीं। तब भी जब एक बार उन्होंने यहां तक कह दिया कि ये जो ऑटोमेटिक गाइड कम इंटरप्रेटर टांगे हो गले में इससे क्यों नहीं सुन लेते क्या है यह। खैर कोई बात नहीं यही सब चलता रहा और हम लोग एक से दूसरे और दूसरे से तीसरे कमरे में जाते रहे।

सबसे अच्छा यह लग रहा था कि मार्क्स के घर में जिधर से भी गुजरो, जिधर देखो, जिधर कोई मोड़ है, जिधर जाना है, जिधर कोई गलियारा है, जिधर दालान है, जिधर खिड़की है...गरज कि हर उस कोण या मोड़ पर जहां किसी की भी निगाह पड़ सकती है वहां पर मार्क्स की कोई न कोई फोटो या मूर्ति जरूर लगी है। हर मोड़ पर उनके कथन भी टंगे हुए थे। हल्की जंजीर में टंगी अच्छी किस्म की प्लास्टिक की गोल तख्तियों पर उनके थॉट टंगे थे, मसलन 'मार्क्स बकवास है', इसी तरह उनका दूसरा वाक्य जो दुनिया भर में मशहूर हुआ 'दबे कुचले लोगों के लिए धर्म एक आह है, धर्म लोगों के लिए अफीम है'। 'किसी पर यकीन न करो', 'वामपंथ के काले साए से यूरोप आतंकित है', 'क्रांतियां इतिहास की इंजन हैं', 'सभी देशों के श्रमिकों एक हो', 'जिस तरह हर कोई पढ़ना लिखना सीखता है, उसी तरह हर किसी को पढ़ने लिखने का हक होना चाहिए', आदि भी। लेनिन का एक वाक्य भी इसी में टंगा है जिस पर लिखा है 'मार्क्स की शिक्षा में दम है क्योंकि यह सच है'। हैरत की बात यह है कि इस म्यूजियम में यही तख्तियां इग्लिश में लिखी थीं बाकी तो अधिकांश लिखावट जर्मन भाषा में ही दिखी वहां पर। इसी बीच हमने देखा कि जब हम इन गोल तख्तियों के फोटो ले रहे थे तो भाई सरवर हमें देख कर मुस्कुरा रहे थे।

सबसे अधिक ताज्जुब हम तीनों को तब हुआ जब हम तीनों सड़क की तरफ से जिधर से हम लोग मार्क्स के घर में दाखिल हुए थे उसी साइड के ऊपर वाले कमरे में दाखिल हुए। इस कमरे में लकड़ी के फर्श पर ग्लोब की दो आकृतियां जड़ी थीं। विश्व के जितने हिस्से में मार्क्सवाद कामयाब रहा या वहां लागू हुआ उन देशों को गहरे हरे रंग से और बाकी देशों को हल्के स्लेटी रंग से दिखाया गया था। इन देशों में मंगोलिया को भी शामिल किया गया था। अफ्रीका के अंगोला, इथियोपिया और मोजंबीक को गहरे हरे रंग से रंगा गया था यानी मार्क्स के प्रभाव वाला क्षेत्र। दूसरे में यूरोप और एशिया का हिस्सा दिखाया गया है जिसमें सोवियत रूस, चीन वाले क्षेत्र को मार्क्स के प्रभाव वाला

दर्शाया गया है। इसे भी गहरे हरे रंग में दिखाया गया है।

इसी के साथ वाले कमरे में दाखिल हुए तो हैरत के मारे हम लोगों की आंखें फटी की फटी रह गईं। हम तीनों एक दूसरे का मुंह देखते रह गए और तीनों को सूझा ही नहीं कि हम लोग क्या देख रहे हैं। सामने अपने कामरेड अमृत डांगे का फोटो, इसके साथ हजारों की तादाद में प्रदर्शन करते हुए लोग और इस प्रदर्शन में सबसे आगे जो बैनर था उस पर लिखा था 'इंदिरा गांधी इस्तीफा दो...'। इंदिरा गांधी सरकार के खिलाफ अमृत डांगे के नेतृत्व में 1966 में हुए प्रदर्शन की फोटो और उससे भी ज्यादा दिलचस्प बात यह लगी कि उसी प्रदर्शन की फोटो के साथ भीड़ के पीछे से दिखती हुई 'ये जिदगी कितनी हसीन है' फिल्म का पोस्टर भी इसमें दिख रहा था।

इसे संयोग कहा जाए या कुछ और कि यह फिल्म भी मार्क्स की विचारधारा को आगे बढ़ाती हुई है। चीन से 1962 में शर्मनाक हार के बाद भारत में जो मायूसी छा गई थी और उन दिनों हर तरफ अंधेरा अंधेरा सा दिखने लगा था उसके खिलाफ रोशनी की किरण। इस फिल्म में हिटलर और दूसरे विश्वयुद्ध की क्लिपिंग्स दिखाई गई हैं शुरू में। संदेश यह दिया गया था कि जिंदगी कितनी हसीन है जिसे कुछ लोगों के वहशियाना रवैय्ये ने कितना भयानक बना दिया है, मौत कितनी भयावह होती है। इसलिए जिंदगी को समझ कर उसे जीने की कोशिश करना चाहिए। हालांकि इसमें यह भी दिखाया गया है बिना हिंसा के कोई क्रांति सफल नहीं हुई है। यही सब कुछ है इस फिल्म में और उसका पोस्टर कामरेड डांगे के प्रदर्शन के पीछे नजर आ रहा है। इसे फिल्माया गया है जॉय मुखर्जी और सायराबानो पर और साथ में हैं अशोक कुमार।

खैर, हम तीनों यह सब देखते रहे और खुश होते रहे। कामरेड डांगे के बारे में जर्मन भाषा में जो कुछ लिखा था वह बहुत खास नहीं था, उनका संक्षिप्त परिचय था और उन्होंने भारत में मार्क्सवाद को जिलाए रखने में कितना योगदान दिया यही सब। भारत की कम्युनिस्ट पार्टियों ने इंदिरा गांधी को सोवियत रूस से जोड़े रखने में कितनी अहम भूमिका निभाई और भारत को इससे कितना क्या मिला वगैरह। इसी में लिखा था, भाई सरवर ने वहां लिखे के अनुसार बताया कि कामरेड डांगे का मार्क्स की शिक्षा को भारत में ही नहीं पूरे दक्षिण एशिया में फैलाने और उसको जमीन पर उतारने में बहुत बड़ा योगदान है। भारत और भारतीय उप महाद्वीप में मार्क्सवाद को उनकी कोशिशों ने बहुत बढ़ावा दिया। भारत में पूरा कम्युनिस्ट आंदोलन खड़ा करने में कामरेड डांगे की अग्रणी भूमिका थी।

अमृत डांगे ने भारत में मार्क्सवाद की नींव रखी, इसमें शक नहीं है। भारत की कम्युनिस्ट पार्टी के संस्थापक सदस्यों में वह शामिल थे और पक्के जुझारू कामरेड थे। भारत में कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ इंडिया की नींव 25 दिसंबर 1920 को कानपुर कांफ्रेंस में रखी गई लेकिन बाद में इससे अलग हुए धड़े, जिसने मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी आफ इंडिया बनाई, का दावा रहा है कि पार्टी की नींव 17 अक्टूबर 1920 को ताशकंद में कम्युनिस्ट इंटरनेशनल की दूसरी कांग्रेस के बाद ही पड़ गई थी। इसके संस्थापकों में एम.एन. राय, उनकी पत्नी, अबानी मुखर्जी, उनकी पत्नी, मोहम्मद अली, मोहम्मद शफीद सिद्दीकी, रफीक अहमद, बीटी आचार्य और सुलतान अहमद खान जैसे लोग शामिल थे। कामरेड अमृत डांगे उन दिनों युवा थे और उन्होंने कम्युनिस्ट पार्टी आफ इंडिया की भारत में स्थापना के बाद मजूदर आंदोलनों को बहुत बड़ा आकार दिया। यह उन्हीं का कमाल था कि एक के बाद एक बड़ी बड़ी हड़तालें हुईं और बंगाल से लेकर महाराष्ट्र तक उन्हीं के दम से भारत के मजदूरों ने एक होकर श्रमिक कानूनों और श्रमिक अधिकारों की लड़ाई लड़ी। अंग्रेजों वाले भारत में कामरेड डांगे पर कम जुल्म नहीं हुए लेकिन उन्होंने हार नहीं मानी। करीब 15 वर्ष जेल में गुजारने वाले कामरेड डांगे का योगदान महाराष्ट्र के निर्माण में भी कम नहीं है।

लेकिन सबसे मजेदार बात यह है कि मार्क्स के घर में जिस कामरेड अमृत डांगे के भारत में

कम्युनिस्ट आंदोलन को बढ़ाने के योगदान का वर्णन है और जिस 'इंदिरा गांधी इस्तीफा दो...' का बैनर लिए प्रदर्शन की फोटो लगी है उसी अमृत डांगे पर इंदिरा गांधी का समर्थन करने का आरोप था, इंदिरा गांधी की कांग्रेस वाली सरकार के लगातार समर्थन के कारण पूरी पार्टी उनके खिलाफ हो गई थी और अस्सी के दशक के आखिरी दिनों में उन्हें पार्टी से निकाल दिया गया। लेकिन उन्होंने हार नहीं मानी, अपना संघर्ष जारी रखा। जिसका नतीजा था कि उन्होंने दो नई कम्युनिस्ट पार्टियां फिर बनाईं पर सफल नहीं हो पाईं। अपने आखिरी दिनों में वह तन्हा हो गए थे। उन्हें किसी भी कम्युनिस्ट पार्टी के नेताओं ने आखिरी दिनों में वह सम्मान और इज्जत नहीं दी जिसके वह हकदार थे। भारत का पूरा कम्युनिस्ट आंदोलन उनके हाथों से छिटक चुका था और उनकी जिंदगी भर की मेहनत पर सिर्फ इंदिरा गांधी की सरकार के समर्थन के कारण ही पानी फिर गया था। उस वक्त यह सब याद नहीं आया था क्योंकि वहां पर कामरेड डांगे को देखने की खुशी और आश्चर्य सब पर भारी था।

काफी वक्त मार्क्स के घर में गुजर चुका था, थकान होने लगी थी और देखने को भी कुछ नहीं बचा था। नीचे वापस रिसेप्शन पर आ गए। यहां पर कई सिग्नेचर चाबी के छल्ले, पेन, होल्डर, सिगरेट केस, पाइप, सिगार, डायरी, नोट बुक, केलैंडर, टीशर्ट...और न जाने क्या क्या बिक रहा था। हर चीज के दाम सातवें आसमान पर थे। छोटी सी छोटी चीज दस पंद्रह यूरो से कम नहीं थी तो तय किया गया कि कुछ नहीं खरीदा जाएगा। चलने से पहले हम लोगों ने वहां रखी रिमार्क बुक पर लिखना चाहा तो भाई सरवर सबसे पहले आगे बढ़े और लिखा 'कौन था मार्क्स'। हम उनका चेहरा देखते ही रह गए। उस दिन पता चला कि वह मार्क्स विरोधी थे। पूछा तो कहने लगे हां, तो आए क्यों, बोले बस ऐसे ही तुम लोगों को कंपनी देने के लिए...और जर्मनी समेत पूरे यूरोप को घूमना भी तो है तो चले आए। जमीर और हम दोनों अपनी भावनाएं कैसे न उड़ेलते उस किताब पर तो हमने तो लिख ही दिया 'धन्य हो गए मार्क्स के घर आकर, एक बड़ी आरजू पूरी हुई'। जमीर ने लिखा 'जीवन का यादगार दिन'।

बाहर निकले और निकल फिर पलट कर मार्क्स के घर को देखा और आगे चलते चलते कई बार पीछे पलट कर देखा ऐसे कि जैसे घर से भागने वाली लड़की कई बार अपने घर को भागने से पहले पलट पलट कर देखती है। ब्रयुकेन श्ट्रास्से से बाहर निकले तो चौड़ी सड़क मिली। आगे आए तो एक चौराहे जैसी जगह पर गोलाई में बना छोटा सा पार्क जिस पर जड़ी और खड़ी बेहद खूबसूरत मूरत। जाते समय भी हम तीनों ने इसे खूब घूरा था। लौटे तो इस गोल पार्क की कगार पर बैठी एक खूबसूरत जर्मन बाला तीलियों से स्वेटर बुन रही थी। अत्याधुनिक और सुपर अत्याधुनिकता में जी रहे जर्मनी में पारंपरिक स्वेटर की बुनाई देखकर तबियत खुश हो गई। कैमरा निकाला और खट से उसका फोटो लिया, वह बाला मुस्कुराई और फिर अपने काम में लग गई। धूप ढलने का वक्त था तो इसीलिए वह उस तरफ कगार पर बैठ गई थी। जी तो नहीं चाह रहा था लेकिन आगे तो बढ़ना ही था।

ट्रिया से चलने का वक्त अब करीब लगने था क्योंकि यहां का सबसे अहम काम हो गया था। लेकिन मार्क्स के घर से निकलने के बाद बड़ी शिद्दत से एक बात जह्न में बार बार आ रही थी कि चाहे जो कुछ भी कहा जाए लेकिन ट्रिया समेत जर्मनी ने मार्क्स की विचारधारा पर पूंजीवाद को प्राथमिकता दी है। खुद मार्क्स के घर के आस पास का माहौल और स्वयं उनके घर में उनके नाम पर बिकने वाली सामग्री में भी पूंजी की धौंस शामिल थी। ट्रिया ही क्या पूरे जर्मनी में पैसे की जो रेल पेल है और जिस तरह से जर्मन अर्थव्यवस्था के प्रति हर जर्मन नागरिक जागरूक है, और अपनी फितरत के तौर पर यहां के लोग कुछ भी करेंगे लेकिन जर्मनी को पैसे के मामले में कमजोर होने

की कोई हरकत नहीं करेंगे, उससे तो कहीं नहीं लगता कि जर्मनी ने मार्क्स के पदचिह्नों पर चलने की जरा भी कोशिश की है। लेकिन इसका दूसरा पक्ष यह भी है कि जर्मनी ने पूंजीवाद के सांचे में लोकतांत्रिक समाजवादी विचारों और सिद्धांतों को जिस करीने से पिरोया है उसकी तारीफ भी कम नहीं की जानी चाहिए। जर्मनी के श्रमिक कानून और उन पर सख्ती से अमल बताता है कि मार्क्स के देश ने उसकी विचारधारा का सम्मान जरूर किया है।

लखनऊ में मुझे अपने एक पत्रकार साथी ने कभी बताया था, जिसने इलाहाबाद विश्वविद्यालय से मार्क्स की अर्थव्यवस्था की थ्योरी पर पीएचडी किया था कि मार्क्स के अर्थव्यवस्था के विचारों का अंत तो एक दिन होना ही था। उसकी डॉक्टराइन इतनी ही थी, उस शोध में। उसकी याद आ रही थी कि यहां आकर उसे देखना चाहिए कि कैसे पूंजीवादी व्यवस्था में लोकतांत्रिक समाजवाद की जड़ों को रोप कर, पौधे को सींच कर, उसके तनों को तराश कर लहलहाते और फलदार पेड़ में तब्दील करने की कोशिश भी शायद जर्मनों के अलावा किसी ने नहीं की है।

अब वापसी का रुख किया जा रहा था तो रास्ते में दाहिनी तरफ पड़ने वाले ट्रिया के सेंट पीटर हाई कथीड्रल को देखे बगैर कैसे वापस जाया जा सकता था, इसे देखे बगैर ट्रिया की यात्रा अधूरी थी। यह भी रोमन काल का बना था और अपनी भव्यता और ऊंचाई के लिए जाना जाता है। रोमन काल से इसकी बनावट की तरह तरह की कहानियां वहां प्रचलित हैं। इसके डिजाइन में हर काल का योगदान है और इसका घंटा काफी बड़ा है इसकी ऊंचाई की तरह। जाहिर है कि जर्मनी की अन्य इमारतों के अलावा यह भी यूनेस्को की धरोहरों की सूची में शामिल है। इस कथीड्रल के अलावा यहां की एक और वर्ल्ड हेरिटेज साइट है ऑला प्लेटिना। बताया जाता है कि जर्मन कॉन्सटेंटाइन राजाओं ने इसे चौथी शताब्दी की शुरुआत में बनवाया था। आज तो यह बेहद आकर्षक और ऊंची दीवारों के साथ बेहद ऊंची छत वाला गुंबदनुमा महल है। यह कॉन्सटेंटाइन राजा कौन होते थे तो भाई सरवर ने वहां मिले एक जर्मन से टूटी फूटी जर्मन भाषा में पूछा तो उसने बताया कि जैसे रोमन और बाइजेंटाइन राजा होते थे वैसे ही कान्सटेंटाइन ईसाई राजा जिन्होंने ईसाइयत को रोमन एंपायर का आधिकारिक धर्म बनाया था। दूसरे विश्वयुद्ध में इस पर खूब बमबारी हुई और इसे बर्बाद कर दिया गया लेकिन फिर से इसे शानदार इमारत में तब्दील कर दिया गया। बीच में कुछ समय तक यह प्रोटेस्टेंट ईसाइयों के बिशप्स के घर में भी बदल दिया गया लेकिन जल्द ही फिर से कैथोलिक ईसाइयों ने इसे हथिया लिया।

शाम होने लगी थी और हम लोगों को वापसी की ट्रेन भी बॉन के लिए पकड़नी थी जो ठीक साढ़े छह बजे चल देनी थी। हम लोगों ने वापसी का रुख किया। जैसा कि जर्मनी में होता है ठीक 6 बजकर 20 मिनट 13 सेकेंड पर ट्रेन आ गई। यह ट्रैन पैसेंजर थी, हम तीनों ने एक दूसरे को देखा, जैसे कि यह गलती कैसे हो गई, पैसेंजर ट्रेन से क्यों टिकट बुक करवा लिया। तभी भाई सरवर ने कहा कि कोई बात नहीं, शाम को इस वक्त यही ट्रेन थी। खैर, हम तीनों उसमें घुसे और सबसे पहले टॉयलेट तलाश किया तो पता चला बंद है। दूसरा देखा वह भी बंद था। तीसरा, चौथा. ..सभी बंद तो परेशान होने लगे कि तेज आ रही पेशाब को कैसे रोकें क्योंकि काफी देर से इसी ट्रेन के इंतजार में ही तो रोक रखा था। जर्मनी में सड़क किनारे पेशाब कर नहीं सकते थे, चलन ही नहीं है। हालांकि अपराध भी नहीं है क्योंकि इस तरह की हरकत वहां कोई करता ही नहीं है। लेकिन ट्रेन में टॉयलेट बंद होना अपने आप में बड़ी समस्या बन गई थी।

जमीर और मैंने भाई सरवर की तरफ मदद भरी निगाहों से देखा तो उन्होंने कहा कि आगे चलकर ड्राइवर से बात करनी चाहिए। उनके नेतृत्व में हम दोनों चले क्योंकि काम भर की जर्मन भाषा उन्हीं को आती थी। ड्राइवर इंजन के बाहर खड़ा किसी से बातें कर रहा था, भाई सरवर ने उससे टायलेट

बंद होने के बारे में बताया तो उसने कंधे उचका कर कुछ कहा, भाई सरवर के मुताबिक कह रहा था कि हां बंद है, कुछ कर भी नहीं सकते। इस पर हम दोनों ने उससे अंग्रेजी में बहस लड़ानी चाही तो उसने मुंह बिचका कर कह दिया कि सॉरी। तो हम दोनों बिफरते हुए बोले कि तो फिर कहां कर दें, उसने अपने हाथ से इशारा किया कि इंजन के सामने, हालांकि यह इशारा उसकी झल्लाहट और गुस्से से भरा था लेकिन हम दोनों को मौका मिल गया और हम दोनों झट से प्लेटफार्म से पटरियों पर कूदे और इंजन की तरफ पैंट की फ्लाई खोल कर निकाल दी धार। हमें अच्छी तरह से याद है कि उस समय जमीर के होठों के बीच सिगरेट थी और चेहरे पर भिंची हुई तंज भरी मुस्कान जिसमें अपने आप ही एक आंख दब जाया करती है।

एक सेकेंड को हमने देखा कि ड्राइवर जर्मन में शायद गालियां देता हुआ इंजन की ओट में चला गया है और भाई सरवर माथा पकड़ चुके हैं। किसी और को देखने का साहस हम दोनों में बचा ही नहीं था, दोनों इस तरह जर्मन आटोभान के इंजन की ओर धार मार रहे थे कि जैसे यह धार सीधे यूरोप पर मारी जा रही हो। इतनी तेज लगी थी कि खत्म होने के बाद भी लग रहा था अभी और निकलेगी। किसी तरह वह दो तीन मिनट गुजरे और हम दोनों विजयी भाव से प्लेटफार्म पर उचक आए। भाई सरवर हम लोगों की तरफ पीठ किए खड़े थे और ड्राइवर अपनी सीट पर बैठ चुका था। अचानक डर लगा कि कहीं इसने पुलिस को तो नहीं बुला लिया, डर कर हम दोनों जल्दी से कोच की तरफ बढ़े और लगभग कूद कर अपनी सीट पर जा बैठे। भाई सरवर मुंह फुलाए आए और अपनी सीट पर बैठ कर खिड़की से बाहर ताकने लगे कि ट्रेन चल दी। जान में जान आई लेकिन डर बना रहा।

थकान बहुत थी और ट्रेन चली तो सिर अपने आप पीछे की तरफ टिक गया, पेशाब भी निकल चुका था, जिस्म को राहत पहुंची और चंद लम्हों में ही आंखें बंद हो गईं। लेकिन थोड़ी देर में ही हम और जमीर दोनों की नींद खुल गई, देखा भाई सरवर अभी भी गंभीर बैठे हैं। खिड़की की तरफ देख रहे हैं। हमने जमीर को इशारा किया और उसने भाई सरवर को कोहनी मारते हुए कहा कि बस अब खतम भी कीजिए, नार्मल हो जाइए, उन्होंने चंद लम्हों के लिए थोड़ा ऐंठने वाले स्टाइल में अपना बदन ऊंचा नीचा किया और फिर शुरू हो गए कि तुम लोगों को जर्मन सोसाइटी के बारे में पता होना चाहिए कि ये लोग कितने सभ्य होते हैं, हर वक्त एक डिसिप्लिन मेनटेन किए रहते हैं...यहीं तक वह पहुंचे थे कि जमीर ने उनसे कहा कि देखिए इन जर्मनों की तो मां की...और क्या कहूं आपको, अरे बस करिए ना, हम लोगों को पेशाब लगा था कहां करते, इतने डिसिप्लिन होते हैं कि अपनी ट्रेन में वाशरूम तक को बंद कर रखा है। इन सालों को लगे न लगे हमें तो लगती है ना। हमें तो करना ही था, और देखिए भाई उनको जो करना है कर लें। अब तो हम कर चुके। भाई सरवर थोड़ा पसीजे और चेहरे पर तनाव कम कर लिया। आंखें इधर उधर घुमाने लगे और ट्रेन में बैठी फिरंगिनों को देखने लगे। उम्र में बराबर ही थे लेकिन चूंकि डॉयवे वैले में सीनियर थे तो हम लोग उनका जरा ज्यादा सम्मान कर रहे थे।

अब सब ठीक हो गया और हम तीनों ने आपस में बातें करनी शुरू कर दीं तो जमीर ने सबसे पहले भाई सरवर से पूछा कि आपने यह क्यूं लिखा कि मार्क्स कौन था, इस पर वह फिर भड़क गए कि वाह भई वाह क्या मैं अपनी मर्जी से अपना रिमार्क भी नहीं लिख सकता, और सुनो मैं हमेशा से मार्क्स का विरोधी रहा हूं। ठीक है लेकिन आपने यह क्यूं लिखा कि मार्क्स कौन था? इस पर मैंने माहौल ठीक करने के लिए यह कह कर उन दोनों को शांत करा दिया कि अरे साहित्य में इस प्रकार के जुमले प्रचलित हैं। अरे तो ये कौन से बड़े भारी साहित्यकार हैं। यह कहकर जमीर ने जोर से कहकहा लगाना चाहा ही था कि ट्रेन में जिधर हम बैठे थे उसके पीछे शोर हुआ। जर्मनी की ट्रेनों में शोर का यह पहला तजुर्बा था। आम तौर पर हर तरफ शांति ही छाई रहती है। इससे पहले कि

हम लोग पीछे की तरफ देखने की कोशिश करते, करीब डेढ़ दर्जन जर्मन टीनेजर्स की एक टोली गाती बजाती आ गई और उसने खूब शोर किया। ज्यादातर लड़के और एक दो लड़कियां थीं, वह सब के सब कोई जर्मन गीत गा रहे थे और उछल कूद कर डांस भी कर रहे थे।

वे हम लोगों की सीट के पास थोड़ा रुके और आगे बढ़े ही थे कि जैसे ही हम सबकी तरफ उन लड़कों की पीठ हुई, वे सब के सब आगे की तरफ थोड़ा झुके, अपने दोनों हाथ पीछे की तरफ किए और एक झटके से सबने अपनी अपनी पैंट चूतड़ों पर से नीचे झटक दी और लगे नंगे चूतड़ों को हिलाने। दस बीस सेकेंड तक चूतड़ हिलाने के बाद झट से पैंट ऊपर की और जोर से कुछ गाया और हम सब की ओर देख कर हाथ हिलाकर बॉय किया और हंसते गाते उछलते कूदते आगे बढ़ गए। हमने और जमीर ने यह मंजर देखने के बाद भाई सरवर की तरफ सवालिया निगाहों से देखा कि भाई बताओ यह क्या है यहां का सिस्टम? जर्मन तो बड़े डिसिप्लिन वाले होते हैं, अभी थोड़ी देर पहले तक तो यही पता था। भाई सरवर ने बताना शुरू किया कि यहां यह आम परंपरा है और अपनी खुशी जाहिर करने का यह भी एक तरीका है युवाओं का। जमीर ने तंज और व्यंग्य को अपने चेहरे पर लाते हुए बड़ी जोर से कहा–'अच्छा...।'

इस 'अच्छा' के बाद माहौल और अच्छा हो गया। बॉन आने में अब ज्यादा समय भी नहीं बचा था, शायद पंद्रह बीस मिनट। तभी सामने बैठे एक अधेड़ कपल ने हम लोगों की तरफ मुखातिब होते हुए कुछ जर्मन भाषा में बताया तो भाई सरवर ने उसका जवाब भी उन्हीं की भाषा में दिया और फिर हम लोगों को मुस्कुराते हुए बताने लगे कि यह कपल बता रहा है कि जर्मन युवा बेहद खुशी को सार्वजनिक करने के कुछ इससे उम्दा नुस्खे भी अपनाते हैं। उनके चाशनी भरे लहजे से हम लोग समझ गए कि कुछ बेहद दिलचस्प है तो दोनों के मुंह से एक साथ निकला कि क्या? इस पर उन्होंने सामने बैठे कपल से फिर कुछ पूछा और तीनों हल्के से हंसे। भाई सरवर हम लोगों की तरफ मुड़ने के स्टाइल में करीब आए और फुसफुसाने के अंदाज में बताने लगे कि जिस तरह यहां के लड़के दस बारह पंद्रह सेकेंड के लिए अपने हिप दिखा कर दाएं बाएं हिलाते हैं, उसी तरह लड़कियां अपनी ब्रा टीशर्ट को अचानक ऊपर की तरफ को उछाल कर अपने स्तन ऊपर नीचे उचकाती हैं।

मुझे अच्छी तरह से याद है कि यह बताते हुए भाई सरवर की आवाज थोड़ी सी लड़खड़ाई थी और जुमला बेरब्त भी हुआ था। फिर उन्होंने उसका विवरण भी दिया कि आम तौर पर नहीं लेकिन किसी बड़े प्रोग्राम में लड़कों और लड़कियों में इस तरह का मुकाबला होना जर्मनी में आम बात है। यहां बड़े बड़े फेस्ट और पार्टियों में यह सब होता रहता है। इन पार्टियों में यह मंजर नजर आ जाना कोई खास बात नहीं। हम और जमीर भाई सरवर की इस जानकारी में इतना मगन हो गए कि शायद सांस तक लेना भूल गए और मुंह खुला था तो खुला ही रहा था कि अचानक जमीर की आवाज गूंजी। कहां होता है यह मुकाबला? सामने बैठे आदमी ने जमीर की बात को बिना किसी मुश्किल के समझ लिया और बोला 'मुनशेन'।

ओह, भाई सरवर ने लम्बी और गहरी सांस के साथ आह भरी और बोले कि पूरी दुनिया से लोग जर्मनी के बवेरिया स्टेट में 'ओक्टूबर फेस्ट' में शामिल होने इसीलिए तो आते हैं। बेहतरीन बीयर पीने और नाचने गाने के लिए शानदार जगह है ओक्टूबर फेस्ट। म्यूनिख, बवेरिया स्टेट की राजधानी और दुनिया के चंद बेहतरीन शहरों में शुमार म्यूनिख जिसे जर्मन भाषा में मुनशेन भी कहा जाता है। हर साल सितम्बर में होता है म्यूनिख में ओक्टूबर फेस्ट। उस फेस्ट में होने वाला हिप और ब्रेस्ट का मुकाबला सबसे हिट जाता है।

जीवन क्या जिया

तारानंद वियोगी

कभी 'पहल' पुस्तिका में प्रकाशित तारानंद वियोगी के संस्मरण 'तुम चिर सारथि' को भुला पाना कठिन है। इधर उन्होंने हिंदी, मैथिली के विख्यात और रूढ़िभंजक व्यक्तित्व राजकमल चौधरी की पृष्ठभूमि, अवचेतन तथा आत्मसंघर्ष को लेकर एक बड़ा काम किया जिसे हम अविकल यहां प्रकाशित कर रहे हैं।

–बाबा वो फूल बाबू थे न, मधुसूदन बाबू के लड़के–वो बहुत बड़े लेखक थे। 'राजकमल चौधरी' कहलाते थे। देश भर में उनका बहुत नाम है। लेकिन, अपने गांव में उन्हें कोई नहीं जानता। लोग जानते भी हैं तो अच्छी तरह से नहीं। उनका जन्मदिन 13 दिसंबर को है। इस अवसर पर हमलोग उनकी जयंती मनाना चाहते हैं, बाबा। –सोलह सतरह आयु वर्ग के कुछ लड़के गांव के सर्वाधिक प्रतिष्ठित मान्यजन से कह रहे थे।

–तो, उस जयंती में क्या सब होगा?

–उसमें हम बाबा, मिथिला के कुछ बड़े बड़े विद्वानों को बुलाएंगे। कवियों को भी बुलाएंगे। राजकमल जी के बारे में लोग बताएंगे। फिर काव्यपाठ होगा।

बाबा ने एक लंबी हुंकारी भरी, फिर चुप हो गए। हमलोग उनकी ओर देखते रहे।

–तुम किसके बेटे हो?

मैंने अपने पिता का नाम बताया। मेरे पिता का नाम सुनकर उनके चेहरे का भाव और अधिक तिक्त हो गया।

–तुमलोग किसके किसके बेटे हो?

सबने अपने अपने पिता का नाम बताया।

बाबा बोले–सब लड़के तो गरीब घर के हो। चंदा लेना पड़ेगा।

—जी बाबा, हमलोग चंदा के लिए ही आए थे।

—चंदा तो खैर, हम नहीं देंगे। इस तरह के काम में हम किसी को चंदा नहीं देते हैं। तब, एक मदद कर देंगे।

—क्या बाबा?

—हम दरोगा जी को बोल देंगे कि तुमलोगों की पकड़ धकड़ नहीं करें।

—सो क्यों बाबा?

—देखो, बात ये है...

शुद्ध मैथिलों की जो शैली है, उस शैली में, मिचरा मिचराकर बाबा कहने लगे—जयंती मनाने का कुछ नियम कायदा होता है। इसमें विचार किया जाता है कि मृत व्यक्ति की आत्मा को किस बात से शांति मिलेगी, क्या करोगे तो प्रसन्नता होगी। तो, तुमलोग थोड़ा अच्छा से करो।

—जी बाबा, बताइए।

—मिट्टी तेल वाले डीलर के पास जो ड्राम होता है, वो दो ठो ड्राम कहीं से मंगनी कर लो। उसमें भरवाकर देसी दारू मंगवा लो। पाव भर गांजा का भी कहीं से प्रबंध करना पड़ेगा। और ये सब लेकर, महिषी गांव का जो सिमान है न, वहां पर बैठ जाओ। हरेक आने जानेवाले मुसाफिर को एक एक डबूक दारू दो। गांजा पिलाओ। इससे उसकी आत्मा को शांति मिलेगी। तुमलोगों का भी नाम होगा। श्रद्धांजलि अगर देना चाहते हो बाबू, तो सच्ची श्रद्धांजलि दो।

हम सारे लड़के अकबका गए कि बाबा यह क्या कह रहे हैं! किसी के भी मुंह से बकार तक नहीं निकल रहा था। टक टक हम बाबा का मुंह ताके जा रहे थे। वह इतनी शांति से और आराम से अपनी बात कहे जा रहे थे कि हमारे लिए बातों के तथ्य का वजन समझ पाना मुश्किल था। लेकिन, बस इतने तक। जरा देर हम टकटकी लगाए होंगे कि उनका पारा चढ़ गया।

—खच्चर बेहूदा सब कहीं का! जयंती मनाएंगे! इतना जूता मारेंगे कि मारेंगे दस तो गिनेंगे एक। भागते हो कि नहीं?

—जी बाबा, हमलोग जाते हैं। आप शांत होइए।

—रे, वो तो चोट्टा मर गया कि इस गांव का पाप टला! अभी तक अगर जिंदा रहता तो गांव का धर्म नहीं बचता...जयंती मनाएंगे! हम जाते हैं सबके बाप को 'परचारने'...

इतनी बात तो हमने आधी सुनी, आधी सुनी भी नहीं, तेजी से भाग खड़े हुए।

उस दिन, बातों बातों में यह बात चर्चा में आ गई। मैं गांव में था और केदार (कानन) आए थे। साथ में थे—सुभाष (चंद्र यादव) भाई, सुस्मिता (पाठक) जी, रमण (कुमार सिंह) और प्रभात (झा)। मेरे ये सभी आत्मीय मेरे गांव, मेरे घर आते रहते हैं। लेकिन, इस बार का आना अलग था। केदार बरसों से बोलते थे कि राजकमल का घर आंगन देखने जाना है। मैं टालता था। दुख को जितना टालो, अच्छा होता है। राजकमल का घर देखेंगे तो क्या होगा? दुख होगा। संताप से भर जाएंगे आप। पीड़ा होगी कि मरने के इतने बरस बाद भी उन्हें माफ नहीं किया गया। कोफ्त होगी कि लोग राजकमल का सगा प्रियपात्र बता बताकर आपका भेजा खा जाएंगे। आप गहरे अफसोस में डूबेंगे। आंखें भर आएंगी। 'नोर' टपक पड़ेंगे। मित्र हूं तो इतनी तकलीफ में क्यों पड़ने दूं आपको? लेकिन, केदार ने इस बार जबर्दस्त जिद पकड़ी थी।

हम राजकमल का घर देखने गए। घर नहीं था। हमें मालूम था कि घर अब नहीं है। नहीं मतलब बिल्कुल नहीं। वहां मिट्टी थी। जंगल झाड़ उगे हुए थे। पड़ोसियों ने खर पतवार जमा कर रखे थे। पपीते के गाछ पर तिलकोर, पनझोर, सपेता और न जाने कौन कौन सी लत्तियां लतरी हुई थीं। वहां

घर नहीं था। वह जमीन अब राजकमल के हिस्से में रही भी नहीं। नीलू को किसी दूसरी जगह हिस्सा मिला, यहां नहीं मिला। यहां धीर बाबू और सुधीर बाबू के बच्चों का हिस्सा है। घर नहीं है, केवल स्मृतियां हैं, ताकि केदार जैसा कोई साहित्यकार कभी कभार टपक आए तो रोकर जाए।

दस बरस से भी ज्यादा हुए। मुझे मालूम था कि घर अब नहीं है। घर नहीं, बंगला। इसे हम फूलबाबू का बंगला कहते थे। मिथिला के बौद्धिक लोग इसे 'कवि कुटीर' कहते थे। मालूम था। लोगों को मालूम है कि महिषी के पूरब धेमुड़ा बहती है और पच्छिम कोशी। मगर कितने लोग जा जाकर सत्यापन किया करते हैं? कभी देख लिया, बस। दिमाग में उसका चित्र बना रहता है। आगे कभी पता चले कि धेमुड़ा की धारा अब सूख चली तो दिमाग के चित्र में बहते पानी को हम सुखा लेते हैं। सत्यापन कौन करने जाता है? पचास तरह की झंझटों का नाम जीवन है। घर अब नहीं है, यह भी कोई सत्यापन की बात हुई? हां, यदि यह पता चला होता कि बुधवारयवालों ने या किन्हीं और ने ही राजकमल की 'डीह' पर स्मारक बनाया है तो आपकी जिम्मेवारी बनती थी।

अच्छी तरह से पता था कि घर अब नहीं है। लेकिन घर नहीं तो आखिर क्या है, यह देखने दिखाने जब गया, तो जो हालत हुई उसकी बात पूछिए ही मत! और, मधुसूदन बाबू की हवेली को देखते देखते जो हुआ, वह तो और भी मत पूछिए। मैं कोई अकेला नहीं था साहब, सबकी आंखें भर आई थीं।

...और, भरे दिल से दिन भर 'बदरिकाश्रम' में बैठकर हम उन पुराने किस्सों को याद करते रहे थे।

वे दिन थे कि जब राजकमल चौधरी को गुजरे बारह बरस बीत चुके थे। और, कोशी में जाने कितना सारा पानी बह चुका था, और उसके साथ जमीनें भी। और, देवी तारा की बलि वेदी पर बीसियों हजार छागों की बलि दी जा चुकी थी। तीन चार बार अकाल पड़ चुका था, पांच छह बार अगलगी हो चुकी थी। सींकिया सामंतों की एक पीढ़ी तो गुजर गई थी, मगर ऐसे ढेर सारे नए लोग पूरी चमक में थे जो बातों के बम से संसद भवन को भी धराशायी कर सकते थे। यह राजकमल का गांव, महिषी था, जहां अब तक भी न तो सड़क पहुंची थी, न बिजली। गरीबी और बदहाली बदस्तूर कायम थी। साल दर साल कोशी की छाड़न उफनती और अगले एक साल तक रोते रहने का सौगात दे जाती। लोग फिर भी सहज जीवन जीते, भांग और गांजा और ताड़ी के भीतर से निकलनेवाले रास्तों में सुकून की तलाश करते पाए जाते थे। सुकून देने के लिए बहुत बड़ी ताकत मौजूद थी। वह थीं—देवी तारा, जिनके बारे में राजकमल कहा करते कि तेरह हजार साल पहले मेरुदंड पर्वत की काली चट्टानों से तराश ली गई तेरह साल की लड़की थीं वह, जबकि वह उग्र भी नहीं थीं, तारा भी नहीं, उनके लिए महज उग्रतारा थीं। लोग थे कि ये उलझन भरी बातें नहीं समझते थे, मगर वह उग्रतारा उनके लिए भी वही उग्रतारा थीं।

और, वे दिन थे कि जब कोशी के इस पर्यावरण में हमारी आंखें खुल रही थीं। धीरे धीरे हम उस लायक हो रहे थे कि आदमी जिन्हें देखता है, उन्हें उनकी असलियत में जानना चाहता है। हर चीज के लिए एक आतुर जिज्ञासा। हर बात के भीतर से उभरती ढेर सारी नई बातें और प्रश्न, प्रश्न...। प्रश्न ढेर सारे थे मगर उनके ठीक ठीक उत्तर, जो हमें संतुष्ट कर सकें, दे सकनेवाले लोग नदारद थे। उपस्थितों से यदि काम न चले तो लोग अनुपस्थितों की तरफ मुखातिब होते हैं, और इसी दौरान उसकी मुलाकात 'साहित्य' नामक फेनोमेना से होती है। हमारी तो ऐसे ही मुलाकात हुई थी। गुलशन नंदा और कर्नल रंजीत पढ़ते पढ़ते कब हम प्रेमचंद और हरिमोहन झा और विमल मित्र के पास पहुंच गए, हमें भी पता न चला था।

और, ये ही वे दिन थे कि जब हमने राजकमल चौधरी का आविष्कार किया था।

शुरुआत कुछ इस तरह हुई थी—

एक किसी दिन की शाम हम तारास्थान में राजेंद्र की पान दूकान पर उपस्थित थे कि जब हमारी मुलाकात विनोद जी से हुई थी। वह हमारे गांव के थे। पोस्ट ऑफिस में नौकरी करते थे, कहीं बाहर। विचित्र आदमी थे। जब भी मिलते, हमसे वह घंटों बातें किया करते थे। यह शायद उपेक्षितों का मनोविज्ञान था, जो हमें एक दूसरे के करीब लाता था। वह ब्राह्मण थे, मगर अल्पसंख्यक मूल के। पंजी व्यवस्था के कारनामे ऐसे थे कि इस प्रकार कुछ ब्राह्मण भी हुआ करते, जिनका छुआ पानी दूसरे ब्राह्मण नहीं पीते थे। इतनी बातें मगर हमें पता न थीं। हम तो देखते कि विनोद जी ब्राह्मण हैं, पर दबंग नहीं हैं। पढ़े लिखे हैं, पर उदार हैं। और उदार भी इतने कि हम जैसों के लिए भी उनके पास घंटों का वक्त होता है; जबकि हम कैसे? जो, अपनी औकात को भूल भालकर अनंत आकाश में उड़ान की योजनाएं रखते हैं और अक्सर बात बेबात पर पिट जाते हैं, ऐसी बातों पर भी कि संस्कृत श्लोकों का इतना शुद्ध उच्चारण हम कैसे कर सकते हैं!

—क्या पढ़ रहे हैं विद्यार्थी, आजकल?

—सर, बाणभट्ट की 'कादंबरी' पढ़ रहे हैं। वो हमारे कोर्स में है।

—बढ़िया। और क्या पढ़ रहे हैं?

—सर, पढ़ तो रहे हैं 'सामर्थ्य और सीमा'। भगवती चरण वर्मा का है।

—अरे वाह, कैसा लग रहा है?

—वह तो जुलुम है सर। बहुत मन लग रहा है।

—तब तो हम आपको सलाह देंगे—आप राजकमल चौधरी को पढ़िये। जानते हैं उनको? अपने ही गांव के थे। अब मर गए।

—कौन राजकमल चौधरी, सर? फूल बाबू?

—हां, हां। फूलबाबू।

—वो किताब भी लिखे हैं?

—अरे, लिखे हैं? उन्होंने हिला दिया है। उनकी किताब का अर्थ अभी भी बहुतों को नहीं लगता है। वो तो मर गए! वरना देखते कि इस गांव की आज कितनी प्रतिष्ठा होती। उनको पढ़िए विद्यार्थी! पढ़िएगा तो सब जान जाइएगा!

अब किस्सा यह कि राजकमल चौधरी के परिवार में मेरा रोज का आना जाना था। कम से कम चार पांच घण्टे का समय वहां रोज बीतता। राजकमल के सगे चाचा नरेंद्र नारायण चौधरी हमारे गुरु थे। पूरा गांव उन्हें 'बच्चा काका' कहता, पर हम उन्हें 'बाबूजी' कहते थे। स्कूल टीचर की नौकरी से रिटायर्ड होकर वह गांव में जम गए थे और अपने आनंद के लिए बच्चों को पढ़ाते थे। शिक्षक बड़े ही उच्चकोटि के! जन्मजात शिक्षण प्रवृत्ति उन्होंने पाई थी। मेरा सौभाग्य यह कि मैं किताबों की पढ़ाई से आगे बढ़कर उनके जीवन में शामिल हो गया था। बड़े गर्व से वह कहते कि तारानंद को तो मेरा बेटा होना था, भूल से इसका जन्म किसी दूसरे कुल मूल में हो गया है। उनकी बिटिया लालसा हमारी सहपाठी थी। स्कूल में भी हम एक ही कक्षा में पढ़ते थे।

अब, उस आश्चर्य का आप अनुमान करें, जो उस वक्त मुझे हुआ होगा। ऐसा नहीं था कि हमारे बीच राजकमल की कोई चर्चा ही नहीं होती थी। बाबूजी से, लालसा से, आशा दी और उषा दी से और परिवार के दूसरे अनेक लोगों से बार बार उनके बारे में बातें होतीं। उनके जीवन के बहुत सारे प्रसंग, बहुत सारे किस्से मुझे मालूम थे। यह भी जानता था कि वह लेखक टाइप का भी कुछ काम करते थे। पर, इतने अद्भुत थे, और उनकी लिखी किताबें भी हैं, और

हिला देनेवाली हैं–यह सब कभी हमारी बातचीत का हिस्सा नहीं हुए थे। हम तो अचरज में डूब गए थे, समझिए।

राजकमल चौधरी के परिवार को उनके लिए बहुत अफसोस था। जिस तरह वह मरे थे, उसे वे आत्महत्या किस्म की मौत मानते थे। लोगों का खयाल था कि वह चाहते तो बच सकते थे। इसे वे उनकी नशाखोरी से जोड़ते थे। राजकमल चौधरी का परिवार मिथिला के अत्यंत प्रतिष्ठित मूलों में से एक–बुधवारय महिषी था। महिषी के वे मूल बाशिंदा थे। चौदहवीं शताब्दी में जब पंजी व्यवस्था का आरंभ हुआ तो यह धर्मनिष्ठ परिवार कई कई पीढ़ियों से यहां बसा हुआ पाया गया था, और इसकी गणना सुप्रतिष्ठित कुल में हुई थी। जमींदारी प्रथा के जमाने में यह राजसत्ता से भी जुड़ा। यशस्वी, मनस्वी और ओजस्वी लोगों की एक पूरी परंपरा इस परिवार से जुड़ी थी। बीसवीं सदी के मध्य तक इस परिवार ने अपनी विगत महत्ता की संरक्षा काफी हद तक कर रखी थी। इस शृंखला को तोड़ा था राजकमल ने। अपने आचरण में वह सर्वतंत्र स्वतंत्र थे। उनके लिए परंपराओं का मूल्य तभी तक था, जब तक कि वे उन्हें प्रीतिकर लगें। उन्होंने अपना विशाल ताना बाना रच रखा था और परंपरा की लघु सीमाओं में वह अंट नहीं पाते थे। बड़े बुजुर्ग उन्हें समझाते बुझाते और धर्ममार्ग पर लाने की कोशिश करते थे। पर, राजकमल थे कि किसी की भी पहुंच के बाहर थे। एक बेचैन आत्मा लेकर वह पैदा हुए थे और अपनी संतुष्टि के सिवाय किसी को भी प्रमाण मान नहीं सकते थे। लोग नाराज होते और उनसे टूट जाते थे।

दूसरे दिन हमने गुरुजी से पूछा थाबाबूजी, फूलभाई किताब भी लिखे थे? सुनते हैं, उनकी बड़ी अच्छी अच्छी किताबें हैं।

इसके बाद जो हुआ था, उसकी कहानी कहूं तो लंबा अध्याय चलेगा। राजकमल की मृत्यु बाद के इन वर्षों में यह शायद पहला मौका था जब उन्हें इतने निकट से कुरेदा गया था। मैं तो महज अनजान था और सहज जिज्ञासावश उनसे पूछ बैठा था। मगर, वह खुले तो खुल ही गए। पूरा इतिहास भूगोल व्याख्यायित होने लगा। राजकमल के जन्म से लेकर उनकी मृत्यु तक बाबूजी ने उन्हें देखा था। निकट से देखा या दूर से, यह और बात है। लेकिन देखा था बड़े प्यार से, उम्मीद से और फख्र से, यह साफ दीखता था। वह खुले तो उनकी बातें खतम होने का नाम ही नहीं लेती थीं। वह भावुक हो गए थे। रोने लगे थे।

वह दृश्य मुझे नहीं भूलता। गुरुजी का गला रुंध गया था–देखते हो, देखते हो तारानंद–उन्होंने अपनी दोनों हथेलियां मेरी ओर फैला दी थीं–ये ही हाथ हैं, जिन्होंने बचपन में उन्हें दुलार किया, सम्हाला, सहारा दिया। जैसे जैसे वह आगे बढ़ते गए हमने स्थान भी उनको दिया। अरे, कोई परंपरा है तो उसको तोड़ भी सकते हो, ठीक है; लेकिन अपने आपको तो बचाकर रखोगे न! उन्होंने वह भी नहीं किया। उन्होंने हमारी एक न सुनी, तारानंद! एक न सुनी। चले गए...

गजब दृश्य था वह! गुरुजी रो रहे हैं। आसपास खड़े शिष्य हक्का बक्का! दम साधे सभी उनकी बातें सुन रहे हैं, भले समझें न समझें। सामने लालसा खड़ी है। उसकी आंखें भी बरस रही हैं...मगर, उन्हें सम्हाल भी रही है तो वही नन्हीं लड़की–बाबूजी बाबूजी! फूलभाई अमर हैं। अमर कीर्त्ति वे करके गए हैं। जब तक दुनिया में साहित्य रहेगा, फूलभाई का नाम भी रहेगा। आप मत रोइए।

इस बातचीत से दो तीन बातें स्पष्ट हुईं। एक तो यह कि राजकमल को उनके बच्चा काका ने क्षमा कर दिया था। दूसरे, कठोरता के स्थान पर एक नमी आ गई थी। तीसरे, राजकमल के जीते जी जो

आलोचनाएं राजकमल को लेकर थीं, वे अब आंसू के रूप में परिणत हो चुकी थीं। यूं वे आंसू केवल दुख के आंसू न थे, उनमें यह शिकायत भी निहित थी उन्होंने अपना केयर नहीं किया। आज सोचता हूं तो लगता है कि इस पूरे प्रकरण में एक करुण अंतर्विरोध भी मौजूद था। राजकमल जैसे आदमी के लिए कहीं निस्तार न था। जब तक उन्हें जीना था, इस आरोप के साथ कि वे परंपराओं का, घर का, समाज का, दुनिया का केयर नहीं करते। और, जब उन्हें मर जाना था तो इस शिकायत के साथ कि उन्होंने अपने आप का केयर नहीं किया। बेचैन आत्माओं के साथ दुनिया शायद यही बर्ताव करती है।

गांव में उन दिनों शशिकांता जी थीं। उनका आंगन अलग था। उनसे हम बात कर सकें, वह भी राजकमल के बारे में, यह हमारी हिम्मत न थी। बातें होतीं भी तो बस दुनिया जहान की। बहुत अधिक हम आगे बढ़े तो नीलू के बारे में बात होने लगी थी। यह तो बहुत बाद में आकर हुआ कि उनसे हमने घंटों बात की, लंबे इंटरव्यू लिए और उन्हें अखबारों में, पत्रिकाओं में प्रकाशित भी कराया। दिव्या ससुराल बसती थीं। उनके पति कभी कभार मैथिली में कहानियां लिखते, जिन्हें हम बड़े चाव से पढ़ा करते। मुक्ता का विवाह तब तक नहीं हुआ था। और, गांव में उन दिनों नीलू थे। नीलू हमसे छोटे थे, मगर तेज तर्रार। अब यह हुआ कि राजकमल के पीछे हमलोग, हम और हमारी मित्रमंडली, पड़े तो नीलू हमारे हीरो हो गए। घंटों उनसे बात होने लगी। उनके पास कई किताबें थीं। बारी बारी से हमने वे किताबें लीं। और थे हम कैसे, वह देखिए कि नीलू से किताब ली तो उन्हें लौटाना तो पड़ेगा ही। नीलू हमेशा गांव में तो रहते नहीं। आगे फिर वह किताब देखनी हो तो न जाने कहां से मिलेगी, या, मिलेगी भी या नहीं। तो हमने यह किया कि जो किताब उनसे ली, उसे पूरे का पूरा नोटबुक पर उतार लिया। और तो और, कवर के चित्र उतार लेने की भी ईमानदार कोशिश की, जबकि इस कला में हम इतने घटिया थे कि रेखाएं भी शायद हमारी उंगलियों की छुअन से घबराती होंगी।

राजकमल की किताबों के नाम हमें मालूम हो गए थे। कुछ ही दिनों के भीतर हमारे पास 'आखर' और 'लहर' के विशेषांक थे, 'आंदोलन', 'मुक्ति प्रसंग' और 'कंकावती' की प्रति थी। इस बात से भी हम अवगत हो गए थे कि किताब के रूप में प्रकाशित उनकी रचनाएं तो कम हैं, उनका अधिकांश लेखन तो पत्र पत्रिकाओं में बिखड़ा हुआ है। हमारी एक छोटी सी दुनिया थी। और, इस दुनिया में राजकमल चौधरी दाखिल हो चुके थे। एक संकल्प भीतर जग चुका था कि उनके लिए हमें कुछ करना है। कर तो ज्यादा हम अपने ही लिए रहे थे, मगर यह बात तब मालूम नहीं थी।

राजकमल के परिवार का अपना पुस्तकालय था—सरस्वती पुस्तकालय। वह इतना संपन्न और प्रसिद्ध था कि पांचवे दशक में जब 'सहरसा जिला गजेटियर' तैयार किया जा रहा था तो जिले के प्रसिद्ध पुस्तकालयों में इसका भी उल्लेख हुआ था। राजकमल के बड़े बाबूजी (स्व. सुरेंद्र नारायण चौधरी उर्फ मांगन चौधरी) पढ़ने के भयावह व्यसनी थे। उनकी रुचि भी ऊंची थी। उनकी संकलन वृत्ति ने इस पुस्तकालय को और भी अधिक संपन्न बना दिया था। उनसे हमारा भी आदान प्रदान होता था, जिसका जिक्र 'तुमि चिर सारथि' में आया है। राजकमल की खोज में हम इस पुस्तकालय की एक एक किताब देख गए। फिर, गांव में और भी बहुत लोग थे जो किताबों के शौकीन और संग्रही थे, उनके पास भी बहुत सारी चीजें थीं। इन सब चीजों को देखना, उन्हें छूना, उनको पढ़ना और सहेजना, सच में, बहुत ही दिलचस्प था।

कौतुक भरे उस सुख की जरा आप कल्पना करें। रैक में रखी पुरानी और धूल भरी किताबें आप देख रहे हैं और अचानक आपको एक हैंडमेड नोटबुक मिल जाता है। इसमें कविताएं लिखी हैं, जिन्हें इंटरमीडिएट में पढ़ने वाले एक लड़के ने लिखी हैं, जिसे आगे चलकर राजकमल चौधरी होना है। 'सुधा' की पुरानी फाइल आप पलट रहे हैं और पाते हैं कि प्रकाशित रचनाओं के नीचे

किसी ने अपनी तात्कालिक प्रतिक्रियाएं आंक दी हैं। यह लड़का मणींद्र है, जो आठवीं कक्षा में पढ़ता है और उसका रोल नंबर 17 है। किसी के घर में आपको कोई पुराना उपन्यास मिल जाता है, जो किसी मुकुट बिहारी सक्सेना या सत्यपाल पांडेय या घनश्याम बिहारी का लिखा है। उपन्यास के ऊपर और नीचे पांच दस सादा पन्ने जोड़कर जिल्द चढ़ा दी गई है। आप उसे उलटते हैं तो पाते हैं कि सादे पन्नों सहित समूचा उपन्यास काली नीली स्याही में लिखे हर्फो से भरा पड़ा है। हस्तलिपियां दो तरह की हैं। एक लिपि लड़के की है। उसका नाम 'फूल' है। वह हाइस्कूल में पढ़ता है। दूसरी लिपि लड़की की है। उसका नाम 'श्यामा' है। वह लड़के की सहपाठी है। एक ने दूसरे को उपन्यास पढ़ने दिया तो एक रुबाई आंक दी। दूसरे ने उपन्यास पढ़ा और बात को आगे बढ़ा दिया। अब मजा यह कि यही उपन्यास फिर अगला संदेशा लेकर दूसरे के पास वापस आया। कब आया, तारीख लिखी है। कब कितनी बात आगे बढ़ी, सब साफ साफ है। आज के जमाने के प्रेमियों को यह यकीन करना भारी पड़ेगा कि उन दिनों दो तीन वर्षों की सघन प्रेम कहानी का मुकम्मल इतिहास एक साधारण उपन्यास बन सकता था।

इस क्रम में हमने बहुत सारी चीजें देख लीं। हमने राजकमल के लिखे, और राजकमल को लिखे पत्र देखे। पचासों। वे पच्चीस बरस से भी अधिक कालखंड का प्रतिनिधित्व करते थे। उनमें चढ़ाव का उन्माद था, और उतार की उदासी भी। उनमें ललक थी, और थकान भी। उनमें मस्ती थी और दुख भी था। हमने उनकी डायरियां देखीं। हमने वे किताबें देखीं, जिन्हें प्रकाशकों ने उन्हें समीक्षार्थ भेजी थीं और जिन्हें पढ़ने के बाद उन्होंने समीक्षाएं भी लिखीं थीं। हमने 'बीस रानियों के बाइस्कोप' और 'एक अनार एक बीमार' की लेखकीय प्रति भी देखी। उपन्यास के पन्नों को पत्रिका से निकालकर अलग से जिल्द बना दी गई थी। कवर पर मर्लिन मुनरो की एक प्यारी सी, मांसल सी, तस्वीर चिपका दी गई और लेखक ने लिखा—'बाइस्कोप' 'राजकमल'। कितनी कहें, हमने बहुत कुछ देखा। अनाड़ी से हम द्रष्टा और खिलाड़ी से वह भोक्ता। मगर, गहन संवेदना के साथ, हम उन्हें देख रहे थे। हम एक ऐसे नायक के रू ब रू थे जो बोल तो कुछ भी नहीं रहा था, लेकिन बयान बहुत कुछ कर रहा था।

कहते हैं, जो जैसा होता है या जिसे जैसा होना होता है, चीजों को वह उसी तरह से ग्रहण करता है। हम राजकमल को खोज रहे थे तो जाहिर है कि इस क्रम में गांव के लोगों से, उनको लेकर हमारी बातचीत होती रहती थी। गांव के एक महापंडित विद्वान ने कहा था—अरे! फूल बाबू का? उसका तो नाम ही मत लो। वह तो ईश्वर ने भलाई की कि वह मर गया। नहीं तो गांव का बच्चा बच्चा नशेड़ी और आवारा बन जाता। बात यह हमें पसंद न आई थी। मगर हालात ऐसे थे कि विद्वान जी को भी आप सरासर गलत नहीं ठहरा सकते थे। गांव के प्रौढ़ लोग, जिन्होंने उन्हें देखा था या उनकी संगत की थी, वास्तव में इसी चीज को राजकमल की विरासत मानते थे। वर्जनाओं को तोड़ने का यह राजकमल का अपना तरीका था। वह तो थे कि वर्जनाओं को तोड़ लेने के बाद कुछ आगे का सोचते या करते थे। वह सब लेकिन, इन्हें दिखाई नहीं देता था। इस तोड़ फोड़ में जो एक रोमांच, एक चकाचौंध पाया जाता है, ये सब उसी में भटक कर रह जाते थे। स्वयं राजकमल पर यह आरोप था कि वह इसी में भटक गए थे, पर हम तो यह न तब मानते थे, न आज मानते हैं।

हमारी उमर के लड़के तो उन्हें जानते भी नहीं थे। हमसे जो पांच साल बड़े थे, उन्हें भी उनके बारे में कायदे से कुछ पता न था। नई उमर के बच्चे तो खुद उनके परिवार के भी उन्हें नहीं जानते थे। आखिर जानते भी क्यों? कुछ विशिष्टता होती उनमें तो अभिभावकों को लगता कि दृष्टांत के तौर पर, आदर्श के तौर पर, उन्हें जनाया जाना चाहिए, उनकी चर्चा होनी चाहिए। पर गांव हमारा, नहीं मानता था कि जानते नहीं हैं। न जानने के पीछे उसके व्यामोह थे—वर्जनाओं के प्रति। वर्जनाओं का टूटना जैसे सनातन कुल परंपरा का ध्वस्त हो जाना हो। मानो कि परंपरा और वर्जना समान व्याप्ति रखनेवाले दो पर्यायवाची हों। और, वर्जनाएं भी कैसी कैसी? एक मान्यता थी कि शाम के समय

आसमान में कभी इकलौता तारा न देखो, अगर भूल से नजर पड़ जाए तो दूसरे तारे के निकलने तक लगातार हरि स्मरण करते रहो। एक मान्यता यह थी कि आकाश में इंद्रधनुष देखो तो भूल से भी किसी दूसरे को न दिखाओ। हम पूछते—क्यों? रटा रटाया जवाब मिलता था—पाप लगता है। और, हमारी समझ यह थी कि उन्हीं दिनों हमने 'चित्रलेखा' पढ़ लिया था, जिसकी शुरुआत ही पाप की खोज से होती है। हम खोद खोदकर पूछा करते—यह पाप आखिर है क्या? उत्तर कोई नहीं जानता था। महापंडित अगर जानते भी हों तो हमें समझा नहीं पाते थे। श्रेष्ठ कुलों के अधिकतर लड़के अक्सर परेशान रहा करते क्योंकि जाने अनजाने कई कई वर्जनाएं आए दिन टूट जाया करती थीं और वे पाप दंड की आशंकाओं से घिरे, अनिष्ट की प्रतीक्षा करते पाए जाते थे। हमारी टीम के जो लड़के थे, वे तो खोज खोजकर ऐसी वर्जनाओं को तोड़ते और इस पर किस्से गढ़कर शीलवान लड़कों को सुनाया करते। बहुत सारी छोटी छोटी वर्जनाएं हमने ढूंढ़ रखी थीं और उनके धमाकेदार तोड़न अभियान की बाकायदा योजनाएं हमारे पास हुआ करतीं। इतनी सारी वर्जनाएं हमारे चतुर्दिक विद्यमान थीं कि हमें भूले से भी खयाल न आता कि वर्जनाओं को तोड़ने का मतलब शराब या गांजा पीना है और 'आवारा' बन जाना है। सच पूछिए तो हम भी इसके विरुद्ध थे। मगर हां, इतने विरुद्ध भी नहीं कि कोई इसी आधार पर हमसे हमारे राजकमल को छीन ले। ऐसी नौबत आती तो हम तर्कवीर बन जाया करते थे। उन परिस्थितियों का विश्लेषण करने लगते, जिसमें आदमी आवारा बन जाने को बाध्य होता है। तर्क हमारे कमजोर भले होते हों, पर उसके साथ निष्ठा जुड़ी थी। बड़े गर्व से हम कहा करते—धन्य हैं वे जिन्हें ईश्वर ने ऊंचे कुलों में जन्म लेने से बचा लिया है, क्योंकि न उनके हाथों में हथकड़ियां हैं, न पांवों में बेड़ियां। हम निष्कर्ष निकाला करते कि राजकमल ने वर्जनाएं तोड़ीं, क्योंकि वह एक समतावादी समाज की स्थापना चाहते थे, जहां आदमी की पहचान उसकी मानवीयता, उसकी संवेदना के आधार पर होती है। लेकिन उस समाज में प्रवेश की अपनी शर्त्तें हैं। वहां शौच अशौच का कोई भेद नहीं पाया जाता। वही असल में उग्रतारा का चीनाचार तंत्र है। सतह पर यदि आप फंसे तो गए। वहां, मानवीयता के उस संसार में आप जैसे कुपात्र कुल पशुओं के लिए कोई जगह नहीं है। आदि आदि। कभी कभी हमारे ये निष्कर्ष लीक हो जाया करते और प्रौढ़ों से हमें पिटना भी पड़ता था।

मैं बता रहा था कि खुद राजकमल के भी परिवार के, नई उमर के बच्चे उन्हें नहीं जानते थे। लेकिन, जो थोड़े बड़े थे, हमारे समवयस्क, और जिनका जन्म राजकमल की मृत्यु के पांच सात साल पहले हो चुका था, उन्हें किसी न किसी रूप में उनको जानने का अवसर मिला था। और, कहना चाहिए कि वे जरूरत से कुछ ज्यादा ही जानते थे। 'ज्यादा' इसलिए कि जानने और मानने की खाई उन्होंने पाट ली होती थी।

हमारे एक मित्र थे—नवीन (नवीन चौधरी)। वह राजकमल के सगे अनुज धीर बाबू के बेटे थे। धीर बाबू का देहांत हो चुका था। तीन भाइयों में नवीन सबसे बड़े थे। बहुत ही संवेदनशील और उतने ही प्रतिभाशाली। सजग भी उतने ही। बाबूजी के घर हम अक्सर मिला करते और हमारी लंबी बहसें हुआ करती थीं। सर्वाधिक लंबी एक बहस मुझे याद आती है कि हम यह फरियाने में भिड़े थे कि रजनीश (बाद में ओशो) और विवेकानंद में से हमारे लिए अधिक प्रासंगिक कौन हैं। शाम को शुरू हुई बहस जब रात के बारह बजे भी खतम न हुई तो बाबूजी को हस्तक्षेप करना पड़ा था। राजकमल से हम दोनों जुड़े थे। लगभग साथ साथ हम उनकी रचनाएं पढ़ते और उन पर बहस करते थे। लेकिन बहुत जल्दी हमने पाया कि वह चीजों को कुछ दूसरे तरीके से ग्रहण कर रहे हैं। हमें लगता मानो उनके राजकमल कोई और हैं, मेरे कोई और। हम दोनों ही अपने जीवन के लिए राजकमल का उपयोग करना चाहते थे मगर हमारी प्राथमिकताएं भिन्न भिन्न थीं।

हम देखते कि नवीन के वे दिन बहुत संघर्ष भरे थे। कई तरह के अभावों और वर्जनाओं में

उनका बचपन बीता था और इसके निस्तार का कोई मार्ग अब तक भी उद्घाटित नहीं हुआ था। माली हालत हमारी भी उनसे कुछ बेहतर न थी, मगर प्लेटफॉर्म हमारा जरूर अलग था, जिस पर खड़े होकर हमें अयास करना था। हम चाहते कि नवीन हमारी टीम में शामिल हों। मगर, नवीन को लगता कि हम और हमारी टीम जो कुछ भी सोच रही है, कर रही है, वे बचकाना हरकतें हैं। हम जुड़ने की अभीप्सा रखते थे जबकि नवीन टूट रहे थे। राजकमल को वह हमसे अधिक जानते थे—परिवारी होने के नाते भी, और इस चलते भी कि बोध और व्याख्या में वह हमसे अधिक प्रखर थे। मगर टूट क्यों रहे थे? हमें कभी कभी बड़ा डर लगता कि राजकमल को अधिक जान लो तो वह हमें तोड़ डालेंगे।

अधिक विस्तार में तो क्या जाऊं! अगले दो वर्षों में हमने पाया था कि नवीन टूट चुके थे। वह खुद भी निराश हो चुके थे और उनके परिवार ने भी उनसे आशाएं करनी छोड़ दी थीं। हम उन्हें लेकर बहुत व्यथित थे। हम उन्हें जोड़ना चाहते थे मगर वह थे कि छिटककर दूर भागते थे। जो बात दरअसल कहनी है, वह यह कि ऐसे ही वक्त में एक शाम हमने ऐन तारास्थान में नवीन को घेरा था। वह बचने की कोशिश में थे पर हम थे कि जरूर ही उनसे बात करनी थी। आखिरकार उन्होंने हथियार डाला था—तो कहो, क्या कहना चाहते हो! हमें तो बहुत बहुत कुछ कहना था—संघर्ष के पक्ष में, निर्माण के पक्ष में और टूटने के विरुद्ध। तारास्थान का एक सूना सा कोना हमने ढूंढ़ा और दो घंटों तक बात करते रहे। बातों का समापन कुछ इस तरह हुआ था—

—जो कहना था तुम्हें, कह चुके?

—हां। यही समझो। लेकिन दोस्त, यह कहने की बात नहीं है। करने की है।

—देखो, तुम जब कह रहे थे, मैं ध्यान से तुम्हारी बात सुन रहा था या नहीं?

—हां, सुन रहे थे।

—राजकमल चौधरी को जानते हो?

—गवाह तो तुम्हीं हो।

—अरे, नहीं जानते हो। वे अगर होते तो तुम्हारी बात भी नहीं सुनते।

—क्या कह रहे हो नवीन! इतना फालतू बोला हूं क्या?

—नहीं, बोले हो ठीक। मगर वो तुम्हारे लिए ठीक है, मेरे लिए नहीं। राजकमल का सिद्धांत भूल गए?

—क्या?

—मुझे बनना है या बर्बाद हो जाना है, इसका निर्णय सिर्फ मेरे हाथ में है। फैसला मैं करूंगा। किसी दूसरे को न फैसला करने दूंगा न श्रेय लेने दूंगा।

—श्रेय मैं ले लूंगा, ऐसा तुम्हें लगता है?

—तो क्या!

—देखो नवीन, यह बात राजकमल के लिए सच हो सकती है, पर मुझे नहीं लगता कि हमारे तुम्हारे लिए भी सच है!

—अरे बेवकूफ! यह बात संपूर्ण सृष्टि के लिए सच है!

तो, यह सब ऐसा था। जो लोग राजकमल को थोड़े निकट से जान रहे थे, उनकी रचनाएं पढ़ रहे थे—हम देखते कि ज्यादातर लोग अपने जस्टीफिकेशन के लिए उनका इस्तेमाल कर रहे हैं। कभी कभी हम दुख के साथ सोचा करते कि राजकमल जैसे लेखकों को हमारा अतिनिकट नहीं होना चाहिए। वो थोड़े दूर ही रहें तो शायद भलाई कर सकते हैं। वरना, उनकी छाया से आक्रांत हम न उबर पाते हैं न सम्हल पाते हैं। लेकिन ज्यादातर लोग तो ऐसे थे, जो उन्हें नहीं जानते थे, उनकी रचनाएं भी

नहीं पढ़ी थीं। उनके बयान तो और भी अधिक मनबढ़ू थे।

हमारी दुनिया बहुत छोटी थी। यह महिषी गांव तक सीमित थी। बाहर की दुनिया से जो चीज हमें जोड़ती—वह डाकघर था। रोज दोपहर बाद हम डाकघर में जुटते, हाथोंहाथ अपनी डाक लेने। रोज कुछ न कुछ आता भी। और नहीं कुछ तो विभिन्न मंत्रालयों द्वारा मुफ्त में भेजे जानेवाले बुलेटिन। उन नवोदित लेखकों के पत्र आते, जिन्हें मित्र बनाने का अरमान लिए हम बार बार पत्राचार करते। हमारे प्रथम मित्र थे केदार कानन। केदार को पाकर जैसे हमने एक और दुनिया पा ली थी। वह सुप्रसिद्ध लेखक और राजकमल के समकालीन, राम कृष्ण झा 'किसुन' के बेटे और साहित्यिक उत्तराधिकारी थे। उनके पास बहुत किताबें थीं, पुरानी पत्रिकाएं थीं। उन्होंने राजकमल को पढ़ा था और ठीक हमारी तरह पढ़ा था। हम दोनों एक दूसरे के गांव आने जाने लगे। बाहर रहकर भी वह हमारे टीम के सदस्य हुए। उनकी सदस्यता की खुशी में हमने माछ भात का 'वनभोज' किया था।

राजकमल को हमने जितना पढ़ा था और उनके बारे में सुना जाना था, हम उन्हें अलग तरीके से ग्रहण कर रहे थे। मिथिला की हमारी परंपरा है कि यहां ज्ञानियों को सबसे अधिक प्रतिष्ठा दी जाती है, महापुरुष माना जाता है। वह हमें ज्ञानी दीखते। समस्या थी कि यह चीज दूसरों को नहीं दीखती थी। वे उनके आवरणों में लिपटकर रह जाते थे। और राजकमल थे कि उन्होंने आवरण पर आवरण चढ़ा रखे थे। दूसरी समस्या यह थी कि हमारे यहां साहित्य को 'सतत विकासमान प्रक्रिया' के रूप में देखने का रिवाज था। तारानंद वियोगी को भी समझना हो तो लोग ऋग्वेद की कविताओं से बात शुरू करते थे। अब बताइए कि आपने नया क्या किया है। नया तो हर कवि करता है, मगर उसे देखने के लिए आंखें चाहिए। आंखें पैदा कर सकती थी—आलोचना। मगर, उसकी स्थिति भयावह दुर्बल थी। यात्रीजी को भी निरापद स्वीकार करने का माहौल तब तक नहीं बना था, राजकमल तो अभी दूर की बात थे। हम समझ रहे थे, और अपने भीतर ताकत पैदा कर रहे थे।

हमने अपनी टीम की मीटिंग बुलाई। कुमोद मोहन बोले—हमें 'राजकमल साहित्य परिषद्' की स्थापना करनी चाहिए ताकि कायदे से लगातार काम होता रह सके। उसमें एक पुस्तकालय भी होगा। वहां राजकमल की किताबें रहेंगी। पत्र पत्रिकाएं आएंगी। इससे जाला साफ होगा। समाज के लिए हम बेहतर कर पाएंगे। आशुतोष का कहना था—हमें स्कूलों में जाकर बच्चों का क्लास लेना चाहिए। हम उन्हें साहित्य के बारे में, कविता के बारे में बताएंगे। और, राजकमल के अवदान से परिचित कराएंगे। लोग अपने महापुरुषों को पहचानेंगे और संस्कार अर्जित करेंगे। केदार कपिल बोल रहे थे—हम एक चीज और कर सकते हैं। गांव में जो उनकी कहानियां प्रसिद्ध हैं और लोग जो उनके बारे में पॉजीटिव बोलते हैं, उन सबको संकलित कर 'मिथिला मिहिर' में छपाना चाहिए। उसका दाम ही कितना है? पचास पैसे में एक प्रति मिलती है। हम इसकी दस बीस प्रतियां खरीद लेंगे, और गांव में बांटेंगे। लोग अपनी कही हुई बात को इस तरह प्रकाशित देखकर राजकमल की गंभीरता को समझ सकेंगे। अवधेश दत्त बोले—हमलोग 'कवि कुटीर' का उद्धार करेंगे। मयंक कह रहे थे—हम एक चीज और करेंगे। प्रत्येक वर्ष तेरह दिसंबर को राजकमल जयंती समारोह मनाएंगे। यह कार्यक्रम खूब धूमधाम से होगा। हमलोग घर घर से चंदा लेंगे। जैसे विद्यापति पर्व होता है या लक्ष्मीनाथ समारोह, बिल्कुल उसी अंदाज में। यह गांव का सार्वजनिक पर्व होगा। बाहर से विद्वान और कलाकार बुलाए जाएंगे। और हां, यह कार्यक्रम कहीं दूसरी जगह नहीं, रामशाला पर होना चाहिए। उन्हें स्थापित अगर करना है तो गांव के मुकुट पर स्थापित करना है। और, यह सब नियार भास जब केदार कानन को भेजा गया तो उनका कहना था—सबसे जरूरी काम क्या है, जानते हो? राजकमल की जो रचनाएं पत्र पत्रिकाओं में बिखड़ी पड़ी हैं उन्हें संकलित कर प्रकाशित किया जाय। यह काम अगर हमलोग कर सकें तो यह बहुत बड़ी बात होगी। राजकमल को गांव में सीमित करके

ही हम क्यों देखें? बहुत सारे लोग हैं जो उन्हें पसंद करते हैं। उन्हें पढ़ना चाहते हैं। उनलोगों तक उनकी रचनाएं पहुंचाना भी हमारी जिम्मेवारी है।

बड़े बड़े बाणवीरों को भी इतना सारा कुछ सुनकर लगेगा कि भई, इतनी रूई कौन धुनेगा! मगर हम राजकमल के रंग में इस तरह से रंग गए थे और यूं पागल थे कि सारी रूई धुनने को राजी हो गए। उस दिन की मीटिंग में पारित किसी भी बिंदु को हमने अक्रियान्वित नहीं रहने दिया।

उन दिनों शायद अगहन का महीना चल रहा था और बहुत जल्द तेरह दिसंबर आनेवाला था। हमने तय किया कि यहीं से यात्रा शुरू करनी चाहिए। यह भी तय हुआ कि आगे हमें जो कुछ करना है, उसकी घोषणा भी हम इसी कार्यक्रम में कर देंगे।

हम गांव घूमने लगे। उद्देश्य कई थे। चंदा संग्रह। लोगों के विचार संकलित करना। जागरूकता पैदा करने की कोशिश। पुस्तक संग्रह। बरसों बरस का जमा मैल था, जिसे साफ करने के अभियान पर हम निकले थे। यह कर्मकांडियों, वैदिकों और वेदांतियों का गांव था। यह उग्र शक्तिपूजकों का भी गांव था, जो तारा की बलिवेदी पर भैंसों की बलि चढ़ाते। गांव से मंदिर ले जाने के रास्ते में भैंसों पर इतने मुक्के और इतने झापड़ रसीद हो चुके रहते कि मानो भैंसा मर तो पहले ही जाता था, बस तारा के समक्ष उसका सिर काटना भर शेष बचता था। और, यह नशेड़ियों गंजेड़ियों का भी गांव था, जो आत्म रति के आनंद में साक्षात मिथिला नरेश को भी बैरंग वापस लौटने पर बाध्य कर सकता था। अब उलटकर देखता हूं तो लगता है कि वह सब वाकई कितना रोमांचपूर्ण था। हमने तय किया कि जब भी हम गांव में निकलेंगे, पूरी टीम के साथ निकलेंगे। हमारी टीम में हर परिवार के लड़के थे, दबंग भी, पंडित भी। हमने इस तरह से अपना सुरक्षाचक्र बनाया था कि किसी की कोई प्रतिक्रिया वाचिक सीमा का उल्लंघन कर शारीरिक न होने पाए।

नए लड़कों और युवाओं से हमने शुरुआत की। यह आसान भी था। हमलोग एक जैसे सपने देख सकते थे और समान ताकत से उड़ान भर सकते थे। दो तीन दिनों की मेहनत से हमने दस बारह लड़कों को जोड़ लिया। वे सब अपने अपने टोले के प्रभारी भी बने, और परिषद् के सदस्य भी। हमारे पास आकर्षणों की कमी नहीं थी। नई नई सूझ हमें आती और झट से हम उसे क्रियान्वित कर लेते। हम बिल्कुल नए अंदाज में पिकनिक पर निकलते–गांव के वन्य प्रांतों में। वहां कवितापाठ प्रतियोगिता चालू कर देते। और नहीं कुछ तो जंगल में पाए जानेवाले पेड़ पौधों की पहचान की ही स्पर्धा शुरू हो जाती। कोशी छाड़न की धाराओं में हम जलविहार पर निकला करते, चांदनी रातों में। भूत, चुड़ैल और जिन्न को पकड़ने का अभियान चलाते ताकि पराविद्या का सच उद्घाटित हो सके। फिर, हमारे पास खेल कूद के नए नए प्रोग्राम होते। और, अब तो हमारे पास पुस्तकालय भी था, जिसकी अनौपचारिक शुरुआत मीटिंग के ही दिन हो चुकी थी। मैंने अपने संग्रह की 427 किताबें परिषद को दे दी थीं। परिषद का कार्यालय कुमोद मोहन के दालान पर बनाया गया। वहां कमरे भी पर्याप्त थे, जगह भी 'ऐल फैल' थी। सब हो रहा था, मगर आराम से नहीं। यह हमारे जुनून से ही संभव हो पा रहा था। हम अपनी धुन में रहते और निंदकों आलोचकों के जुमलों पर 'कान बात' नहीं देते थे। धीरे धीरे हम लोगों का विश्वास प्राप्त कर रहे थे। हमारे समर्थकों और सहयोगियों की संख्या बढ़ती जा रही थी। हमारा आत्मविश्वास भी बढ़ रहा था, उत्साह भी।

जयंती समारोह को लेकर अब हम सबसे कठिन परीक्षा की ओर बढ़ रहे थे। कठिन परीक्षा यह थी कि गांव के सर्वाधिक प्रभावशाली मान्यजन हमें अपनी सहमति दें। मान्यजन का मनोविज्ञान हमसे बिल्कुल अलग था। वे अपनी खानदानी परंपराओं में जीते थे और इस बात के पैरोकार थे कि जो चलता आया है, वही चलते रहना चाहिए। किसी भी नवाचार में उन्हें धर्म की च्युति दीख पड़ती थी। उन्होंने बहुतों को–ऊंचे से ऊंचों और नीचे से नीचों को–मरते हुए देखा था। उनके लिए

मृत्यु का अर्थ अध्याय की समाप्ति था। कोई आदमी जो बारह बरस पहले मर चुका, जिसके लिए निश्चय ही उनके ऊंचे विचार नहीं थे, उसे फिर से जिंदा करना, उन लोगों को नागवार गुजरता था। मान्यजन में इक्के दुक्के ही ऐसे थे जिनमें साहित्य की समझ थी, भले पुरानी ही सही। और ऐसे तो और भी कम थे जो हमारे काम आ सकते या आर्थिक सहायता कर सकते थे। हमने उन्हें इग्नोर करने के विकल्प पर भी सोचा था। पर, यह मुश्किल था। हम छोटे थे और रण कौशल में इतने दक्ष भी नहीं कि समारोह को बचा निकाल सकते। वे सहायता हमारी करें या न करें पर विरोध नहीं करें, यह जरूरी था। लक्ष्य हमारे दूरगामी थे, इसलिए यह और भी जरूरी था। हम यह जानते थे कि शिष्टाचार निर्वाह में हमारे गांव का स्तर बहुत ही ऊंचा है। बिना सहमति लिये भी अगर हम कार्यक्रम कर दें तो ऐसा नहीं कि वे उसे ध्वस्त कर देंगे। बाहर से हमारे वरिष्ठ साहित्यकार और कलाकार आने वाले थे। उनके स्वागत सत्कार में समूचा गांव एकजुट भले न रहे, प्रबल विरोध कोई नहीं करेगा, यह हमें पता था। मगर हम स्थायी एकजुटता चाहते थे। इससे कार्यक्रम के बाद हम पर व्यंग्य भी नहीं किया जाता और हम अपना दूरगामी लक्ष्य पा सकते थे।

और एक दिन हमने मान्यजन संपर्क अभियान की शुरुआत कर दी। तय हुआ कि एक दिन में हम सिर्फ तीन लोगों से संपर्क करेंगे। याद आता है कि 'तीन' की इस संख्या को हमने अपने कार्यों के लिए शुभतम संख्या के तौर पर स्वीकार कर रखा था। कुछ भी करो और तीन के आसपास की गुंजाइश बनती हो तो बस, तीन ही करो। क्यों? क्योंकि हमारी परंपरा में 'तीन' को भारी अशुभ और अनिष्टकारी माना जाता था। लोग कहते थे—तीन तिकट महा विकट। यह बौद्ध विरोध के कारण था, जिसमें तीन की संख्या को सर्वाधिक शुभ माना जाता है। लेकिन, हम मानते थे—'तीन लोक कें एक बनाबौं, तब महिषी के नाम कहाबौं'। वर्जनाओं को तोड़ने का यह हमारा तरीका था।

तय यह भी हुआ कि जिस टोले के मान्यजन से हम मिलेंगे, उस टोले के अपने सहयोगियों समर्थकों को साथ कर लेंगे। और, मान्यजन की काट भी जरूर अपने साथ रख लेंगे। वह क्या क्या सवाल उठा सकते हैं, इसकी हम बजाब्ता गेसिंग करते। चर्चा करते कि किन जवाबों और दृष्टांतों से उन्हें अनुकूल किया जा सकेगा।

और हम मान्यजन के सामने थे—हमलोग राजकमल जी की जयंती मनाना चाहते हैं। उनका लिखा हुआ बहुत साहित्य है। देश दुनिया में उनका बहुत नाम है। लेकिन अपने ही गांव के नौजवान उनको भूल रहे हैं। हरेक प्रतिष्ठित गांव में कोई न कोई समारोह होता है। अपने गांव में भी होना चाहिए। इसीलिए मनाना चाहते हैं। आपका आशीर्वाद लेने आए हैं।

मान्यजन के उत्तर का अनुमान आप कर सकते हैं—पर, हम तैयारी के साथ मैदान में उतरे थे। काट हमारे पास मौजूद थी। वह कुमोद मोहन थे। जरा दूर से देखो तो मान्यजन उनके चाचा लगते थे। कुमोद मोहन ने बागडोर सम्हाली।

—काका, एक बात पूछें? खराब भी लगेगा?

—क्या?

—नहीं। पहले कहिए। खराब भी लगेगा?

—ठीक है। नहीं लगेगा। बोलो।

—आप भी तो भांग खाते हैं। आपके भाई भैयारी भी तो दारू ताड़ी सेवन करते हैं। लेकिन बताइए, कभी हुआ कि गरीब लोग अन्न बिना मर रहे हैं, बी. डी. ओ. गोदाम नहीं खोल रहा है, उचित पैसा पर भी अनाज नहीं मिल रहा है—तो चलो, गांव की जनता के साथ गोदाम का ताला तोड़ दिए और गरीब को अनाज बंटवा दिए। परिणाम चाहे जो हो, सो हो। पुलिस पकड़ ले तो पकड़ ले। बताइए, कभी हुआ? वह तो राजकमल चौधरी ही न किए!

अब सन्न रह जाने की बारी मान्यजन की थी। फिर से सन्नाटा छा गया था।

हुआ दरअसल यह था कि 1966 में राजकमल अंतिम रूप से गांव में आकर बस गए थे। उस साल इस इलाके में भयंकर अकाल पड़ा था। मिरची और धेमुड़ा (नदियां) तक सूख गई थीं। खेत फटे पड़े थे। अन्न का भयावह अभाव हो गया था। कोई निस्तार न सूझता था। चंद बरस पहले महिषी को ब्लॉक हेडक्वार्टर बनाया गया था। बिहार प्रशासनिक सेवा के अफसर शरदिंदु वर्मा की तैनाती की गई थी। वर्माजी को अंग्रेजों के जमाने की अफसरी करनी आती थी। ऊंचे नस्ल का एक घोड़ा वह रखते, उसी से क्षेत्र भ्रमण किया करते। इलाके में उनका वैसा ही आतंक था, जैसा किसी जमाने में काला पहाड़ (आक्रांता) का था। लोग भूखों मर रहे थे। ऐसे हालात में सरकार को जो संवेदनशीलता दिखानी चाहिए, उसका सर्वथा अभाव था। लोग बी. डी. ओ. से मिलने में भी भय खाते। गांव में सरकारी गोदाम था। उसमें न जाने किन किन योजनाओं का अनाज भरा पड़ा था। मगर, बी. डी. ओ. इस बात के लिए कतई राजी न थे कि इसे अकाल पीड़ितों में बंटवा दिया जाए। लोग राजकमल से मिले। राजकमल बी. डी. ओ. से मिलने गए। लोग बड़े जोश से सुनाया करते हैं कि उस दिन राजकमल ने बी. डी. ओ. को कितना कुछ भला बुरा कहा था, कितना हड़काया था। अब हमें भी आश्चर्य होता है कि वर्माजी किस हाड़ काठ के अफसर थे कि इस बात पर भी राजी नहीं थे कि लोग भूखों मर रहे हैं तो जिलाधिकारी से अनुमति लेकर समूल्य अनाज का वितरण जरूरतमंदों के बीच कर दें। राजकमल ने धमकी दी कि यदि तीन दिन के भीतर प्रशासन ने अनाज वितरण नहीं कराया तो लोग गोदाम का ताला तोड़ देंगे और अनाज ले जाएंगे। और, उन्होंने प्रत्यक्ष रूप से जिम्मेवारी ली कि यह सब वह करवाएंगे। और जो राजकमल ने कहा था, वही किया। तीन दिन के भीतर जिलाधिकारी का परमिसन आया नहीं, और चौथे दिन सैकड़ों लोगों के साथ वह गोदाम पहुंचे। ताला तोड़ा। जरूरतमंदों को नाप तौलकर अनाज दिलवाया। उनसे रुपए लिए। हिसाब किया। और हिसाब के साथ सारे रुपए बी.डी.ओ. को भिजवा दिए। बी.डी.ओ. जल भुनकर रह गए। सुनते हैं कि उन्होंने राजकमल पर धारा 107 सी. आर.पी.सी. का मुकदमा किया। तब, राजकमल डी.एम. से मिलने गए। मुकदमे में तो क्या होना था, उल्टे डी.एम. ने भी बी.डी.ओ. की बड़ी दुर्दशा की।

बड़ी देर की चुप्पी के बाद मान्यजन बोले—ठीक है। नहीं ही मानोगे, तो करो। लेकिन, यहां क्यों आए हो? हमसे क्या चाहते हो?

हम जानते थे कि वह चंदा देनेवाले जीव नहीं हैं।

—आपसे कुछ नहीं चाहते हैं। तारानंद बोला न, आपसे सिर्फ आशीर्वाद चाहते हैं।

लेकिन, मान्यजन थे कि इतना भी उन पर भारी पड़ रहा था।

—हम क्यों आशीर्वाद देंगे?

—देखिए काका। जो दारू पीनेवाला आदमी था, वह मर चुका है। अब उसकी कृति हमारे सामने है। यह समाज के लिए उपयोगी है। इससे समाज का भला ही होगा।...आप समाज के प्रतिष्ठित व्यक्ति हैं। आप नहीं सोचिएगा तो कौन सोचेगा?...बड़े बड़े विद्वान आ रहे हैं। हमलोग चाहते हैं कि वे हमारे गांव से गद्गद् होकर जाएं। इसीलिए चाहते हैं कि उस दिन आप उन लोगों का स्वागत कीजिए।

—लेकिन कुमोद, हम बोलेंगे कुछ नहीं। माइक पर बोलने में हमको बड़ी दिक्कत होती है!

और, उसी दिन हम गांव के प्रधान पंडित से भी मिले थे।

'प्रधान पंडित' कह रहा हूं तो इससे यह न समझिएगा कि वह कोई निर्वाचित जनप्रतिनिधि थे या पंडितों की सभा में सर्वसम्मति से अग्रणी घोषित किए गए थे। इसमें बात दूसरी थी।

धर्मशास्त्र और कर्मकांड के मामलों में हमारा गांव दो गुटों में बंटा था। लोग कहते थे कि यह

सनातन से चला आया था। चौदहवीं शताब्दी में जब ब्राह्मणों को पंजीबद्ध किया गया था तो आठ मूलों के ब्राह्मण महिषी में पाए गए थे। विभिन्न कारणों से समय समय पर ब्राह्मणों का माइग्रेशन होना एक आम बात थी। अब हालत यह थी कि उन आठ मूलों में से सिर्फ एक मूल के ब्राह्मण महिषी में निवास करते। जैसे यहां के ब्राह्मण माइग्रेट होकर दूसरे गांवों, दूसरे प्रांतों में बस गए, उसी तरह दूसरे मूलों के ब्राह्मण भी माइग्रेट होकर महिषी में आकर बस गए थे। उनके मूलों की संख्या आठ से ज्यादा ही थी। मगर, मूल निवासी होने का जो एक दबदबा होता था, वह 'बुधवारय महिषी' परिवार में पाया जाता था। इनका अतीत बहुत उज्ज्वल था। पांडित्य परंपरा के साथ साथ यह परिवार विभिन्न कालों में राजसत्ता के भी करीब रहा था। यही राजकमल का परिवार था। तो, एक परंपरा इनकी थी और एक दूसरी परंपरा अन्यों की थी। समय के चक्र में उन्होंने भी शक्तिकेंद्र होने की महत्ता प्राप्त कर ली थी। कोशी ने मिथिला को दो भागों में विभक्त कर दिया था। दरभंगा मधुबनी में पंजी व्यवस्था का अधिक नियंत्रण था, जबकि इस पार इसके बंधन शिथिल होते जाते थे।

दोनों की अपनी अपनी परंपराएं थीं, मगर इनमें ऐसा कोई भी फर्क नहीं था, जो आम आदमी को दिख सके। यह फर्क सिर्फ पंडितों को दीखता था। लेकिन समाज तो पंडितों के ही नियंत्रण में था। महीन से महीन फर्क को विशालकाय बनाने के लिए वे शास्त्रों का अध्ययन करते। बहुत परिश्रम से प्रमाण जुटाते ताकि अपने गुट पर तर्कसंगत वर्चस्व बनाए रख सकें। वह बना हुआ था। लोग टोलों में बंटे हुए थे। टोले मूल के आधार पर विभाजित थे। उनके अपने गुट थे। इन मामलों को लेकर बहुत संवेदनशीलता पाई जाती थी। हम मजाक में कहा करते कि 'महिषी का बच्चा बच्चा कॉन्शस है'। अक्सर हम देखते कि बात बेबात पर लाठियां निकल पड़तीं। अगर एक बार लाठी चल जाए तो बात दूर तलक जाती थी। लंबे समय तक लोग इस बैर को जिंदा बनाए रखने में यकीन करते थे। यह कुल मर्यादा की तुष्टि थी।

दुर्गापूजा गांव का प्रधान पर्व था। इसे बड़े ही उत्साह और भव्यता के साथ मनाया जाता। दस दिनों तक तारा का दरबार 'जगजगार' बना रहता था। अनेक कार्यक्रम होते थे। दूर दराज में रहनेवाले गांव के कमाऊ पूत जरूर ही इस मौके पर गांव आते। विशाल मेला लगता था। पूरा इलाका दस दिनों के लिए तारामय हो जाता था।

इस गुलजार मौके पर भी हर साल एक अंदेशा बना रहता था कि न जाने कब रंग में भंग हो जाए। ऐसी दो बातें थीं, जिनसे टकराहट की गुंजाइश बनती थी। महाष्टमी की मध्यरात्रि में गर्भगृह के अंदर निशा पूजा का आयोजन होता था। यह विशुद्ध तांत्रिक पूजा थी। तारातंत्र में विहित रीति से पंचमकार पूर्वक तारा की पूजा की जाती थी। इसमें प्रधान तत्व होता—मदिरा। वह दूर दराज के इलाकों तक आकर्षण के केंद्र रूप में प्रसिद्ध था। हम देखते कि बड़े बड़े तांत्रिक, ठेकेदार, अफसर, नेता, अपराधी वगैरह उस दिन शाम से ही हमारे गांव में जुटने लगते। गांव के अलग अलग परिवारों के लोग, या तारास्थान के पंडे उनके संरक्षक होते। तांत्रिक पूजा बहुत ही रहस्यमय और गोपनीय मानी जाती थी। इसमें आमलोगों का प्रवेश पूर्णतः वर्जित था। उन्हें तंत्र में 'पशु वर्ग' माना जाता। पंडित कहते थे कि यदि पशु वर्ग का कोई व्यक्ति इस पूजा में शामिल हुआ तो मां पूजा स्वीकार नहीं करेंगी। लेकिन, ऐसा कम ही हो पाता था। अक्सर किसी न किसी प्रभावशाली व्यक्ति को अंदर प्रवेश करा दिया जाता। दूसरा गुट इसका विरोध करता। संरक्षक परिवार प्रभावशाली के बचाव में उठ खड़ा होता। और, लड़ाई बझ जाती थी। रंग में भंग हो जाता था। हर कोई शराब के नशे में होता इसलिए स्थिति की गंभीरता और भी बढ़ जाती थी।

तांत्रिक लोग बताते थे कि जब तक राजकमल जीवित रहे, इस पूजा में वह जरूर ही शामिल हुआ करते थे। और, सिर्फ शामिल नहीं, इस पर उनका पूरा नियंत्रण रहता था कि इसमें पशु न

घुसने पाएं। वह स्वयं तारातंत्र में निष्णात दीक्षित थे।

ऐसी ही एक लड़ाई राजकमल के जमाने में हुई थी। उसका आंखों देखा हाल बतानेवाले कई लोग अब भी मौजूद थे।

धार्मिक मामलों में, और अन्य मामलों में भी राजकमल मूड के आदमी थे। पूजा पाठ में तो उनकी आदतें रामकृष्ण परमहंस से मिलती जुलती थीं। कभी मूड हुआ तो घंटे के घंटे मां के सामने ध्यान लगाए बैठे हैं। पूजा करने लगे तो षोडशोचार तक पहुंच गए। मूड नहीं हुआ तो महीने के महीने बगैर किसी धार्मिक क्रियाकांड के बीत गए।

उस दिन महाष्टमी की रात थी। राजकमल शाम से ही पूजा के मूड में थे। 'कवि कुटीर' में ही चक्र पूजा शुरू हो गई। इधर, निशा पूजा का समय हो गया। सारी तैयारियां पूरी हो गईं। छाग बलि हुई। उसका मांस तैयार किया गया। वह भी बनकर गर्भगृह में आ गया। सभी अधिकारी तांत्रिक आकर बैठ गए। राजकमल का आसन खाली था। हर कोई उन्हीं का इंतजार कर रहा था। उन्हें खबर भी भेजी गई। लेकिन, वह थे कि उनके साथ जबर्दस्ती नहीं की जा सकती थी।

इसी बीच क्या हुआ कि कुछ अनधिकृत प्रभावशाली गर्भगृह में आकर बैठ गए। दूसरे गुट ने विरोध किया। संरक्षक गुट ने बचाव किया। हल्ला गुल्ला मचा। और लड़ाई शुरू हो गई। पशु बलि के लिए व्यवहृत होनेवाली तलवार सामने पड़ी थी। एक गुट ने तलवार उठा ली। हाहाकार मच गया। और, प्रशासन को हस्तक्षेप करना पड़ा।

शराब का नशा, कुल प्रतिष्ठा का अहंकार और विपक्षी के प्रति आक्रोश इतने तगड़े थे कि पुलिसवालों के सम्हाले मामला नहीं सम्हला। चारों ओर सनसनी, चारों ओर मारो, मारो। गर्भगृह की लड़ाई अहाते तक फैल गई। बी. डी. ओ. दौड़े। वह वही शरदिंदु वर्मा थे। वह अहाते के अंदर घुस गए और, नियंत्रण की कोशिश करने लगे।

ठीक यही मौका था जब राजकमल चौधरी ने मंदिर प्रांगण में प्रवेश किया था। उनकी निगाह शरदिंदु वर्मा पर पड़ी। उन्होंने नीचे से ऊपर तक उन्हें निहारा। और, बिगड़ पड़े। बहुत जोर से बिगड़ पड़े। उस दिन महिषीवालों ने राजकमल का गुस्सा देखा था।

वह वर्मा के पास पहुंचे। बगैर किसी कहासुनी के, बगैर किसी भूमिका के दायां हाथ बढ़ाकर उन्होंने वर्मा का कॉलर पकड़ लिया। तीखी दबोच के साथ। और, बोले—वर्मा, तुम यहां क्यों? तुम किसलिए अंदर आए? और, तुम इस तरह हमारे मंदिर में आओगे, इस तरह? राजकमल ने वर्मा के पैरों पर निगाह डाली। वर्मा ने जूते पहन रखे थे। अब लोगों ने समझा कि राजकमल की खीज की क्या वजह थी।

पुलिसवाले हरकत में आए। राजकमल ने ऊंची चिग्घाड़ के साथ उन्हें दहाड़ा—रे सिपाही! तुम्हारा जो बाप है न, या कि नाना है—एस. पी., वो हमको सैल्यूट मारता है। जा, भाग!

चारों ओर सन्नाटा छा गया। सारे झगड़े बंद हो गए। बुजुर्ग लोग बीच बचाव के लिए आगे आए। राजकमल ने वर्मा से कहा—तुम्हें सरकार ने हमारी संस्कृति को पददलित करने के लिए नहीं भेजा है! सीख लो वर्मा, अब सामंतों का राज नहीं रहा। और हमेशा याद रखना कि राजकमल चौधरी इसी ब्लॉक का बाशिंदा है। और, उन्होंने वर्मा को मुख्य द्वार की तरफ ठेल दिया—निकलो बाहर! बड़ी मुश्किल से बी. डी. ओ. गिरते गिरते बचे।

और, तब राजकमल मंदिर के गर्भगृह में घुसे। कुल एक वाक्य वह बोले थे—जो व्यक्ति तांत्रिक पूजा के लिए अधिकृत नहीं हैं, एक मिनट के अंदर मंदिर खाली कर दें। और, एक मिनट बाद वहां सिर्फ तांत्रिक, पंडित और पंडे बच गए थे।

वह जमाना लेकिन, अब गुजर चुका था। अब तो प्रायः हर साल यह समस्या उठती। हंगामा

होता। लोग जैसे तैसे निबटते। प्रशासन को बार बार हस्तक्षेप करना पड़ता, यूं यह भी गांव को मंजूर नहीं होता था। दारू और ताड़ी पीने का चलन भी इन बारह वर्षों में काफी बढ़ गया था। तब यह जरूर था कि लोग होशियार होने लगे थे। कौलिक कट्टरता घट रही थी। फालतू बातों को तूल देने में लोग परहेज करने लगे थे। पर कहते हैं, हाथी दुबला भी होगा तो कितना दुबला होगा? बुद्धिजीवियों का गांव था। 'मुंडे मुंडे मतिर्भिन्ना' विराजती थी। प्रशासनिक हलके में प्रसिद्धि थी कि 'स्वर्ग को भी अगर महिषी में उतार दो तो आधा गांव आपके खिलाफ खड़ा हो जाएगा।' बात सिर्फ इतनी थी कि किसी भी चीज के बारे में हर महिषीवासी की अलग अलग राय होती थी क्योंकि वे चिंतन विचार कर सकते थे, तर्क करने की कला जन्मजात सिद्ध थी। इसलिए मतांतर से और विवाद से बचे रहने का कोई रास्ता न था।

दुर्गापूजा को बेमजा कर देनेवाली जो दूसरी समस्या थी, वह बलिप्रदान का दिन और समय का मामला था। अक्सर इस प्रश्न पर विवाद हो जाया करता और मामला संघर्ष में बदल जाता। अक्सर हम देखते कि कुछ टोले के लोग आज बलिप्रदान कर रहे हैं और बाकी टोले के लोग कल करेंगे। आज भी महानवमी है, कल भी होगी। ये कहते कि 'शुद्ध महानवमी' सिर्फ आज है, जबकि दूसरे किसी भी तरह इसे मानने को राजी नहीं होते।

होता दरअसल यह था कि ज्योतिषीय गणना के मुताबिक अक्सर तिथियां ठीक ठीक चौबीस घंटे की नहीं हुआ करती थीं। कभी किसी तिथि का क्षय हो जाता, तो कभी किसी तिथि की वृद्धि हो जाती। कभी कभी तो तिथियों के मल भी निकल आया करते। यह सब रहस्यात्मक था। आम आदमी की समझ के बाहर। इसमें आम महिषीवासी की तर्कशक्ति किसी भी काम नहीं आ सकती थी। दूसरा 'झमेला' था कि मिथिला में धार्मिक क्रियाकांड उदयव्यापिनी तिथि के हिसाब से किए जाने का चलन था। यानी कि ठीक ठीक सूर्योदय के समय जो तिथि विद्यमान पाई जाती, लोग मान लेते कि वह पूरा दिन उसी तिथि का है। अब कभी कभी विचित्र होता यह कि 6:18 बजे (सूर्योदय के समय) नवमी तिथि होती। मान लीजिए कि वह तिथि सिर्फ आधे घंटे के लिए होती। 6:48 बजे दशमी आ जाती। मगर, उदयव्यापिनीवाले पूरे दिन महानवमी मना रहे होते। बाकी लोग मजाक उड़ाते कि 'देखो देखो दशमी तिथि को नवमी माननेवाले मूढ़ों को देखो।' बस, झगड़ा शुरू हो जाता था।

कभी कभी तो इससे भी बड़ी समस्या उठ खड़ी होती थी। हम देखते कि आश्विन का महीना आता। शुक्लपक्ष शुरू होते ही नवरात्र आरंभ हो जाता। प्रथमा से दशमी तक के कृत्य पूरे कर लिए जाते। कोजागरा (शरद पूर्णिमा) का पर्व भी हो जाता। लोग दीपावली और छठ पर्व की तैयारी में लग जाते। तब, हम अचानक पाते कि एक महीने बाद एक बार फिर आश्विन आ गया है। फिर से पितृपक्ष शुरू हुआ है। फिर से नवरात्र का आयोजन आरंभ हो गया है। फिर से वही क्रिया कांड। फिर से वे ही लटके झटके। हम पाते कि कुछ टोले के लोगों ने एक माह पहले दुर्गापूजा मनाई थी और बाकी टोलेवाले अब मना रहे हैं। होता दरअसल यह था कि तिथियों की तरह कभी कभी मासों के भी मल निकल आया करते। वे तमाम गणनाओं को उलट पुलट दिया करते। इस उलट पुलट से पंडितों की चांदी बन आती थी। वे अपने फायदे के हिसाब से स्थापनाएं तैयार करते और इसके लिए कड़ी मेहनत किया करते थे।

ऐसा जब भी कभी होता, गांव के लिए बहुत ही तनावपूर्ण समय लेकर आता था। कभी भी झगड़ा लड़ाई शुरू हो सकता था। अक्सर एक पक्ष जनबहुल होता और दूसरा अल्पसंख्यक। अल्पसंख्यक अधिक आक्रामक पाए जाते थे। उन पर आक्षेप करने से भी जनबहुल पक्ष परहेज नहीं करता था। ग्रामीण कवि तुकबंदी किया करते—

कातिक में आसिन मनबै छथि, वाह बहादुर
लंपट देव पितर कनबै छथि, वाह बहादुर

(देखो देखो, लंपट लोग कातिक महीने में आश्विन (पितृपक्ष और दुर्गापूजा) मना रहे हैं। और देखो, देवताओं और पितरों को रुलाई आ रही है। लगे रहो बहादुरो!)

यह सब करवाते थे पंडित। जो भी कुछ होता, उनके ही निर्णय के अनुरूप होता था। यह उनके महत्व का सीजन था। वे जमकर शक्ति प्रदर्शन किया करते। उनके समर्थक जी जान से उनके पीछे खड़े रहते थे। जिनके पीछे जितने अधिक समर्थक, वे उतने बड़े पंडित। समर्थकों की भीड़ ही उन्हें प्रधान पंडित बनाती थी।

और, उस दिन हम प्रधान पंडित के सामने थे!

गांव में दो मुख्य पंडित थे। एक पंडित का विचार राजकमल को लेकर जो था, आपको मालूम है। अब हम दूसरे पंडित के सामने थे। इनसे हमें नरमी की उम्मीद थी। इसके दो कारण थे। एक तो यह कि ये पंडित जी 'प्रगतिशील पंडित' के रूप में प्रसिद्ध थे, प्रधान पंडित होने के बावजूद। दूसरे यह कि वर्तमान में बुधवारय महिषी (राजकमल का परिवार) इन्हीं के राय विचार को अहमियत देता था। हम उम्मीद करते थे कि रणनीतिक तौर पर ही सही, पंडित जी कुछ नरम तो पड़ेंगे जरूर। और असल बात तो यह कि हम जुनून में थे। चाहते तो हम बचकर निकल सकते थे। मगर, बच के निकलना हमें मंजूर नहीं था। हम किसी को भी छोड़ना नहीं चाहते थे। हम भी संस्कृत पढ़ते थे, हम भी छोटे मोटे पंडित ही थे—दांव पेंच सीख रहे थे और मानो राजकमल के बहाने अपने लिए स्पेस बनाना चाहते थे। अब सोचते हैं तो लगता है कि दरअसल वह मूल्यों की लड़ाई थी!

एक बार फिर से वही भूमिका—हमलोग राजकमल जी की जयंती मनाने जा रहे हैं...सारा देश उनके साहित्य से लाभान्वित हो रहा है (रणनीति देखिए)। तो हमारा गांव ही क्यों वंचित रहे...आप आशीर्वाद दीजिए।

पंडित जी ने सुना और चुप रह गए। हम भी चुपचाप उनके सान्निध्य में बैठे रहे।

—ओ विद्यार्थी! कहा गया है कि 'महाजनो येन गतः स पंथाः'।

हम झट से समझ गए कि वह क्या कहना चाहते हैं। उत्तर हमारे पास तैयार था।

—जी बाबा! वही पंथ है! लेकिन बताया जाए कि सम्राट युधिष्ठिर कब तक हमारे महाजन बने रहेंगे? और, उन्होंने क्या कम पाप किए...हमारा महाजन तो हमारे युग का होगा न बाबा, जैसे आप, जैसे राजकमल जी।

—युगातीत भी तो हो सकते हैं। जैसे मंडन मिश्र। मंडन मिश्र का समारोह आपलोग क्यों नहीं मनाते?

अनजाने ही पंडित जी ने हमारी दुखती रग को छेड़ दिया था। मंडन मिश्र भी हमारे ग्रामीण थे। आठवीं शताब्दी में हुए थे। धार्मिक दर्शन के आदमी थे। वेदांत और मीमांसा दर्शन पर उनकी किताबें थीं। किताबें मगर, किसी ने नहीं देखी थीं। किंबदंती के आधार पर उनकी चर्चा होती। किंबदंती यह थी कि शंकराचार्य से उनका शास्त्रार्थ हुआ था और वह हार गए थे। कुछ ऐसे विद्वान भी थे, जो मानते थे कि यह बात झूठ है। शास्त्रार्थ अगर हुआ भी हो तो मंडन हारे नहीं थे और हारकर शंकराचार्य के शिष्य नहीं बने थे। हम इस बात की तह तक जाना चाहते थे। हम चाहते कि मंडन की कोई किताब मिल जाए तो हम उसमें डूबें और सत्य का पता लगाएं। मगर, पंडित और विद्वान हमें तरजीह नहीं देते थे। वे हमें अपात्र समझते। बड़ी हिकारत से कहते कि साहित्य का विद्यार्थी क्या दर्शन को समझेगा! और, हमारा दावा था कि हम समझ सकते हैं। हम मौके की तलाश में थे मगर पंडितों से परेशान!

—बाबा! हमलोग तो मंडन मिश्र का समारोह भी मनाना चाहते हैं। लेकिन, कोई हमारी मदद ही नहीं करता। जब तक आप हमें समझाइएगा नहीं कि मंडन क्या थे, कैसे थे—हम कैसे कुछ कर सकेंगे?. ..इतना समझ लीजिए कि अगर इस गांव में कभी मंडन समारोह हुआ, तो वह हमीं लोग करेंगे। जरूर करेंगे बाबा!

—ठीक है, तो अभी राजकमल जी का मनाइए। लेकिन एक बात जानते हैं?

—क्या बाबा?

—मेरा चित्त कभी कभी भटकता है!

हम सभी साकांक्ष हो गए। सबने एक साथ कहा—क्यों बाबा? क्यों आपका चित्त भटकता है?

—लोग उनको (राजकमल को) जो भी बोलें, हम तो उन्हें अच्छा ही समझते हैं। खैर, जो भी हो...एक बार की बात बताते हैं। हम अपराह्न में तारास्थान से वापस आ रहे थे। रास्ते में देखा कि राजकमल जी तारास्थान की ओर जा रहे हैं। रास्ते में चलते समय वे किसी से टोका टोकी तो करते नहीं थे। हमने ही सोचा कि जरा हालचाल पूछ लेते हैं। प्रभावशाली आदमी तो वे थे ही, इसीलिए। तो हमने पूछा—फूलबाबू, किधर चले हैं? हम जान रहे थे कि संध्याकालीन दर्शन के लिए वे मंदिर जा रहे हैं, मगर बात को शुरू करने के लिए तो कोई आधार चाहिए न! तो, उसी बात से शुरू किए। और, जानते हैं उन्होंने कितना खराब जवाब दिया! हमें तो स्मरण करने में भी ग्लानि होती है...

हम उत्सुक हो गए। मगर, पंडितजी चुप! मयंक ने पूछा—उन्होंने क्या जवाब दिया बाबा?

—अरे, जवाब दिया कि 'बस, जरा तारा के साथ संभोग करके आता हूं।' सोचिए तो! ऐसा जवाब उन्हें देना चाहिए था? आप जगदंबा के साथ संभोग कीजिएगा? महादेव समझते हैं अपने आपको? हमको तो लगता है—इसीलिए ऐसी अनहोनी हो गई!

हम सब चुप। अब आगे क्या बात हो?

लेकिन कुमोद मोहन ने आगे बात बढ़ाई।

—बाबा, पंचमकार की बात तो आपलोग ही समझेंगे। हो सकता है कोई ऐसा भी विधान हो। लेकिन हमको तो लगता है कि वे केवल आपको चिढ़ाने के लिए ऐसा बोले!

—हां, सही कहते हैं। चिढ़ाने के लिए ही ऐसा बोले। पंडितों से वे बहुत चिढ़ते थे। लेकिन हम तो ऐसे नहीं थे। हम तो सभी को समझना बूझना चाहते थे। पंडितवाली कट्टरता हममें देखते हैं?

यह सच था। दूसरे पंडितों की तरह मार काट दबंगई उनमें नहीं थी। लोगों की आवश्यकता और विभव के अनुरूप समाधान दिखाया करते थे। इसीलिए उदार माने जाते थे और प्रगतिशील। मगर राजकमल की प्रगतिशीलता का मानदंड अधिक ऊंचा था। आप अतीत की रखवाली करने में ही अस्त व्यस्त बने हुए हैं तो कोई वर्तमान के उपकार की कितनी उम्मीद आपसे कर सकता है! मगर, हमें तो अब बात को खतम करना था। हम सुखांत समापन चाहते थे।

हमने कहा—ठीक कहते हैं बाबा! यही तो सबसे बड़ी कमी थी उनमें। हर बात में बड़बोलापन। लेकिन जानते हैं! इस बात को वह महसूस भी करते थे। हमलोग उनकी डायरी पढ़े हैं। आखिरी समय में, अपने अवगुण को वह देखने समझने लगे थे और उसको दूर करना चाहते थे। एक जगह लिखे हैं कि तारा जरूर हमारा उद्धार करेंगी, पूर्ण आशा है! वो तो अनहोनी हो गई वरना अभी अगर वे होते तो कुछ और रूप में होते!

और, पंडित जी हमसे सहमत हो गए। बोले—'हां! उनकी उमर ही क्या हुई थी? उतनी उमर तो समझिए, खाने खेलने की ही उमर होती है। जब पिता मरते हैं तो आदमी वयस्क होता है! और, उसी साल पिता मरे, उसी साल वे खुद भी चले गए!

एक शेर याद आता है। यह शेर भी हमने उन्हीं दिनों कहीं पढ़ा या सुना था। कहा है–

एक सा मौसम नहीं रहता, अगर चलते रहो
आज सर पे चिलचिलाती धूप है, कल चांदनी

दुनिया ने लाखों करोड़ों बार इस शेर को चरितार्थ होते देखा होगा। बहुत बार हमने भी देखे हैं। हमने पाया है कि डरकर, घबराकर यदि यात्रा स्थगित न कर दी हमने, तो आगे चलकर सारा कुछ ठीक हो जाता है। चिलचिलाती धूप अगर किन्हीं पलों की सच्चाई है, तो चांदनी भी उससे कम बड़ी सच्चाई का दावेदार नहीं।

महिषी एक गांव था, जो अतीत में जीता था। उसकी स्मृतियों का एक तहखाना था, जिसमें श्रेष्ठ आदर्शों के मॉडल रखे मिलते थे। यह तहखाना हर किसी महिषीवासी के मन में पाया जाता था। मॉडल जिनके न रखे मिलें, वे भुला दिए जाते थे। इसके लिए समय कोई पैमाना नहीं था। दस बरस पहले के राजकमल भुला दिए जाते, जबकि तीन हजार बरस पहले के मनु और याज्ञवल्क्य दिल पर राज करते मिलते थे। हम अचरज करते कि स्मृतियों का फलक इतना छोटा क्यों है? अरे, जियो तो कुछ इस तरह कि अपनी बांहें लंबी हों, जिन्हें फैला दें तो समूची दुनिया के अंट जाने की गुंजाइश बने। यह बात अलग कि हमारी दुनिया भी कोई बहुत बड़ी न थी।

राजकमल से हमें प्यार हुआ था–उनके साहित्य को लेकर। चीजों को वह अलग नजरिये से देखते थे। अंदाज उनका बिल्कुल अलग था। बड़े लगन से उन्होंने अपने लिए भाषा सिद्ध की थी। उनके तथ्य भी बिल्कुल अलग थे। हमें लगता कि हमारी आंखों के सामने जो दुनिया है, उसकी जैसी व्याख्या राजकमल कर सकते हैं, वह किसी और के वश की बात नहीं है। हम उनकी व्याख्या देखते तो चतुर्दिक की असलियत खुल जाती। जिंदगी को बहुत डूबकर उन्होंने देखा था। हमारी सभ्यता की विकृतियां उन्हें साफ साफ नजर आई थीं। ये उन्हें पसंद नहीं थीं। ये हमें भी पसंद नहीं थीं। वह जिंदगी की हिफाजत चाहते थे, जो हम भी चाहते थे। महिषीवासी होने के नाते एक गर्वमिश्रित आह के साथ उनसे परिचय हुआ था, जो उनके साहित्य को पढ़ते पढ़ते प्यार में बदल गया था। यही वजह थी कि लोग जो उनके बारे में निगेटिव बातें कहते, वे हमें प्रभावित नहीं कर पाती थीं। हम जानते थे कि दुनिया को देखने के सिलसिले में, अनेक दुर्व्यसन थे जो उनके संग लग गए थे–कुछ उसी तरह जैसे मिजाजपुर्सी के लिए गए किसी आदमी के साथ रोग के कुछ बैक्टीरिया लग जाएं। लेकिन हम मानते थे कि राजकमल का मूल्यांकन इस तरीके से किया ही नहीं जा सकता। जो लोग दुनिया के लिए कुछ ठोस चीजें, जैसे कि साहित्य, छोड़कर जाते हैं, उन्हें देखने का नजरिया यह हो ही नहीं सकता कि किन अस्पतालों में जाकर उसने कौन कौन से बैक्टीरिया साथ लाए थे और उन बैक्टीरियाज ने उस पर क्या क्या करतब दिखाए थे और वह किस तरह शिकार किया गया था।

हम भी महिषीवासी थे। स्मृतियों में जीना हमें भी बुरा नहीं लगता था। लेकिन हमें दिखाई देता कि विशाल अतीत की सारी स्मृतियां एक ही श्रेणी की नहीं थीं। उनके दो वर्ग तो साफ साफ दीखते थे। विद्रोहियों की परंपरा भी सनातन काल से चली आ रही थी। समय के साथ उसमें नए नए अध्याय जुड़ गए थे। अब यह हम तक आ गई थी। हमारे सद्यः पूर्वज राजकमल चौधरी थे। हम पाते कि जैसे जादू का कोई खेल चल रहा है और राजकमल 'बुधवारय महिषी' से निकलकर हमारे परिवार में शामिल होते जा रहे हैं। हम सारे दोस्त अलग अलग कुल मूलों के थे। कोई 'मरड़ै सिहौल' था तो कोई 'हरियंबे रखबारी'। कोई 'पलिवार समौल' था तो कोई 'कुजिलबाड़ मलंगिया'। कुछ ऐसे भी लोग थे जिनका कोई मूल नहीं था। ऐसे लोग खुद को अधिक सुविधाजनक महसूस करते। हम, सब दोस्त मिलकर फैसला करने लगते कि बताओ, अब बदली परिस्थिति में, राजकमल का क्या मूल होगा?

–मूल तो वही होगा न, जो हम सबका भी हो।

—हां। ये तो है!

—चलो, अपना मूल तलाशते हैं।

घंटों तलाशी अभियान चलता। कोई कहता—भइ देखो, राजकमल का असली रूप क्या था? वह सामंतवादी तौर तरीका से नफरत करते थे। उसको नंगा करते थे। उसका अंत चाहते थे। इसलिए मेरा तो विचार है कि मूल का नाम रखा जाय—'जमराजे बबुआन'। माने यह कि बबुआन वर्ग के लिए वह साक्षात यमराज थे।

—वाह वाह भैयारी! नाम तो बड़ा सोचकर निकाले हो लेकिन क्या ये हमलोगों पर लागू होता है?

—क्या मतलब? लागू नहीं होता है? क्या तुम सामंतवाद के पक्ष में हो? उसी की भलाई चाहते हो? मिस्टर सामंतवादी!

अब लगे सभी मयंक को बेहूदा बनाने। मयंक मगर बड़े आराम से सभी की बात सुनते, और सबके तर्क को नकारते रहे। फिर, मयंक ने ही राज खोला कि क्यों यह नाम हमारे लिए सुटेबुल नहीं होगा।

—क्यों नहीं होगा?

—बाबू, ध्यान करो। अपना नाम 'जमराजे बबुआन' रखोगे। लोग 'बबुआन' को छोड़ देंगे, 'जमराज' को पकड़ लेंगे। जैसे ही किसी चौक चौराहे पर निकलोगे, चारों ओर से लोग 'कबदाना' शुरू करेंगे—'आ गए जमराज! की यौ जमराज?' सामना कर पाओगे? हमारे विचार से तो लेने के देने पड़ जाएंगे। सोच लो।

और, सबने एक ही पल में सोच लिया कि मयंक ठीक कह रहे हैं।

भगवान लाल अभी छोटे थे। नए नए हमारी टीम में शामिल हुए थे। उन्होंने प्रस्ताव रखा—जमराज के बदले 'धर्मराज' करने से काम नहीं चलेगा? 'धर्मराजे बबुआन'!

सबलोग हंसने लगे। बात ही नहीं बनी न! एक तो धरम करम का चक्कर बीच में आ गया। दूसरी बात, अगर आप सामंतवादियों के धर्मराज हैं तब तो वे ही आपकी पूजा करेंगे। आप तो उन्हीं के आदमी ठहरे! यह बात राजकमल पर थोड़े ही लागू होती है?

मगर, भगवान लाल भी महिषी की माटी में खेलकर बड़े हुए थे। बोले—'अमरकोश' को याद कीजिए। 'धर्मराज' यमराज का पर्यायवाची है!

—पर्यायवाची है तो 'अमरकोश' में पड़ा रहे। दुनिया 'अमरकोश' के हिसाब से नहीं चलती है!

—छोड़ो, आगे बढ़ो।

—एक नाम हमारे दिमाग में आ रहा है—कुमोद मोहन ने कहा—'सतलखे उचिताह'। यानी कि वह सत्य को देख भी रहा है और पसंद नापसंद की परवाह किए बगैर उचित बात बोल भी रहा है।

—एक नाम हमारे भी दिमाग में आ रहा है—'त्रिकाले जरूरियात'। मतलब कि ऐसे लोग तीनों काल—भूत, वर्तमान और भविष्य के लिए जरूरी होते हैं। उनमें सार्वकालिक सत्य मिलते हैं। उन्होंने मनुष्य की पहचान की है। जब तक धरती पर मनुष्य रहेगा, उनकी जरूरत बनी रहेगी।

तो, इस तरह का हमारा मनोलोक था और स्मृतियों के कोश में राजकमल को शामिल करने के अभियान में हम यूं लगे हुए थे। हम आगे बढ़ रहे थे। जैसे जैसे हम बढ़ रहे थे, चिलचिलाती धूप छंटती जाती थी। रास्ता साफ होता जाता था।

शुरुआती दिनों में लोग हमें ज्यादा निगेटिव बातें कहते। बरसों बरस की, या कह लीजिए युग युगों की परती हम तोड़ने निकले थे, तो यह सब सुनना ही था। मारपीट की नौबत भी कई बार आ जाती थी। उन दिनों हमारा आत्मविश्वास भी कम था और तेवर भी ढीला। धीरे धीरे हम अधिक जुझारू होते गए। राजकमल के विरुद्ध जो वक्तव्य आते थे, हमने उनका विश्लेषण करना शुरू किया।

निष्कर्ष चौंकानेवाला था। हमने पाया था कि जिन परिवारों से राजकमल कुल का खानदानी झगड़ा चल रहा हो, वे उनके विरुद्ध पाए जाते थे। और पाया था कि किसी मुद्दे पर अगर स्वयं राजकमल ने किसी मठाधीश टाइप के व्यक्ति का विरोध किया हो, या मतभेद व्यक्त किया हो—ऐसे लोग उनके लिए कटूक्तियों का प्रयोग करते थे। हमने ऐसे कुलों और व्यक्तियों का एक मोटा आंकड़ा तैयार कर लिया था। अब हमारा आत्मविश्वास भी प्रखर था और रणनीतियां भी अवसरानुकूल थीं।

एक दिन की बात याद आती है। आते जाते कहीं रास्ते में एक सज्जन से मुलाकात हुई थी। सज्जन क्या थे, सज्जनों के पीड़क थे! हमने तो उन्हें चारा नहीं डाला था, मगर वही आगे बढ़कर भिड़ंत लेने लगे। पूछने लगे कि राजकमल जयंती मना रहे हो? क्यों मना रहे हो? क्या उद्देश्य है? क्या चाहते हो तुम सब? इतना महान और प्रतिष्ठित गांव, और जयंती मनेगी तो राजकमल चौधरी की? क्यों? कोई पूछनेवाला नहीं है, इसीलिए न? हम उनसे टकराना नहीं चाहते थे, बचकर निकल जाना चाहते थे। लेकिन, वह चिल्ला चिल्लाकर बोल रहे थे। मकसद था कि दस पांच लोग जमा हो जाएं। लोग जमा हो भी गए थे। कुछ पक्ष में तो कुछ विपक्ष में। माहौल गरम हो रहा था। इस जगह से हम हट जाना चाहते थे। हमें ऐसी बहसों में कोई रुचि नहीं थी। धीरे धीरे हम वहां से आगे बढ़ने लगे। हमारा आगे बढ़ना प्रतीकात्मक था। यानी कि हम आपको और आपके सवालों को इतना महत्व नहीं देते कि जवाब देना जरूरी समझें।

लेकिन, प्रतीकों का जो अर्थ एक व्यक्ति के लिए होता है, जरूरी नहीं कि दूसरों के लिए भी ठीक ठीक वही हो। कई बार तो बिल्कुल विपरीत होता है। कुत्तों से कभी आपका साबका पड़ा है? मतलब वास्तविक कुत्तों से, जिनके बारे में राजकमल ने लिखा है कि कुत्ता अगर अपना स्वाभिमान छोड़ दे तो वह वास्तव में कुत्ता बन जाता है। मान लें कि कुत्तों ने आपको घेर लिया है। आप अगर डटे हैं तो वे शांत हो जाएंगे। धीरे धीरे खिसक लेंगे। लेकिन यदि आप डर गए और वहां से बढ़ने की कोशिश की या घबराकर दौड़ पड़े तो वे आपको घायल किए बगैर न छोड़ेंगे।

हम विदा हो गए थे कि हमें जवाब देना नहीं था मगर सज्जन को लगा था कि जवाब हमारे पास है ही नहीं। उग्र वह थे ही, प्रचंड हो गए। दौड़कर वह हमारे करीब आए और लपककर हमारा कॉलर पकड़ लिया। गरजने लगे—भाग कहां रहे हो? बताओ! हमारे गांव की संस्कृति को मटियामेट करने का तुम्हें क्या अधिकार है? किसने यह अधिकार तुम्हें दिया? बताओ! और, गुस्से में बुरी तरह खींचतान करने लगे। जैसे वह राजकमल हों और मैं वर्मा बी. डी. ओ.।

यह सब बड़ी तेजी से और यक ब यक हुआ था। किसी को भी इसकी आशंका न थी, न सोची हुई काट थी। कार्रवाई के लिए सज्जन ने हमें चुना था क्योंकि सबसे सॉफ्ट टारगेट हमीं हो सकते थे, चूंकि हम 'कमजोर' थे। हमारे गांव की संस्कृति में कमजोर उसे माना जाता था, जिसके पास कम लाठियां हों। यानी कि अगर किसी से लड़ाई हुई तो आपके कुल के कितने लोग आपकी तरफ से लाठियां उठाकर मैदान में आएंगे। और हम ऐसे कुल से थे, जिनके घरों में लाठियां तो जरूर होती थीं मगर वे मवेशी चराने के काम आती थीं। हम सॉफ्ट टारगेट थे।

यह भी बताते चलें कि हमारे गांव में यह रिवाज भी चलन में था कि लाठियां अगर निकल जाएं तो दूसरे कुलों के लोग आपकी ओर से लाठी लेकर नहीं निकल सकते थे। वो अगर आपके हित मीत हैं तो रुपये पैसे से मदद कर देंगे, पंचायत बैठी तो बेईमानी करके आपको जिता दे सकते हैं, मगर लाठी लेकर अगर कोई निकलेगा तो वह आपके ही परिवार का, कुल का आदमी। और हम थे कि नई संस्कृति के आगाज पर तुले थे। हमारे काम की जितनी भी चीजें थीं, उनमें लाठी का कहीं जिक्र नहीं था। लड़ाई हमारी किसी से भी हो सकती थी, मगर वह अगर हुई तो मुद्दों पर आधारित होगी। और, जो भी कोई हमारे मुद्दे के साथ होगा, अगर निकलना ही पड़े तो हर कोई लाठी लेकर निकलेगा।

वही उस दिन भी हुआ। बिना सोचे समझे 'लाठी' कुमोद मोहन ने उठा ली थी। स्थिति यह बनी हुई थी कि प्रहार की काट प्रतिप्रहार ही हो सकता था। कुमोद मोहन लपके और हाथ बढ़ाकर सज्जन का कंठ धर लिया। 'कंठ धरना' मैथिली में अनेकार्थक मुहाबरा है। 'गरदन दबोचना' तो इसका सिर्फ पहला चरण है। आगे यह 'होश ठंडा करना' और 'औकात बताना' तक की सीमा को छूता है। कुमोद के 'धरने' में लगता था, सभी अर्थ व्यंजित हो रहे थे। वह भी लगे चिल्लाने–रे साला लतखोर झा का बेटा! अपने आपको गांव का हीरो समझ लिया है रे? राजकमल तो सिर्फ जमीन बेईमानी करने से रोका था, हम तो जान मार देंगे।

अगले ही सेकंड में हमारा कॉलर सज्जन की दबोच से मुक्त था और सज्जन महाशय अपनी मुक्ति के लिए रिरिया रहे थे–छोड़ो न कुमोद, छोड़ो न! अरे, सीनियर हैं तुमसे!

हुआ दरअसल यह था कि सज्जन के पिता दबंगई के बल पर अपने गोतिये की जमीन हड़पना चाहते थे। गांव में पंचायत बैठी थी। उसमें राजकमल भी शामिल हुए थे, जबकि आम तौर पर पंचायतों में शरीक होने से वह बचते थे। और, राजकमल का शामिल होना ही इंसाफ के लिए जैसे पर्याप्त था। जमीन हड़पने की मंशा पूरी नहीं हो सकी थी, और यह खुन्नस अब खानदानी अदावत में बदल गई थी।

लेकिन उस दिन, अनजाने ही हमने एक तथ्य का आविष्कार कर लिया था। तथ्य यह कि राजकमल जैसे आदमी की प्रतिष्ठा के लिए अगर कोई काम कर रहा हो, तो केवल सुनते रहने और पिटते रहने से उसका काम नहीं चल सकता। उसे सुनाने के लिए तैयार रहना चाहिए और पीटने के लिए भी। मगर, उस घटना से हम आहत भी बहुत हुए थे। दुख इसका नहीं था कि हम बेइज्जत हुए, दुख था कि हमें दूसरे की बेइज्जती करनी पड़ी। यह हमारे स्वभाव के विपरीत बात थी। हमें चिंता थी कि इस घटना का हमारी छवि पर बुरा असर पड़ेगा। कुमोद मोहन का कहना था कि बुरा असर नहीं पड़ेगा क्योंकि लोग उसे भी जानते हैं, हमें भी। इसके उलट, असर अच्छा ही पड़ेगा कि इतना आगे बढ़ने की हिम्मत अब किसी की नहीं होगी। आशुतोष कह रहे थे कि इस घटना का होना एक सुखद संदेश है। संदेश यह कि लोग खानदानी झगड़े की शैली में इस बात को नहीं देखें। यह एक सांस्कृतिक मामला है, जिसमें अगर आप असहमत हैं तो भी आपको सिर्फ बातों से काम लेना पड़ेगा, हाथ आप नहीं चला सकते। हर टोले के अच्छे लोग एक साथ हैं और वे जरूरत पड़ने पर एकजुट हो सकते हैं।

समारोह का आयोजन हम रामशाला पर करना चाहते थे। कार्यक्रम हो तो ऐसा हो कि जिसकी धमक दूर तक पहुंचे–यह हमारी मंशा थी।

गांव के बीचोंबीच, इसकी हृदयस्थली पर रामशाला का भवन बना हुआ था। यह गांव की दूसरी सबसे पवित्र जगह थी, जिसको लेकर हर किसी के मन में श्रद्धा का भाव पाया जाता था। हर कोई मानता था कि रामशाला पर चढ़कर झूठ नहीं बोला जा सकता और न मिथ्या की तरफदारी की जा सकती है। लोगों के पास ढेर सारी कहानियां थीं, जो बताती थीं कि अगर किसी ने इस नियम की परवाह न की तो उसे कैसी बर्बादियों का सामना करना पड़ा था।

रामशाला का इतिहास बड़ा ही रोचक था। उन्नीसवीं शताब्दी के आखिरी वर्षों में 'बुधवारय महिषी' परिवार के ही श्री राम चौधरी ने इसका निर्माण करवाया था। वह निःसंतान थे और इसी निर्माण को अपनी विरासत के रूप में छोड़ जाने का उन्होंने संकल्प लिया था। 'रामशाला' के 'राम' राम चौधरी नहीं, बल्कि भगवान राम थे। इस निर्माण के रूप में भगवान राम ने पहली पहली बार, मिथिला के इस प्रसिद्ध गांव में, प्रवेश पाया था।

राम को मिथिला ने कभी भी देवता के रूप में स्थान नहीं दिया। हर घर में कुलदेवता की पूजा

होती थी। सबके कुलदेवता अलग अलग होते थे। यह कुल मूल और वंश परंपरा पर निर्भर करता था। ऐसे कुल देवताओं की संख्या सैकड़े में थी। फिर, कुलदेवता के सहायक देवी देवता होते, जिनकी स्थापना 'गोसांउनि घर' में की गई होती थी। इनकी संख्या हजारों में थी। मगर, इनमें राम नहीं थे। लाखों देवी देवताओं के लिए मिथिला के पास जगह थी, पर राम के लिए कोई जगह नहीं थी।

बात यह थी कि राम का विवाह मिथिला में हुआ था। वह यहां के दामाद थे। यह बात यहां की जातीय स्मृति में शामिल थी। सभी वर्णों और वर्गों के लोग उन्हें इसी रूप में देखते थे। लोक परंपराओं में इसी आशय के गीत कवित्त मिलते थे। जैसे शिव हर किसी के जीवन से जुड़े थे परिवारी जन की तरह, ऐसे ही राम भी थे। अपने इस दामाद की पूजा कोई नहीं कर सकता था। इससे भी बड़ी बात यह थी कि राम को अच्छे रिश्तेदार की नजर से नहीं देखा जाता था। लोगों को मलाल था कि मिथिला की बेटी ब्याहकर वह ले गए, लेकिन उसे सुखी नहीं रख सके। दुख ही दुख में उनका जीवन बीता। यह सब राम के दुर्बल व्यक्तित्व की वजह से हुआ। सीता का दुखांत जीवन मिथिला की जातीय स्मृति में इस तरह खचित था कि लोग विवाह पंचमी को अशुभ तिथि मानते थे और उस दिन कोई भी अपनी बिटिया की शादी नहीं करता था। यह आज भी कायम है। सीता के दांपत्य जीवन को असफल मानते हुए लोग बड़े आह के साथ उन्हें 'अभागन' कहते और अपनी बेटी का नाम 'सीता' रखने तक से परहेज करते थे। मिथिला में राम के लिए कोई जगह नहीं थी।

मिथिला में 'राजा राम' के लिए जगह बनाई अठारहवीं उन्नीसवीं शताब्दी के जमींदारों और भूपतियों ने। इन जमींदारों का शोषण और विभेद नीति जगजाहिर है। इन्हें अपने लिए धार्मिक नैतिक समर्थन चाहिए था, जो उन्हें राजा राम से मिला। इनकी हवेलियों में ठाकुरबाड़ी बने, जहां राजा राम पूजित हुए। वह उनकी सल्तनत की हिफाजत करने के लिए थे। लेकिन वह दौर नवजागरण का भी था। पुरानी धार्मिक कट्टरता घट रही थी और नई नई धर्म धारणाएं भी लोगों के जीवन में शामिल हो रही थीं। पहली पहली बार मिथिला में वैष्णव संन्यासियों का प्रादुर्भाव हो रहा था। महिषी परिसर के ही ऐसे एक संन्यासी थे—लक्ष्मीनाथ गोसांई। नवजागरण के तत्व उनमें भरेपूरे थे। मैथिल समाज में जो बुराइयां युगों से व्याप्त थीं, उनके कुछ अनूठे समाधान उन्होंने प्रस्तुत किए थे।

किंवदंतियों के विश्लेषण से पता चलता है कि कंपनी सरकार ने उन्हें गिरफ्तार भी किया था और अपने शिष्य क्रिश्चियन जॉन के प्रयास से वह रिहा किए गए थे। उनके हजारों भक्तिपद प्रकाशित हैं। उनमें से कई में अंग्रेजी राज के प्रति कटु विरोध का स्वर मुखरित मिलता है। लक्ष्मीनाथ गोसांई का नियमित महिषी आना जाना था। इस रामशाला का निर्माण उनकी ही प्रेरणा से हुआ था। और, रामनवमी और कृष्णाष्टमी मनाने की प्रथा भी आरंभ हुई थी। महिषी के ढोलन बाबाजी उर्फ जयराम चौधरी ने हमें बताया था कि उनकी बुआ ने लक्ष्मीनाथ की मंडली को एक बार भोजन पर आमंत्रित किया था। लक्ष्मीनाथ की कीर्तन मंडली थी। दस बारह उनके साजिंदे थे। बाबाजी की बुआ बताती थीं कि लक्ष्मीनाथ गा रहे हों तो पंछी तक चहचहाना भूल जाते थे और श्रोताओं को देखो तो वे मनुष्य नहीं, मनुष्य की तस्वीरों से दिखाई देते थे। इतनी भावपूर्ण प्रस्तुति होती थी उनकी। लक्ष्मीनाथ का देहावसान 1873 में हुआ था। इसके पहले रामशाला बन गई थी। रामशाला के रूप में लक्ष्मीनाथ अब तक महिषी में विराजते हैं।

ठीक चौराहे पर रामशाला बनी हुई थी। चाहे गांव में घुसना हो या गांव से निकलना हो, रामशाला के दर्शन बगैर उपाय न था। वह दर्शनीय थी भी। सात फीट का प्लिंथ देकर घर खड़ा किया गया था। आज तो इसका पक्काकरण हो गया है, पर उन दिनों यह इमारती लकड़ियों और खढ़ बांस से बनी हुई थी। आकृति उसकी मनमोहक थी। चढ़ने के लिए सीढ़ियां बनी थीं। फर्श कच्ची थी। उसे नियमपूर्वक प्रतिदिन गाय के गोबर से अलस्सुबह लीपा जाता था गांव में सैकड़ों ऐसी भक्तिप्रवण महिलाएं थीं, जिन्हें

किसी दिन रामशाला को लीपने का अवसर मिल जाए तो अपने आपको भाग्यशाली महसूस करती थीं।

क्या था ऐसा जो रामशाला को इतना पवित्र और श्रद्धेय आस्था केंद्र बनाए हुए था? वह थे साक्षात महादेव शिव। लोग बताते थे कि 50 बाइ 40 फीट के सात फीट गहरे स्थल को भरने के लिए साधारण मिट्टी का उपयोग नहीं किया गया था। पार्थिव (मिट्टी से निर्मित) महादेव के पूजन के बाद जो विसर्जित देवता बचते थे, उन्हें रामशाला की वेदी पर समर्पित किया जाता था। सोचो तो अचरज लगता है कि कितने साल लगे होंगे उस खाई को भरने में? इतने दिन में तो शिव ने राम को स्वीकार्य बना ही दिया होगा।

रामशाला पर चुनिंदा किस्म के ही कार्यक्रम हुआ करते थे। वह भी कभी कभार। राजकमल के जमाने तक रामनवमी और कृष्णाष्टमी के अवसर पर देव मूर्तियों की स्थापना भी रामशाला पर ही होती थी। और, इसके चतुर्दिक मेला लगता था। इसकी शुरुआत भी लक्ष्मीनाथ गोसांई ने ही करवाई थी। बाद में, राम चौधरी की ही प्रकृति के एक सज्जन कुशेश्वर पाठक ने अपनी जमीन देकर और पैसा लगाकर 'भगवान घर' बनवा दिया था। अब मूर्तियां वहां बनती थीं, यूं वह जगह भी रामशाला के पास ही थी। अब, वर्ष में एक बार रामचरितमानस का नवाह्न पारायण पाठ होता था और एक बार राम नाम संकीर्तन। यह सामान्यतः ऐसे दिनों में होता था, जब लोगों के घर अनाज से भरे रहते, खेती के लिए लीजर का वक्त होता और मौसम खुशगवार बना रहता था। इन सब चीजों के अग्रणी थे–सुरेश चौधरी। वह गांव के अमीन थे मगर रामचरित मानस का पाठ इतना सुरीला करते कि दस गांवों के लोग उनका पाठ सुनने के लिए जमा होते थे। सारा गांव श्रद्धा से उन्हें 'व्यासजी' कहता था। और, बीच बीच में रामशाला पर कीर्तन भजन का कार्यक्रम चलता। होली के मौके पर मिलन समारोह आयोजित किया जाता। इन सबके अतिरिक्त, बहुत पेचीदा अगर कोई विवाद हो तो उसे लेकर उस पर पंचायत बैठती थी। लेकिन, यह एक तरह से अघोषित फैसला था कि रामशाला पर राजनीतिक नेताओं की बैठक नहीं होगी। लोग बताते थे कि पुराने जमाने में कभी एकाध बार राजनीतिक बैठकें हुई थीं। नेताजी ने रामशाला पर चढ़कर कुछ वायदे किए, कुछ सपने दिखाए थे। सारे गांव ने उन पर यकीन कर लिया था। पूरे गांव का वोट, बगैर किसी हील हुज्जत के उन्हें मिल गया। पर, नेताजी को क्यों अपने वायदे याद रहते? लोगों को लगा था कि यही हाल रहा तो रामशाला का 'धर्म' बचना मुश्किल होगा। वह जमाना था कि लोग मानते–धर्मो रक्षति रक्षितः–तुम उसकी रक्षा करके रखो तो वक्त आने पर वह तुम्हारी रक्षा करेगा!

वाकया याद आता है कि राजकमल के जमाने में एक बार इस रामशाला पर राजनीतिक बैठक की तैयारी हुई थी। वह 1967 का वर्ष था। आम चुनाव होनेवाला था। कांग्रेस का अखंड सत्ता काल लोगों ने देख लिया था। सारा देश जानता था कि बहुत सारे कांग्रेसी नेता भ्रष्टाचार में आकंठ निमग्न हैं। उनकी श्रृंखला प्रांत जिला प्रखंड से होते होते गांव और टोले तक आ गई थी। कांग्रेस से लोगों का मोहभंग हो गया था। चारों ओर विरोध के स्वर सुनाई पड़ते थे। इस चुनाव के पहले और इसके बाद भी, जनता की जो मनोदशा थी, उसके बारे में राजकमल ने लिखा था–'पूंजीपतियों, नेताओं, आत्मसुखलीन बुद्धिजीवियों, सरकारी अफसरों और गैर सरकारी ठेकेदारों द्वारा कानून, टैक्स, पुलिस और सेना की सहायता से 'असभ्य' और 'अपाहिज' जनता पर लादी गई अंकुशहीन शासन व्यवस्था से जनता ऊब गई है। लेकिन, इस 'महान' ऊब का सारा लाभ देश की प्रतिक्रियावादी संस्थाओं, और दक्षिणपंथी पार्टियों को भी मिल जा सकता है। जनता परिवर्तन चाहती है, जबकि परिवर्तन के स्वरूप की उसे कल्पना नहीं है, और न ही किसी वामपंथी राजनीतिक दल के सिद्धांतों और योजनाओं को जनता ने स्वीकार ही किया है। जनता नहीं जानती है कि आर्थिक स्वाधीनता का अर्थ क्या होता है

और इसे कैसे प्राप्त किया जाता है।'

जनता परिवर्तन चाहती थी, पर कांग्रेसी नेता किसी भी तरह इस चाहत पर पानी फेरने की मंशा रखते थे। प्रख्यात राजनेता और केंद्रीय मंत्री ललित नारायण मिश्र महिषी आने वाले थे। रामशाला पर उनकी चुनावी सभा होनी थी। इसके लिए उनसे जुड़े दबंगों ने अच्छी मेहनत की थी। ललित नारायण मिश्र समूची मिथिला में 'उद्धारक राजनेता' की दृष्टि से देखे जाते थे। वह कोई आम नेता थे भी नहीं। उन चंद गिने चुने भविष्यद्रष्टा नेताओं में से थे, जिन्हें मिथिला की समझ थी और इसके भविष्य को लेकर स्पष्ट अवधारणा भी थी। महिषी से उनका जुड़ाव था। तारा को लेकर और अपने आत्मीयों और शुभचिंतकों को भी लेकर। महिषी के राधाकांत चौधरी उनके गांव में अध्यापक थे। बड़े ही तेजस्वी, बड़े ही प्रख्यात। ललित बाबू गुरु की तरह उनका आदर करते। वह परिवार ललित बाबू का कृपापात्र था और स्थानीय संरक्षक भी। यूं, समूचा गांव आजादी के ही समय से कांग्रेस का समर्थक था, लेकिन इस बार की हवा जरा दूसरी थी। मोहभंग का दौर था, और इस आग को हवा देने के लिए राजकमल चौधरी गांव में विराजमान थे।

राजकमल ने ललित बाबू के वहिष्कार का नारा दिया। गांव भर के नौजवान उनके साथ हो गए। राजकमल ने घोषणा कर दी कि केंद्रीय मंत्री ललित नारायण मिश्र को गांव में प्रवेश करने नहीं दिया जाएगा। उन्होंने कांग्रेसी सरकार और ललित नारायण मिश्र के खिलाफ जुलूस निकाला। हाहाकार मच गया। उनके परिवार के बुजुर्ग इसे बहुत बड़ी बिपत्ति के रूप में देख रहे थे। उन्हें वोट नहीं देना है तो मत दो। लेकिन उनका बहिष्कार करोगे? काला झंडा दिखाओगे? वे ब्राह्मण हैं। सम्मानित नेता हैं। मंत्री हैं। इस गांव के संबंधी हैं। अतिथि के रूप में आ रहे हैं। अतिथि सत्कार हमारा परम धर्म है। उन्हें गांव में आने ही नहीं दोगे? इससे महिषी की प्रतिष्ठा बचेगी? युग युग के लिए कलंक नहीं लग जाएगा?

लेकिन, राजकमल ठोस बातें कह रहे थे—वह अतिथि बनकर आ रहे हैं क्या? इन सबने जनता का खून चूस लिया है। देश को कंगाल बना दिया है। और अब फिर वोट मांगने आ रहे हैं। उनको हम रामशाला पर चढ़कर लफ्फाजी करने दें? झूठे आश्वासन दे देकर वोट बटोर लेने दें? राजकमल चौधरी गांव में है और इसके जीते जी ऐसा नहीं हो सकेगा। राजनीतिक समर्थन या विरोध हमारी व्यक्तिगत स्वतंत्रता है। इसमें जो कोई व्यवधान डालेगा, वह हमारा दुश्मन होगा, चाहे वे हमारे पिता ही क्यों न हों।

बुधवारय परिवार ने चिंतातुर होकर बुजुर्गों की एक बैठक बुलाई। राजकमल को समझाने की कोशिश की गई। राजकमल ने स्पष्ट कहा कि यदि ललित बाबू अतिथि और संबंधी के नाते महिषी आएंगे तो मैं उनका स्वागत करूंगा, उन्हें छप्पन प्रकार के व्यंजन खिला सकता हूं, लेकिन अगर वे राजनीतिक सभा करने की कोशिश करेंगे या रामशाला पर चढ़कर वोट मांगेंगे तो किसी भी हाल में इसे सफल होने नहीं दूंगा।

और, जैसा राजकमल ने चाहा, वैसा ही हुआ। केंद्रीय मंत्री को महिषी का अपना दौरा स्थगित करना पड़ा।

तब से रामशाला पर कोई राजनीतिक बैठक करने की कोशिश नहीं की गई। नेता लोग भी रामशाला पर चढ़ने से घबराते थे। प्रथा यह थी कि यदि कोई प्रचारक रामशाला पर चढ़कर अपनी बात कह रहा हो तो नीचे खड़े श्रोताओं की वाणी स्वतंत्र और मुखर रहती थी। कोई भी नीचे से टीका टिप्पणी कर सकता था। और सवाल पूछ सकता था। इसका सामना करना किसी के लिए भी मुश्किल पड़ता था। लेकिन यह भी था कि यदि आप 'ठठ' गए तो समूचा गांव आपका है। सारांश यह कि रामशाला पर चढ़ने वाले व्यक्ति या मुद्दे का निर्विवाद होना, शुद्ध और तर्कसंगत होना जरूरी था।

ललित बाबू को गांव घुसने नहीं देने की घटना का एक उत्तर प्रसंग हमें राजकमल के भाई

हितेंद्र नारायण चौधरी (बच्चा काका के पुत्र और लालसा के बड़े भाई) ने सुनाया था। महिषी गांव में ललित बाबू को काला झंडा दिखाना और गांव घुसने नहीं देना, यह बहुत बड़ी घटना थी। समूचे जिले जबार में सनसनी फैल गई और घटना बहुप्रचारित हो गई। कांग्रेस विरोधी राजनेता बड़े खुश हुए। सोशलिस्ट पार्टी के उम्मीदवार परमेश्वर कुमर थे, जो पहले भी महिषी के विधायक रह चुके थे। अगले दिन वह राजकमल से मिलने आए। राजकमल कवि कुटीर के अपने कमरे में लिखापढ़ी कर रहे थे। बाहर हितेंद्र उर्फ हीरा बाबू थे। कुमर जी ने उन्हें बताया कि फूल बाबू से मिलना है। हीरा बाबू उन्हें बताने अंदर गए। सुनकर राजकमल आगबबूला हो गए। चिल्लाने लगे–ललित मिसर का मैंने विरोध किया तो इसका मतलब उसने यह कैसे समझ लिया कि उस कमीने का मैं सपोर्ट करूंगा? उसकी ऐसी हिम्मत कैसे हुई? उसे बोलो तुरंत चला जाय, नहीं तो फिर मैं ही हूं! और हां, तुम्हें भी चेता रहा हूं–ये लोग कुत्ते हैं कुत्ते! इनकी तरफदारी आगे से कभी मत किया करना!

यहां समझा जा सकता था कि 'मुक्तिप्रसंग' में जब वह आदमी को 'लोकतंत्री संसार' से अलग हो जाने की बात करते हैं तो दरअसल कहना क्या चाहते हैं!

और, हमने तय किया था कि इसी रामशाला पर हम राजकमल जयंती समारोह मनाएंगे। हम बच्चा काका से मिले। वह तो हमारे प्रयासों से पहले ही गद्गद् थे। उन्हें जैसे बरसों से हम जैसे लड़कों का इंतजार था जो राजकमल के प्रसंग को व्यापक आयाम में पेश करने की मंशा रखते हों। कहने लगे–हां, रामशाला पर ही करो। रामशाला भी उसे पाकर कृतकृत्य होएगी। राजकमल क्या था? दिव्य पंखुड़ियोंवाला शतदल कमल था, जो देवता पर चढ़ने से पहले ही बिखर गया। हमने तो सोचा है, तुम्हारे कार्यक्रम के लिए स्वागतगान लिखेंगे और बच्चों को तैयारकर उसे गवाएंगे। और सचमुच, हमारे पहले आयोजन के लिए स्वागतगान उन्होंने ही लिखा था, जिसे लालसा और उसकी सहेलियों ने प्रस्तुत किया था। उस गीत में राजकमल के संपूर्ण जीवन की झांकी पिरोई गई थी। धुन भी इतना संक्रामक अपनापा लिए हुए था कि सुननेवालों को करुणा और ममता से भर देता था।

फिर हम तारास्थान के प्रधान पुजारी पुलकित झा से मिले। हमने सुना था कि राजकमल उनके मित्र थे। जब भी कभी वह मंदिर आते, पूजा करते, चक्र संवर का आयोजन होता, हमेशा पुलकित बाबा उनके साथ पाए जाते। उनका फकीराना अंदाज भी बताता था कि ऐसे लोग राजकमल जैसों की दोस्ती के लिए ही बने होते हैं। पुलकित बाबा महाकाल मंदिर में रहते थे, जहां चिता से उठाकर लाई गई लकड़ियों की धूनी हमेशा जलती रहती थी। वहां जाकर हम एकटक कमरे के उस कोने को निहारते रहे, जहां राजकमल बैठा करते थे।

पुलकित बाबा ने सुन रखा था कि गांव में कुछ लड़के निकल आए हैं, जो राजकमल की चर्चा उठा रहे हैं। उन्हें इससे बड़ी खुशी हुई थी। हमें व्यक्तिगत रूप से उन्होंने शाबासी दी थी। और उस दिन जब टीम के साथ मिले तो उन्होंने एक कहानी सुनाई थी–

सावन भादों का महीना था, बाबू। घनघोर काल बीत रहा था। 'सतहिया' लादे हुए था। रात भी अंधेरी थी और माहौल भी विकराल। सबेरे सकाल हमने आरती भोग लगाकर मंदिर का पट बंद किया और खा पीकर इसी महाकाल मंदिर में सो गए। तीसरे पहर रात को क्या सुनते हैं कि कोई हमें जगा रहा है–पुलकित! पुलकित! उठो पुलकित! आंख खुली तो देखते क्या हैं कि फूलबाबू धूनी के पास आराम से बैठे हैं और हमें जगा रहे हैं। धड़फड़ा के उठे। वह बहुत थके हुए थे। भूख भी उन्हें लगी हुई थी बहुत। कहीं बाहर से आ रहे थे सीधे। बताया कि दक्षिण की तरफ से आए हैं–जंगल झाड़, नदी नाला पार करते हुए। बोले कि पूजा का इंतजाम करो, उसी से शांति मिलेगी। मंदिर में कुछ फल फलाहार था। उठकर हम इंतजाम करने लगे। फूलबाबू के साथ चमड़े का एक

बैग था। उन्होंने बैग खोला। बैग में 'कारण' का एक भरापूरा बोतल था। और, हम देखते क्या हैं कि बैग में एक पिस्तौल भी है। ये क्या है फूलबाबू?–हमने जान बूझ कर पूछा। बोले–यही तो है असली चीज। मार दिए आज साले को। बहुत हरान किए हुए था कबसे। मेरी तो आंख उलटने लगी–किसको मार दिए रे बाप! काहे के लिए मार दिए? लेकिन, वह हमको समझाने लगे–देखो पुलकित, मां जब दुष्टों का संहार करती हैं तो कैसे करती हैं? यह मत समझना कि नरमुंड पहनकर चार हाथ में अस्त्र शस्त्र धारण करके वह किसी को मारने आती हैं। नहीं नहीं। ऐसा नहीं होता है। कभी हमें 'मां' बना लेती हैं, कभी तुम्हें। लेकिन, छोड़ो इस बात को। पूजा का इंतजाम करो। सारा इंतजाम हुआ। सुबह तक हमलोग पूजा करते रहे। और जानते हो, उस दिन हमने उनको बहुत फटकारा था। बहुत भला बुरा कहा था। वह चुपचाप हमारी बात सुनते रहे।

–उन्होंने आपको बताया कि किसको मारे थे?

–अरे, कहां हो तुमलोग? वो तो ऐसे ही 'गप्प' छांटते थे कि ऐसा कर दिया, वैसा कर दिया। हम देहाती आदमी थे न, हमको बेवकूफ बनाने में उन्हें मजा आता था।

–लेकिन, वो पिस्तौल?

–हां, पिस्तौल तो था। वो हम अपनी आंख से देखे थे। अरे, ले लिया होगा किसी साथी संगतिया से कि कुछ दिन हमारे पास रहने दो।

–किसी की जान वे नहीं मार सकते थे? हां, गुस्सा तो उनका बहुत खराब था।

–हां। गुस्सा तो सही में बहुत खराब था। लेकिन हमको नहीं लगता है कि वे किसी की जान ले सकते थे। बहुत 'सुकुमार हृदय' था। और गुस्सा भी कैसा था? बस, एक मिनट में ठंडा। गुस्सा क्या करते थे कि समझो रूठ जाते थे।

–रूठ जाते थे?

–हां जी। फूलबाबू को तुमलोग नहीं जानते हो? अरे, वह तो बच्चा था, बच्चा!

–बच्चा थे?

–हां जी, बच्चा थे। दिल खोलकर जिससे उनकी बात होती होगी, वो सब लोग तुमको ये बात बताएंगे। बच्चे की तरह बात बात पर जिरह करने लगते। छोटी छोटी बात के लिए मचलने लगते। संभव असंभव का ज्ञान ही नहीं रहता था। क्या बताएं!

–कुछ तो बताइए।

–एक दिन हमको कहने लगे कि पुलकित, ऐसा नहीं हो सकता कि मां की जांघ पर हम सिर रखकर बैठे हैं और मां मेरा सिर सहला रही है। एह, ऐसा हो जाय तो मेरा सब दुख दूर हो जाएगा। हमने उनको बताया कि फूलबाबू, ये तो साधनावस्था में ही हो सकता है। साधना तो आप करते ही हैं। मां से कहिए। वह जरूर आपकी बात मानेगी। लेकिन, वो तो बस जिद पकड़ लिए–नहीं, साधना में नहीं पुलकित, वास्तव में। वहां, उस केवड़ा वृक्ष के नीचे। चलो, उस जगह को साफ सुथड़ा करते हैं।

–तो, आगे?

–क्या बताएं! हमको शरम भी लगती है! जगदंबा तो जड़ में, चेतन में, खर में, खंभ में–सब जगह विद्यमान हैं। उसी दोपहर में एक मुसहरनी को बुलाकर ले आए। उसके शरीर में उन्होंने जगदंबा का आह्वान किया। तंत्र का ज्ञान उनको कितना था, क्या हम बताएं! 'चीनाचार' के तो समझो, महापंडित थे। ऐसी ऐसी विधि और मंत्र जानते थे कि बाप जनम हम भी नहीं देखे थे।

–तब, आगे?

–आगे क्या? जगदंबा का आह्वान करके साष्टांग उसको प्रणाम किए और उसकी जांघ पर लेट गए। हमको भी हटने नहीं दे रहे हैं कि यहीं पर बैठकर बीजमंत्र का जाप करो। लोग सुनेंगे तो

क्या क्या नहीं बात करेंगे!

—हां। लोग क्या समझने गए कि कौन आदमी किस भावना में जी रहा है?

—हम तो दावा देकर कहते हैं कि फूलबाबू को कोई समझ नहीं सका—न मां, न बाप, न भाई भैयारी, न समाज। अरे, वो तो हीरा था, हीरा!

—हां बाबा। आप ठीक कहते हैं। हमलोगों को भी यही लगता है।

—और जानते हो, वो हमसे क्या कहते थे?

—क्या कहते थे?

पुलकित बाबा की पलकें भींग आईं। गला भर्रा गया। बहुत गइराई तक जैसे वह राजकमल की यादों में डूब गए हों। बोले—कहते थे—ऐ पुलकित! हमको पहचानो। हमारे साथ जो सब कृत्य करते हो, उसको समझो। हमसे जो गपसप करते हो, जो सब बात हम तुम्हें बताते हैं, उन सबको याद रखना। देखना पुलकित, एक दिन ऐसा आएगा जब हमारे बारे में पूछने के लिए तुम्हारे पास बहुत लोग आएंगे। उस दिन तुम उनलोगों को बता देना। ओह!

पलकें हमारी भी भींग गई थीं। गइराई तक हम भी डूबने लगे थे। अब यह पूछनेवाली बात ही नहीं दीखती थी कि रामशाला पर हमें समारोह करना चाहिए कि नहीं करना चाहिए!

पर, अगले ही दिन हमें पता चल गया कि बाबा ने सब बात तो बताई, लेकिन असली बात तो बताई ही नहीं। हमने सुना था जिस रात मधुसूदन बाबू के देहांत की खबर लेकर संवदिया आया था, राजकमल मंदिर में ही थे और इसी पुलकित बाबा ने मोर्चा सम्हाला था। अगले दिन फिर हम बाबा के पास थे।

उन्होंने बताया—जाड़े का महीना था बाबू! सबेरे सकाल आरती भोग हो गया था, और मंदिर का पट बंद करने के बाद हम भी महाकाल मंदिर आ गए थे। जगदंबा का ध्यान करते करते सोने की कोशिश कर रहे थे। शिवा का दो निनाद हो गया था। दो पहर बीत गया होगा कि देखते हैं—फूलबाबू हाजिर हैं। देखे तो पाए कि कुछ विचलित अबस्था में हैं। बताए कि लाल काका मर गए। बोले कि मंदिर खोलो। तुमलोग जानते ही हो कि भोग के बाद पट बंद हो जाने पर मंदिर किसी के लिए भी नहीं खुलता है। लेकिन फूलबाबू के लिए खुलता था। वे जगदंबा के दुलरुआ पूत थे। क्या बताएं, जब जब हम उनके लिए जगदंबा से आज्ञा मांगे, हर बार मिल गई। उस दिन भी मिल गई। मंदिर खोले। वे बोले—खड्ग लाकर मेरे पास रखो। हम अचकचाए कि खड्ग लेकर क्या कीजिएगा तो बोले कि जो भी कोई आदमी हमको बुलाने आएगा, उसका सिर काटेंगे। सो, खड्ग लाकर उनकी बगल में रख दिया गया बाबू, और वे ध्यान लगाकर बैठ गए। हमको बोल दिए कि किसी को भी मंदिर मत आने देना। हम बाहर बैठकर पहरा देने लगे। करीब दो तीन घंटा के बाद दो तीन आदमी के साथ बाबू जयनारायण चौधरी आए। उनके जैसा 'अकबाली' आदमी गांव में नहीं था, जान ही रहे हो। उनको छोड़कर दूसरा कोई फूलबाबू के पास आने का साहस भी नहीं कर सकता था।

—तब आपने क्या किया?

—हम और करते क्या? किबाड़ के छेद से उनको अंदर दर्शन करा दिए और बोल दिए कि वे गरदन काट देंगे। चुपचाप वापस चले जाइए। वे भी चुपचाप चले गए।

मतलब था कि अपने मृत पिता मधुसूदन चौधरी को उन्हें मुखाग्नि नहीं देनी थी, ज्येष्ठ पुत्र होने के बावजूद। और उन्होंने वही किया था।

एक बार जब हम सहरसा में थे, मैथिली कवि महाप्रकाश ने हमें एक दुर्लभ जानकारी दी थी। उन्होंने बताया कि राजकमल जयंती समारोह, महिषी में पहले भी मनाया जा चुका था। वह भी राजकमल

की मृत्यु के दो ही साल बाद। और वह भी मनाया गया था इसी रामशाला पर। यह ठीक है कि उसका आयोजन गांव के लोगों ने नहीं किया था। लेकिन, गांव के लोग उसमें शरीक तो हुए थे न! यह तो देखा था न कि फूलबाबू कुछ इस तरह के आदमी थे कि उनका जन्मदिवस मनाने के लिए बाहर के विद्वान इस सड़कविहीन कोशी पीड़ित गांव में आए थे! बताइए, बाहर से आनेवाले वे लोग, गांव के लोगों को क्यों याद नहीं रहे?

रामकृष्ण झा 'किसुन' मैथिली साहित्य के दिग्गज पुरुषों में से एक थे। मिथिला के सांस्कृतिक जगत में उन्होंने जीते जी मान्यता और प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली थी। थे वह पंडित, लेकिन बहुत ही उदार और नवाचार के आग्रही। उन्होंने संस्कृत विद्या पढ़ी थी, हाइस्कूल में पढ़ाते भी संस्कृत ही थे लेकिन मैथिली में उन्होंने दुर्लभ संवेदनाओं की कविताएं और कहानियां लिखी थीं। हिंदी में लिखी उनकी बाल कविताएं भी बहुत चर्चित हुई थीं। उनके जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि यह थी कि मुक्तछंद में लिखी गई 'नवकविता' को उन्होंने मैथिली की दुनिया में स्वीकार्य बनाया था। इसके लिए उन्होंने दर्जनों लेख लिखे थे, जिनमें पाया था कि भारत की काव्य परंपरा में निश्चय ही नवकविता के लिए स्पेस है, और अपने समय की 'सबसे जरूरी कविता' का लेखन कोई चूड़ांत कवि आज इसी फॉर्म में कर सकता है। वह केवल लेख लिखने तक सीमित नहीं रहे थे, बल्कि आम साहित्यकार रसिकजनों में इसे ग्राह्य बनाने के लिए कई प्रकार के आयोजन भी करते रहते थे। आचार्य रमानाथ झा उन्हें स्थान देते थे। और, इधर, राजकमल चौधरी भी उनके प्रति आस्था रखते हुए 'बड़े भाई' कहते थे। और वह 'किसुन' जी, राजकमल को कितना स्थान देते थे? 1967 में नवकविता पर उन्होंने एक बहुत बड़ा सेमिनार और कवि सम्मेलन सुपौल में आयोजित किया था, जिसकी अध्यक्षता राजकमल चौधरी ने की थी। आधुनिक मैथिली साहित्य में इस आयोजन का बहुत बड़ा महत्व है। राजकमल के जीवन का तो यह आखिरी कार्यक्रम था, जिसमें वह शरीक हुए थे। इस आयोजन के बारे में मैथिली में बहुत सारे लेख/संस्मरण लिखे हुए मिलते हैं। राजकमल से हुई आखिरी मुलाकत के आखिरी क्षणों को याद करते हुए किसुन जी ने लिखा था—वह सुपौल सेमिनार से वापस जा रहे थे। सुपौल के बहुत सारे संभ्रांत नागरिक उन्हें विदा करने रेलवे स्टेशन पर आए थे। ट्रेन ने सीटी दी और राजकमल ने झुककर मेरे पांव छू लिए। बता नहीं सकता कि क्यों उनके इस आचरण से मेरी दोनों आंखें भर आईं और हृदय विह्वल गह्वरित हो गया। उनकी देखादेखी धीरेंद्र, जीवकांत, रेणु, रवींद्र सब मुझे प्रणाम करने लगे। व्याकुल होकर मैंने राजकमल को बांहों में भर लिया। रुंधे गले से मैं सिर्फ इतना बोल सका—फूलबाबू, आप मैथिली के असाधारण वरदपुत्र हैं। ऐसे विलक्षण लोगों में से हैं, जो नए युग का सूत्रपात कर पाते हैं। देखिएगा, कोई ईमानदार आदमी जब साहित्य का इतिहास लिखेगा तो उस इतिहास का सबसे बड़ा, सबसे वजनी अध्याय आप पर लिखा जाएगा, जिसका आरंभ यात्री से होगा। क्या कहूं मैं, बहुत गौरवशाली हूं कि वह राजकमल, वह फूलबाबू सबके हैं जरूर, लेकिन मेरे अपने हैं; इतना बोलते बोलते मैं भावाभिभूत हो गया था और आगे कुछ भी बोल पाने के लायक नहीं बचा था। क्या पता था कि उन्हें अंतिम बार देख रहा हूं।

और, उन किसुनजी ने राजकमल के मरने पर जार जार आंसू बहाए थे।

और, इसके दो बरस बाद की बात है कि वह एक साहित्यिक कार्य से सुपौल से सहरसा आए थे। आचार्य रमानाथ का 'अभिनंदन ग्रंथ' दरभंगा से निकलनेवाला था। किसुन जी ने जिम्मेवारी ली थी कि कोशी परिसर के महत्वपूर्ण लेखकों से व्यक्तिगत रूप से मिलकर वह रचनाएं लिखवाएंगे और संकलित कर दरभंगा भेजेंगे। इसी सिलसिले में उनकी यात्रा थी। राजकमल की स्मृति थी कि उनका पीछा नहीं छोड़ती थी। तेरह दिसंबर सामने खड़ा था। चर्चा चली और महिषी जाकर राजकमल जयंती समारोह मनाने का कार्यक्रम बन गया। इसमें महिषी के काशीकांत चौधरी की भूमिका

महत्वपूर्ण थी। गांव में बच्चा काका के ज्येष्ठ पुत्र हितेंद्र नारायण चौधरी भी थे। काशी बाबू के अनुज वशीकांत चौधरी 'अमलतास' उन दिनों हाइ स्कूल के विद्यार्थी थे। इन सबों ने मिलकर महिषी में कार्यक्रम की तैयारी की थी। किसुन जी के साथ प्रसिद्ध कवि आलोचक रामानुग्रह झा थे, तारानंद झा 'तरुण' थे और सहरसा से महाप्रकाश शामिल हुए थे। हमारे परिसर के एक सुप्रसिद्ध यायावर साहित्यिक आचार्य योगेश्वर भी इस कार्यक्रम में आकर शामिल हुए थे।

रामे बाबा ने हमें बताया था—वह शाम भूले नहीं भूलती नुनू! किसुन जी ने वैदिक काल से ही बात शुरू की थी। युगचेता पुरुषों के क्या लक्षण होते हैं, इस पर काफी बोले थे। और, हर बात में फूलबाबू का दृष्टांत। आज का युगधर्म क्या है, इसे बताया था। भविष्य को कौन समझ सकता है, किस तरह उसकी व्याख्या हो सकती है, इसका वर्णन। और हर बात में फूलबाबू का दृष्टांत। उस दिन महिषीवालों को महसूस हुआ था कि काल ने उनका कैसा अनोखा रत्न छीन लिया! और अंत में किसुन जी ने गांववालों से संकल्प करवाया था। सबने शपथ लिया था कि वे हर साल तेरह दिसंबर को राजकमल जयंती मनाएंगे। लेकिन...उदास होकर बाबा बोले थे—लेकिन, सब लोग भूल गए। तुमलोग भी आए तो आज दस बरस के बाद...

काशीकांत चौधरी और वशीकांत चौधरी अब हमारे मार्गदर्शकों में से थे। हमने पाया था कि जिन लोगों में कुछ करने का माद्दा था, वे सब सरकारी नौकरियों में चले गए थे और गांव से बाहर रहते थे। अलख जगानेवाले कुछ लड़के अगर गांव में हों तो उन्हें उनकी मदद मिल सकती थी। वशीकांत खुद भी लिखते थे, और अच्छा लिखते थे। महाप्रकाश ने बताया था कि 69 के आयोजन में, वशीकांत ने टी. एस. इलियट की कविता का मैथिली अनुवाद कार्यक्रम में सुनाया था, जबकि उन दिनों वह हाइस्कूल के विद्यार्थी थे। अब इन दिनों वह ग्रामीण बैंक में पी. ओ. थे और इस नौकरी को भी छोड़कर विश्वविद्यालय की सेवा में आने की तमन्ना रखते थे। और उनके छोटे भाई निशिकांत तो हमारी टीम के सदस्य थे। ये लोग राजकमल के ही परिवार से थे और संबंध में उनके चाचा लगते थे।

यह कहानी जानकर हमें बहुत संतोष हुआ था कि चलो, राजकमल और रामशाला का संपर्क सामीप्य पहले से ही घटित हो चुका है। दुख था तो सिर्फ यही कि इतनी बड़ी घटना गांव की स्मृति से विलुप्त हो गई थी।

दो तीन आयोजन होते होते विरोध का माहौल खत्म हो गया था। सच पूछा जाए तो गांव को राजकमल जयंती की प्रतीक्षा रहने लगी थी। गांव में वैसे ही सांस्कृतिक आयोजनों की कोई निरंतर परंपरा नहीं थी। इस आयोजन में हम कवि सम्मेलन के साथ साथ गीत संगीत का भी प्रोग्राम करवाते। उन दिनों मैथिली मंच के जो स्टार माने जाते थे—धीर महेंद्र जयराम की तिजोड़ी, या फिर नवल नंद की जोड़ी, ये हमारे आयोजनों में हर साल आते। एक से एक 'लोकगीत' होता। उनमें रवींद्र (मैथिली कवि गीतकार रवींद्र नाथ ठाकुर) के गीतों की प्रमुखता होती। वे गीत भी क्या थे, एक बार सुन लो तो होठों पर बस जाते थे!

दो साल बीतते बीतते हमने कई दूसरे जरूरी कामों को भी अपने अभियान का हिस्सा बना लिया था। दैनिक जीवन चर्या में हमारा गांव भी मिथिला के आम गांवों जैसा था। ज्यादातर लोगों के घर फूस के थे! गांव चारों ओर से नदियों और उसकी छाड़नों से घिरा था। लोग शौच के लिए जाते भी तो कहां जाते? 'दिन देखार' में पुरुष लोग तो खेतों की ओर निकल जाते, महिलाएं सड़क किनारे ही निवृत्त होती थीं। उनके कष्ट अथाह थे। सुबह निवृत्त होना हो तो इतने सबेरे कि सड़कों पर लोगों का आवागमन न शुरू हुआ हो, और रात को जाना हो तो इतनी देर से कि आवागमन बंद हो चुका हो। परिणाम यह था कि गांव की सारी सड़कें नरक बनी गंधाती रहती थीं। हम वैसे भी कभी कभार

सड़कों का सफाई अभियान चलाते। अब हम यह भी करने लगे कि राजकमल जयंती के दिन आवश्यक रूप से सुबह सुबह सड़कों का सफाई अभियान करते। वह भी ऐसे ही नहीं। सुबह मुंहअंधेरे मिडिल स्कूल के मैदान में सभी स्कूल के बच्चों को जमा करते। इसके लिए बजाब्ता स्कूलों से हमारा संपर्क रहता था और शिक्षकों का सहयोग होता था। हम बच्चों को जमा करते और जुलूस निकालते। मुख्य नारा होता—'आज क्या है? राजकमल जयंती'! और भी जाने कितने नारे हमने तैयार कर लिए थे, उनमें से कुछ बहुत मार्मिक भी थे। वे राजकमल के प्रति ममता जगाते थे। मकसद लेकिन इतना भर था कि लोग जान जाएं कि आज जयंती है और शाम को रामशाला पर जुटना है। और, यही जुलूस अंत में सफाई कार्यक्रम में बदल जाता था। लोग थोड़े ही बचते, लेकिन काम चल जाता था।

कार्यक्रम का स्वरूप यह होता कि कम से कम दो बड़े विद्वान साहित्यकारों को हम बाहर से जरूर ही बुलाते। वे राजकमल पर विस्तार से बोलते थे और अपनी कविताएं भी सुनाते थे। याद आता है, एक बार हमने सोमदेव को बुलाया था। मणिपद्म और प्रवासी साहित्यालंकार तो हर साल आनेवाले गणमान्यों में से थे। बाहर से बुलाने का अर्थ होता—सहरसा सुपौल परिसर, जिसे आम तौर पर कोशी क्षेत्र कहा जाता है, से बाहर के साहित्यकार। सोमदेव दरभंगा शहर में रहते थे। मणिपद्म दरभंगा जिले के गांव से आते थे। प्रवासी जी मधुबनी के पास रहते थे। सहरसा सुपौल में जितने भी विद्वान थे, साहित्यकार थे, वे सब तो अनिवार्य रूप से इसमें शरीक होते थे। इनमें प्रख्यात उपन्यासकार मायानंद मिश्र थे, जिनके शुरुआती दिन राजकमल की संगत में बीते थे और मैथिली कथा साहित्य के 'त्रिपुंड' महारथियों—ललित, राजकमल, मायानंद—के वह एक 'पुंड' थे। फिर, कवि कथाकार महाप्रकाश थे, महेंद्र थे। उनका घर जिला मुख्यालय का हमारा शाखा कार्यालय हुआ करता। उन दिनों जयानंद झा और भवेश मिश्र जिले की पत्रकारिता के स्तंभ थे। वे दोनों हमेशा ही हमारे कार्यक्रमों में शरीक होते। फिर प्रो. मनोरंजन झा थे, प्रो. कृष्णचंद्र झा 'मस्ताना', आचार्य योगेश्वर थे—ये जमीन से जुड़े रचनाकार थे। शिल्प की बारीकियां भले उनकी रचनाओं में न हों, लेकिन जब मंच पर व्याख्यान देते या कविताएं पढ़ते तो जनसमूह उनकी भावनाओं के साथ निमज्जित हो जाता था। ऐसा जादू छाता था कि हमें महीनों तक बड़ाई मिलती रहती थी और ग्रामीणों की यह फरमाइश भी कि अगली बार भी उन्हें जरूर बुलाया जाए। मैथिली गजलकार कलानंद भट्ट भी महिषी के श्रोताओं में इसी प्रकार लोकप्रिय थे। केदार कानन का इस आयोजन में शामिल होना हर तरह से अनिवार्य होता था। राम चैतन्य धीरज और अरविंद कुमार नीरज भी जरूर ही उपस्थित होते। उस जमाने में धीरज नीरज की जोड़ी भी मशहूर हो रही थी। ये दोनों ही गीत गजल लिखते थे और मिलकर गाते थे। धीरज का वैचारिक पक्ष प्रबल था, वह राजकमल पर और मैथिली की प्रगतिशील परंपरा पर अच्छा बोलते। मगर, दोनों मिलकर जब गाते तो आनंद हो जाता था।

धीरे धीरे हमारा यह नियमित आयोजन कितना संक्रामक हो गया था, यह भी याद आता है। हमारा गांव राज्य सरकार का प्रखंड मुख्यालय था। यह काफी पहले से था। इन दिनों प्रखंड विकास पदाधिकारी थे अरविंद कुमार सिंह। वह बिहार प्रशासनिक सेवा के अधिकारी थे, और महिषी में पोस्टेड गिने चुने अधिकारियों में से थे, जिन्होंने विधिवत यहां आवास रखकर नौकरी की थी। वह पढ़े लिखे आदमी थे। पढ़ने लिखनेवाली गतिविधियों से प्रेम भी था। हमने तो अपने अभियान के सिलसिले में सभी से संपर्क साधे थे, मगर सिंह साहब हमसे ज्यादा जुड़ गए। राजकमल की किताबें उन्होंने हमसे मांग मांगकर पढ़ीं। हमारे कार्यक्रमों में, वह चाहे जयंती हो या कोई और, उनका बिना शर्त समर्थन होता और वह उनमें बढ़ चढ़कर हिस्सा भी लेते। अगले आयोजन से वह हमारे एक वक्ता भी हो गए। और, अगले साल तक तो उन्होंने कविताएं लिखनी शुरू कर दीं। जयंती के एक आयोजन में जो उन्होंने अपनी कविताएं सुनाई थीं, गद्‌गद्‌ हो गए थे श्रोता। अब याद करूं तो पाता हूं कि कोशी पीड़ित इस इलाके की पीड़ा को उन्होंने निकट से समझा था। उनकी कविताएं इसी पीड़ा को बयान करती थीं, वह भी मुक्त छंद

में। उनकी कविताएं सुनते हुए मुझे राजकमल की आखिरी दिनों की मैथिली कविताएं याद आ जाती थीं, जो 1967 में उन्होंने गांव में रहते हुए लिखी थीं। खास तौर पर यह कविता–

शाम हुई
कोशी किनारे के इस ठेठ गांव में
हो गई शाम
दिन भर की धूप में जली सुलगी रसोईघर की
अगहन के हरे धुएं से भर गई शाम

घूर (देहाती अलाव) के चतुर्दिक रिमझिम अंधेरे में
प्रेत छायाओं की तरह
बैठे हैं मेरे ग्रामवासी,
पसरी है जिनके चेहरों पर
आसन्न अकाल की उदासी
सूखी अधसूखी पुआल की मटमैली आंच में
चमकती हैं लोगों की आंखें
धमकती है धनकटनी, यह अगहन मास
अब मरण बनकर,
नहीं चमकती कतई
जिंदगी की तरह
चिनगी की तरह।
शाम हुई
पर जैसे अंधेरे में बुझ गई शाम
कोशी किनारे के इस ठेठ गांव में
बुझ गई शाम।

बता ही चुका हूं कि हमारा गांव मिथिला के चंद गिने चुने गांवों में से था, जिसका अतीत बहुत ही उज्ज्वल था। पंजी व्यवस्था के प्रवर्तन के दौरान इस मूल ग्राम के जो आठ ब्राह्मण पंजीबद्ध पाए गए थे, उनमें से अधिकांश श्रोत्रिय थे। तात्पर्य यह कि विद्या और व्यक्तित्व का यहां बहुत मोल था। लेकिन, उसके भी पहले, आठवीं शताब्दी में, यहां मंडन मिश्र हो चुके थे। वह आदि शंकराचार्य के समकालीन थे। अपने जमाने के शिखर चिंतक के रूप में ख्यात थे, और शंकराचार्य को उनसे समर्थन और प्रोत्साहन की ललक थी, जो नहीं मिल सकी। मंडन मिश्र ने शंकर के चिंतन में कई गंभीर खामियां दिखाई थीं। लेकिन, शंकर और कुछ होने से ज्यादा प्रबंधन कुशल धार्मिक नेता थे। जो वह खुद न कर सके, न उनकी किताबें कर सकीं, वह उनके मठों ने छह सौ बरस बाद कर दिखाया। मठों ने उनकी काल्पनिक जीवनी लिखवाई और उसमें मंडन मिश्र को उनका चेला घोषित कर दिया गया। मंडन मिश्र की छह किताबें प्रकाशित थीं। वे वेदांत और मीमांसा के अत्यंत गंभीर मुद्दों पर प्रकरण ग्रंथ के रूप में लिखी गई थीं। हमारे गांव में उन किताबों को किसी ने देखा नहीं था। स्वयं राजकमल ने भी ये किताबें नहीं देखी थीं, क्योंकि उनके लेखन में हम शांकर मठ द्वारा प्रचारित झूठ पर उन्हें विश्वास करते हुए पाते हैं। दक्षिणात्य पंडित कुप्पुस्वामी शास्त्री ने 1936 में ही 'ब्रह्मसिद्धि' (मंडन मिश्र) की भूमिका लिखकर शांकर मठ द्वारा प्रचारित झूठ का पर्दाफाश कर दिया था लेकिन उसकी प्रति हमारे गांव में किसी के भी पास नहीं थी। पर, अद्भुत बात यह थी कि हमारे गांव के दोनों

ही परस्पर विरोधी महापंडित जोर देकर यह बात कहते हुए पाए जाते कि शांकर मठ द्वारा प्रचारित शास्त्रार्थ का मिथक पूर्णतः झूठ है। कोशी प्रमंडल के तत्कालीन कमिश्नर, जो एक सीनियर आई. ए. एस. आफिसर थे, दाक्षिणात्य थे, शांकर मठ के भक्त थे—से हमारे महापंडितों की भीषण भिड़ंत हो चुकी थी। कमिश्नर मंडन धाम का सौंदर्यीकरण करना चाहते थे और काञ्ची पीठ के तत्कालीन शंकराचार्य के सहयोग से शांकरपीठ का एक मंदिर 'मंडन धाम' पर बनवाना चाहते थे। ये सारी घटनाएं राजकमल के निधन के बाद हुई थीं। गांववालों ने इस मंदिर निर्माण का प्रबल विरोध किया था और सरकारी महकमे के प्रचुर सहयोग के बावजूद शंकराचार्य अपने मकसद में कामयाब नहीं हो पाए थे। फिर, गांव में तारा थीं। उन्हें उग्रतारा कहा जाता था, जबकि वह उग्र नहीं थीं। 'मुक्ति प्रसंग' में तो राजकमल ने लिखा था कि वह तारा भी नहीं थीं। लेकिन, तारा वह थीं। राजकमल ने जो अपना पहला कविता संग्रह 'स्वरगंधा' (1957) प्रकाशित कराया था, उसकी पहली कविता तारा पर ही थी। और, आखिर की कविता 'मुक्ति प्रसंग' में तो तारा ही तारा थीं। तारा दरअसल बौद्धों की देवी थीं, जिनकी पूजा पिछले तीन सौ बरस से हिंदू करते आ रहे थे। 1770 के दशक में दरभंगा राज की महारानी पद्‌मावती ने तारा मंदिर का निर्माण कराया था। यह मंदिर राजकमल के जमाने में था और आज भी है। राजकमल का ध्यान इसी मंदिर में लगता था। तारा की मूर्ति बहुत ही सौम्य थी, जो पालकालीन कला की एक दुर्लभ कृति है। राजकमल ने सही लक्ष्य किया था—तेरह साल की एक लड़की, गहरे ध्यान में डूबी हुई, एक ललित लेकिन सूक्ष्म मुस्कान होठों पर विराजित—यह रूप राजकमल ने देखा था। तांत्रिकों का यह सुप्रसिद्ध पीठ माना जाता था। आए दिन एक से एक अघोरी, कापालिक, तांत्रिक यहां आते रहते थे। कुछ तो काफी दिनों तक ठहर भी जाते थे। कुछ तो ऐसे भी थे, जो आस पास के जंगल झाड़ के बीच अपनी कुटी खड़ी कर लेते और वर्षों तक बने रहते थे। ऐसे कई तांत्रिकों से हमारी बातचीत भी होती रहती थी। ये तांत्रिक तारा को भीषण रूप में देखते थे। देखते थे कि वह शवारूढ़ा हैं, तलवार और खप्पर धारण करती हैं, खून पीती हैं, भीषण अट्टहास करती हैं। याद आता है कि अठारहवीं सदी के एक बंगाली भक्त रामप्रसाद ने भी तारा के इस भीषण रूप को मानने से इनकार कर दिया था, और माना जाता था कि वह तेरह साल की भोली भाली प्यारी सी लड़की हैं, जिनका मनपसंद शगल फुलबाड़ी में फूल 'लोढ़ना' है। राजकमल की राय रामप्रसाद से मेल खाती थी, जबकि हिंदू तंत्र में वर्णित तारा चक्र पूजा की गहरी जानकारी उन्हें प्राप्त थी, जिसका प्रयोग भी वह करते पाए जाते थे। इसमें तारा को भीषण बताया गया था।

इन सब चीजों को मिलाकर गांव की कुल छवि जो बनती थी, वह काफी धीर गंभीर थी। संस्कृत शास्त्रों के अध्ययन की उन्नत परंपरा थी। एक से एक प्रख्यात पंडित हो चुके थे, और साधक तांत्रिक भी। स्वयं राजकमल के प्रपितामह बबुनंदन चौधरी बड़े ही कामयाब साधक थे, और पितामह फूदन चौधरी ऐसे पंडित थे, जिनकी राय से कितने ही राजा महाराजाओं का धार्मिक कृत्य संपादित होता था। विद्वत्ता भी ऐसी कि संकट आने पर मिथिला के पंडित उनका मुंह ताका करते। लेकिन ये सारी परंपराएं मौखिक थीं। मंडन मिश्र के बाद के बारह सौ वर्षों में कोई लेखक इस गांव में पैदा हुआ हो, इसका कोई उल्लेख नहीं मिलता था। बचपन से ही हम सुनते आए थे कि उदयनाचार्य इसी गांव के थे। गांव के उत्तर पश्चिम किनारे में अवस्थित जंगल आचार्यवन के नाम से जाना जाता था। हम सुनते कि यह आचार्य, उदयनाचार्य ही थे, लेकिन शोधप्रज्ञों का निष्कर्ष इससे भिन्न था। उन्होंने समस्तीपुर जिले के करियन गांव को उनका निवास सिद्ध किया गया था। इसी प्रकार, प्रख्यात मनीषी पिता पुत्र डॉ. गंगानाथ झा तथा डॉ. अमरनाथ झा आदि के बारे में यह प्रसिद्धि थी कि सतरहवीं अठारहवीं सदी तक उनके पूर्वज इसी गांव के निवासी थे। वह श्रोत्रिय कुल के ब्राह्मण थे और उनका मूल 'पलिवार महिषी' था। अब भी, महिषी गांव के पूर्वी छोर, जो तारा मंदिर के आसपास है, को

'पलिवार का डीह' के नाम से जाना जाता है। इसी जगह मेरा घर भी है। तो, इस तरह यह तय था कि उनके पूर्वज कभी इस गांव के निवासी थे, पीछे माइग्रेट कर गए। गांव के कई पंडितों के घर में पुरानी पांडुलिपियां मिलती थीं। ऐसी कुछ पांडुलिपियां मैंने भी पंडित तीर्थदत्त झा के घर में देखी थीं, जो उनके पितामह की लिखी थीं। वे तिरहुता लिपि में थीं। पन्न पन्ने अलग हो चुके थे। अधिकांश पन्ने विभिन्न शास्त्रों की प्रतिलिपियां थे। संभव है, कुछ उन पंडितों की मौलिक कृतियां भी हों। लेकिन, आम तौर पर इसे कुल धरोहर मानकर छिपाकर रखा जाता था, और प्रकाशित करने का तो प्रश्न ही नहीं उठता था। इस प्रकार, मंडन मिश्र के बाद राजकमल चौधरी ही पहले व्यक्ति थे, जो लेखक के रूप में प्रसिद्ध हुए और जिनकी किताबें छपीं।

गांव में विद्या को महत्व देने का रिवाज था। यह और बात थी कि इसका अनिवार्य आधार वर्ण होता था। कुवर्ण का कोई आदमी विद्या हासिल कर ले, इसका प्रश्न भी नहीं उठता था। उसका तो प्राइमरी पास कर जाना भी बहुत भारी बात मानी जाती थी। कायस्थों की लेकिन बात दूसरी थी, पंजी व्यवस्था के ही जमाने से उन्होंने मैथिल सिस्टम में अपने लिए जगह बना ली थी। कविता जैसी चीज बनाने वाले दसियों लोग गांव में थे। तारा की स्तुति में गीत लिखनेवालों की तो बिलकुल भी कमी नहीं थी। लेकिन, इधर देखा गया था कि राजकमल का गुजरना गांव को एक नया सबक दे गया था। लोग अपने लिखे हुए को लेकर थोड़े गंभीर होने लगे थे। राजकमल के निधन के बारह वर्षों के भीतर ही हमने पाया कि पांच छह लोग ऐसे निकल आए थे, जिन्होंने अपने लिखे हुए को पुस्तकाकार प्रकाशित कराया था। इसमें सबसे प्रख्यात थे दिनेश्वर लाल आनंद। उन्होंने गद्य, शोध और ललित विधाओं की दर्जनों किताबें छपवाई थीं। बाद में वह बिहार प्रशासनिक सेवा में चले गए। दूसरे यशस्वी व्यक्ति थे डॉ. सच्चिदानंद चौधरी। वह त्रिभुवन विश्वविद्यालय में हिंदी के अध्यापक रह चुके थे और संस्कृत विश्वविद्यालय दरभंगा में कुलसचिव थे। रस सिद्धांत पर उनकी थीसिस पुस्तकाकार छप चुकी थी और आगे ललित लेखन की उनकी एक और किताब आई थी। हमारे एक जयंती समारोह में वह उपस्थित भी हुए थे। हमारे गांव के सुप्रसिद्ध पंडितों—पंडित गंगाधर झा तथा पंडित नारायण झा की पुस्तिकाएं भी प्रकाशित हो चुकी थीं। ये शास्त्रीय विषयों की गद्य पुस्तकें थीं। कालिकानंद ठाकुर गीत लिखते थे, उनके गीतों का एक संकलन भी प्रकाशित हुआ था। बिंदेश्वरी लाल दास ने एक खंडकाव्य लिखा था, जो अठारहवीं सदी के गोपालक संत कारू खिरहर के विषय में था, यह भी प्रकाशित हो चुका था। मिडिल स्कूल में हमारे प्रधानाध्यापक थे देवनारायण झा। शिक्षोन्नति के वास्ते वह प्राण न्योछावर करने का जुनून रखते थे। वह हमारे गुरु थे और विद्या के प्रति प्रेम का पाठ हमने उन्हीं से सीखा था। वह गोलमा गांव के रहनेवाले थे, मगर घर परिवार को त्यागकर स्कूल के ही होकर रह गए थे। वह भी कविताएं लिखते थे। महिषी की परंपरा, इसके पर्यावरण, इसकी विलक्षणता को लेकर जो कविताएं उन्होंने लिखी थीं, उनका भी एक संकलन 'माहिष्मती' नाम से प्रकाशित हो चुका था।

इन तमाम लोगों में जो भी अब तक मौजूद थे, सबको हमने अपने जयंती आयोजन में और विविध कार्यक्रमों में जोड़ लिया था। इसका परिणाम बहुत गजब का निकला था। एक तो हम, अकृतकार्य तरुण, पढ़ने लिखनेवालों की दुनिया में स्वीकृत कर लिए गए थे, दूसरे नई पीढ़ी में लिखने पढ़ने के प्रति जबर्दस्त उत्साह पैदा हुआ था।

दो साल के भीतर दो दर्जन के करीब नए रचनाकार सामने आ गए थे। वशीकांत 'अमलतास' पहले से भी कुछ कुछ चीजें लिखते रहे थे। अब वह विधिवत मैथिली में कविताएं और गजलें लिखने लगे। दीपक चौधरी भी उन्हीं दिनों हिंदी में कविताएं लिखने लगे थे, बाद में वह अंग्रेजी कविता लेखन की ओर उन्मुख हुए। केदार कपिल की सक्रियता एक विशिष्ट बात थी। अब तक उन्होंने सिर्फ तारा की स्तुति में छंद लिखे थे। अब जो वह मैथिली में तेज तर्रार गजलें लिखने लगे, वह मैथिली की

इस विधा की धरोहर हैं। बलवंत, जयंत कुमार चौधरी, लालसा चौधरी, प्रेमकांत साधक, दिलीप कुमार मिश्र, विद्यापति चौधरी, कुमोद मोहन मिश्र, उषा चौधरी—कितने ही नाम थे, जो उन दिनों अक्षर की दुनिया में चमक पैदा कर दिया करते थे। उन सबकी कविताओं को याद करना आज भी सुख देता है।

आठ दस लड़कों की हमारी टीम थी। अधिसंख्य लड़के गांव के राजकीय संस्कृत उच्च विद्यालय के छात्र थे। मध्यमा पास कर लेने के बाद हमें गांव के ही संस्कृत कालेज में शास्त्री की पढ़ाई करनी थी। हम जो भी सपना देखते, मान लीजिए कि आसमान में उड़ने का सपना, तो मनोनिर्मिति हमारी ऐसी थी कि वहां भी हम गांव को लेकर ही उड़ने का सोचते। और गांव की जो हालत थी, उसे आप विपन्नता की पराकाष्ठा कह सकते हैं।

पिछले डेढ़ दौ सौ बरस से कोशी हमारे गांव से होकर बहने लगी थी। महिषी हमेशा से मिथिला का अंश रहती आई थी, लेकिन कोशी ने इसे काटकर रख दिया था। कोशी की चार पांच धाराएं थीं। सन 54-58 के दौरान कोशी को बांध दिया गया था। यह बांध गांव के पच्छिम से गुजरता था। महिषी को बांध के भीतर पड़ने से बचा लिया गया था, जबकि तकनीक विशेषज्ञ इसके विरुद्ध थे। इसमें मुख्य भूमिका तारा की थी, जिनका प्रभाव नेताओं पर भी था और इंजीनियरों पर भी। लोग सोचते थे कि तारा मंदिर यदि तटबंध के भीतर पड़ा, और कोशी ने इसे लीला तो जिम्मेवारों का वंश नाश हो जाएगा। पंडितों ने भी इस बात को हवा दी थी। उस समय यही अच्छा माना गया था। तब कौन जानता था कि मनुआं, हड़ाशंखिनी और मरिची के रूप में कोशी की छाड़न फिर भी बची रह जाएगी कि पूरे गांव की कृषि भूमि को सालोभर पानी में डुबोए रखेगी। राजकमल जब छोटे थे तो इसी मनुआं नदी में बंशी खेलने जाते थे। उनकी रचनाओं में मनुआं का जिक्र एक ऐसी नदी के रूप में आया है, जिसने उनके बचपन को रंगीनी दी थी। हमने अपने बचपन की रंगीनी मरिची से पाई थी। लेकिन यह सिर्फ बचपन भर की बात थी। आगे हमें बड़ा हो जाना था और हमेशा इस बात के लिए रोते रहना था कि जमीन तो हमारे पास बहुत है पर उसमें पूरे साल भर जलजमाव बना रहता है और इतना अनाज भी उपज नहीं पाता कि हमारे चूल्हे सालो भर जलते रहें।

कोशी हर साल अपने साथ बालू लाती थी और सौगात के रूप में छोड़ जाती थी। और, हर साल बीघे की बीघा जमीन कोशी काटकर बहा ले जाती। कल तक जहां सोनाकटोरा खेत होता था, वहां अब प्रचंड धारा तांडव करती नजर आती। कभी कभार गंगबरार जमीन भी निकल आती, लेकिन इसे खेती के लायक बन पाने में वर्षों की देर होती थी। इस बीच यदि एक बार फिर से कोशी का मिजाज बदल जाए तो वह बरार जमीन भी शिकस्त हो जाती थी। यह सब हर साल चलता रहता था। फिर, कोशी की छाड़न धाराओं की चौबगली जंगल था। उसमें तरह तरह के पेड़ पाए जाते। कुछ ऐसे भी पेड़ मिलते थे, जो इस इलाके के नहीं थे, पहाड़ी क्षेत्रों के थे। उनके बीज कोशी अपने गर्भ में छिपाकर लाती और यहां उपजा जाती थी। जंगल जंगली जानवरों से भरे रहते थे। बंदरों का उत्पात इलाके भर में नामी था। कोशी की मार खाकर भी जो अनाज पौधों में लगे रह जाते, उन्हें बंदर मार ले जाते थे। फिर उनके सहयोगी नीलगाय और जंगली सूअर थे। इन जंगलों में चीते तक पाए जाते थे। कुल मिलाकर गांव विपन्न था, और हर किसी को तारा का ही सहारा था, जो इन हालात में भी चेहरे पर मुस्कान और दिल में हिम्मत बंधाता था कि लोग अगले साल फिर से खेती करने का मन बना लेते थे।

हमारे टीम के जो आठ दस लड़के थे, उन सबों के परिवार का गुजर बसर खेती किसानी से ही होता था। इधर खेती की जो हालत थी उसमें किसका गुजर हो पाता? तो, 'साइड बिजनेस' के तौर पर यह था कि जो ब्राह्मण थे, वे पशुपालन करते, मतलब गाय या भैंस पालते, जिसका दूध बेचकर परिवार चलता। जो दलित वर्ग के थे, वे मखाना फोड़ने का काम सपरिवार मिलकर करते। पढ़ाई लिखाई

के साथ साथ हर किसी को कुछ न कुछ उपार्जन का काम जरूर ही करना पड़ता था। आशुतोष गाय चराने जाते थे। इस कारण हमारे सिवाय उनका एक और समाज, चरवाहों का समाज था। मयंक के पिता घर छोड़ भागे थे। उनकी जमीन तटबंध के भीतर पड़ती थी, जहां बटाईदार खेती करते थे। उनका अतिरिक्त समाज कोशी पीड़ितों का बटाईदार समाज था। कुमोद का घर जमींदारों का परिवार था, वहां जलकर भी जोते जाते, मखाना भी उपजाया जाता, आम के बगान भी थे। उन सबमें उनको समय देना पड़ता। मेरे घर में बकरियां पाली जातीं। दुधारू बकरियां थीं, जो गांव में नामी थीं। हमारे घर में अलग से दूध नहीं लिया जाता था। हमारा घर गांव से बाहर तारा मंदिर के आस पास था, सो बकरियों के लिए चारा की व्यवस्था करना भारी बात नहीं थी। फिर, तारा स्थान में जो भजन कीर्तन और सत्संग चलता था, उसकी व्यवस्थापन समिति का मैं भी एक सदस्य था। उन कीर्तनियों, भजनियों और सत्संगियों का समाज मेरा एक और अतिरिक्त समाज था। फिर, गांव का जो सार्वजनिक पुस्तकालय था—भारती मंडन पुस्तकालय—उसका पुस्तकालयाध्यक्ष भी मैं ही था। इन सब में हमारा समय जाता था। अब सोचूं तो यकीन ही नहीं होता कि उन दिनों भी क्या सच में चौबीस घंटों की ही दिन रात हुआ करती थी!

जयंती समारोह की तैयारी हम अमूमन दो माह पहले शुरू कर देते थे। यह अक्टूबर का महीना होता था, जिस बीच दुर्गापूजा से लेकर छठ तक की छुट्टी हुआ करती थी। सबसे पहले हम गांव घूमते। गांव अनेक टोलों में बंटा हुआ था। पुबारी टोला था, पाठक टोला था। सिंहटोल था, जिसे पहले लोग 'रजपुत्ता टोल' कहते थे। चमरटोली थी, दुसधटोली थी। मुसहरी (मुसहरों का टोला) दो अलग अलग भागों में बसा था। बुधवारय के टोले को आम तौर पर 'चौधरी टोल' कहा जाता, जो रामशाला के उत्तर और दक्षिण की ओर दो भागों में बंटा था। हर टोले के अपने मान्यजन थे, जिनसे हमारा संपर्क था। फिर उन टोलों के तरुण युवा थे, जो किसी न किसी रूप में हमसे जुड़े थे। व्यवसायियों का टोला गांव के पच्छिम उत्तर कोने पर था, जहां कई उत्साही अग्रज थे, वे हमारे अभियान में हर तरह से हाथ बंटाते थे। उस टोले को 'बाजार' कहा जाता था, क्योंकि गांव में जो चंद अच्छी दुकानें थीं, वे वहीं थीं। पढ़ने लिखनेवाले लड़के भी उस टोले में कम न थे, लेकिन वे अपने तक सीमित रहते थे। हमने उनको भी साथ जोड़ने की कोशिश की थी, पर असफल रहे थे। हम हर टोले में जाते। कार्यक्रम का हमारा बजट काफी हल्का होता था। शुरुआती वर्षों (1979-80) में तो हम 150-200 रुपये में पूरा कार्यक्रम संपन्न कर लिया करते। लेकिन, हमारी कोशिश होती कि अधिक से अधिक लोगों से चंदा लिया जाए, सबका योगदान स्वीकार किया जाय।

फिर हम दूरदराज के साहित्यकारों को पत्र लिखते। जितना भी जो हमारा संपर्क क्षेत्र था, सभी को पोस्टकार्ड लिखकर कार्यक्रम की सूचना देते और अनुरोध करते कि वे हमारे कार्यक्रम में आएं। फिर, साइकिल से हम सहरसा जाते, सुपौल जाते। वहां सभी साहित्यकारों से व्यक्तिगत रूप से मिलते और यह सुनिश्चित कराते कि हमारे कार्यक्रम में आएं। इस संपर्क अभियान के दौरान हमें कई प्रकार की सलाह मिलती, सुझाव मिलते, नए आइडिया मिलते, जिन्हें हम बहुत उत्साह से सुनते थे और आपस में बात विचार कर उसे लागू करने की कोशिश करते थे।

असल में, हम गांव की विस्मृति से राजकमल चौधरी को निकालना चाहते थे, या कि स्वयं अपना जीवन निर्माण कर रहे थे, इसका निर्णय करना बहुत कठिन था।

दो

उपेंद्र चौधरी को हमलोग 'परदेसी काका' कहते थे। 'परदेसी काका' क्यों कहते थे इसकी कोई वजह

नहीं थी। परदेसी वह अगर कभी रहे भी हों, तो अब नहीं थे। वजह सिर्फ और सिर्फ यही थी कि राजकमल चौधरी उन्हें 'परदेसी काका' कहते थे। एक बार हमने उनसे पूछा भी था कि फूलबाबू आपको इस नाम से क्यों पुकारते थे। वह जरा मुस्कुराए थे, थोड़ा अतीत की ओर झांका था, फिर उन स्मृतियों में डूब गए थे। बात यह थी कि रिश्ते में भले वह राजकमल के चाचा लगते हों, लेकिन थे दोनों दोस्त। राजकमल का पारिवारिक माहौल अलग था। पिता ने नई शादी कर ली, और वे लगातार उपेक्षित होते गए, विद्रोही होते गए। यह बात उपेंद्र बाबू के साथ नहीं थी। परिस्थितियां दोनों की अलग अलग मनोनिर्मिति रच रही थीं यह जरूर था, लेकिन सबके बावजूद दोनों बचपन के यार थे, साथ साथ मनुआं नदी में बंशी खेली थी, साथ साथ कोशी के जंगलों में खरहे का शिकार किया था, साथ साथ तारा से जीवन में आगे बढ़ने का आशीष मांगा था। कुल मिलाकर बात यह थी कि आगे भले ही राजकमल को किसी और घाट लगना हो, दोनों एक ही नाव पर सवार होकर 1954 ई. तक पहुंचे थे। परदेसी काका ने बताया कि बात कोई और नहीं थी। वह जमाना था कि मणींद्र अगर कविता लिखता था तो, उपेंद्र भी लिखता था। कालेज में पढ़ने लिखनेवाले सभी लिखते थे। मणींद्र ने अपना पेननेम 'स्वर्णफूल' रखा, तो जरूरी था कि उपेंद्र भी अपना कुछ रखते, उन्होंने 'परदेसी' रखा। उपेंद्र चौधरी 'परदेसी'। कुछ दिन बाद मणींद्र ने तो अपना नाम बदलकर 'पुष्पतीर्थ' कर लिया, और आगे जाकर 'राजकमल'; लेकिन वह 'परदेसी' बने रहे। आगे उनकी कविता ही छूट गई।

राजकमल ने जो एक बार उन्हें 'परदेसी काका' कहा तो ताउम्र कहते रहे। राजकमल के बचपन और विद्यार्थी जीवन के संबंध में परदेसी काका से अक्सर हमारी बात होती थी। घंटों घंटों तक होती। कई बार तो काकी भी हमारे साथ होतीं, जिन्हें हम राजकमल के ही स्टाइल में 'परदेसी काकी' कहा करते थे। बातें होतीं, किस्से होते। मैं उनके परिवार में काफी घुला मिला था। उनके मझले लड़के अजित चौधरी मेरे मित्र और हमारी टीम के सदस्य थे। उनके बड़े लड़के डॉ. अरविंद मेडिकल कालेज के छात्र थे, जब हमारे प्रथम जयंती आयोजन में उन्होंने अपनी कविताएं पढ़ी थीं। अब वह ऑर्थोपेडिक सर्जन थे और किशनगंज में पोस्टेड थे। वह हमारे 'भैया' थे, और छोटे मुत्युंजय के हम 'भैया' थे। परदेसी काकी बहुत ही शालीन, समझदार और शिक्षित महिला थीं। चीजों को सही परिप्रेक्ष्य में देखना उन्हें आता था। यही कारण था कि राजकमल, जिन्हें उन्होंने निर्माणाधीन अवस्था से ही देखा परखा था, को वह समझ सकती थीं। हमारी जब बात होने लगती तो कई बार यह होता कि आधा किस्सा परदेसी काका बताते तो बाकी हिस्सा परदेसी काकी सुनाने लगती थीं। घर के तमाम लोगों के साथ बैठकर हम उन किस्सों में डूब जाया करते थे। परदेसी काका विचार प्रधान व्यक्ति थे। शिक्षक की वृत्ति ने उन्हें और भी अधिक मांज दिया था। इसलिए वह जो कुछ बताते, उसमें घटनाएं कम होतीं, विश्लेषण ज्यादा होता। समझिए कि राजकमल नामक व्यक्ति के पाठ को खंडों, अध्यायों में वर्गीकरण करके वह सिद्धांतीकृत कर देते थे। इससे हमें राजकमल को समझने में काफी सुविधा होती। कहानियों का मजा तो तभी था जब काका काकी साथ होते थे। यह सुयोग हमें बार बार मिले, इसकी हम चतुर कोशिशें भी किया करते थे। कभी पप्पू (हमारे मित्र अजित चौधरी का घरेलू नाम) बात बढ़ाने के लिए काकी से मजाक में कहते—उनको तो तुमलोग लोफर समझती होगी, घर में तो नहीं ही घुसने देती होगी! खिलाती पिलाती तो नहीं ही होगी!'

कि बस परदेसी काकी शुरू हो जाती थीं—ऐसा काहे बोलते हो रे! लोफर तो तुम हो। वो काहे लोफर रहेंगे! उनके जैसा भद्र आदमी तो मिलना मुश्किल है। और, घर में आने की बात करते हो? वो तो आते थे और जबर्दस्ती पांव छूकर सीधे रसोईघर में घुसते थे कि बहुत भूख लगी है, देखना है कि क्या सब चीज है, जिसको खाया जा सकता है। लाख बोलो कि आप बताइए न, क्या खाना है, अभी तुरंत हम बना देते हैं। लेकिन नहीं। उनको तो वही खाना है, जो बना हुआ है। बरतन 'उघार

उघार' के देखते। कोई चीज पसंदवाली दिख जाए तो वही खाएंगे। कभी क्या तो मूढ़ी और सब्जी। कभी क्या तो रोटी और चोखा। और, कभी कभी तो क्या होता कि आते ही बोलते–काकी, आप ही से बात करने के लिए हम कलकत्ता से आए हैं। अभी तुरंत हमको आपसे दो घंटा समय चाहिए। फिर, आज ही हमको वापस होना जरूरी है। उनकी कई तरह की उलझन को हम सुलझाते थे, सो वे खुद मानते थे। और, तुम बोल रहे हो कि लोफर समझते थे! चुप रहो!

फिर तो हम सब मिलकर काकी पर प्रश्नों की बौछार कर दिया करते। अब लीजिए तीन चार घंटे तक चलनेवाला सत्संग शुरू हो गया! इस बीच यदि कोई जरूरी काम आ जाए तो वह कर लेतीं, लेकिन सत्संग प्रसंग समाप्ति तक अनवरत चलता रहता था। और, नए नए प्रसंग पैदा करने के तो मानो हम उस्ताद थे!

परदेसी काका का व्यक्तित्व लेकिन, बिलकुल अलग था। वह बातों का वजन तौलते थे। बातें ऐसी हों, जिनके भीतर कुछ जीवन मूल्य हों, वस्तुनिष्ठता हो। वह उन मैथिल बुद्धिजीवियों जैसे थे, जिनके मन में समस्या के प्रति, मान लें कि अत्याधुनिकता के प्रति पूरी सहानुभूति पाई जाती थी, लेकिन रास्ता अगर उन्हें निकालने दिया जाए तो निकाले जानेवाले रास्ते का समर्थन परंपरा से जरूर प्राप्त करते थे। अगर मान लें कि परंपरा ने समर्थन नहीं दिया तो वह चुप रह जाएंगे, बोल सह लेंगे, चाहे जो भी कुछ कर लेंगे, लेकिन उस नए रास्ते पर चलेंगे नहीं। दोनों मित्रों का यह आंतरिक अंतर, हमने निर्णय लिया था, कि बचपन की सुरक्षित असुरक्षित परवरिश की देन था। लेकिन यही कारण था कि परदेसी काका, मधुसूदन चौधरी, जिन्हें वह 'लालभाई' कहते थे, के बहुत ही विश्वासपात्र थे। और, हमारे यहां का यह आम रिवाज था कि बेटे का कोई ऐसा दोस्त जो पढ़ने में भी अच्छा हो, व्यवहार में भी, और कुल मर्यादा के निर्वाह में भी, तो उससे बेटे की जासूसी करवाई जाती थी, रिपोर्ट लिए जाते थे। 1947 से 1953 के बीच ऐसे भी अवसर कई बार आए, जब बाप बेटे के बीच तमाम संवाद सूत्र ध्वस्त हो जाते, बातचीत भी बंद, चिट्ठी पत्री भी बंद–तो ऐसे हालात में परदेसी काका ही संबंध सेतु बनते थे। उन्हीं के माध्यम से लालकाका आदर्श का पाठ पढ़ाते, नेक सलाहें देते। और, उन्हीं के माध्यम से फूल बाबू पिता से जरूरत के पैसे, जरूरत की सुविधाएं प्राप्त करते। घर में दोनों साथ थे और कालेज के हॉस्टल में भी दोनों साथ थे। लाल काका का अगर सुनें तो परदेसी काका राजकमल के 'लोकल गार्जियन' थे। राजकमल जब घर से या हॉस्टल से फरार होते, और, ऐसा अक्सर होता रहता था, तो दोनों मित्रों को अपना अपना धर्म ईमानदारी से निर्वाह करना पड़ता था। दोनों ही इसके लिए प्रतिश्रुत थे और दोनों ही इसका सम्यक् रूप से पालन भी करते थे। वास्तव में, बिल्कुल सही सही, राजकमल कहां हैं, क्या कर रहे हैं, इसकी खबर पत्र के माध्यम से लगातार परदेसी काका को भेजनी होती थी। और वह उधर लाल काका को दिलासा दिलाए रखते थे कि चिंता की कोई बात नहीं है। जब भी कभी चिंताजनक हालात बनने को होते, परदेसी काका राजकमल को बुला लेते और यह निर्धारित 'धर्म' था कि सारा कुछ छोड़ छाड़कर उन्हें तुरंत लौट आना पड़ता।

पिता द्वारा करवाई जानेवाली यह जासूसी बदस्तूर हमारे जमाने तक कायम थी, और शायद यही आगे भी होते रहनेवाला था। हमारे मित्र मयंक के पिता सरकारी नौकरी में थे लेकिन विरक्त, बैरागी टाइप की उनकी मनोवृत्ति थी। झोंक में आकर उन्होंने नौकरी छोड़ दी थी। तब खेती करने लगे। कोशी की बाढ़ और जलजमाव की वजह से जब खेती गुजर बसर के लायक पेशा नहीं रह गई तो उन्होंने उसे भी छोड़ दिया। संन्यासी हो गए। उनके सबसे बड़े लड़के मयंक ही थे। गोतियों की बेईमानी से परिवार पहले से ही संत्रस्त था। और, घर का मुखिया भाग खड़ा हुआ! आप समझ सकते हैं कि सतरह अठारह साल का हमारा दोस्त मयंक किस तरह से घर सम्हालता होगा। लेकिन, उनके संन्यासी पिता दो चार महीनों में कभी आ धमकते। एकाध दिन रुककर फिर चले जाते। इस बीच, ज्यादा

से ज्यादा बातचीत मुझसे करते। वही, मयंक के लिए आदर्श के उपदेश, और नेक सलाहें! मैं उनसे क्या कहता? यही कहता था कि चिंता की कोई बात नहीं है, जबकि सच में भी चिंता की कोई बात नहीं थी। मयंक सब सम्हाल रहे थे।

हमारे जमाने की यह सुविधा थी कि राजकमल का 'जनम देखनेवाले' बहुत सारे लोग गांव में अब भी मौजूद थे। उन्होंने उनका बचपन देखा था। बल्कि कहना चाहिए, सब तो थे ही, बस दो ही लोग अनुपस्थित हो गए—राजकमल और उनके पिता। बाकी तो बड़े बाबूजी थे ही, दोनों चाचा थे ही, छोटी मां थीं ही। अपना टोला और गांव भर के टोलों को मिलाकर देखा जाए तो पचासों लोग थे। मगर, कायदे से हमें बता सकें, ऐसे लोग नहीं थे। सच पूछा जाए तो इन सब 'आंखों देखी देहों भोगी' चीजों में ऐसा भी कुछ है जो बतानेवालों के लिए बताने लायक है और सुननेवालों के लिए सुननेलायक, यह सोचना भी अधिकतर लोगों के लिए बेतुकी बात थी। हमारी क्रियाशीलता से अब माहौल बदल रहा था तो इन बातों का मोल भी बढ़ रहा था। बावजूद इसके, कायदे से हमें सारी बातें बता सकें, ऐसे लोग फिर भी कम थे। ऐसे तो और भी कम जिन्हें हमें ये सब बताने की उपयोगिता प्रतीत हो। और, हमारे साथ ये सब बातें शेयर करते हुए राजकमल की सुधि की वर्षा में वह खुद भी भींगे, आनंद आनंद हो जाए, ऐसे व्यक्ति तो वही अकेले परदेसी काका थे। उनके पास हमें बताने लायक बातें भी बहुत थीं।

हम मानते थे कि राजकमल ऐसे जीनियस थे, जिन्हें अपनी इयत्ता साबित करने का मौका नहीं मिल सका। और, मानते थे कि जरूर इसमें राजकमल की गलती भी थी, लेकिन समाज सपोर्ट करता तो फिर बात बन सकती थी। और, हम चाहते थे कि फिर इस गांव में ऐसा हादसा कभी नहीं हो। लिखा पढ़ी जैसी चीजों का भी महत्व समझा जाए। विद्या पर गांव को घमंड था, लेकिन हम बताना चाहते थे कि विद्या का मतलब सिर्फ 'अइउण् ऋलृक्' नहीं होता है, वह साहित्य भी 'विद्या' ही है जो हमारे युवा लेखक लिख रहे हैं। हमारे आइकन हमें मिल गए थे। वह राजकमल चौधरी थे। यही कारण था कि राजकमल के बारे में हर बात, चाहे वह कितनी भी तुच्छ नजर क्यों न आती हो, हमारे लिए महत्वपूर्ण थी।

और, इसी बीच एक दिन यह हुआ कि बचपन की स्मृतियों के बारे में राजकमल की एक आत्मरचना हमें हाथ लग गई। उसमें उन्होंने लिखा था कि अपने एक दोस्त के घर में उन्होंने रास लीला की एक विशाल पेंटिंग देखी थी, जिसमें चौरासी गोपियां थीं, और सभी के साथ एक एक कृष्ण थे। राजकमल ने बताया था कि जब भी उन्हें उस बैठकखाने में जाने का मौका मिलता, वह बुरी तरह उस चित्र से बंध जाते थे। किसी चित्र से उस तरह बंधना उनके जीवन में फिर कभी नहीं हुआ। समूची दीवार को, समूचे कमरे को अपनी शक्ति और अपनी विशालता से वह चित्र आक्रांत कर लेता था। उपाय नहीं रह जाता था, उसके प्रभाव से निकल भागने का। '...मैं बंधा रह जाता था—मंत्रमुग्ध, और कई मिनट बीत जाते थे, यानी (फिल्मी लहजे में कहें, तो) कई सदियां बीत जाती थीं।' और, उन्होंने लिखा था कि यह चित्र देखकर उनके भीतर यह चाहना जगी थी कि हमें यही करना है। चौरासी न सही, पांच दस आदमी तो हो ही जा सकते हैं हम। यह मंथन बहुत समय तक उनके भीतर चलता रहा। तब एक दिन उपेंद्र काका से उन्होंने पूछा था कि क्या यह संभव है? उपेंद्र काका ने भी ताल में ताल मिलाते हुए कहा था कि आदमी से क्या संभव नहीं है? लेकिन उन्होंने पूछ दिया था कि तुम एक फूलबाबू न रहकर दस फूलबाबू क्यों बन जाना चाहते हो! राजकमल के पास इसका जवाब नहीं था। और, न उपेंद्र काका के पास तर्क थे कि उन्हें साफ साफ मना कर दें।

राजकमल ने लिखा है कि वह चित्र जीवन भर उन्हें पागल करता रहा। उन्होंने समाधान ढूंढ़ा

था, लेकिन ढूंढ़ नहीं पाए थे। जो मिला था उससे तसल्ली नहीं हुई थी क्योंकि वह दूसरों का समाधान था। वह दूसरों को ही सूट कर सकता था। अपना समाधान तो खुद ही से ढूंढ़ा जाना था। और, वह उन्हें नहीं ही मिला था, इसकी भी कोई पक्की खबर नहीं थी। अपनी जिस आत्मरचना में उन्होंने यह वाकया लिखा था वह अधूरी रह गई थी। यह 1966 की बीमारी वाला दौर था। उन्हीं दिनों अपने आपके बारे में एक उपन्यास लिखने का आइडिया उन्हें आया था। दो बार अलग अलग ढंग से उन्होंने इसे लिखने की शुरुआत भी की थी, लेकिन एकाग्रता नहीं बनाए रख सके या पता नहीं किस कारण से, उसे वह आगे लिख नहीं सके। उनकी अस्पताल डायरी में इसकी एक रूपरेखा भी बनाई मिलती है, जो प्रकाशित भी है। जो भी हो, समाधान से वह संतुष्ट नहीं थे।

रासलीला वाले प्रसंग में उपेंद्र काका का उल्लेख मिलता था। यह हमें बात बढ़ाने का अच्छा अवसर प्रतीत हुआ। फिर तो उनसे बरसों बरस तक किस्तों किस्तों में बहुत ही सारी बातें हुईं। इनमें से कई बैठकियों में गांव के नवयुवक भी होते। हम उन्हें उत्साहित करने के लिए उन्हीं के नाम से इंटरव्यू 'मिथिला मिहिर' में भेज दिया करते। बहुत बाद में जाकर देवशंकर नवीन भी हमारी टीम में शामिल हुए थे, तो कुछ बैठकियों में वह भी थे, और इन सामग्रियों का उपयोग उन्होंने भी अपनी थीसिस में किया था।

परदेसी काका बताने लगे कि हां, सही बात है। बचपन से ही रासलीला का कृष्ण उसके हृदय में बसा हुआ था। और, यह बात तो वह बार बार पूछता था कि हमारे आपके जैसा आदमी कृष्ण जैसा आचरण क्यों नहीं कर सकता? उसके दिमाग में यह बात बैठी हुई थी कि कुछ अजूबा करना है। जैसे चौरासी गोपियों के साथ अलग अलग कृष्ण को देखकर लोग अचरज करते हैं, कुछ वैसा ही रोमांच हर आदमी के जीवन में होना चाहिए। वह कृष्ण को भगवान मानने के लिए भी तैयार नहीं होता था या फिर, यह कहने लगता था कि कृष्ण अगर भगवान हैं तो हम भी भगवान हैं। उसका जीवन विविधता से भरा हुआ था। हरेक चीज की जड़ तक पहुंचने की ललक उसमें रहती थी। लालभाई को इसी से परेशानी होती थी। उनका सिद्धांत था कि हरेक काम के लिए एक उचित समय होता है। अभी कोर्स की पढ़ाई का समय है, इसमें पिछड़ गया तो सारी काबिलियत घुसड़ जाएगी। वे हमसे उम्मीद करते थे कि हम उसकी निगरानी करें। लेकिन हम दोनों तो दोस्त थे, कौन किसकी निगरानी करे!

बचपन के उन दिनों में राजकमल का क्रियाकलाप कैसा था, पढ़ाई लिखाई में कैसे थे, यह पूछने पर उन्होंने बताया था—उत्तमोत्तम विद्यार्थी का जो लक्षण होता है, वह सारे गुण फूलबाबू में थे। तब तक लालभाई के आदेश की अवज्ञा भी वह नहीं करता था। 108 बार गायत्री जाप किए बगैर अन्न नहीं ग्रहण करता। धार्मिक क्रियाकलापों में भी आगे आगे रहता। गीता और दुर्गासप्तशती के सारे अध्याय उसे कंठस्थ थे। किसी भी चीज का व्यसन नहीं था। खेलकूद हो या डिबेट या कवितापाठ प्रतियोगिता, हर चीज में अग्रसर रहता। लेकिन जानते हो, यह सारी चीज वह लालभाई की खुशी के लिए करता था। भीतर उसका मन आकुल रहता था, यह हम जानते और महसूस करते थे। हजारों प्रश्न उसके पास थे, जिनका उत्तर किसी के भी पास नहीं था। लालभाई के पास तो बिल्कुल ही नहीं।

—सुनते हैं कि पिता उनकी पिटाई भी बहुत करते थे!

—हां। वे पुराने विचार के अभिभावक थे। बच्चे को शासन में लाने के लिए मारपीट जरूरी समझते थे। उनका गुस्सा भी बहुत खराब था। बिगड़ते तो फिर जल्दी सम्हाल में नहीं आते थे। फूलबाबू को विद्रोही बनाने में इस चीज का भी बहुत रोल था। लेकिन, बाद में मारपीट बंद कर दी थी। फिर भी बिगड़ते तो बहुत भला बुरा कहते। इस लड़के से उनको बहुत प्रेम था। लेकिन, हम देखते कि धीरे धीरे वे उससे निराश होने लगे थे। हम उनको बताते भी कि निराश होने की कोई बात नहीं है, फूलबाबू अच्छा ही करेगा। लेकिन, उनका मन नहीं मानता था।

हमने कहीं पढ़ा कि राजकमल ने एक जगह लिखा है—नई मां के आने के पहले पिताजी मेरा परिचय एक प्रतिभाशाली लड़के के रूप में करवाते थे, परंतु नई मां के आने के बाद उनकी नजर में मैं सबसे कम प्रतिभाशाली और निरीह बन गया। —इसे हमने परदेसी काका को दिखाया। पूछा—ऐसी बात आप भी महसूस करते थे?

—हमारे महसूस करने से क्या होगा? हम तो कहेंगे, नहीं महसूस करते थे। लेकिन हमारे कहने से फायदा? असली तो बात यह है कि वह क्या महसूस करता था, क्यों वह विद्रोही हो गया! फिर, मौलिक बात यह है कि बचपन से ही वह अपने पिता से बहुत प्रेम करता था। पिता पर उसको गर्व भी बहुत था। अब इसे क्या कहोगे? लेकिन जानते हो, लालभाई का हृदय था मंगलकामनाओं से भरा एक पिता का हृदय। जितना प्रेम था, उतनी ही आशंका भी थी। सन 47 में फूलबाबू ने मैट्रिक किया। बी. एन. कालेज पटना में इंटरमीडिएट में उसका एडमिशन कराया गया। फूलबाबू जब पटना विदा होने लगा, लालभाई ने समझो, चार सौ बियालिस निषेध मंत्र उसे दिए—ऐसे नहीं करना, ये चीजें नहीं खाना, इन जगहों पर नहीं जाना, ये नहीं देखना, अमुक के साथ नहीं रहना। फूलबाबू उमंग में था। पहली बार का मौका था जब वह खुली हवा में सांस लेने, घर से बाहर जा रहा था। लालभाई तो आशंकाग्रस्त होकर शुभेच्छापूर्वक कह रहे थे। लेकिन, फूलबाबू बेमन भाव से चिढ़कर इन्हें ग्रहण कर रहा था। उसने हमें बताया था कि उसी दिन उसने तय कर लिया था कि जो सब नहीं करने को कहा गया है, वही सब करना है। और, कुछ ही दिनों में लालभाई को उसकी इतनी शिकायतें मिलीं कि वह आजिज आ गए। और, उन्होंने तय किया कि फूलबाबू अब पटना में नहीं रहेगा।

—तो, क्या वह पढ़ाई नहीं करते थे?

—अरे, पढ़ाई उससे ज्यादा कौन कर सकता था? स्मृति भी उसकी इतनी तेज थी कि एक बार का पढ़ा हमेशा के लिए याद रह जाता। वह कहता था कि दिमाग में चित्र बन जाता है! दूसरी बात यह कि हमलोग आठ घंटा पढ़के जितना सीखते, उसके लिए आधा घंटा काफी होता। वह पढ़ाई तो करता था, लेकिन अपनी रुचि का। कोर्स का अनुशासन उसे पसंद नहीं था। और, असली बात यह थी कि लालभाई पुरानी विचारधारा के आदमी थे। उनकी मान्यता थी कि पढ़ाई जो भी करते हो करो, लेकिन तुम्हारी सामाजिक छवि आदर्श होनी चाहिए। पवित्र और धार्मिक। फूलबाबू इसी को तोड़ रहा था। उसका कहना था कि यह पाखंड है!

—पहले जो वे खुद करते थे, अब उसी को पाखंड बताने लगे! यह कैसे हुआ होगा?

—घर के लोग कहते थे कि गलत संगति में पड़ गया है। लेकिन, उससे जो हमारी बात हुई, और उसके दोस्तों से जो हम मिले, हमें ऐसा महसूस नहीं हुआ था। देखो, हुआ यही कि पिता की छाया से वह बाहर निकल आया। अपने ऑरिजिनल फॉर्म में आ गया।

हमने पूछा—इसके बाद क्या हुआ?

—लालभाई ने हमें बुलाया। हम मारबाड़ी कालेज, भागलपुर में आई. कॉम में थे। फूलबाबू को भी बुलाया गया। फूलबाबू गछने को तैयार ही नहीं कि वह कोई भी गलत काम करता है। लालभाई ने तय कर दिया कि आगे की पढ़ाई मारबाड़ी कालेज में करनी होगी। फूलबाबू को जरा सा भी मलाल नहीं—ठीक है, भागलपुर ही सही। हमें बनाया गया उसका अभिभावक। इसमें भी उसे कोई ऐतराज नहीं। बल्कि, खुशी ही हुई उसे क्योंकि हम दोनों अच्छे दोस्त थे। उसने कहा कि उपेंद्र काका कामर्स पढ़ते हैं तो मैं भी कामर्स ही पढूंगा। लालभाई मान गए। और वह भागलपुर आकर मेरे साथ रहने लगा।

—तो उनमें क्या पाया आपने?

—पाया कि बड़ा ही प्रज्ञावान आदमी था। बिल्कुल जाग्रत विवेक था उसका। कोमल हृदय था, जिसमें सभी के लिए संवेदना थी, सहानुभूति थी। अन्याय उसे बर्दाश्त नहीं होता था। दोस्त बनाने

में माहिर। थोड़े ही दिन में उसके बीस पच्चीस दोस्त हो गए। और कोई भी ऐसा नहीं, जिसे तुम खराब कह सको। उसकी तर्कशक्ति बड़ी प्रबल थी। जिस बात को कहता उसे तर्क से साबित कर देता था। और, उतनी ही जानकारी थी उसके पास!

—और, पढ़ाई लिखाई?

—कामर्स में तो उसकी बिल्कुल ही रुचि नहीं थी। हम ही पछताते कि क्यों इसने कामर्स ले लिया! लेकिन वह कहता कि पास ही करना है न! परीक्षा का समय आने दीजिए, उस वक्त पढ़ लेंगे और पास कर जाएंगे। उसकी रुचि थी साहित्य में। पुस्तकालय से बंडल के बंडल किताबें लाता। इसी तरह, साहित्यिक पत्रिकाएं भी। लेकिन हम देखते कि कई कई दिन तक वे बंडल यूं ही पड़े रहते। हम पूछते भी कि इन्हें नहीं पढ़ोगे? लापरवाही से जवाब देता कि पढ़ लेंगे न! और, एक सुबह हमें वह बताता कि सारी किताबें पढ़ गया। हमें यह बात असंभव लगती थी। लेकिन जानते हो, वह सच कहता था।

—सच कहते थे?

—हां। मैंने एकाध बार उसकी परीक्षा ली। कोई किताब उठा लिए और जगह जगह से लगे पूछने। हम चकित हुए कि उसके सभी उत्तर बिल्कुल सही थे। कई बार तो पत्रिका में छपी हुई किसी कविता का भाव पूछते। वह सप्रसंग व्याख्या करने लगता। हमें ही उतना सुनने का धैर्य नहीं रहता था।

राजकमल के उन दिनों के जीवनक्रम के संबंध उन्होंने बताया था—

जिस रात उसका, पढ़ने का मूड होता—सबेरे खा पीकर सो जाता। एकाध घंटे बाद जब हॉस्टल के तमाम लड़के सो चुके होते, वह चुपचाप उठता। किसी की चौकी तले से लालटेन निकाल लेता। किसी के टिन से तेल लेकर भर लेता। और, लालटेन के तीन ओर कागज 'खोंस' देता ताकि किसी को रोशनी का अहसास नहीं हो सके। पढ़ते पढ़ते जब सुबह हो जाती, सबके जगने का समय होता, चुपचाप लालटेन बुझाकर, यथास्थान रखकर वह सो जाता था। सबसे छिपकर वह क्यों पढ़ता था, जानते हो? एक अजीब बीमारी उसे थी। वह अगर कोई अच्छा काम करता, जैसे पढ़ाई लिखाई, जैसे किसी बेसहारे को मदद पहुंचाना वगैरह, तो इसे प्रचारित होने से रोकता। कोशिश करता कि दूसरे इसे न ही समझें तो अच्छा। इसके विपरीत वह अगर कोई ऐसा काम करता जिसे दुनिया की नजर में बुरा काम माना जाता है, तो जहां तक संभव होता, उसे खूब प्रचारित करता। शराब न पी हो, तब भी पिये होने का पोज करता। थोड़ा पिया हो तो अधिक पिये होने का दिखावा करता। लड़कियों से, वेश्याओं से ढेर सारे संपर्क की अफवाह उड़ाता। पता नहीं क्यों, उसे इसका नशा था कि लोग उसके बारे में चर्चा करें, विवाद करें, संभव हो तो उसे बुरा से बुरा आदमी समझें।

दुनिया में किसी से भी वह डरता नहीं था—न बल से, न विक्रम से, न पद, न प्रतिष्ठा से। सामाजिक प्रतिष्ठा से उसको चिढ़ थी। कहता था कि ये बाबू भैया, पूजनीय आदरणीय आदि सभी पाखंडी हैं। वे हमसे ज्यादा गंदे हैं तो हम उनसे क्यों डरें, और उनके द्वारा दी डुई प्रतिष्ठा की कद्र क्यों करें!

उन दिनों की ढेर सारी कहानियां परदेसी काका ने हमें सुनाई थीं। एक बार उन्होंने सुनाया— यह भागलपुर हॉस्टल की बात है। एक रात 9 बजे उसने हमसे कहा—'काका, एक रुपया दीजिए। हमको काम है।' तो, हमने पूछा कि भई, इतनी रात गए क्या काम है। वह बताने को तैयार नहीं। हम भी बताए बगैर रुपया देने को राजी नहीं। अंत में, उसने क्या बताया, जानते हो? बताया कि आदमपुर चौराहा से माणिक सरकार चौराहे तक का जो ढलान है, उस पर हम इस चांदनी रात में रिक्शे की सवारी करेंगे। रिक्शेवाले से एक रुपये में बात पक्की हो गई है। जरा देखना है कि कैसा लगता है ढलान पर ढुलकने में!

और ये नवादा की बात है, जब हम भी लालभाई के संरक्षण में रहकर फूलबाबू के ही साथ पढ़ाई

करते थे। एक बार क्या हुआ कि किसी विद्यार्थी ने ट्यूशन फीस के रूप में लालभाई को सौ रुपए का नोट दिया। उन्होंने नोट कहीं रखा और वह नोट बाद में चोरी हो गया। चोरी का आरोप लगा फूलबाबू पर और हम पर। दोनों मिलकर विचार करने लगे तो स्पष्ट हुआ कि चोरी उसने नहीं की थी, और मैंने भी नहीं की थी। फूलबाबू ने कहा कि रुकिए, इस चोरी का रहस्य हम पता लगाते हैं! और, दो दिन के अंदर उसने रहस्य का पता लगा लिया। हमसे बोला–आप कहिए तो इस चोरी के नाटक का भंडाफोड़ सरेआम कर देते हैं। तो, बड़ी मुश्किल से हमने उसे रोका!

भागलपुर के वे दिन ही थे, जब राजकमल ने साहित्य लेखन की ओर पहला कदम बढ़ाया था। उन प्रसंगों को परदेसी काका बहुत आत्मीयता से याद करते थे। उन्होंने बताया था–उसी समय उसने कविता लिखने की भी शुरुआत की थी। एक से एक सुंदर कविताएं लिखी थीं। उन दिनों की अपनी कविताएं उतारकर उसने एक कॉपी भी मुझे दी थी। उस संकलन का नाम रखा था–'कविता कानन'। वह कॉपी आज भी मेरे पास है। गद्य भी वह बहुत ही मनभावन लिखता था। उसी समय उसकी अपनी एक खास शैली भी बन गई थी। कालेज की टर्मिनल परीक्षा में उसने हिंदी की उत्तर पुस्तिका में जो निबंध लिखा था, उससे डॉ. माहेश्वरी सिंह 'महेश' बहुत ही प्रभावित हुए थे और उसे विश्वविद्यालय की पत्रिका में प्रकाशित करवाया था। वह शायद उसकी प्रथम प्रकाशित रचना थी। एक बार क्या हुआ कि कालेज में निबंध प्रतियोगिता थी। मुझे इच्छा थी कि मैं इसमें भाग लूं। फूलबाबू को बताया तो वह बहुत उत्साहित हुआ और उसी ने मेरे लिए निबंध लिखा। विषय था–कंट्रोल का देवता। और जानते हो, प्रतियोगिता में मुझे प्रथम स्थान प्राप्त हुआ था। एक और किस्सा याद आ रहा है। उस जमाने में नियम था कि कामर्स विषय में मौखिक परीक्षा होती थी। परीक्षा लेने के लिए दरभंगा से प्रो. बी. के. सिंह आए हुए थे। कड़क परीक्षक के रूप में वे कुख्यात थे। किसी विद्यार्थी को अगर मिनट दो मिनट उनके सामने ठहरना पड़े तो बेहोशी आने लगती थी। ऐसे थे वह और, हमलोगों की मौखिक परीक्षा लेने आए थे। फूलबाबू की बारी आई। प्रोफेसर ने पूछा–क्या नाम है? बताया–मणींद्र स्वर्णफूल।–'यह नाम तो कवियों वाला है, तुम कविता भी लिखते हो क्या?'–'जी, थोड़ा बहुत लिख लेता हूं।'–'तुम्हारी सबसे अच्छी कविता कौन सी है?'–'जी, मेरी तो सभी कविताएं अच्छी हैं!'–'अच्छा! तो बताओ, तुम्हारी अंतिम कविता कौन सी है?'–'जी, उसका शीर्षक है 'जीवन'। जीवन के बारे में जो मेरी मान्यता है, उसे उसमें दिखाया गया है।'–'वाह, तो सुनाओ।' और फूलबाबू ने जो कविता सुनाई उसमें था कि यह जीवन एक सिगरेट है, जिसमें जब तक ताजगी रहती है, आदमी उसके कश लेता है और फिर फेंककर जूतों तले रौंद देता है। और, यह जीवन एक प्याज है, जिसमें छिलके ही छिलके हैं, और उसके छिलकों का कोई अंत नहीं है, जो अंत नजर आता है, उसे भी आगे जाकर छिलका साबित होना है, आदि आदि। प्रो. सिंह उसकी कविता से और जवाब देने के ढंग से बहुत ही प्रभावित हुए। उन्होंने पूछा–कविता तो तुम अच्छी लिखते हो, क्या तुम्हारी कविताएं प्रकाशित भी हुई हैं? उसने जवाब दिया–जी, अर्थाभाव के कारण प्रकाशित नहीं करा पाया हूं। उसने यह भी बताया कि चित्रकला और फोटोग्राफी में भी उसकी रुचि है। प्रो. साहब ने पूछा–तुम तो साहित्यिक प्रतिभा के विद्यार्थी हो, तब तुमने कॉमर्स विषय क्यों लिया? इसका कुछ तो जवाब उसे देना ही था। उसने कहा–जी, पिताजी की यही आज्ञा थी। प्रो. साहब ने फिर पूछा–भई, अपने भविष्य के बारे में तो आदमी को खुद ही सोचना चाहिए न! उसका जवाब सुनो–जी नहीं, संतान के भविष्य के बारे में उसके माता पिता बेहतर सोच सकते हैं। तो, ऐसा वह लड़का था!

उनकी इस साहित्यिक रुचि के बारे में लाल काका क्या सोचते थे?–हमने पूछा तो वह बोले–उनको इसकी गंभीरता का कुछ भी अंदाजा नहीं था। वे समझते कि ऐसे ही वह जहां तहां से नकल करके तुक जोड़ता रहता है। दूसरी बात थी यह भी कि मूल काम (कैरियर) के लिए वे इसे बाधक समझते थे। वे

इसे 'चोरी चुहारी' का धंधा कहते थे, जबकि खुद भी एक जमाने में उन्होंने कविताएं लिखी थीं।

एक बार क्या हुआ कि पटना रेडियो से फूलबाबू की एक वार्ता का प्रसारण हो रहा था। उस जमाने में प्रसारण लाइव ही होता था। साहित्य का कोई विषय था, जिसके दार्शनिक पक्ष पर फूलबाबू अपना अभिमत बता रहा था। संयोग की बात! लालभाई ने रेडियो पर उसे सुन लिया। बाद में हमसे उन्होंने इसकी चर्चा की थी। जानते हो, बताते समय उनकी दोनों आंखों से अश्रुधारा बह रही थी। बोल रहे थे—आज तक हम यही समझते थे उपेंद्र, कि यह लड़का चोरी चुहारी के धंधे में लगा रहता है। लेकिन अब हम समझ गए कि वह मेरा भ्रम था। इसको तो साहित्य की ऊंची प्रतिभा प्राप्त है जी! बड़े बड़े विद्वानों के साथ यह बैठ सकता है।

और एक बार की बात बताते हैं। गांव की ही घटना है। पिता पुत्र साथ साथ बैठे थे और शास्त्र चर्चा चल रही थी। इसी बीच, वेदांत दर्शन के किसी सिद्धांत पर दोनों के बीच बहस छिड़ गई। लालभाई जो भी तर्क रखते, फूलबाबू उसे अपने तर्क से काट देते। लालभाई भी तो कोई साधारण विद्वान थे नहीं। वे फिर दूसरे तरीके से उस सिद्धांत की पुष्टि करने लगते। फूलबाबू फिर अपने तर्क और सिद्धांत से उसको काट देता। बहुत लोग जमा हो गए। मदनेश्वर ने दर्शनशास्त्र पढ़ा था, और नया नया, कालेज में प्रोफेसर हुआ था। उसे भी अपने ज्ञान का बड़ा गर्व था। वह बीच में टपक पड़ा। फूलबाबू ने कितने जोर से उसे डांटा था, क्या हम बताएं! बोला—ऐ मदन, तुम्हारी पहुंच अभी इस बात तक नहीं हो पाई है, और शायद कभी हो भी पाएगी कि नहीं कहना कठिन है। चुपचाप सुनो, और सीखो। और जानते हो, लालभाई के साथ उस बहस का समापन कैसे हुआ था?

—कैसे हुआ था?

—अंत में फूलबाबू बोला कि लालकाका, आपकी बात को हम पिता के वचन के रूप में स्वीकार कर सकते हैं। लेकिन इसके लिए बहस मत कीजिए। सिर्फ आज्ञा दीजिए! आज्ञा शिरोधार्य है, लेकिन बहस के लिए तो तथ्य चाहिए।

राजकमल के बारे में हम तरह तरह की अफवाहें सुनते थे। वे स्त्रियों को लेकर थीं। अफवाहें बताती थीं कि उनका संबंध अनेक स्त्रियों से रहा। उन्हें वेश्यागामी भी बताया जाता। मजे की बात यह थी कि खुद राजकमल ने इन सब बातों को 'खोल खोलकर' लिखा था। और, साफ साफ जिम्मेवारी ली थी कि हां, मैं ऐसा हूं। उनके साहित्य लेखन का जो मुख्य विषय था वह भी स्त्री पुरुष संबंध ही था। राजकमल ने अपने एक आत्मलेख में यह भी दावा किया था कि जो भी कुछ वह लिखते हैं वह उनका भोगा हुआ यथार्थ है। कि वह अपने लेखन में और व्यक्ति चरित्र में बिल्कुल एक जैसे हैं और दोहरे व्यक्तित्व से, चारित्रिक दोगलेपन से उन्हें सख्त नफरत है। लेकिन, दूसरी तरफ हम यह भी सुनते कि वह भारी कलाकार आदमी थे। वैष्णव मनोवृत्ति के लोगों को चौंकाने में, रूढ़ियों से जकड़े हुए लोगों, दोहरी जिंदगी जीनेवाले सफेदपोशों को संतापित करने में उन्हें बहुत मजा आता था। इसके लिए वह झूठ पर झूठ गढ़ लेते थे। अपने बारे में भीषण लांछन, वह भी झूठा, खुद ही पैदा करते और 'सब कोई' जब उन्हें खराब बोलता था तो वह उसका मजा लेते थे। यह हमारे लिए बहुत 'भारी' बात थी। ऐसा आदमी, इस कलेवर का मानुस, हमने अपनी जिंदगी में नहीं देखा था। कुछ लोगों का कहना था कि फालतू लोगों को अपने से दूर रखने के लिए वह यह तरकीब निकालते थे। फालतू लोगों को दूर रखने के लिए हम भी बहुत तरकीब जानते थे, पर राजकमल का तरीका तो बहुत ही 'जुलुम' लगता। लेकिन, हम यह भी सुनते कि यह सब वह केवल चर्चा में बने रहने के लिए करते थे। मैथिली में एक कहावत है—सुकर्मे नाम कि कुकर्मे नाम। सुकर्म करो तो नाम होगा या फिर कुकर्म करो तभी हो सकता है। लोगों की इस प्रवृत्ति के बारे में भी थोड़ी समझ हमें थी कि

यदि सुकर्मी के रूप में आपका नाम फैल रहा हो तो दूसरे इसे स्वीकार करने में बहुत हील हुज्जत करते हैं, पचासों सवाल उठाएंगे, दसियों प्रमाण और साक्ष्य की मांग करेंगे जबकि कुकर्मी के रूप में नाम फैले तो हर कोई तुरंत यकीन कर लेता है। यानी कि आप यदि चारों तरफ अपना नाम फैला हुआ देखना चाहते हैं, और आपके पास यदि असाधारण कोटि की हिम्मत हो तो आप अपने आपको कुकर्मी के रूप में प्रचारित करें। तुरंत लाभ होगा।

आप समझ सकते हैं कि हम कितने परेशान हो जाते होंगे, 'मुक्तिप्रसंग' के इस हादसे की तरह कि 'इस प्रकार स्थान पात्रों में घुल मिल जाता था संगीत/बन जाता था जुलूस भूख मार्च हाहाकार' कि हम किसी भी निष्कर्ष पर पहुंच नहीं पाते थे। राजकमल ऐसे थे कि वैसे थे कि कैसे थे? और, स्त्रियों के वे किस्से? और उनका वह दावा?

परदेसी काका से इस बाबत बात कर सकें, इतनी हिम्मत जुटाने और भूमिका बांधने में हमें दो एक साल जरूर लग गए होंगे। लेकिन जब हम बात करने पर आए, हमने यह महसूस किया कि हमारा भय जरूरत से कुछ ज्यादा था। परदेसी काका को हमसे इस बारे में बात करने में कोई परेशानी नहीं थी। उन्होंने हमसे पूछा—तारा वशिष्ठ की कथा जानते हो?

कथा हम जानते थे। हमने बताया कि हां, जानते हैं।

उन्होंने फिर पूछा—पूरी कथा नहीं, कथा का वह हिस्सा जब तारा वशिष्ठ को छोड़कर लुप्त हो गई? वह हिस्सा भी हम जानते थे। बताया कि हां, जानते हैं।

—सिर्फ जानते ही हो कि उसका मर्म भी कुछ समझते हो?

हम टक टक उनका मुंह ताकने लगे। मतलब कि हम क्या समझेंगे, आप बताइए।

परदेसी काका बताने लगे—देखो, कथा में यह वर्णन आया है कि वशिष्ठ को अकेला छोड़कर तारा लुप्त हो गईं। यहीं पर सारा पेंच है। तारा कभी लुप्त हो सकती हैं? वह तो सार्वकालिक हैं। लुप्त तो जब भी होना होगा, वशिष्ठ को ही होना होगा। और उसे लुप्त भी क्या कहोगे, 'निमज्जित' कहो। तारा की पद्धति चीनाचार की पद्धति है। चीनाचार की पद्धति है कि शौच और अशौच के बीच आपको अभेद बुद्धि रखनी होगी। राजकमल का जन्म सनातन चीनाचारियों के खानदान में हुआ था। अब, इस खानदान में भी लोग मर्म को नहीं जानते हैं तो अलग बात है। अज्ञानियों के लिए कोई नियम नहीं होता। उनके सारे गुनाह माफ समझे जाते हैं। लेकिन, देखते हो न, जैसे वृक्ष का तना होता है, शाखाएं होती हैं, पत्ते होते हैं, पल्लव होते हैं, फिर जड़ भी होती है—यह सब कुछ होता है, लेकिन उस वृक्ष की परम उपलब्धि क्या होती है? कभी सोचे हो? उसकी परम उपलब्धि होती है—फूल। राजकमल यही फूल था। इतना सोचकर तो लालभाई ने उसका नाम नहीं रखा था, लेकिन ऐसा भी तो होता है कि कोई बच्चा अपने आभामंडल से अभिभावक को प्रभावित कर अपना सुटेबुल नाम चुनवा ले।

—लेकिन काकाजी, वशिष्ठ की कथा...

—वही तो कह रहे हैं। शौच अशौच नाम दुर्नाम की कोई भेद बुद्धि राजकमल में शुरू से ही नहीं थी। यह बहुत अनहोनी बात थी। यह संकेत देती थी कि इस लड़के को कहीं बहुत ऊपर, बहुत ऊंचा जाना है। देखो, हमारे लालभाई भी कोई खराब आदमी नहीं थे। महामाया का प्रसाद उनको भी मिला हुआ था। समझो कि उनसे एक ही गलती हो गई। उसी गलती ने उनको भी समाप्त कर दिया, लेकिन यह लड़का जिस भवितव्य को लेकर आया था, वह भी नहीं हो सका और तारा की तरह, नहीं, वशिष्ठ की तरह वह लुप्त हो गया।

—क्या गलती हुई थी?

—उनको अपना जीवन इस लड़के के लिए समर्पित कर देना चाहिए था। यह उनका धर्म बनता

था क्योंकि राजकमल के तेज को वे समझ गए थे। नहीं समझे होते तो अलग बात थी!

परदेसी काका की इस बात से पूरा माहौल भारी हो गया। हम सन्नाटे से भर गए। बात भी वह बहुत भारी थी। सीधा सीधी एक कनिष्ठ अपने वरिष्ठ को दोषारोपित कर गया था। वह भी उनके निधन के बीस बरस बाद। और, यह घटना 'बुधवारय महिषी' कुल में हुई थी। सन्नाटे की बात तो थी ही।

वह कुरसी पर बैठे थे। उठ गए। चुपचाप अपने कमरे में गए। दो चार मिनट का समय लगा होगा। हम दम साधकर बैठे रहे। उधर से वह लौटे तो उनके हाथ में किताबों का एक बंडल था। बंडल चौकी पर रखा। हमसे बोले कि इसे खोलो। वह 'कलकतिया छोर' से बंधा था। उसमें कुछ कागजात थे। कुछ चिट्ठियां थीं। कुछ पत्रिकाएं, कुछ किताबें थीं। हमने खोलकर उनके सामने कर दिया। सारी चीजें राजकमल की थीं।

वह मुझसे बोले–यह सब हम तुम्हीं को देने के लिए चुन चुनकर इकट्ठा किए हैं। फिर उन्होंने चिट्ठियों के ढेर में से एक चिट्ठी निकाली। यह चिट्ठी क्राउन साइज के सादा कागज पर छह पृष्ठों की थी, काले रंग की स्याही से लिखी गई। बोले–इसको पढ़ो।

हम उस चिट्ठी को पढ़ने लगे। वह चिट्ठी सोहना नाम की किसी लड़की ने पटना गर्ल्स कालेज से विदेश्वर नामक किसी व्यक्ति को लिखी थी। पूरी चिट्ठी नीचे उद्धृत है–

पटना गर्ल्स कालेज
12.10.50

पूज्य विदेश्वर जी,

सविनय नमस्ते।

जब जीवन के सारे सहारे तोड़ चुकी हूं तब आपसे आसरा मांगने चली हूं, लगता है आपकी सहायता मुझे शांति दे सकेगी। क्योंकि एक दफा आपके भाई साहेब के मुंह से सुन चुकी थी, कि विदो मेरा सिंसियर दोस्त है। आप उनके दोस्त हैं, मगर मैं भी कभी उनकी दोस्त थी : समय धारा में आपकी दोस्ती कायम रही, मेरी सन छियालिस की पहचान मिट गई क्या करूं, किस्मत का लिखा कौन तोड़ सकता है, मगर आदमी प्रयत्नों से क्यों हार माने–हार जाना मेरा स्वभाव कभी नहीं रहा है।

आप मेरे और उनके बीच की सभी बातों के गवाह हैं, अपने प्रेम के चर्चे को मैं दुहराना उचित नहीं समझती–मैं एक मैथिल बालिका हूं, धार्मिक संस्कारों में पली हुई। फिर भी कहने का साहस है कि अपने सोलह साल के जीवन में मैंने सिर्फ 'फूल बाबू' को ही प्यार किया। मगर वह 'सरोज' नाम की किसी लड़की की मुर्दा लाश के पीछे अपने आपको तबाह और बरबाद करते रहे। 'सरोज' कौन थी, मैं कुछ नहीं जानती, केवल उनके द्वारा बार बार सुनती रही थी कि ''तुम सरोज नहीं बन सकतीं, सरोज देवी थी, मैं सरोज के सिवा किसी को अपना नहीं बना सकता, वह मरकर भी मेरी है।''

फूल बाबू का चरित्र हजारों क्या, लाखों से महान और ऊंचा है, मगर सरोज की याद ने उन्हें आवारा और राक्षस बना दिया है। दया, प्रेम, मानवता, व्यक्तित्व की सारी इच्छाएं उनके हृदय से मिट चुकी हैं–अगर मैं उनकी पत्नी नहीं बन सकी तो एक दिन वह शराब पीकर नाली में पड़े पड़े मर मिट जाएंगे–यह एक तय बात है।

आप उनके दोस्त हैं, मगर आप उनको कुछ नहीं जानते–भागलपुर में भी वह आप सभी से छिपाकर रम, ह्विस्की, मशीरा और पोर्ट पीते थे। कई बार मेरा भाई रामू उन्हें सुंदरवन और कहीं कहीं से खींच लाया है। भागलपुर में भी शकीला बानो उन्हें मुफ्त में गाने सुनाती थी, हास्पिटल की नर्स एलिना कार्टन रुपए देती थी और गीतांजलि बार बार आने को इशारे करती थी। जी हां, फूल

बाबू इतने बुरे हैं, फिर भी मैं उन्हें अपना मानती हूं; शायद आप आश्चर्य करें, मगर तब आप औरत को नहीं पहचानते।

जब मैं पटना चली आई तो मेरे बीमार होने पर वह मेरे यहां आए। तब तक कोई बात नहीं थी, यही था कि वे सप्लीमेंट्री पास कर जाएं तो विवाह हो जाएगा। मगर मैं जानती थी कि वे पास नहीं करेंगे क्योंकि शराब और किताब एक साथ नहीं रह सकते। मैंने उन्हें पूज्य पिताजी (हेड मास्टर साहेब) से भी अधिक समझाया, कसम भी दिया, मगर कौन मेरी सुनता है! इम्तहान के बाद से उनका अंतिम पतन शुरू हुआ, उन्होंने मुझे बनारस चलने को कहा। मैं, भाभी, रामू और प्रदीप भैया बनारस गए, वहीं मुझसे रुपया लेकर वे पद्मा बाई के यहां गए, जहां नबाबजादा शमीम से मुलाकात हुई।

मेरे साथ उन्होंने जो क्रूरता और अत्याचार किया, वह लिखने की चीज नहीं है। मगर अपने साथ तो न्याय करते, सो भी नहीं किया। यहां आने पर तो धूमधाम से मैजेस्टिक, ब्रिस्टल, ग्रांड और निशात में बरबादी चलने लगी। शराब ने उनका सारा शरीर शून्य कर दिया। मैंने उनको रुपया देना बंद कर दिया क्योंकि रुपए से वे अपने को साबरा और कमला के यहां पहुंचा देते थे। और तब वे हमसे नाराज हो गए, भला कहिए यह क्या कोई मानवता थी? एक दिन मेरा तीन सौ अस्सी रुपया लौटाकर वे डिब्रूगढ़ चले गए और उन्हें व्यापार करने की सूझी। मगर ब्लैक मार्केटिंग का सारा रुपया शराब और...में खर्च हो गया।

रिजल्ट निकला और उनके दिल पर गहरा सदमा पहुंचा, मैं भी रोने के सिवा कुछ नहीं कर सकी, करती भी क्या उनसे थप्पड़ तो नहीं खाना था। उस दिन लॉन में जो उनकी बरबाद हालत देखी—सूखा हुआ शरीर, धंसी आंखें, पीला चेहरा, बिखरे बाल—तो कसम खाकर कहती हूं, मुझे तो आंसू आ गए। ओह! एक दिन मैंने उनका गोरा गोरा पुष्ट शरीर, मस्त मुखमंडल, उभरी हुई छाती और चारों ओर बिखरी सुंदरता देखकर ही उन्हें अपना सर्वस्व बना लिया था और आज...!

लेकिन मैं फिर भी उन्हें प्यार करती हूं और दिन रात जलती हूं। कल उनको अशोक सिनेमा से निकलते देखा था, रामू को भेजा तो बोले कि 'जो सिगरेट एक बार फेंक दिया जाता है, उसे उठाकर कोई नहीं पीता है।' बोलिए, आप ही कहिए, मेरी क्या गलती है, क्या कुसूर है मेरा—जिसकी यह सजा भुगत रही हूं! उधर अलग पिताजी बिगड़ते हैं, क्लास जाती हूं तो पढ़ा नहीं जाता, किसी काम में दिल नहीं लगता, हर समय 'उनकी' चिंता बेचैन किए रहती है। अब आप ही कोई रास्ता बताइए, इसीलिए यह पत्र लिखा है—अगर आप किसी तरह उनको अच्छे रास्ते पर ले आइए तो मैं जन्म भर आपका उपकार नहीं भूलूंगी।

यह पत्र कॉलेज से पीरियड छोड़कर लिख रही हूं, आज ही कॉलेज बंद हो रहा है, अतः कॉलेज के पते से पत्र नहीं भेजिएगा। घर के पते से तो पत्र मंगा ही नहीं सकती, फिर आप कैसे जवाब देंगे? हाल ही में 'रामू' भागलपुर जा रहा है, तो वह आपके पास चला जाएगा। नहीं तो, इस पते से जवाब देना सबसे अच्छा होगा—

नहीं, अभी वह पता भी गड़बड़ हो गया है, मैं दूसरे पत्र में कोई पत्र मिलने लायक पता लिख भेजूंगी—देखिए, आप मेरी बातें भूलिएगा नहीं—'सोहना'

अगर आप कहें तो मैं बीमारी का बहाना करके भागलपुर भी चली जा सकती हूं, मगर फूल बाबू नहीं मिले तो मैं जी नहीं सकूंगी। सारे सहारे टूट चुके अब आपका ही आसरा है।

आपकी अनुजा

'सोहना'

याद आता है, चिट्ठी मेरे हाथ में थी, लेकिन हम दो तीन लड़के एक दूसरे पर लद के साथ साथ पढ़

रहे थे। सबकी सांसें जैसे अटकी हुई थीं। चिट्ठी पूरी होते होते हम बेतरह उदास हो गए थे और घोर अवसाद में डूब गए थे। जैसे सांप सूंघ गया हो हमें, जैसे हमें 'बघजर' लग गया हो।

हमने चिट्ठी पूरी की और सिर उठाकर परदेसी काका की ओर देखा। हम शॉक्ड थे, लेकिन देखा—परदेसी काका के चेहरे पर मुस्कान विराजित थी। उस मुस्कान का रहस्य तो अब समझ पा रहा हूं। उस समय तो उनके चेहरे की मुस्कान देखकर हम बुरी तरह बौखला गए थे। कहां तो हमारा मनोविज्ञान कि जैसे राजकमल चौधरी को मार डालने में हमारा भी हाथ हो! और कहां उनकी वह मुस्कान! हम बौखला गए थे।

अब हम प्रश्न पर प्रश्न पूछने के लिए बेताब हो रहे थे। मयंक ने तो शुरुआत भी कर दी थी—काकाजी, वो...

लेकिन, किसी सख्त अनुशासनप्रिय हेडमास्टर की तरह उन्होंने हमें टोका और रोक दिया। बोले—हम समझ रहे हैं कि तुमलोग क्या पूछना चाहते हो। लेकिन उत्तर हम नहीं दे पाएंगे क्योंकि उत्तर मेरे पास नहीं है। और, यह भी सुन लो कि यह चिट्ठी और तमाम कागजात इसी शर्त पर दे रहे हैं कि इस बारे में हम दस सवाल तुमलोगों से करेंगे और उसका जो भी जवाब तुमलोगों को सही लगे, देना होगा। एक सप्ताह का समय देते हैं। अगर मंजूर हो तो बोलो।

शर्त मंजूर नहीं करने का कोई प्रश्न ही नहीं था। इतनी अनमोल चीजें हमारे हाथ आ रही थीं, हम तो कुछ भी कर सकते थे। मैंने कहा—शर्त हमें मंजूर है काकाजी, लेकिन कुछ तो बताते...

परदेसी काका बोले—एक दो बात हम बता सकते हैं, जिसे 'हिंट' समझ लो। 'सोहना' का असली नाम शोभना था, जैसा राजकमल ने बताया था। उसे हमने कभी देखा नहीं था। विदेश्वर हमारा साथी था, वो भी हॉस्टल में ही रहता था। रामू नामक किसी लड़के को हम नहीं जानते थे। राजकमल ने बताया था कि शोभना का घर नया टोला मुहल्ला में है, लेकिन कभी दिखाया नहीं था। शोभना से प्रेम की कहानी वह सुनाता था। लेकिन, उसके साथ साथ और भी कई लड़कियां थीं, जिनकी प्रेम कहानी वह सुनाता था। अब हो गया। याद रखना, एक सप्ताह का समय है।

अगले सप्ताह का हमारा समय ऐसा था कि न नींद थी, न चैन। हम सब मिलकर मामले को सुलझाने में लगे थे। असल मामला तो था कि परदेसी काका के दस प्रश्न क्या क्या हो सकते हैं! मेरा कहना था कि इसमें कोई गहरी बात जरूर है वरना परदेसी काका उस तरह मुस्कुराए क्यों होते? उनकी वह मुस्कान किसी दैत्याकार प्रेत की तरह हमारा पीछा करती रहती। मित्रों का कहना था कि कोई खास बात नहीं है प्यारे, हमलोग लड़के बच्चे हैं और वो इतने सीनियर आदमी। ऐसे में प्यार मुहब्बत की बात करने में तो दिक्कत स्वाभाविक ही है। अब यह अलग बात है कि इस दिक्कत की अभिव्यक्ति आप कैसे करते हैं! यह अभिव्यक्ति मुस्कुराहट से भी तो की ही जा सकती है, और उन्होंने यही किया है। मैं प्रतिप्रश्न करता कि भई, अगर यही बात है तो हिंट देते समय वह इस तरह क्यों बोल रहे थे? साफ लग रहा था कि वह इसमें इनवॉल्व होने से 'कनछी' काट रहे हैं। मित्र बोलते कि यार, इसमें भी वही बात है। देखो, बुधवारय कुल का वो प्रतिष्ठित लेखक मर चुका है, जबकि उसके तीनों सगे चाचा आज भी मौजूद हैं। गांव की प्रतिष्ठा अप्रतिष्ठा उनसे है। तुम लेखक आदमी हो। कुछ उनसे सुनोगे और उनका नाम देते हुए लिख दोगे। तुम्हारा क्या जाएगा? लेकिन उनको तो सोचना होगा न! तो, अपने आपको इस बखेड़ा से दूर करके वह देख रहे हैं, यह कोई गलत नहीं कर रहे हैं, उनके नजरिये से देखो तो उनका तरीका जरा भी अतार्किक नहीं है। लेकिन मैं इससे भी सहमत नहीं हो पा रहा था। बार बार कहता—देखो मित्र, इसमें बात कुछ जरूर है। वे झल्ला जाते और एक तरह से मुझ पर हमला बोल देते कि तो फिर तुम्हीं बताओ कि इसमें क्या बात है! अब, मेरे साथ मुश्किल यह थी कि बात कुछ होने की संभावना तो दिखती

थी, लेकिन यह बिल्कुल भी नहीं दीखता था कि वह क्या हो सकती है!

मयंक बोलते—यार देखो, इस लड़की की भविष्यवाणी बिल्कुल सही साबित हुई। वह आदमी ठीक इसी तरह मरा है!

पप्पू कहते—कमाल है कि बीस इक्कीस साल का छोकड़ा और देखिए, इसी उमर में करतब क्या क्या कर गुजरा है!

दीपक थोड़े अलग अंदाज में देखते—और तो सब ठीक है लेकिन आसाम जाकर ब्लैक मार्केटिंग से रुपए कमानेवाली बात हजम नहीं होती। इस बात का कहीं भी कोई दूसरा सूत्र भी नहीं दीखता। इससे यह पता चलता है कि लड़कियों को इंप्रेस करने के हजार तरीके उन्होंने इंटरमीडिएट के पहले ही ईजाद कर लिए थे।

याद आता है, उन दिनों जो भी कोई व्यक्ति हमें मिलता उसे हम वह चिट्ठी जरूर दिखाते और उसकी राय मांगते। यह बाद को भी चलता रहा। ज्यादातर लोगों की समान राय हुआ करती। उनकी राय उनके चेहरे और उनकी आंखों पर स्पष्ट पढ़ी जा सकती थी। राजकमल का रोब उन पर जम जाता। 'क्या लोग थे वो' वाला भाव होता। 'हीरो वर्शिप' वाला गर्व भी उसमें होता, मगर यह भी होता कि हम कितने दीन हीन हैं कि उतनी शराबों के नाम भी नहीं जानते, जितना पी पीकर वह आदमी अभी इक्कीस का भी नहीं हुआ था। हमारी हालत यह थी कि अपना मामला सुलझाने निकले और राजकमल का रोब प्रचारित करने का कारोबार किए जा रहे हैं। याद आता है, आगे चलकर जब देवशंकर नवीन हमारे संपर्क में आए थे तो उनकी राय भी हमने आमंत्रित की थी। उनकी राय भी इससे कुछ अलग नहीं थी। दरअसल, राजकमल से परिचय होने के वे उनके शुरुआती दिन थे। केदार उन दिनों को अब भी याद करते हैं।

और याद आता है, जब इधर उधर से हमारी समस्या का कोई हल नहीं निकला तो चिट्ठी साथ लेकर केदार के ही पास हम सुपौल पहुंचे थे। केदार की संगत में तरह तरह के लोग थे। एक से एक दिमागवाले और समझ वाले। और, सबके सब राजकमल से गहरे जुड़े हुए। हम जमे।

केदार की रुचि हमेशा से बहुआयामी रही है। हम अक्सर मजाक में कहते कि साहित्य की सौंदर्यशास्त्रीय व्याख्या तो कोई भी कर सकता है, किंतु इसकी युद्धशास्त्रीय या प्राणिशास्त्रीय या फिर चिकित्साशास्त्रीय व्याख्या तो सिर्फ और सिर्फ केदार ही कर सकते हैं। वही हुआ। उन्होंने चिट्ठी की लिपिशास्त्रीय व्याख्या से बात की शुरुआत की। कागज कितना पुराना है, इसकी जांच की। लिखावट का क्या पैटर्न है, इसे देखा। पैराग्राफ बदलने की जो अदा है, अक्षरों पर शिरोरेखा की जो प्रवृत्ति है, वाक्य गठन में शब्दों के आगा पीछा व्यवहृत करने की जो कलाकारी है, केदार ने सबको देखा। मित्रों से राय विचार किया, राजकमल के लिपि के नमूने निकाले। राजकमल 'ल' कैसे लिखते थे, और 'र'? शिरोरेखा नहीं देते थे, मगर यदि देते तो किस तरह देते? उनकी लिखावट जरा दाईं ओर को झुकी पाई जाती थी, लेकिन इसके बदले वह यदि बाईं ओर को झुकाते तो किस तरह झुकाते? और ऐसे में अक्षरों की क्या प्रस्तुति बनती? हम तो ऊब भी रहे थे कि यार, तथ्यों पर बात करो न, खुद को फोरेंसिक वैज्ञानिक साबित करने पर क्यों तुले हो! लेकिन, अपने तमाम सबूतों के आधार पर केदार ने घोषणा कर दी कि यह चिट्ठी स्वयं राजकमल चौधरी के हाथ की लिखी हुई है।

मैं अचंभित। कहा—क्या बक रहे हो यार? यह राजकमल की लिखी हुई है?

—हां, हां, हां। यह शत प्रतिशत राजकमल की लिखी हुई है।

—तो यह सोहना नामक लड़की की लिखी हुई नहीं है?

—नहीं, बिल्कुल नहीं। यह राजकमल को छोड़कर किसी दूसरे की लिखी हो ही नहीं सकती!

फिर वह शैली वैज्ञानिक अध्ययन करने लगे—इसका वाक्य गठन देखो। और, यह याद रखो कि

अपनी जिस शैली के लिए राजकमल का नाम है, जिस पर उन्हें मास्टरी हासिल है, उसके निर्माण का यह दौर है। इस बात को याद रखो और राजकमल के लिखे गद्य से इसका मिलान कर लो।

—लेकिन यार, वह लड़की भी तो ऐसी जीनियस हो सकती है!

—क्यों नहीं। जीनियस क्यों नहीं हो सकती? लेकिन फिर भी उसकी अपनी मौलिकता तो होगी!

—लेकिन, वह कितना प्यार करती है इनको, यह भी देखो। और, आदमी जिसको प्यार करता है, उसके जैसा बनना चाहता है। बन भी जाता है।

केदार हंसने लगे। स्पष्ट था कि मेरी बात उन्हें इतनी बेकार लगी थी कि हंसने के सिवा और कोई प्रतिक्रिया नहीं हो सकती थी।

—और फिर, यह भी देखो...

अब केदार ने समाजशास्त्रीय व्याख्या शुरू कर दी थी। इसी जगह मेरा 'ब्रह्म' चमका था। मैंने कहा—रुको यार। यह चिट्ठी मुझे जरा फिर से देखने दो। चिट्ठी मैंने फिर से देखनी शुरू की तो परदेशी काका का वह मुस्कुराता हुआ चेहरा मेरी आंखों में नाच गया। और, और...उस मुस्कान का रहस्य अनावृत्त हो गया!

—सही कहते हो केदार। यह राजकमल की ही लिखावट है। पर, अगर ऐसा ही है तो इसका मतलब क्या है? क्यों किया उन्होंने ऐसा केदार?

—तुम्हें कीर्त्तिनारायण मिश्र की बात याद है तारानंद? वह बात, जो उन्होंने कलकत्ता प्रवास के दिनों राजकमल को उद्धृत करके कही है।

—हां यार, कहा था कि इन बेवकूफों को बोलने बतियाने का कुछ तो मसाला चाहिए!

—हां। और यह भी कि यह क्या मेरी कम बड़ी 'मैथिली सेवा' है!

—बाप रे!

मैं क्या बताऊं, सभी जानते हैं कि राजकमल के बारे में उनके समकालिक प्रतिष्ठित लेखकों की क्या राय थी! वे उन्हें झूठा, मक्कार, धूर्त, फरेबी, ठग, शराबी, वेश्यागामी आदि आदि कुमानुस के जो भी विशेषण आप सोच सकते हों, वैसा समझते थे। वे उन्हें ठीक ठीक ऐसा ही समझें, राजकमल हमेशा इसकी ही कोशिश करते पाए जाते थे। अपने बारे में उन्होंने ऐसी ऐसी गंदी बातें, ओछी बातें प्रचारित कर रखी थीं कि कोई सोच न सके। उनके निधन के बाद साहित्यकारों की जो आम राय थी, उसका विवरण विद्याभूषण श्रीरश्मि ने अपने एक लेख में इस तरह दिया है—कहते हैं, मृत्यु सभी विवादों को समाप्त कर देती है। पर राजकमल के संदर्भ में ऐसा नहीं हुआ। ऐसा लगा, जैसे लोग उसके मरने का इंतजार ही कर रहे थे। इधर उसने आंख मूंदी और उधर लोगों ने, विशेषकर उसके निकटवर्ती मित्रों ने, अपने मन की भड़ास निकालनी शुरू कर दी। किसी ने कहा : अच्छा हुआ, साला मर गया। पूरे न्यू राइटिंग को करप्ट कर रहा था। तो किसी ने कहा : कौन कहता है, राजकमल में प्रतिभा थी? वह साला तो फ्रॉड था, फ्रॉड। कुछ ऐसे लोग भी जरूर सामने आए, जिन्होंने राजकमल की ईमानदारी स्वीकार की। पर उसे 'अच्छा आदमी' कहने वाले छेदीलाल गुप्त जैसे सीधे सादे इन्सान कम ही दिखाई पड़े। सकलदीप सिंह ने एक साथ ही झूठा, अनैतिक, कामुक, भ्रष्ट, जाली, नकलची, कुंठित, कुटिल, समझौतापरस्त, शराबी, अपराधी, वेश्यागामी सब कुछ कह डाला। शिवचंद्र शर्मा ने उसे अपनी पीढ़ी का धनुष्टंकार (टिटनस) बताया और नागार्जुन ने प्यार से 'दुष्ट' कहते हुए 'बड़ा ही विचित्र प्राणी' उसके अतिप्रिय मित्र चंद्रमौलि उपाध्याय ने 'दक्षिण और वाम के मध्य की गंभीर नारकीयता का कलाकार' कहकर अपनी श्रद्धांजलि अर्पित की। शिवमंगल सिंह ने राजकमल की मातमपुर्सी के लिए शराब का दौर आवश्यक माना और ओम प्रकाश दीपक ने उसकी मातमपुर्सी को

सबसे बड़ा अपमान बताकर अपने समाजवाद की रक्षा की।

यह तो फिर भी, बहुत पुरानी बात है। अभी, हाल के दिनों में 'गालिब छुटी शराब' का संस्मरण लिखते हुए रवींद्र कालिया उन्हें इस तरह याद करते हैं :

'उन दिनों राजकमल चौधरी ने भी अपने स्तर पर धूम मचा रखी थी। वह लगातार गद्य और पद्य की रूढ़ियां तोड़ रहा था। लेसबियनिज्म पर शायद उसने हिंदी में प्रथम उपन्यास लिखा था। वह बहुत बेबाक भाषा में लिखता था। दिल्ली आता तो हमारे साथ दफ़्तर में और टी हाउस में काफी समय बिताता। उसकी छवि एक आवारा, शराबी कबाबी और गैरजिम्मेदार शख्स की बन गई थी, जबकि वह बातचीत में अत्यंत शालीन और सौम्य लगता था। हिंदी में गिंजबर्ग आदि के प्रभाव में वह भूखी पीढ़ी के रचनाकार के रूप में विख्यात था, जबकि मैं उसे प्यासी पीढ़ी का रचनाकार कहा करता था। वह सुबह से ही दारू के जुगाड़ में लग जाता और शाम तक कोई न कोई आसामी पटा लेता। इसी सिलसिले में उसकी दोस्ती उर्दू के अदीबों और शायरों से हो गई थी। उर्दू के शायरों को आसानी से कद्रदां मिल जाते थे। एक दिन शाम को सलाम मछलीशहरी का एक ऐसा कद्रदां मिला कि वह टैक्सी भर रचनाकारों को पिलाने अपने होटल में ले गया। मुझे भी उस टैक्सी में राजकमल की सिफारिश से स्थान मिल गया। मगर रास्ते में मैंने रवींद्रनाथ टैगोर पर कोई ऐसी टिप्पणी कर दी जो राजकमल को बहुत नागवार गुजरी और वह तिलमिला गया। उसने बहस में न पड़कर सरदार पटेल मार्ग की एक सुनसान सड़क पर टैक्सी रुकवाई और मुझे जंगल में उतार दिया। उस समय मुझे इससे बड़ी सजा नहीं दी जा सकती थी। टी हाउस तक पैदल लौटते हुए मेरी टांगें अकड़ गईं। मुझे जानकर बहुत हैरत हुई कि वह रवींद्रनाथ टैगोर का अनन्य भक्त था, जबकि लोग उसे परंपरा से कटा हुआ मूल्यविहीन लेखक मानते थे। लोग क्या, मैं खुद भी ऐसा ही सोचता था।'

राजकमल पर दुर्गुणों के जो भी आरोप किए जाते हैं, मेरी तो जरा भी औकात नहीं है कि उनका खंडन करूं या उनके बचाव में कोई बात करूं। कोई भी कायदे का आदमी ऐसा नहीं कर सकता है। अभी हाल के दिनों में भी ऐसा करनेवालों को हम हास्यास्पद होते देख चुके हैं। अतः किसी की औकात नहीं है। इसका कारण है। मुख्य कारण, या कि मौलिक कारण तो यह है कि स्वयं राजकमल ने ये बातें बताई हैं, फैलाई हैं। तब, मजबूरी में किया यह जाता है कि राजकमल के ऐसा होने का कारण उनकी गलत संगत को बताया जाता है। उनके सखा संबंधी और उनके चाहनेवाले अक्सर यह करते मिलते हैं। राजकमल के नजरिये से देखूं तो यह करना भी सिरे से गलत है। याद आता है कि राजकमल के निधन के बिल्कुल बाद भीमसेन त्यागी ने एक दुर्लभ किस्म का संस्मरण लिखा था। उसमें और कुछ नहीं, सिर्फ यह था कि उनके निधन के ठीक दो चार आठ दिनों के भीतर साहित्यकार लोग उनको लेकर किस तरह की बातें करते थे। लिखा था कि उनकी संगत में रहनेवाले लोग एक दूसरे को राजकमल की मौत (या हत्या) का जिम्मेवार ठहरा रहे थे। उसको तुमने मरवाया, तो तुमने—कुछ इस तरह की बातें। यह सब बताते हुए उन्होंने किसी लेखक को यह कहते हुए भी उद्धृत किया है—'तुम्हारी खुशकिस्मती से आज वह नहीं है। अब भी अगर उसे मालूम हो जाए कि उसको मरवाने का श्रेय तुमलोग ले रहे हो, तो वह बौखला उठे और चिल्लाकर कहे—यह सब बकबास है। मुझे कोई साला नहीं मरवा सकता। मैं तो जब तक जिया, खुद जिया। और अब मर गया हूं तो खुद ही मर गया हूं।

त्यागी जी के द्वारा उद्धृत यह बात मुझे सच्चाई के करीब दीखती है। मैं जितना राजकमल को समझ पाया हूं, या उन्हें बेहतर समझने वालों की जो राय मुझे मिली है; यही संभावित था। राजकमल की यह आदत बहुत ही पुरानी थी। वह श्रेय किसी को भी नहीं दे सकते थे, और दोष तो बिल्कुल भी नहीं।

एक दुर्लभ किस्म का संस्मरण यहां मुझे याद आता है। डॉ. काशीनाथ मिश्र मिथिला के प्रकांड संस्कृत विद्वान हैं। वह दरभंगा संस्कृत विश्वविद्यालय और पटना विश्वविद्यालय में संस्कृत साहित्य विभाग के अध्यक्ष रहे और बाद को तो वाइस चांसलर भी हुए। उन्हें उनके संस्कृत लेखन के लिए साहित्य अकादेमी पुरस्कार भी मिला। मुझे यह सौभाग्य मिला कि उनकी अध्यक्षता के दरम्यान दोनों विश्वविद्यालयों का मैं छात्र रहा और उनका शिष्य भी। वह चैनपुर (सहरसा) के निवासी थे और राजकमल के परिवार में उनकी शादी थी। राजकमल के वह बहनोई लगते थे। बुधवारय कुल में तो वैसे भी दामाद का बहुत सम्मान होता था, ऊपर से उनकी विद्वत्ता और आचार निष्ठा ने उन्हें और भी सम्मान्य बना दिया था। स्वयं राजकमल के बाबूजी (ज्येष्ठ पितृव्य) और पिता उनका बहुत सम्मान करते थे। उनकी दी हुई किसी 'व्यवस्था' को आदरणीय माना जाता था। हम उन्हें 'पीसा जी' कहते और उनकी पत्नी को 'दीदी'। यूं तो काशी बाबू अंग्रेजी के भी अच्छे ज्ञाता थे, लेकिन उनका व्यक्तित्व संस्कृत शास्त्रों के रंग में इस तरह रंगा था कि प्राचीन काल के किसी ऋषि मुनि जैसे प्रतीत होते थे—आचार में आदर्शवादी और चर्चा में अत्यंत ही गंभीर।

कभी वह ससुराल (महिषी) आए थे और संयोग से राजकमल भी उन दिनों गांव में ही थे। राजकमल के बारे में, जाहिर है, उनकी अच्छी राय नहीं थी। लेकिन, आप ससुराल में होते हैं तो आपको बहुत सारी औपचारिकताओं का निर्वाह करना पड़ता है। दोनों में बात होने लगी तो बात जम गई। और, जमते जमते काफी गइराई में प्रवेश कर गई। काशी बाबू ने मुझे बताया था कि किस विषय पर बात हो रही थी, ठीक ठीक याद नहीं कर पा रहा हूं। मान लें कि बात सौंदर्यशास्त्र पर हो रही थी और आते आते यहां आई कि कोई रचनाकार जब यथार्थ को अभिलिखित करने से पहले उसमें का कुछ छांटता है और कुछ नया जोड़ता है तो इस स्थिति में ठीक ठीक अनुपात बनाए रखने के लिए भावानुप्रवेश की कितनी भूमिका होती है, और इसके निर्णायक तत्वों में से विनिवेशन और अन्यथाकरण कहां तक ठठ पाते हैं। राजकमल इस तरह बातें कर रहे थे जैसे सारा कुछ उनका जाना हुआ हो, भोगा हुआ हो। काशी बाबू बहुत प्रभावित हुए। अब तक उन्होंने इसे जानने की भी जरूरत नहीं समझी थी कि राजकमल ने क्या क्या लिखा है, और उसमें क्या लिखा है। लेकिन, उस आदमी से इस तरह बातें करते हुए गंभीरता का उन्हें अहसास हुआ।

काफी देर बाद दोनों गहराई से धरातल पर उतरे। और और, घर परिवार, दुनियादारी की बात होने लगी। काशी बाबू तो ठहरे प्राचीन ऋषि परंपरा के व्यक्ति, जहां विद्या को तभी फलीभूत माना जाता है जब उसकी पुष्टि आचरण से होती दिखे। सो, काशी बाबू ने राजकमल से कहा—इतने अच्छे आप विद्वान हैं! इतने सौम्य और शालीन हैं। संवेदनशीलता का जो आपका स्तर है, वह किसी असाधारण प्रज्ञावान में ही दिखता है। लेकिन, सब कहते हैं कि हमेशा आप मदिरा पिये रहते हैं, वेश्यागमन करते हैं, झूठा आचरण करते हैं! क्यों करते हैं यह सब? यह सब चीजें आपकी महानता को स्फुटित होने में बाधा पैदा करती हैं फूल बाबू!

काशी बाबू की इस बात का उत्तर राजकमल ने क्या दिया था, वह तो काशी बाबू ने मुझे बताया था। लेकिन, कल्पना करता हूं कि यह उत्तर उन्होंने किस प्रकार दिया होगा! पहले तो उन्होंने अपनी सौम्यता और शालीनता की दमभर रक्षा करते हुए पूरी बात सुनी होगी। फिर वह हौले से मुस्कुराए होंगे। फिर उनके सपाट चेहरे पर थोड़ा विचलन आया होगा। जी थोड़ा कड़ा हो गया होगा। और तब वह कुरसी से उठकर खड़े हो गए होंगे और सामने रास्ते की ओर हाथ उठाकर कहा होगा—मिसर जी, देखिए! रास्ते पर वह आदमी जा रहा है न! उसे आप यहां से पुकारिए। बुलाइए। आपकी आवाज उसके पास पहुंचेगी। वह मुड़कर ताकेगा और आपके पास लौटकर चला आएगा। यही होगा न? और, मान लीजिए कि आपकी आवाज उस तक नहीं पहुंचे, तब? क्षमा कीजिएगा मिसर जी, आपकी

आवाज में इतना दम नहीं है कि आप मुझे लौटा लीजिएगा। आपकी आवाज की जद से मैं बाहर हूं आ गया मिसर जी। क्षमा कीजिएगा। और, चलकर विदा हो गए होंगे।

लेकिन फिर भी, ये सब तो अंततः दूसरों की सुनाई बातें हैं। दूसरों को सुनाने में लगता ही क्या है? जब स्वयं राजकमल को ही नहीं लगता था तो दूसरों को लगे भी क्यों? किंतु, दस्तावेज उपलब्ध हैं जब राजकमल ने नितांत ऐकांतिक क्षणों में अपने बारे में कुछ बातें बताई हैं। 2 जनवरी 1966 को उन्होंने शंभुनाथ मिश्र के नाम यह पत्र भेजा था। लिखा था कि 'मैं अच्छा आदमी नहीं हूं। छोटी छोटी चीजों के लिए मेरे मन में भयानक कमजोरियां हैं। मैंने स्वयं वक्त आने पर किसी दूसरे की सहायता नहीं की है। सिर्फ अपना ही स्वार्थ हमेशा मैंने देखा है। शराब, औरत, पैसा, ऐश आराम, यश—सारी बातों के लिए मैं अपने आपको और अपने आंतरिक समाज को ठगता रहा हूं। सच की नहीं, मैंने सिर्फ झूठ की जिंदगी बसर की है। इसलिए, ये सारी बीमारियां मुझे ही होनी चाहिए थीं, मुझे ही हुईं। यह किसी 'पाप' का फल नहीं है, मेरे अनुभवों का फल है। इस प्रतिफल को मुझे शांत होकर भोगना चाहिए।

अतः किस औकात पर कोई कह सकता है कि जो बुरी बातें राजकमल को लेकर कही जाती हैं, वैसे वह नहीं थे! हां, सोहना के छद्मनाम से लिखी इस चिट्ठी को ध्यान में रखकर कहा जाए तो सिर्फ यही कहा जा सकता है कि ऐसे जो राजकमल थे, वह सिर्फ 1966 में ही नहीं थे, ऐसे ही वह 1962, 1958, 1954 यहां तक कि 1950 में भी थे। संभवतः 1947 में भी, जब अपना देश आजाद हुआ था, और जब राजकमल ने मैट्रिक पास किया था। लेकिन, इसका यह मतलब तो नहीं कि जिस खराब 'छवि' के कारण उन्हें उन दिनों नहीं सुना जा सका, उसी आधार पर हम आज भी उन्हें अनसुना कर दें! वह हमसे गंभीरता की अपेक्षा करते हैं, यह कालिया जी के संस्मरण से भी स्पष्ट है। हम कायदे से उन्हें सुन लें पहले, निर्णय बाद में कर लेंगे!

उस निर्धारित दिन को परदेसी काका के साथ तो हमारी बात हुई ही, आगे जब तक वह जीवित रहे, और हमलोगों के सौभाग्य से उन्होंने लंबी उमर पाई, मुलाकात पर मुलाकात होती रही। उनके संबंध का एक सिरा अलग राजकमल से जुड़ा था तो दूसरा मुझसे। वह मुझसे बहुत संतुष्ट रहते थे। उनकी देखादेखी बुधवारय के अन्य बुजुर्गों में भी मेरे लिए स्नेह उमड़ता दीखता था। राजकमल के बाबूजी सुरेंद्र उर्फ मांगन चौधरी से उसी उमर में मेरी ऐसी दोस्ती थी, जिसे पुरानी दोस्ती कहा जा सकता था। लेकिन, वह दोस्ती अलग तरह की थी। वह किताब, खासकर उपन्यास पढ़ने के शौकीन थे, और मैं इस लाइन में नया नया दीक्षित हुआ था। हम दोनों ही समझिए, किताबी कीड़ा थे। हर रोज नई नई किताबों के साथ उनसे मेरा मिलना जुलना था। लेकिन, यह दोस्ती ऐसी नहीं थी कि राजकमल के विचलन के बारे में या लाल काका के किसी कृत्य के बारे में या कुल की किसी परंपरा या किसी विक्षोभ के बारे में वह कोई अकथ्य कथा मुझे सुना देते। इस मायने में तो वह वाकई लालकाका के भी अग्रज थे, जबकि वास्तव में भी वह लालकाका के सहोदर अग्रज ही थे। फिर, मेरी दोस्ती बच्चा काका (लाल काका के सहोदर अनुज) से भी थी, जो सभी अर्थों में के मेरे गुरु थे। मेरे प्रति अनुराग भी था। लेकिन, इस सबके बावजूद जो बातें वह मुझे बता पाते, उसकी गंभीर सीमाएं थीं। वह उस परंपरा से आते थे जहां मौत के बाद सारी सही गलत बातें दफ्न हो जाती हैं और कोई चरित्रगत बात यदि परंपरानुमोदित न हो तो उसे जितनी जल्दी हो सके, भूल जाना चाहिए। और, ऐसी बातों की चर्चा करना वह भूलने के विरुद्ध, और इस प्रकार सदाचरण के विरुद्ध मानते थे। वह ऐसी आज्ञाकारी पीढ़ी से आते थे, जहां यह सोचा भी नहीं जा सकता था कि उनके पिता या उनके अग्रजों से कोई गलती भी हो सकती है। कभी कभी वह कहते भी थे कि उनलोगों ने सही किया या गलत

किया, अपने हिस्से का किया, वह उनके खाते में जाएगा, उसका फल भी उन्हें भी भोगना होगा। मुझे यदि ईश्वर ने उनका पुत्र या उनका अनुज बनाकर भेजा है तो मेरा धर्म इसी बात में निहित है कि वे जैसा कहते हैं, वैसा मैं करूं। इतना कहते कहते कभी कभी उनकी आंखें भर आती थीं, और बोलते–इतना ही जानता हूं तारानंद कि उनके आज्ञानुसार किए गए किसी कार्य का यदि कोई कुफल होगा तो उसका वास्तविक भागी मैं नहीं होऊंगा। इस प्रकार का एक अद्भुत वाकया उनके विवाह में हुआ था, जब एकाढ़ गांव के ब्राह्मणों ने महापंडित फूदन चौधरी की कमेंटबाजी का बदला लेने के लिए ग्यारह सौ रुपए दहेज देकर उनके इस बेटे का विवाह अपने यहां करा लिया था। बात क्या थी? महापंडित की पालकी उस गांव से होकर जा रही थी। रास्ते में पेशाब लगी। पालकी रोकी गई। उन्होंने जानना चाहा कि यह कौन सा गांव है? और एकाढ़ का नाम सुनकर वह पालकी में वापस आ बैठे कि 'यहां का जल लेकर मैं लघुशंका करूं? इतने नीच गांव का?' और यह बात वहां का एक वर्चस्वी ब्राह्मण सुन रहा था!

कुल मिलाकर बात यह कि राजकमल के उदय और अस्त को लेकर बताने लायक मूलभूत बातें उनके पास भी नहीं थीं। कुछ तो अपने संस्कारों के कारण और कुछ इस कारण कि राजकमल की भवितव्यताओं और उनके अवदान का विश्लेषण वह कर नहीं पाते थे।

ऐसे में परदेसी काका की दोस्ती मेरे लिए बहुत बड़ा अर्थ रखती थी। मैं आजतक नहीं समझ पाया कि उन दिनों, जब कि साहित्य में मेरी आंखें खुल ही रही थीं, और आंखें भी कौन सी? एक परंपराजीवी गांव की संस्कृत पाठशाला में पढ़नेवाले देहाती भुच्च लड़के की आंखें! मैं राजकमल को लेकर इतना उत्सुक, इतना बेचैन, इतना पागल क्यों था? उन्हीं दिनों लिखे अपने एक प्रकाशित लेख में मैंने यह भी कह दिया था कि राजकमल मेरे मानस पिता हैं। याद आता है कि इस बात को लेकर 'तुमि चिर सारथि' की समीक्षा लिखते हुए मेरे मित्र सारंग कुमार ने मेरा काफी मजाक उड़ाया था, बहुत बुरा भला लिखा था! लेकिन, उन दिनों जो मेरी हालत राजकमल को लेकर थी, उसे मानस पिता से कम अंक आप दे भी नहीं सकते थे। परदेसी काका को यह चीज बहुत पसंद थी। उन्हें राजकमल में बहुत कुछ दीखता था, और वह चाहते थे कि यह औरों को भी दिखे। कुल क्रमागत संस्कारों के मामले में वह भी कुछ अलग नहीं थे। शिक्षक के पेशे ने उनमें आदर्शवादिता ही बढ़ाई थी। लेकिन, उन्होंने राजकमल को, बनते बिगड़ते और मिट जाते राजकमल को निकट से देखा था, और थोड़ा ही सही उनके साहित्य को भी पढ़ा था। उनके लिए एक आह थी उनके भीतर, एक करुणा थी। उनको मिटा देनेवाली चीजों, व्यक्तियों, स्थितियों के प्रति आक्रोश भी था, नफरत भी थी। वह भले कुछ न कर पाएं हों, लेकिन उन्हें अच्छा लगता कि कोई और इसकी कोशिश कर रहा है।

याद आता है, कई बार राजकमल और मुझमें, तुलना जैसी चीज भी वह कर जाते थे। वह कर सकते थे। लेकिन, मैं नहीं सह पाता था। कई बार तो मेरी आखें भर आती थीं। मैं इसे अपने कायदे भर ही उठाता था। अपने लिए परदेशी काका का समर्थन मैं इसे मान लेता। खुशी होती कि उनके सामने अपनी पात्रता साबित कर सका हूं। बहुत खुशी है कि मेरी यह पात्रता ताउम्र बनी रही। आगे चलकर जब मैं नौकरी में चला गया, पहले केंद्रीय विद्यालय फिर प्रशासनिक सेवा में, जयंती के आयोजन, राजकमल साहित्य परिषद् की गतिविधियां, राजकमल को लेकर ढेर ढेर तरह की कार्रवाइयां–यह सब तो कम हो गया, लेकिन परदेसी काका के साथ मेरी दोस्ती बदस्तूर कायम रही। गांव आता तो घंटों उनके साथ गुजारने का सिलसिला जारी रहता। और, इस क्रम में उन्होंने राजकमल को लेकर कई सारी ऐसी बातें बताईं जो वह किसी और को नहीं बता सकते थे, जैसे कोई और मुझे भी नहीं बता सकता था।

परदेसी काका की एक आदत बहुत विचित्र थी। वह झटके से कोई बहुत बड़ी बात, बहुत ही 'भारी बात' बोल देते, और जिज्ञासा के लिए या स्पष्टीकरण के लिए उनकी ओर देखो तो बहुत सादगी से मुस्कुरा देते थे। अगर ज्यादा जिद करो तो बस यही कहते कि 'सैह कहलियह' मतलब यही कहा। मैं समझता हूं कि राजकमल की आदत के यह बिल्कुल विपरीत थी। कभी कोई भारी बात राजकमल अगर कहते होते तो बातों का पूरा वजन उनके चेहरे पर उतर आता था। और, अगर आपने प्रतिप्रश्न किया तो यह भारीपन कई गुना बढ़ जाता था। और, यदि खंडन किया जाए या प्रतिपक्ष की भूमिका रखी जाए तो कई बार वह 'मारो काटो' तक की मुद्रा में आ जाते थे। कभी एक बार परदेसी काका से मैंने पूछा भी था कि इस फर्क को आप कैसे देखते हैं! उन्होंने कई दृष्टांत दिए थे। कई बातें तो उनके इंटरव्यू के रूप में 'मिथिला मिहिर' में उन्हीं दिनों मैंने छपवा भी दी थीं। इस बारे में उनका कहना था कि उत्तेजना राजकमल का स्थायीभाव थी। जरा सा भी आड़ा तिरछा वह बर्दाश्त नहीं कर सकते थे। कोई भी बात, यदि वह उनकी बात को काटने के लिए कही जाए, उन्हें इस तरह आहत कर देती थी मानो काटा बात को न गया हो, स्वयं उन्हें ही काट दिया गया हो। फिर वह कहानी बताने लगे थे कि हॉस्टल में राजकमल ने धनंजय नामक एक लड़के, जो मुंगेर जिले का निवासी था, की पिटाई सिर्फ इस बात के लिए कर दी थी कि वह अपने इलाके की मछली को सबसे स्वादिष्ट मानता था जबकि राजकमल का कहना था कि कोशी इलाके की कबई से ज्यादा अच्छी संसार की कोई मछली हो ही नहीं सकती है। दूसरी बात उन्होंने यह बताई थी कि हमेशा वह उत्तेजना की तलाश में रहते थे। न मिले तो पैदा करने की कोशिश करते। लेकिन, यह भी था कि जरा प्रेम से, अपनापे से समझा दो तो शांत भी उतनी ही जल्दी हो जाते थे।

—और, उन्हें प्रेम से समझानेवाला आपके जैसा मित्र था, यह कितनी बड़ी बात थी!

—वह बहुत अभागा था जी, बहुत अभागा था!

—कैसे?

—जानते हो, संसार में सबसे ज्यादा प्रेम वह किसको करता था, सबसे बड़ा स्थान किसको देता था?

—किसको?

—लालभाई को। वही उसके आदर्श थे। उन्हीं के जैसा वह बनना चाहता था। वह खुश हो जाएं, यही उसके लिए सबसे बड़ी बात थी। वे उसके माथे पर हाथ रख दें, पीठ थपथपा दें, इससे बड़ा इनाम उसके लिए कोई दूसरा नहीं था।

—ऐसा था?

—हां। देखो, संतान के बारे में शास्त्र क्या कहता है? कहता है—आत्मा वै जायते पुत्रः। पंडित लोग इसका जो भी अर्थ लगावें, हमको तो यही अर्थ लगता है कि आप जो चीज हैं, वही चीज एक और भाग में विभक्त हो जाती है, और वह होता है आपका पुत्र। और कहीं ये होता हो या नहीं होता हो, हमने तो अपनी आंखों से देखा है कि मधुसूदन चौधरी और राजकमल चौधरी के साथ यही हुआ था।

—लेकिन, काकाजी...

—हां। मालूम है कि तुम 'लेकिन' लगाओगे। सभी लगाते हैं। लेकिन एक बात जान लो!

—क्या?

—तुमलोग राजकमल को पढ़कर लेकिन लगाते हो या उसके बारे में समाज से सुनकर लेकिन लगाते हो। लेकिन, हमने तो इस लेकिन, को बनते हुए देखा है। और, समझ लो कि यह बात तुमको केवल हम ही बता सकते हैं।

—हां। यह तो अच्छी तरह मालूम है।

—राजकमल अपने को बॉस मानता था। दोस्त लोगों को वह बताता था कि वह बड़े जमींदार का वारिस है, सामंत है, जागीरदार है। उसके मिजाज में यह सामंतशाही भरी हुई थी। वह किसी को भी गुदानता नहीं था। बड़े से बड़े शेर खां से भिड़ने का कलेजा रखता था। यह बात तुमको मालूम है?

—हां काकाजी, यह बात तो अच्छी तरह से मालूम है। कई लोगों ने उनके बारे में यह बात लिखी भी है। कई जगह तो उन्होंने खुद भी लिखा है।

—लेकिन तुम तो इसी गांव के बाशिंदा हो। इस परिवार में तुम्हारी अच्छी पैठ है। देख ही रहे हो कि जागीर कहां है!

—हां काकाजी, जागीर तो वैसी नहीं है।

—तो बताओ कि राजकमल के स्वभाव में जो सामंतशाही थी, वह कहां से आई? मान लो कि लोगों पर अपना प्रभाव जमाने के लिए वह झूठ बोल देता होगा कि जमींदारों के परिवार से आए हैं। लेकिन मिजाज में वह बादशाहत कहां से आई? बताओ।

—कहां से आई?

—यह गुण उसमें अपने पिता से आया था, तारानंद! बचपन से उन्होंने यह देखा था। सबसे पहले तो यह देखो कि पंडित फूदन चौधरी का वह पहला पौत्र था। समूची मिथिला में पंडित जी का डंका बजता था। चार लड़के थे उनके। बड़े लड़के की उन्होंने शादी कराई तो कोई संतान नहीं हुई। फिर वह स्त्री मर गई। दूसरी शादी कराई। फिर भी संतान नहीं हुई। दूसरे लड़के की शादी कराई। उसको भी कोई संतान नहीं। फिर उसकी दूसरी शादी करा दी। तब एक संतान हुई। वह संतान पुत्र था। वह पुत्र राजकमल चौधरी था। समझ रहे हो कि यह कितनी बड़ी बात थी!

—हां। यह सचमुच बहुत बड़ी बात थी। समूचे 'खूट' में वह प्रथम पुत्र थे, जबकि उनके बड़े चाचा के भी तब तक कोई पुत्र नहीं था।

—और यह बात भी नहीं कि एकाध साल में कोई दूसरा पुत्र परिवार में आ गया। लंबे समय तक कोई उसका प्रतिद्वंद्वी नहीं आया। यह तो हुई एक बात। दूसरी बात यह देखो कि मधुसूदन बाबू जो थे, वह बहुत प्रतापी आदमी थे। उन्होंने अंग्रेजी ढंग से शिक्षा दीक्षा पाई थी। तेज विद्यार्थी थे। यशस्वी पुरुष के पुत्र थे। ऊंची महत्वाकांक्षा रखते थे। ज्ञान भी था। राजनीति करने का हुनर भी था। जहां रहते वहां इस तरह का माहौल बनाकर रखते कि उनकी इच्छा के विरुद्ध एक पत्ता तक नहीं खड़के। उनकी शासन व्यवस्था अंग्रेजों के ढंग की थी। अंग्रेजों के जमाने में वे हाई स्कूल के हेडमास्टर थे। और ऐसे पब्लिक सर्वेंट थे, जिन पर सरकार भरोसा करती थी। बहुत प्रकार से वह सरकार की मदद करते थे। और उनकी पहुंच ऊपर तक थी।

—हां काकाजी! बालक राजकमल यह सब चीज अपनी आंखों के सामने देखता होगा कि कैसे उनका डंका बजता है। कितना उनका प्रभाव है। जो भी उनके सामने आता है, झुककर आता है!

—और, जो मातृक था उसका, वह परिवार भी अपने इलाके में बहुत ही अधिक प्रभावशाली था। राजकमल का जन्म भी वहीं, रामपुर हवेली में हुआ था। वहां का जो जमींदारी ठाठ था, सो तो हमलोगों से अधिक ही था। और उसके मामा लोग उसे अपने प्राणों की तरह मानते थे। बचपन का उसका काफी समय वहां बीता। अब तुम समझ सकते हो कि चार बच्चे अगर साथ साथ खेलते भी होंगे तो साथ वाला बच्चा जरा सहमकर खेलता होगा कि भाई, इससे जरा बचके। ये फलां के पौत्र हैं, फलां के दौहित्र हैं कि फलां के पुत्र हैं!

—सही बात है। अपने समाज में आज भी यह होता है। और ये तो सत्तर पचहत्तर बरस पहले की बात है!

उग्रानंद ने राजकमल के मातृक के दिनों के कुछ विवरण अपने संस्मरण में दिए हैं। उन्होंने लिखा है कि बचपन में वह बहुत शैतान थे। जब कभी वह ननिहाल जाते तो अपनी मामियों को बहुत सताते थे। मैथिल ब्राह्मणों में मामी से मजाक करने का रिवाज होता है। वह मामियों से झूठमूठ कहते कि वह हाथ की रेखाएं पढ़ना जानते हैं। उनके हाथ अपने हाथों में लेकर वह इधर उधर की कुछ झूठी बातें बता देते फिर एकाएक बहुत जोर से वह उनके हाथ में अपनी अंगुलियां फंसाकर दाब देते। मामियां चिचियातीं। और, वह इसी शर्त पर हाथ छोड़ने के लिए तैयार होते थे कि वे साफ साफ बता दें कि रात में उन्होंने मामा जी के साथ क्या क्या किया। यह स्कूल के दिनों की बात है। उन दिनों उनकी एक और आदत थी, जिसका उल्लेख उग्रानंद ने किया है। वह कहीं चुपचाप खड़े रहते और एकाएक किसी के पेट को चुटकियों से पकड़ लेते और खूब जोर से दाबे रहते। वह आदमी चीखता रहता और उन्हें मजा आता। अधिकतर औरतों के साथ वह ऐसा करते थे—ननिहाल की औरतों के साथ। स्कूल में भी अपने कई सहपाठियों के साथ वह ऐसा करते थे। स्कूल के दिनों में तो वह फुटबॉल के भी अच्छे खिलाड़ी थे। फुटबॉल के मैच में ही उनकी एक टांग में चोट लग गई थी, जिसके कारण अपने उस पैर पर शरीर का बोझ कम डालकर चलते थे। यह लंगड़ाहट नहीं थी, सिर्फ एक पैर पर कम भार डालकर चलने की कला थी।

—उस बच्चे को पाकर बाबा नाना से लेकर चाचा मामा तक सभी गौरवान्वित थे। लेकिन, सबसे बड़ा गौरव जो व्यक्ति अनुभव करता था, वह थे लालभाई। बहुत आगे चलकर एक बार उन्होंने हमें बताया था कि फूलबाबू जब प्राइमरी और मिडिल में था तो उसको लेकर वे क्या सपना देखते थे?

—क्या देखते थे?

—देखते थे कि आगे यह लड़का या तो कलक्टर बनेगा या हाइकोर्ट का जज। और जानते हो, उनकी अनुभवी आंखें थीं। जीवन भर बच्चों को ही देखते आए थे। वह अगर उस लड़के में ऐसा देखते थे तो मानना पड़ेगा कि उसमें ऐसा गुण था।

—यह बात क्या राजकमल को मालूम थी?

—कौन बात?

—यही कि पिता उनको लेकर क्या सपना देखते थे।

—हां जी। बिल्कुल मालूम थी। वे तो दस लोगों में बालक राजकमल के सामने उसकी तारीफ पर तारीफ करते थे। विधान के मुताबिक तुम इसको गलत भी कह सकते हो। लेकिन वे करते थे। लालभाई भले बाद में उससे विमुख हो गए हों, लेकिन राजकमल पर हमेशा इसका असर बना रहा। नहीं, तो क्या समझते हो, सिपाही का कॉलर पकड़ लिया और बोल रहा है कि रे सिपाही, तुम्हारा जो नाना है न—एस. पी., वो भी हमको सैल्यूट ठोकता है! जबकि हो सकता है कि उस समय के एस. पी. से उसका परिचय भी नहीं हो। सवाल परिचय अपरिचय का नहीं है। सवाल मिजाज का है। सवाल मानसिक संरचना का है!

—और अपने पिता को लेकर यह गौरव राजकमल में भी था?

—हां, था। और यह कोई अस्वाभाविक भी नहीं था। तुम भी जानते होगे कि बेटा अपने बाप पर जाए और बेटी अपनी मां पर, तो उसका भवितव्य ठीक माना जाता है। दूसरी बात यह थी कि लालभाई अंग्रेजी, संस्कृत और हिंदी के उच्चकोटि के विद्वान थे। ध्यान रखो, केवल विद्वान हम नहीं कह रहे हैं, 'उच्चकोटि के विद्वान' कह रहे हैं। इसके साथ ही, गणित की उनकी प्रतिभा भी बेजोड़ थी। कविता बनाते थे, सो अलग। और, यही विद्या विनोद की प्रवृत्ति राजकमल में भी थी। ऐसा बेटा हो तो कौन गर्व नहीं करेगा। और, जितना स्नेह वे राजकमल को करते थे, वह उस बालक को जीवन भर के लिए बांध लेने के लिए काफी था। बोले न, लालभाई किसी बात पर उसकी पीठ थपथपा

दें, इससे बड़ा पुरस्कार उसके लिए संसार में और कोई था ही नहीं।

—लेकिन काकाजी! क्षमा कीजिएगा कि आपकी बात में हम फिर 'लेकिन' लगा रहे हैं! पर, जीवन के अंतकाल में आकर दोनों 'बापुत' के बीच जो तनाव था, जो द्वंद्व था...

—द्वंद्व था, सो ऐसा वैसा? लेकिन हम तुमको क्या बताएं? डर है कि बताएंगे तो तुम कहीं छपा दोगे, और मेरे जीते जी यह सब बात प्रकाशित हो, सो हमको उचित नहीं लगता है। नहीं बताते हैं तो अफसोस रहेगा कि तुमको दूसरा कौन बताएगा!

—आप निश्चिंत रहिए काकाजी। कहीं पर अगर छपाएंगे भी तो इस तरह कि इसका उद्देश्य परिस्थिति को समझना रहेगा, किसी पर दोषारोपण नहीं। और, दोषारोपण की बात भी क्या है काकाजी, सब तो केवल परिस्थिति है!

—देखो। 1965 ई. का अंत होते होते ही राजकमल मौत के मुंह में समा चुका था। घर परिवार में सभी उसे मरा हुआ ही समझ रहे थे। और कहोगे कि उसके लिए कोई आह थी, सो भी नहीं था। अब इसका यह भी मतलब नहीं कि अस्पताल में कोई उसे देखने भी नहीं गया। सब गए। लेकिन औपचारिकतावश! हम कैसे बताएं तुमको तारानंद, खुद लालभाई आजिज आ चुके थे कि वह मर जाए तो निश्चिंत होकर आगे की व्यवस्था देखेंगे। उनका रिटायरमेंट भी आ गया था, इसलिए कुछ अधिक ही व्यग्र थे।

—बाप रे!

—राजकमल डेढ़ वर्ष आगे तक कैसे जीवित रह गया, जानते हो? इसमें बहुत बड़ा रहस्य है। उसने खुद मुझे बताया था।

—क्या रहस्य था काकाजी?

—कहा जाता है कि साक्षात अक्षोभ्य शिव और महामाया उग्रतारा मानव तन धारणकर उसकी सेवा में नियुक्त थे।

—सेवा में नियुक्त थे? मानव तन में? कौन थे वे?

—अरे, उन दोनों के बारे में तुमलोग भी जानते होगे। हमें तो कभी उन दोनों से मिलने का सौभाग्य नहीं हुआ। राजकमल ने वादा किया था कि महिषी बुलाकर मिलाएंगे, वह भी नहीं हो सका। वे दोनों थे चंद्रमौलि उपाध्याय, और उनकी पत्नी थीं रोहिणी उपाध्याय, जिनको राजकमल 'मेम साहब' कहता था। जानते हो उन दोनों को?

—हां काकाजी, जानते हैं। वे पटना में रहते थे। सुना है कि गुजर बसर के लिए चाय की दुकान चलाते थे। यह भी सुना है कि राजकमल के देहांत के कुछ वर्ष के बाद उन दोनों ने साथ साथ आत्महत्या कर ली। लेकिन काकाजी, क्या आप इस बात पर विश्वास करते हैं कि वे दोनों अक्षोभ्य और उग्रतारा के मानव तन थे?

—तारानंद, एक बात बताओ! क्या तुमको मौत से लड़ते हुए किसी आदमी से कभी बात हुई है? कल्पना करो कि मौत और आदमी दोनों एक साथ एक कमरे में रात दिन रह रहे हैं। और वह भी कोई एक दो दिन नहीं, कई वर्षों तक। मौत हर पल इस ताक में है कि वह कब उसको मार दे और आदमी इस कोशिश में है कि कैसे वह मौत को चकमा देकर उसे कमरे से निकाल बाहर करे। इस तरह के आदमी से कभी तुम्हारी बात हुई है? ऐसी बातचीत, जिसमें उस आदमी की फीलिंग को सुन सको, समझ सको।

—नहीं काकाजी। नहीं हुई है।

—हमको हुई है। और, राजकमल से हुई है। वह आदमी फील करता था, उसका यह विश्वास था कि वे दोनों अक्षोभ्य और उग्रतारा के मानव तन हैं। तब बताओ, हमारे तुम्हारे विश्वास करने

या नहीं करने का क्या प्रश्न है? और सोचो कि यह अधिकार भी क्या हमें है? दूसरी बात। उन दोनों ने आत्महत्या कर ली बाद में, यह हमको मालूम नहीं था। लेकिन हमें तो लगता है कि इस घटना से राजकमल के विश्वास की ही पुष्टि होती है!

—लेकिन काकाजी, हम जितना उनको समझ पाए हैं, वह बहुत तर्कशील आदमी थे! यह विश्वास करना हमें तो भारी पड़ रहा है!

—अरे बाबू, भारी पड़ रहा है तो एक काम कर लो न! तुमलोगों की कविता में जो वो सब होता है बिंब, प्रतीक और क्या कहते हैं रूप...रूप...

—रूपक?

—हां, रूपक। उसी के रूप में इसको मान लो न! लेकिन हां, यह याद रखो कि वह आदमी मरना नहीं चाह रहा था, जीना चाहता था।

हमारे यहां के साहित्य में राजकमल को शैली का सरताज समझा जाता था। अपने लेखन में जो बात उन्होंने कही, उसे निश्चय ही खारिज कर दिया जाता, इतना गतिहत समाज मिथिला का था और ऐसे बहुज्ञ धर्मशास्त्री मैथिली के श्रेष्ठ आलोचक बने बैठे थे। खारिज करने की कोशिश भी हुई। बहुत कोशिश हुई। जहां यात्री नागार्जुन तक को बर्दाश्त करने की क्षमता लोगों में नहीं हो, वहां राजकमल को कौन सह सकता था! पहला तो कारण यह था कि 'डर भय' नामक चीज राजकमल के प्राणों में बास ही नहीं करती थी, इसलिए वह किसी से भी भिड़ जा सकते थे। भिड़ जाते भी थे। बार बार भिड़े भी। मगर, मैथिली का बुद्धिजीवी समाज बहुत पिच्छड़ समाज होता है। यहां 'वार्ता न लेने' की प्रथा चलती है। मतलब, पंडितजी ने सुना नहीं है। संज्ञान नहीं लिया है। आपका कहना महत्वपूर्ण नहीं है, महत्वपूर्ण है उनका सुनना। महत्वपूर्ण है उनका संज्ञान लेना।

1959 में राजकमल ने मैथिली में एक भीषण प्रहारात्मक कविता लिखी थी—'तथाकथित परंपरावादियों के प्रति'। कविता का अंत कुछ इस तरह होता था—

दादुर गण सरिता नहि डूबे
वामन नीलगगन नहि छूबे
यह बात कौन आपको समझाए?

आंख रहते जो हैं अंधे
कौन उन्हें रास्ता सुझाए
कविता रूई है, धुनते रहिए
दूसरों को नहीं है फुरसत कि धुनें
जो जो मन में आए गा लीजिए
दूसरों को नहीं अवकाश कि सुनें।

जवाब देने को तो परंपरावादियों ने इस कविता का जवाब कविता में दिया भी था—'तथाकथित नवतावादियों के प्रति'। लेकिन यह हाथी का, दिखाने का दांत था। सच यही था कि उनकी वार्ता नहीं ली गई। वह तो उनकी शैली ही थी, जिसने मर जाने के बाद फिर से राजकमल को खड़ा कर दिया। और, वह इस तरह उठे कि अजर अमर हो गए। वह उनकी शैली ही थी, जिसने किसी भी विधा को जस का तस नहीं रहने दिया। हमारे यहां मुहावरा है—नस ढीला करना, सो उन्होंने ऐसा ढीला किया कि तरल द्रव की तरह सारे ठोस यथार्थ यहां वहां गमन करते नजर आए। जब उनको लगा कि किसी बात को इतना खोलकर कहें कि हाहाकार मच जाए तो उन्होंने भाषा के समूचे लय

को पकड़कर वैसा किया। और, अगर उन्हें लगा कि सत्य के मुख को पिहित रखते हुए इतना ढककर कहें कि हाहाकार मच जाए तो सो भी किया। और मजे की बात यह कि अक्सर ढकेपन का हाहाकार खुलेपन की तुलना में इतना जोरदार होता कि उसे सदियों बाद तक सुने जाने की आशंका प्रकट की जाती। और, कलाकार वह ऐसे थे कि दया सागर का बाना धरकर स्पष्टीकरण के लिए एक पश्चलेख भी लिख मारते ताकि संस्कृति का चीत्कार थोड़ा मद्धिम पड़े कि वह आज रात चैन की नींद सो सकें।

ऐसा नहीं था कि जिन चीजों पर राजकमल ने लिखा वे विषय पहले से मैथिली में थे ही नहीं। सब था। स्त्री प्रसंग भी था, यौन प्रकरण भी। लेकिन वह अलग तरीके का था। मान लें, अगर लेखक को यह कहना हो कि पुराने जमाने के लोग सेक्स सुख लेने में ज्यादा माहिर थे तो इस तरह कहा जाता था—पुराने लोग तो 'कंचनजंघा' पर विजय प्राप्त करते थे और आज के नौजवान तो 'कुचविहार' से 'कटिहार' तक आते आते पस्त हो जाते हैं'। यहां ध्वनि थी, व्यंजना थी, रस था, अलंकार था। लेकिन, राजकमल का कहना था कि साहब, यह तो अश्लीलता की पराकाष्ठा है! आपके दिमाग में दुराचार कूट कूटकर भरा हुआ है, और आप संस्कृति की बात करेंगे? हम पर अश्लीलता का आरोप लगाएंगे? हटिए!

और, ऐसा भी नहीं कि शैली के महत्व का यह बोध उनमें बाद को विकसित हुआ हो। योगिराज ने लिखा है, कायदे से अपना लेखन शुरू करने के भी पहले, 1958 की किसी शाम कलकत्ता की लंबी सड़क पर चलते हुए, हठात रुककर राजकमल ने उनसे कहा था—हौ जी, कथाक मूल वस्तु की छैक बुझलहक? कहानी की मूल चीज क्या है, समझते हो? मूल चीज है शिल्प। कथ्य तो समझो कि सारी कहानियों का कुल एक ही होता है, शिल्प ही है जो उन्हें अलग अलग करता है। क्या लगता है, अब भी दुनिया में कोई कथ्य बचा रह गया है, जिस पर कोई कहानी या उपन्यास नहीं लिख दिया गया हो? फिर हम तुम क्या लिखेंगे? क्या लिख सकते हैं? एक शिल्प ही है जो हमें नवीन घोषित कर सकता है और हमारा निजत्व प्रतिपादित कर सकता है।

लेकिन जो लोग राजकमल से व्यक्तिशः जुड़े रहे हैं, वे केवल उनकी साहित्यिक समझ पर ही निर्भर क्यों रहें? महान आलोचक नामवर सिंह ने भी तो उन पर व्यंग्य करते हुए कहीं लिखा ही है कि 'व्यक्ति' राजकमल तो अपनी रचनाओं से भी कहीं ज्यादा महान था! अब, सोहना के नाम से राजकमल के लिखे पत्र को ही ले लें। यह पत्र तो उन्होंने 1958 के भी काफी पहले 1950 में तब लिखा था, जब वह इंटरमीडिएट के न केवल फेलियर विद्यार्थी थे, बल्कि सप्लीमेंट्री भी नहीं निकाल पाए थे। देखकर अचरज लगता है कि एक सफेद झूठ, जिसकी पैदाइश ही सिर्फ 'लौंडों पर रोब गांठने' के लिए हुई है, अपनी प्रस्तुति में कितना खास है! पहले तो विगत पांच साल की कहानी, वो भी मुकम्मल नहीं टुकड़े टुकड़े में, और वो भी सीधे क्रम में नहीं—कहीं पीछे का पहले और आगे का या तो बाद में या फिर पूरी तरह अनुपस्थित! और, ऊपर से यह कि दो लोगों की कहानी साथ साथ, कि पिछले तमाम वर्षों में दोनों में से किसने क्या किया! न केवल क्या किया बल्कि क्या कहा क्या सोचा भी! साफ दीखता है कि मैट्रिक पास करते करते उस आदमी का शैलीकार निर्मित हो चुका था!

हमें बार बार इस बात की उत्सुकता होती कि वह कौन सी चीज है, जिसने इस अद्भुत शैलीकार को जन्म दिया! हमने उनका लिखा पढ़ा। उन पर लिखा भी पढ़ा। उनके पत्र पढ़े। उनके हित मीत से, सखा संततियों से बात की। ऐसा कोई भी आदमी हमें उपलब्ध नहीं था, जिससे हम प्रश्न करें कि वह कौन सी चीज थी, और वह साफ साफ बता दें कि वाकई वह कौन सी चीज थी। उसे ढूंढ़कर निकाला जाना था, जो अंधेरे की सात तहों के भीतर दबा था। राजकमल के बचपन के दिनों को बता सकने लायक कई व्यक्ति हमें उपलब्ध थे। उनके साथ पढ़ाई करने वाले भी थे। और, उनके साथ लेखन, चर्चा परिचर्चा, गोष्ठी संगोष्ठी करनेवाले लोगों की तो कमी ही नहीं थी। हमने सबके

साथ संगत की। और, धीरे धीरे हम इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि वह चीज थी—उनकी दुर्लभ कल्पनाशीलता। जो चीज उन्हें लिखनी होती, वह पहले से ही, लगभग ठीक ठीक उसी रूप में उनके मनोमस्तिष्क में प्रकट हो चुकी होती थी। अब, चीज चूंकि अपने मुकम्मल रूप में प्रकट हो चुकी है, उसे कलात्मक अभिव्यक्ति देने के लिए उनके पास पर्याप्त सुविधा बन जाती थी। वह उसे काट छांटकर तराश देते। यूं कहा जाए कि वह उसे घुला डालते और अपने मनमाफिक आकार में ढाल लेते। उनकी रचना कहीं से भी शुरू होकर कहीं कहीं से गुजरते हुए कहीं को भी समाप्ति प्राप्त कर सकती थी। कहना चाहिए कि उनकी रचना में उतरने पर तीनों ही काल—भूत, वर्तमान, भविष्यत—लड़खड़ाते नजर आते थे। और, लिखने पढ़ने की आदत उनकी ऐसी थी कि अपने लिखे हुए को वह उलटकर पढ़ते भी नहीं थे। लिखा, लिफाफे में बंद किया और जिसे भेजना है, भेज दिया! एक जिस्ता सादा कागज खरीदा, अपने हाथों एक नोटबुक बनाई और चार पांच दिनों में पचास कविताएं लिखकर जिसे देना है, दे दिया। यही वजह है कि उनकी कविताओं की कांपियां उनसे जुड़े लोगों के पास तो मिलती ही हैं, गांव के परचून दुकान में भी मिल सकती हैं।

और, शशिकांता जी ने हमें बताया था—लिखते थे वह रात को। खा पीकर मच्छड़दानी में घुस जाते, टेबुल लैंप और टेबुल फैन अंदर कर लेते। अमूमन रात के दो तीन बजे तक लिखना चलता रहता था। और, योगिराज ने बताया था कि कलकत्ते में जब वह पुतियारी इस्ट में रहते थे तो पड़ोसी होने के लाभवश सुबह सुबह उनसे मिलने जाते और पाते थे कि उनका डस्टबिन हर दिन, फाड़े हुए पन्नों से भरा रहता था। वे ऐसे पन्ने होते, जिन पर लिखी गई रचनाओं की शुरुआत राजकमल के मनोनुकूल न हो पाती थी। योगिराज ने बताया है कि वह उनको निकालकर पढ़ा करते और कई बार राजकमल से बहस करते कि भाई, यह कहानी तो ठीक ही जा रही थी, इसे क्यों फाड़ दिया?

—इसका क्या मतलब हुआ? क्यों फाड़ देते होंगे? उसको भी रखते। बाद में परीक्षण करके देखते कि कौन सही बैठ रहा है—मयंक ने मुझसे पूछा था।

मैंने आंखें गुराड़कर उसकी ओर देखा था—उस आदमी को जानने के बाद भी यह बात बोल रहे हो? वह कभी बाद के लिए कुछ छोड़ सकता था क्या? सही है या गलत है, इसका फैसला भी उसे तत्क्षण चाहिए था।

और, हम उनकी रचना प्रक्रिया पर बात करने लगे थे। निष्कर्ष यह था कि अचूक और अविच्छिन्न कल्पनाशीलता ही उनकी सबसे बड़ी ताकत थी।

याद आता है अगले दिन जब परदेसी काका से हमारी बात हुई थी, उन्होंने कुशल समाचार पूछा था, और हमने उनसे पूछा था कि काकाजी, राजकमल की सबसे बड़ी ताकत उनकी अचूक कल्पनाशीलता थी! इस बारे में आप क्या सोचते हैं?

वह टुक टुक हमारा मुंह ताकने लगे। उनका मतलब था कि क्या कहना चाहते हो?

—कहना चाहते हैं कि राजकमल के साहित्य को कभी भुलाया नहीं जा सकेगा। एक सभ्यता की अमिट कहानी बनकर वह हमेशा पीढ़ियों की स्मृति में बना रहेगा। और कहना चाहते हैं कि इसमें सबसे महत्वपूर्ण भूमिका होगी उनकी शैली की। और ऐसी शैली वह विकसित ही इसीलिए कर पाए कि उनमें अद्भुत कल्पनाशीलता थी। वह इतनी गहराई से सोचते थे कि हर घटना, हर सोच उनके लिए पारदर्शी बन जाती थी। तरल द्रव की तरह, जिसको वह जैसे चाहें, उस रूप में ढाल देते थे!

—और, क्या कह रहे हो कि यही उसके साहित्य की सबसे बड़ी ताकत है?

—हां काकाजी। हमको लगता है...

वह मेरी आंखों में जैसे टुक टुक ताक रहे थे, ताकते रह गए। जैसे मेरे से उस पार कोई चीज हो, जिसको वह देख रहे हों, और उसका अर्थ निकालने की कोशिश कर रहे हों।

—तुमलोग साहित्य के आदमी हो। अगर तुमको लगता है तो जरूर ऐसा ही होगा। लेकिन, हम तो जितना उस आदमी को जानते हैं, हमें तो दूसरी चीज दिख रही है तारानंद!

—क्या दिख रहा है?

—दिख रहा है कि कल्पनाशीलता को तो तुम उसकी सबसे बड़ी ताकत मान रहे हो, लेकिन इस कल्पनाशीलता ने ही उसको मार दिया।

—मार दिया?

—हां मार दिया। वह इस मुकाम पर पहुंच गया कि मर गया।

—कैसे काकाजी, कैसे?

—देखो, वह आठ नौ बरस का रहा होगा, जब लालभाई ने तीसरी शादी की थी। कुछ ही दिन पहले उसकी मां मर गई थी। मां थी तो मां ही, लेकिन उनके जीते जी राजकमल के जीवन में उनका कोई विशेष रोल नहीं था। पिता ही उसके लिए सब कुछ थे। मां का अभाव भी जो उसको महसूस हुआ, वह उनके मरने के बाद ही। समझो कि उसको अगर मां की गोद में सिर रखने की जरूरत कभी महसूस हुई तो वह उनके मरने के बाद ही। इसको क्या कहोगे? विधाता का विधान था!

—फिर? हमें लग रहा था कि जैसे वह कोई जरूरी बात बताने वाले हों।

—देखो, उस समय लालभाई की उमर 37-38 साल होगी। उनकी दो दो पत्नियां इसी उमर में मर चुकी थीं। आगे पहाड़ जैसा जीवन था। तीन तीन बच्चे थे। नौकरी थी। घर परिवार था। फिर विवाह नहीं करते, सो कठिन बात थी। लेकिन, आज सोचते हैं तो लगता है कि उन्होंने गलती की। समाज में जो नियम सनातन से चलता आया था, उन्होंने उसका अनुसरण किया। लेकिन, वह विद्वान आदमी थे। नए युग के आदमी थे। उनको नए तरीके से सोचना चाहिए था। उनको यह बात कभी नहीं भूलनी चाहिए थी कि राजकमल उनको कितना प्यार करता है। उनको अपनी आगे की जिंदगी उस लड़के के लिए सौंप देनी चाहिए थी। बहुत लोग ऐसा करते भी हैं। जो करते हैं, उनका भविष्य सुख में गुजरते हमने देखा है। लालभाई नहीं कर सके तो परिणाम क्या हुआ? उनका सुख चैन छिन गया। बहुत दुखद उनका मरण हुआ।

—लेकिन काकाजी, भविष्य की यह झलक उस समय एक बार भी उनके मन में नहीं आई होगी?

—देखो, वे गंभीर आदमी थे। नहीं आई होगी, यह कहना मुश्किल है। जरूर आई होगी। लेकिन हमको दो कारण दिखते हैं कि भवितव्य होकर रहा। बाद में राजकमल ने भी हमको बताया था।

—उन्होंने क्या बताया था?

—उसको छोड़ो। असल में, आगे उसके चरित्र में कई खराबी आ गई थी। वह चुरा चुराकर लालभाई की डायरी पढ़ता था और वो सब बातें उसको याद भी थीं, जो हमें बताता था। लालभाई भी कवि स्वभाव के व्यक्ति थे। लिखते थे तो सब खोलकर लिखते थे।

—दो कारण क्या क्या?

—वही। शरीर की अपनी जरूरत होती है। सबको होती है। वह नैष्ठिक व्यक्ति थे। संभ्रांत और प्रतिष्ठित थे। इसलिए विवाह ही रास्ता था। दूसरी बात यह थी कि उनको विवेकपूर्वक विचार करने का अवसर नहीं मिल सका। सूझबूझ से सोचते कि करना चाहिए कि नहीं करना चाहिए। निष्ठावान प्रकृति के लोगों से राय विचार करते, बच्चे का भी मन टटोलते। नौ बरस की उमर कोई कम उमर भी नहीं होती है। खास करके तब जब बच्चा राजकमल चौधरी हो। लेकिन उनको मौका नहीं मिल सका।

—क्यों नहीं मिल सका?

—उस समय उनकी पोस्टिंग जयनगर में थी। वह प्योर मिथिला का इलाका है। वहां उनकी धाक भी बहुत थी। उस इलाके में दस दस विवाह करनेवाले लोग भी उस जमाने में मौजूद थे। प्रतिष्ठित लोगों की उमर नहीं देखी जाती थी। सत्तर बरस के बूढ़े का विवाह भी तेरह वर्ष की कन्या से हो जाता था। हां खर्च जरूर पड़ता था। दलाली घटकैती का धंधा एकदम व्यापारिक रूप से चलता था। विवाह के लिए सभागाछी लगती थी। उस हिसाब से देखो तो लालभाई की उमर ही क्या हुई थी! सो, मंगरौनी गांव के कुछ लोग उनके लगुआ भगुआ हो गए थे। वो लोग हाथ धोकर उनके पीछे पड़ गए। और मजबूर होकर उन्हें हां कर देना पड़ा।

—आगे फिर क्या कैसे हुआ?

—देखो, राजकमल ने हमें उस समय के बारे में बताया था कि नई मां से उसको कुछ खास परेशानी नहीं होती थी। अपनी शक्ति के अनुसार वह सब कुछ को सम्हालकर ही चलती थीं। वैसे, उस समय उनकी भी उमर क्या थी! ज्यादा से ज्यादा पंद्रह साल। राजकमल को असली परेशानी अपने पिता से हुई थी। समझो कि उनके व्यवहार में आए परिवर्तन को देखकर वह स्तब्ध रह गया था।

—ऐसा क्या हुआ था?

—देखो, जैसी परिस्थिति लालभाई की थी, इस परिस्थिति में जो भी कोई आदमी विवाह करता है, वह यह थोड़े ही बोलता है कि अपने सुख के लिए विवाह कर रहे हैं या संपत्ति की सुरक्षा के लिए कर रहे हैं। बोलते तो लोग यही हैं कि इन छोटे छोटे बच्चों को कौन देखेगा, कौन पाले पोसेगा? रिवाज है कि यही बोला जाता है। लालभाई भी यही बोले थे। लेकिन जानते हो, राजकमल ने इसको बहुत भारी इशू बना लिया?

—इशू क्या बना लिया?

—मतलब कि कल तक आप हमेशा हमको अपने साथ रखना पसंद करते थे। तरह तरह की चीज लाकर देते थे। जान से बढ़कर मानते थे। अब आपके पास फुरसत ही नहीं है। साथ रहने की कोशिश भी करें तो टरका देते हैं। उत्साहित होकर कोई सीखी हुई बात, कोई जानी हुई घटना बताने भी लगें तो आपका ध्यान दूसरी तरफ रहता है। देखो, दोष असल में लालभाई का क्या रहेगा! इस परिस्थिति में तो किसी के भी साथ यह सब होगा। असल समस्या थी राजकमल की थिंकिंग। तेज तो वह था ही, संवेदनशील भी बहुत था। और, लालभाई ने अपने उपदेश से उसको सत्य के पथ पर चलना भी सिखा दिया था। तो, उसने इशू बना लिया कि साहब, आप ऐसा तो नहीं बोले थे। आपने तो कहा था कि हमारी परवरिश के लिए, हमारी देखभाल के लिए आप नई मां को ला रहे हैं। आपने जैसा कहा था वैसा तो आप कर नहीं रहे हैं। हमारा तो जो सुख था, उसे भी आप छीन रहे हैं!

—ओह!

—इसके साथ साथ क्या हुआ कि एक बड़ी भारी गलती लालभाई से हो गई।

—क्या गलती हुई?

—देखो, राजकमल जब और थोड़ा बड़ा हुआ तो जो फीलिंग उसके भीतर आती थी, उसे वह पिता को बताने भी लगा। दूसरा यह हुआ कि जब उपेक्षा में उसका समय बीतने लगा तो वह घर में बदतमीजी भी करने लगा। उसकी यह शिकायत उसकी मां की मारफत पिता के पास पहुंचती। यह चेतने का समय था। समझो कि एलार्मिंग सिचुएशन आ गया था। लेकिन लालभाई नहीं समझ पाए। और, उस लड़के के साथ मार पीट करने लगे। उनसे वह कोई उलटा पुलटा सवाल जवाब करे तो उसके लिए भी पिटाई। लालभाई की और कोई गलती हम नहीं मानते हैं, तारानंद। सब कुछ जो हुआ वह परिस्थितिवश हुआ। उसमें वे क्या करते? समाज का रिवाज था, घर परिवार हिफाजत

करने की बात थी। राजकमल इसमें भी उनको दोषी मानता था, लेकिन हम नहीं मानते हैं। पर, इसको क्या कहोगे? यहां पर उनको अपनी अंग्रेजियत छोड़ देनी चाहिए थी। और, मारते भी थे कैसे? बिल्कुल हैवान की तरह। शायद ही कोई दिन होता कि उसकी पिटाई नहीं होती थी।

—काकाजी, ये सब बातें हम जानते हैं, कोई कोई नहीं भी जानते हों, अधिकतर तो जानते ही थे, उन्होंने खुद भी कहीं कहीं लिखा है। लेकिन जिस तरह आप कह रहे हैं, यह तो रोंगटे खड़े कर देनेवाला है! हमने उनकी तारीफ की।

—वो तो है। लेकिन, उसका जीवन बहुत कष्टप्रद गुजरा जी। नहीं, तो जैसी प्रतिभा लेकर वह आया था और लालभाई ने शुरू में जिस तरह उसका प्रतिपाल किया था, अगर वही निभ जाता तो हम दावा करते हैं रवींद्रनाथ के बाद वही भारतीय लेखक होता जो नोबेल जीतता।

—आप उनके बचपन के बारे में बता रहे थे!

—हां, वही बोल रहे थे। तुम जरा सोचो कि इस हालत में कोई बच्चा क्या करेगा। वह अंतर्मुखी होता चला गया। हरदम वह सोचता रहता था और प्लानिंग बनाता रहता था।

—प्लानिंग क्या चीज की?

—इस चीज की कि पिता को अधिक से अधिक संतापित कैसे किया जाए! कैसे उन्हें इतना परेशान किया जाए कि वे भी उसी तरह तड़पें जैसे हम तड़प रहे हैं। इसी प्लानिंग में उसका समय कटता। इस हालत में बच्चा क्या पढ़ेगा और क्या लिखेगा, समझ ही सकते हो। और, आइडिया का तो वह मास्टर था। लंबा से लंबा कारनामा वह एक पल में सोच सकता था। और जो सोचता उसे करता। इसका फल होता कि उसकी और ज्यादा पिटाई होती। घर में जो नौकरानी थी, एक बार उसका स्तन पकड़कर इतना जोर से रगड़ा कि वह बाप बाप करने लगी। फल यह हुआ कि उसकी भयावह पिटाई हुई। लेकिन पिटाई से जितनी तकलीफ उसे होती, उससे ज्यादा आनंद होता था कि चलो, मजा तो चखा दिए न!

—हां काकाजी, नौकरानी के बारे में उन्होंने एक जगह लिखा भी है। उसका नाम शकुन था।

—नाम क्या था, यह तो हमको याद नहीं है, लेकिन जानते हो, उसी नौकरानी ने इन तीनों भाइयों को बचपन में पाला पोसा था। बड़े होने पर हमेशा राजकमल ने उसको मां जैसा सम्मान दिया। लेकिन जब वह बहुत बूढ़ी हो गई और किसी काम लायक नहीं रही तो राजकमल से छिपाकर लालभाई ने उसे घर से निकाल दिया। इस घटना को लेकर भी दोनों बापुत में भारी झगड़ा हुआ था।

—ओह!

—और क्या था कि लालभाई ने अपने जिम्मे बहुत सा काम ले रखा था। नौकरी थी। समाज था। धाक बनाए रखने के लिए और भी बहुत कुछ करना पड़ता था। फिर मनोरंजन। ऊपर से वह ट्यूशन भी पढ़ाते थे। जीवन शैली सामंती थी, सो अलग। इस सबके कारण उनका स्वभाव ऐसा हो गया था कि हर चीज के बारे में उनकी रेडीमेड धारणा होती थी। इसी के वशीभूत होकर वे कोई भी निर्णय लेते थे। राजकमल को लेकर जो एक बार उनकी धारणा खराब हुई तो बस हो गई। इस हिसाब से अगर दोनों बापुत के परस्पर व्यवहार की तुलना करो तो राजकमल का व्यवहार ही तुमको ज्यादा सौम्य और शालीन दिखेगा। लेकिन, हम जानते थे कि राजकमल भी यह व्यवहार केवल औपचारिकता के लिए करता था। भीतर से उसको उनसे बहुत घृणा थी और भारी संघर्ष था। हम तो समझते हैं कि महामाया को इस सबके बाद भी उससे कुछ करवाना था, सो उनके हाथ में कलम आ गई। अगर वह लेखक नहीं होता तो मर्डरर होकर जेल में सड़ता।

—जमीन जायदाद के बारे में भी कहा जाता है कि राजकमल के साथ उन्होंने इंसाफ नहीं किया।

—यह बात क्या पूछते हो! गंगा के बारे में भर्तृहरि ने लिखा है कि एक बार जब वह शिव की

जटा से गिरती है तो फिर गिरती ही चली जाती है! पाताल पहुंचकर ही उसका वास होता है! वही बात है। उनकी सबसे बड़ी गलती तो हम यह मानते हैं कि 1966 में जब राजकमल पटना अस्पताल में भरती था और मौत से जूझ रहा था, तब, उसी दौरान उन्होंने मदन (राजकमल के सौतेले भाई) का विवाह कराया। यह उनको किसी भी हाल में नहीं करना चाहिए था। उनको उस समय राजकमल को देखना चाहिए था। वह कंगाल होकर मर रहा था। उसकी मदद पहले जरूरी थी। और जानते हो, राजकमल अस्पताल में भी लालभाई के लिए रोता था। लेकिन, बताए न! वे तो पहले ही उसे मरा हुआ मान चुके थे और 'आजिज आजिज' हो गए थे।

—कि वास्तव में जल्दी से क्यों नहीं मर जाता!

—हां। लेकिन बताए ही। वह फिर भी नहीं मरा और स्वस्थ होकर महिषी आ गया। लालभाई भी रिटायर्ड होकर आ गए। अब तुम सोच सकते हो कि परिवार में तनाव की स्थिति क्या रही होगी। इसका कुफल लालभाई को ही भोगना पड़ा। घोर अशांति में उनका देहांत हुआ। हार्ट फेल कर जाने से। राजकमल ने पहले ही उनके आमने सामने घोषणा कर दी थी कि हम अपने भाग्य से जीवित बच गए हैं लेकिन आप तो हमें मरा हुआ मान चुके हैं, इसलिए मेरे जीवित रहते अगर आप मरेंगे तो मैं आपको मुखाग्नि नहीं दूंगा। इसमें मेरी धर्म क्षति नहीं होगी क्योंकि यह निर्णय मैंने आपकी ही धारणा के अनुरूप लिया है। वही हुआ भी। उसने मुखाग्नि नहीं दी लेकिन श्राद्ध बढ़िया से कराया।

—ओह! एक शानदार संभावना का कैसा दारुण अंत हुआ काकाजी! यह बहुत ही दुखद है!

—हमको तो लगता है तारानंद, तेरह चौदह साल की उमर में पिता से जो लड़ाई शुरू हुई थी— वह कहता था कि जिंदगी तो उसने सिर्फ बारह वर्ष ही जी, बाकी जो था वह सिर्फ दुःस्वप्न था— सो, जो लड़ाई शुरू हुई थी, उसने 38 की उमर में आकर वह लड़ाई जीत ली और उसके लिए अब संसार में कोई काम ही नहीं रह गया था, सो खुद भी चल दिया!

—ओह! लेकिन काकाजी, बात चली थी कल्पनाशीलता की, और आप उनके बचपन की कहानी बताने लगे थे।

—चलो, फिर कभी बात कर लेना!

वह बेहद उदास हो गए थे।

अगली बार जब हम परदेसी काका के पास पहुंचे थे तो उन्होंने एक किताब निकालकर दी थी। वह एक उपन्यास था, लेकिन राजकमल का लिखा हुआ नहीं। बोले थे—इसे देखो। उपन्यास का नाम था— 'महिमा', लेखक थे गंगा प्रसाद मिश्र। किताब 1945 की छपी थी। देखने की बात यह थी कि किताब के ऊपर और नीचे सादा पन्ने जोड़कर जिल्द चढ़ा दी गई थी। और, उन सादा पन्नों पर प्यार भरी, छायावादी रुझान की कविता पंक्तियां लिखी गई थीं। आगे जाकर काव्य पंक्तियां गद्य में बदल गई थीं। पंक्तियां दो स्टाइल की लिखावट में थीं। एक प्रकार की लिखावट वाले लड़के का नाम 'एम. कुमार', फिर आगे जाकर 'कुमार' था जबकि दूसरे प्रकार की लिखावट वाली एक लड़की थी, जिसका नाम श्याम, श्यामा और फिर आगे जाकर शेमा था। पक्तियों को देखने से यह स्पष्ट होता था कि दोनों सहपाठी थे, एक दूसरे को प्यार करते थे और यह 1947 की बात थी। सारा लिखा हुआ पढ़ लिया जाए तो यह स्पष्ट होता था कि 21 मार्च 1947 को आखिरी बार लड़की ने प्यार का संदेशा लिखा था। फिर, 13 मार्च 1948 को कुमार द्वारा इस पर अंकित टिप्पणी से पता चलता था कि श्यामा सदा के लिए चली गई, यानी कि मर गई। सोहना के पत्र से हमारा पाला पड़ चुका था, इसलिए हमने लिखावट के पैटर्न पर, अक्षरों पर, दोनों पैटर्न के अक्षरों में सायास फर्क पैदा करने की अदाकारी पर भी ध्यान दिया था। और, हमने पाया कि दोनों लिखावटें एक ही व्यक्ति की हैं। और वह व्यक्ति

था एम. कुमार, अर्थात मणींद्र कुमार अर्थात राजकमल चौधरी। इस पर उसी साल की तारीखें थीं, जिस साल राजकमल ने मैट्रिक पास किया था।

पन्नों पर अंकित पूरे वाकये को पढ़कर, और उस पर दिमाग लगाकर हमने सिर उठाया था और परदेसी काका की ओर देखा था।

उन्होंने पूछा—क्या बोलते हो?

हमने कहा—अद्‌भुत है! श्यामा नामक कोई लड़की क्या सच में उनकी क्लासमेट थी?

—हां थी। वह एक डाक्टर की बेटी थी।

—उसकी लिखावट का भी कोई नमूना आपके पास है?

—नहीं। वह कहां से होगा!

हम कह सकते थे कि अपने सहपाठी लड़कों पर रोब जमाने का यह भी एक तरीका था। राजकमल को लेकर विद्वानों के सोचने विचारने का जो तरीका रहा है, उसके हिसाब से देखें तो सभी यही कहेंगे। लेकिन, राजकमल को देखते देखते हम जहां तक आ पहुंचे थे, सिर्फ यह कह जाना पर्याप्त नहीं रह गया था। कुछ और भी चीजें तो बिलकुल स्पष्ट दिख रही थीं। जैसे यह कि हाई स्कूल के जमाने में साहित्य पढ़ने की और समझकर मंथन करने की भी बेहतर क्षमता उन्होंने अर्जित कर ली थी। दूसरे, तब का जो प्रचलित कविता रूप था, छायावादी और हालावादी और प्रगतिवादी काव्य रूप, उनमें काव्य पंक्तियां जोड़ने का हुनर भी उन्होंने विकसित कर लिया था। और सबसे बढ़कर गद्य की भी ऐसी भाषा, जिसमें साफ साफ विना लाग लपेट के अपनी बात कही जा सके, उन्हें लिखना आ गया था।

हाई स्कूल में हमने भी पढ़ा था। लड़कियां हमारे साथ भी थीं। सभी पढ़े लिखे लोग कभी न कभी हाई स्कूल में होते ही हैं। सभी के साथ सहपाठी लड़कियां भी होती हैं। सभी लड़कियों की तरफ आकर्षित होते हैं। कई लोग दोस्ती भी करते हैं। कई लोग उसके आगे भी बढ़ते हैं। प्रेमपत्र लिखे जाते हैं, कसमें खाई जाती हैं। यह सब होता रहता है। यह सब सृष्टि की सुंदरताएं हैं। लेकिन, आपने कोई उपन्यास पढ़ा। वह एक लव स्टोरी है। उसमें कहानी जहां पहुंचती है, भावनाएं जिन घुमावों से होकर प्यार का अमृत चखती हैं, उनमें से किसी जगह पर आपने अपने आपको रख लिया, समझें कि आप स्वयं कहानी में प्रवेश कर गए और अपने मुताबिक घटना को परिणति की तरफ घुमाने लगे—अपना नियंत्रण कायम रखने के लिए आपने ढेर सारी पंक्तियां जहां तहां जोड़ीं—कुछ कविताएं, कुछ शेर, कुछ सपाट बयानियां, कुछ विचार, कुछ कोटेशन—मैं सोचता हूं कि हाई स्कूल में पढ़नेवाले एक बच्चे की क्षमता के हिसाब से यह कुछ ज्यादा था। यह बताता था कि दोनों ही स्तरों पर—बोध और प्रयोग में भी, वह विशेष था। लेकिन, मजे की बात थी कि यह विशेषपन इतने तक भी सीमित नहीं था। इन तमाम अभिव्यक्तियों को उसने संबोधन की शैली दी थी। और, जिसको संबोधित किया गया, वह एक लड़की थी। वह वास्तविक रूप से एक लड़की थी। उसी के क्लास में पढ़ती थी। उसी के मनोवेगों के अनुरूप अपना भी मनोवेग रखती थी। उसका चिंतन इसके चिंतन से हू ब हू मिलता था। अपना हस्तक्षेप करके वह लड़का उस उपन्यास की कहानी को जो मोड़ देना चाहता, वह लड़की उसी तरफ मुड़ने को तैयार बैठी रहती थी। उसकी पसंद बिलकुल से इसकी पसंद थी। उसका हुस्न सिर्फ और सिर्फ इसके इश्क के लिए बना था। उपन्यास की नायिका महिमा की तरह उसने भी इस लड़के के प्यार में अपने आपको खो देना चाहा था, लेकिन वह मर गई। उसका मरना जरूरी था। वह नहीं मरती तो इस लड़के का अकेलापन दुस्सह होता। उस लड़के को जीवित बचाए रखने के लिए उस लड़की का मरना जरूरी था।

याद आता है, मैंने परदेसी काका से पूछा था—यह सब जो कलाकारी उन्होंने की है, वह सिर्फ

इसी किताब पर, कि ऐसी दूसरी किताबें भी आपके पास हैं?

परदेसी काका हंसने लगे—कम ही किताब ऐसी होगी, जो पढ़ने के बाद उसको मार्मिक लगी हो और उस पर उसने कुछ भी नहीं किया हो।

—और, सब पर लिखा हुआ संबोधन की ही शैली में होता था?

—हां।

—और सारे संबोधन किसी न किसी लड़की के लिए होते थे?

—ज्यादातर। लेकिन कुछ संबोधन उपन्यास के नायक या नायिका के लिए भी होते थे।

—सारी लड़कियां अंत में मर जाती थीं?

—कुछ मर जाती थीं। कुछ के पिता का ट्रांसफर हो जाता था। कुछ बीच में ही रुकी रहती थीं।

—मतलब?

—मतलब अंतिम नोट वह किसी कारण से नहीं लिख पाता था!

ज्यादातर लड़कियां मर जाती थीं। इसमें उस लड़के का अभाव अभियोग था। बाकी लड़कियों के पिता का ट्रांसफर हो जाता था, इसमें भी अभाव अभियोग ही था। लड़कियां ठहरती नहीं थीं, उसके संबोधन में भी नहीं और उसकी उदासी, उसके अवसाद में भी नहीं, क्योंकि उसकी मां मर गई थी। पिता प्रतिदिन हैवान की तरह पीटते थे। घर में सौतेली मां थी। बाहर बाहर तो रोब था, लोकप्रियता थी, सामंती मिजाज का ताना बाना था, लेकिन यह सब तो अंदर की बात थी। अभाव तो अंदर था। हाहाकार भी, चीत्कार भी तो अंदर ही था।

हमने परदेसी काका से पूछा था कि ये किताबें क्या वास्तविक रूप से संबोधित लड़कियों के पास तक पहुंचती भी थीं? उन्होंने बताया था कि उस जमाने में उपन्यास पढ़ना खराब माना जाता था। अभिभावक और शिक्षक दोनों ही इस बात की खास निगरानी करते थे। लड़कियों के लिए तो यह और भी मुश्किल बात थी। लेकिन राजकमल अपना प्रभाव जमाने में बहुत माहिर था। तो, कभी कभी ये किताबें लड़कियों के हाथ तक चली भी जाती थीं। लेकिन उसे इस तरह छिपाकर रखना होता जैसे वह स्वयं ही साक्षात प्रेममत्र हो। कभी कभी शिकायत भी हो जाती या फिर वह पकड़ा भी जाता। सजा तो सुनिश्चित थी, जिसके लिए वह हमेशा तैयार पाया जाता था।

—देखो तारानंद, वह लड़का बारह की उमर के बाद ही अकेला पड़ गया था। हमेशा सोचता रहता। स्कूल में लोकप्रिय था। वहां तरह तरह की प्रवृत्ति के लड़के रहते थे। सबकी पारिवारिक पृष्ठभूमि भी अलग अलग थी। आदतें भी अलग अलग थीं। फिर, वह बाजार में रहता था। पिता के साथ रहता था तब भी, हॉस्टल में रहने लगा, तब भी। बाजार की अपनी जीवनशैली होती है। वह गांव के जीवन की तरह शांत स्थिर नहीं होता। वहां तरह तरह के बुलबुले उगते रहते हैं। अच्छी चीज रहती है, तो बुरी चीज भी रहती है। वह सबकी संगत में आता गया। दूसरी एक बात क्या होती है कि अगर तुम्हारा जीवन उपेक्षित है तो तुमको उपेक्षितों के प्रति हमदर्दी होगी। उसका दर्द तुम समझना चाहोगे। अब, कोई पासी का बेटा है। परिवार से उपेक्षित है। उसकी संगत में आया। वह पासी का बेटा ताड़ खजूर से ताड़ी उतारना जानता है। वह उसके कुल का पुश्तैनी रोजगार है। फिर, यह भी बात है कि पासी के बेटे की हिम्मत तो ऐसी नहीं होगी कि इतने बड़े हेड मास्टर साहब के बेटे को कहे कि चलो, ताड़ी उतारकर पीते हैं। तो, शुरुआत इस तरह हुई कि अकेलेपन के उपेक्षित समय में, तनाव से मुक्ति पाने की प्लानिंग कर रहा है तो आइडिया आया कि उस लड़के को साथ करके तड़बन्ना चला जाए और ताड़ी उतारकर पीया जाए। इस तरह उसके जीवन में दुर्व्यसनों का आरंभ हुआ। ताड़ीवाली बात तो हम बिलकुल ही वास्तविक बोले हैं। एक बार तो गाछ पर चढ़कर ताड़ी उतारने के चक्कर में वह गिर भी गया था। हड्डी टूट गई थी।

—हां काकाजी, संगत की भी तो रंगत होती ही है।

—देखो, मानते हैं कि होता है। कहावत भी है संगत से गुण होत है संगत से गुण जात। लेकिन, राजकमल के साथ ठीक ठीक यही हुआ, यह भी तुम नहीं कह सकते हो।

—उनके साथ क्या हुआ था?

—यह तुमको हमेशा याद रखना पड़ेगा कि राजकमल के व्यक्तित्व का निर्माण बहुत उदात्त तरीके से शुरू हुआ था। और, तुम यह भी नहीं कह सकते हो कि यह उदात्तता बारह की उमर के बाद खतम हो गई। बहुत चीजें तो ऐसी थीं, जो कुल का संस्कार थीं। चारों तरफ वैसा ही होता था। वैसा ही होते वह देखता आया था। लालभाई में दोनों चीजें थीं—नैष्ठिकता भी थी और आभिजात्य का गुण भी था। पितामह फूदन चौधरी की प्रतिष्ठा का भी असर था। बुधवारय कुल के गौरव की परंपरा सामने थी। फिर, ऐसी बात भी नहीं थी कि वह आर्थिक रूप से विपन्न परिवार का हो। वह आर्थिक कष्ट में था, यह अलग बात है। लेकिन जिस माहौल में पालन पोषण हुआ, वह विपन्न नहीं था। ऊपर से ब्राह्मण था। मैथिल ब्राह्मणों में बुधवारय कुल को एक जमाने में श्रोत्रिय कुल माना जाता था। इसलिए बाकी ब्राह्मण इसे सम्मान की दृष्टि से देखते थे।

—हां काकाजी, यह बात तो है।

—राजकमल के व्यक्तित्व में, तुम देखोगे कि शालीनता की कमी कभी नहीं हुई। संस्कारहीन वह कहीं भी दिखाई नहीं पड़ेगा। उजड्ड गंवार जिसको कहा जाए, ऐसा कहीं देखते हो उसको?

—नहीं। कभी नहीं।

—फिर देखो। जो दायित्व उसने एक बार मन से स्वीकार कर लिया, उसको जिंदगी भर निभाया। किसी बात के विरुद्ध हुआ तो विरोध भी लगातार बना रहा। किसी भी दृष्टि से तुम देखो तो पाओगे कि वह एक जिम्मेवार आदमी था। अगर उसने किसी के साथ बदतमीजी की, कोई झूठ बोला, किसी को धोखा दिया—तो वह सब जान बूझकर, सोच समझकर, प्लानिंग बनाकर किया। उस आदमी के साथ उसको यही करना चाहिए था, इसलिए किया।

—हां, ये बात तो समझ में आने लायक है।

—इसलिए तुम जो बोले संगत और रंगत। वह बात उसमें नहीं थी कि कहीं किसी के साथ हुए तो फिर उसी के रंग में रंग गए। उसको दौरा चढ़ता कि उस रंग में रंगना है, तब वह उस तरफ बढ़ता था।

—बहुत पते की बात आप कह रहे हैं और कह भी आप ही सकते हैं काकाजी!

—तो फिर, धीरे धीरे क्या होने लगा कि वह ज्यादा से ज्यादा समय घर से बाहर रहने लगा। नवादा की बात बताते हैं। बस स्टैंड के पास एक चाय की दुकान थी। वहां वह दस बजे जाकर बैठ जाता और शाम चार बजे तक वहीं बैठा रहता था। उसके पास एक नोटबुक रहती थी। दिनभर वह लिखता रहता था। और, यह तो थोड़ा आगे चलकर हुआ। इसके पहले यह दौर चला कि वह घर से भाग जाता था। पंद्रह दिन, महीना तक गायब रहता था। लेकिन, फिर बताते हैं, वह कहां जाएगा, किसके साथ क्या करेगा—इसका फैसला कोई दूसरा आदमी नहीं कर सकता था। हमेशा इसका फैसला वह खुद करता था।

नवादा के दिनों के बारे में कई बातें उग्रानंद ने भी अपने संस्मरण में लिखी हैं। उनका यह संस्मरण अब तक अप्रकाशित है। मुझे इसकी प्रति डॉ. रमानंद झा रमण (प्रसिद्ध मैथिली समालोचक) के पास देखने को मिली।

उग्रानंद ने लिखा है कि नवादा में कोई भी आदमी उन्हें राजकमल के नाम से नहीं जानता था। लिखने पढ़ने में तो उनकी गति बाद को हुई, उसके पहले वह वहां एक बदमाश गुंडे के रूप में कुख्यात थे। वहां एक दबंग सरकारी ठेकेदार था, जो अपनी दबंगई कायम रखने के लिए हर अनैतिक काम

करता था, तरह तरह के हथकंडे अपनाता था। राजकमल यूं तो उमर में उससे काफी छोटे थे, लेकिन उनकी साहसी प्रवृत्ति ने उन्हें ठेकेदार का बहुत करीबी बना दिया था। किसी को भी पीट देना उनके लिए बहुत मामूली बात थी। उग्रानंद के ही शब्दों में–'वह इतना जीवट का आदमी था कि कितनी भी भीड़ हो, अकेले वह हाथ छोड़ देता था। वह अपने घर पर भी नहीं रहता था। हॉस्टल के ही एक कमरे में दो तीन विद्यार्थियों के साथ रहता था। हॉस्टल के अहाते में ही उसका डेरा था और हॉस्टल से सटा हुआ। मगर वह जाता था केवल खाना खाने के लिए। इसके अतिरिक्त उसे अपने पिता के क्वार्टर से कोई वास्ता नहीं था। दिनभर वह उस गंदी गली के उस गंदे कमरे में अपने दोस्तों के साथ ठर्रा पिया करता था और फ्लश खेला करता था।'

–भागलपुर के दिनों में वह कहां जाते थे? आपको तो कुछ कुछ जरूर बताते होंगे!

–झूठ बताता था कि दुलारीबाई कि प्यारीबाई वेश्या के पास गए थे, वही पंद्रह दिन नहीं आने दी। कभी बताता कि आसाम बोर्डर पर स्मगलिंग का धंधा कर रहे थे। बताने का मकसद यह होता कि हमारी मारफत लालभाई को पता चले और वे दुखी हों। लेकिन हम थोड़ा सोच समझकर ही उनको जानकारी देते थे। कभी कभी पिता के प्रति आक्रोश में आता तो उनको पतित, धूर्त, अय्याश, मक्कार वगैरह कहता। हम उसको शांत कराते। दूसरी तरफ लालभाई भी उसके लिए इसी प्रकार का संबोधन व्यवहार करते। दबी जुबान से हम उनको कहते भी कि लालभाई, उसको क्षमा कीजिए, अपनत्व दीजिए।

पिता के साथ राजकमल के कठिन संबंध का कुछ जिक्र उग्रानंद के संस्मरण में भी आया है। उन्होंने लिखा है कि अपने स्कूल के हीरो थे। पढ़ने में सचमुच तेज थे लेकिन पढ़ाई से अधिक आवारागर्दी में मन लगता था। दो चार लड़के हमेशा उनके साथ पाए जाते। शुरू शुरू में उनके पिता इस सबके लिए उन्हें बहुत पीटते थे। मगर, बाद में उन्होंने ऐसा विद्रोह किया कि पिता ही उनसे डरकर रहने लगे। उन दिनों राजकमल खुलेआम बोला करते थे कि एक दिन वह समूचा छुरा उनकी लंबी तोंद में घुसेर देगा और सारी अंतड़ियां बाहर निकाल लेगा। ऐसा इसलिए था कि पिता उन्हें बहुत सताते थे, उसकी अवहेलना करते थे।

उन्होंने यह भी लिखा है कि 'उसके पिता बहुत ही पुराने खयाल के आदमी थे। अधिकतर पूजा पाठ में समय बिताते थे। बड़े कड़े मिजाज के आदमी थे। इतना तक कि अपने स्कूल के एक शिक्षक को उन्होंने इसलिए हटा दिया था कि वह सिगरेट पीता था। मगर इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि उस धार्मिक पिता का पुत्र इतना अधार्मिक कैसे हुआ! राजकमल की अधार्मिकता उसके पिता की अवहेलना की प्रतिक्रिया थी। पिता बहुत अधिक भोजन करते थे। अच्छी अच्छी चीजें खाते थे। मगर राजकमल तथा उसके दोनों छोटे भाइयों को नौकरों जैसा खाना मिलता था। राजकमल के कपड़े फट जाते थे, जूते टूट जाते थे, मगर पिता को इसकी परवाह नहीं रहती थी। राजकमल यह सब देखकर गुस्से से भर जाता था। मगर पिता का दबदबा ऐसा था कि उनके सामने वह अपना गुस्सा अच्छी तरह प्रकट भी नहीं कर सकता था। इसीलिए पिता को तंग करने की नीयत से वह गलत रास्ते पर आ गया था।'

–काकाजी, इस प्रकार का आक्रोश क्या किसी दूसरे के प्रति भी होता था?

–देखो, आक्रोश उत्पन्न करनेवाला एक ही व्यक्ति उसके जीवन में था। वे थे उसके पिता। लेकिन देखना पड़ेगा न कि पिता से क्यों आक्रोश होता था, क्या बात थी, क्योंकि उसके सबसे प्रिय व्यक्ति भी तो पिता ही थे। तब, बात यह थी कि पिता में आक्रोश उत्पन्न करनेवाली जो बात थी, वह बात, वह प्रवृत्ति यदि कहीं दूसरे व्यक्ति में दिखती थी तो उसके प्रति भी आक्रोश होता था। उसमें मूल बात यह थी कि साहब, जैसे आप दिखाई पड़ रहे हैं या अपने आपको घोषित कर रहे हैं, वैसे असल में हैं नहीं। तो उसने ऐसा भी किया कि जो बात उसको सही लगी, उसको उसी रूप में आचरण करने

लगा। यही बात उसके साहित्य में भी है। सुनते हैं कि उसके जमाने में और भी कई लेखक विश्व साहित्य में थे, जो इसी विचारधारा को मानते थे। उसका पत्राचार भी था उन लोगों से।

—काका जी, हम उनकी कल्पनाशीलता के बारे में बात करना चाह रहे थे। और, खास करके इस बारे में कि आप बोले थे कि इसी ने उनको मार दिया।

—देखो तारानंद, राजकमल जब यह बात बोला कि जीवन तो मैंने सिर्फ बारह साल की आयु तक जीया, बाकी समय तो दुःस्वप्न में बीता, तो वह वैसे ही नहीं बोल रहा था। इस बात में बहुत भारी मर्म है। उस मर्म को समझना चाहिए।

—बताइए।

—एक तो यह कि बारह वर्ष के बाद का जो उसका जीवन था, वह लगातार तनाव, संघर्ष और उथल पुथल से भरा रहा। शुरुआती समय में तो यह केवल मानसिक था, बाद में इसका दायरा दिनोंदिन बढ़ता ही गया। कभी वह चैन से रहा ही नहीं। ऊपर से, उसकी जीवनशैली ऐसी थी कि वह हमेशा एक्टिव दिखता था। हमेशा कुछ नया करने की ताक में लगा रहता था। नए नए विचार आते थे। यह कल्पनाशीलता के ही कारण होता था। हमेशा किसी न किसी अभियान में लगा ही रहता था। मित्रों की संख्या भी अनगिनत थी। बहुत लोग तो समझ भी नहीं पाते थे कि वह लिखता कब है, क्योंकि लोग तो हमेशा उसको किसी न किसी मामले में व्यस्त ही देखते। वह अक्सर बताता था कि उसको नींद नहीं आती है। लिखने का काम भी वह रात में बिस्तर पर जाने के बाद ही करता था। इस कारण से आई हुई नींद भी भाग जाती थी। कभी कभी वह यह भी बताता था कि खौफनाक दृश्य दिखाई पड़ते हैं। अब भाई, शरीर की तो सीमा होती है। नींद तो स्वास्थ्य के लिए जरूरी चीज है। और नींद तो आपको तभी आएगी, जब आपका दिमाग चैन में होगा। और, उसका दिमाग कभी चैन में रहा ही नहीं। उधर से भागा तो इधर, इधर से भागा तो उधर। यही चलता रहा। हम समझते हैं कि यह उसकी भयानक कल्पनाशीलता के ही कारण हुआ। शुरू में तो होता यह था कि समय काटना था या पिता से बदला चुकाना था। बाद में उसका रूप बदलकर रचनात्मक हो गया। लिखने पढ़ने में वह लग गया। लेकिन दिमाग कभी थके नहीं, कल्पनाशीलता लगातार बरकरार रहे, बल्कि और बढ़े और बढ़े—इसके लिए वह जीवननाशक चीजों की ओर बढ़ गया। उसका नशा सेवन या गलत लोगों की संगति—यही चीज थी। और, इसका तो कोई अंत नहीं है न! फिर आप आइडिया मास्टर भी हैं। सिगरेट पर सिगरेट पिये जा रहे हैं लेकिन ताजगी नहीं आ रही है, थकान नहीं मिट रही है, तब आप क्या करते हैं कि एक बार में दो सिगरेट ओठ पर लगाते हैं। फिर, दो और लगाते हैं, फिर लगाते हैं। उस दिन तो आपको ताजगी मिल जाती है, लेकिन फिर अगले दिन? इस दुष्चक्र में वह फंस गया था जी। उसका टेलेंटेड दिमाग ही उसको लेकर डूब गया। नशा का तो अंत नहीं है, लेकिन जीवन का तो अंत है न!

तीन

मैं आपके लिए कविता पढ़ूं फूलबाबू/ कि जल सुरंग के बंद दरवाजे पर आप/ राजकमल की तरह तैर रहे थे/ जनमे थे कीचड़ से—यह लोग भूल जाते हैं/ जैसे आप भूल जाते थे कविता में चलते हुए/ कविता के लिए अपने ही गांव की नदी का नाम/ मात्र एक नीली उग्रतारा आपको याद रहती थी/ मुझे भी बरबस स्मरण रहता है एक संस्कार/ उग्रतारा, एक सामुद्रिक स्वाद से भरा शंख/ ध्वनि में कविता, कविता में उन्मत्त राजकमल चौधरी/ एक कालप्रवाह, एक सामयिक शीर्षक।

मैं आपके लिए कविता पढ़ूं फूलबाबू/ कि कर्मकांडी मैथिलों की शास्त्रीय आंखें/ अब जाकर खुलने लगी हैं धीरे धीरे/ पूजा के आसन और वेश्या के बिछावन तक की/ पीड़ा से भरी प्रार्थना के स्वर/ अब पहचाने जा रहे हैं/ इस कालप्रवाह में भाषा की अस्मिता/ और उसकी ध्वनि के मध्य आप निपट नंगे हैं/ तो वह स्वयंभू कला का एक संस्कारी आकार है...

उस आकार को, उस संस्कार को, उस शीर्षक को/ बार बार पुकारता है आपका गांव/ आपका ही क्षितिज सीमांत/ कौलिक पूजागृह में/ आपका घर दालान/ बार बार एक ही नाम/ आपका ही नाम/ मैं आपके लिए कविता पढ़ूं फूलबाबू?

यह एक मुकम्मल कविता है, जिसे मैथिली कवि महाप्रकाश ने खास हमारे राजकमल जयंती कार्यक्रम के लिए लिखी थी, और आयोजन में शामिल होकर, रामशाला पर चढ़कर पढ़ी थी। यह बहुत बड़ी बात थी कि उन्होंने गांव में हो रहे परिवर्तन को लक्ष्य किया था। उसे राजकमल की ही भाषा भंगिमा में उतारकर अभिव्यक्ति दी थी कि आवाज राजकमल तक पहुंचे। कविता में राजकमल की बात थी, गांव की बात थी, कुल मिलाकर हमारी बात थी। हमारे लिए नैतिक समर्थन था। यह अनुशंसा थी कि हम सही लाइन पर बढ़ रहे हैं।

अभी उस दिन की बात है कि लालसा मेरे घर आई थीं। मेरे जानते पंडित फूदन चौधरी के परिवार में, आज की तारीख में गिने चुने ही लोग हैं, जो बाहर बस जाने के बावजूद अक्सर गांव आते रहते हैं, गांव घर की हर गति अगति की अद्यतन सूचना उन्हें रहती है, उनमें से एक यह लालसा हैं। लालसा की ससुराल बनगांव है। कायदे से उसे लालसा झा या सर्टिफिकेट के हिसाब से निशा झा होना चाहिए क्योंकि उनके पति जवाहर झा हैं। लेकिन तब की लालसा ने अब भी लालसा चौधरी का परिचय जीवित रखा है। उनका जीवन बहुत संघर्ष में बीता है, जिस कालेज में वह पढ़ाती हैं उसे अब तक सरकार की प्रस्वीकृति प्राप्त नहीं हुई है, बावजूद तमाम गतिरोधों के अपने व्यक्तित्व में उन्होंने जीवंतता बरकरार रखी है। तो, वह उस दिन जो आईं, दो दिन तक हम उन पुराने तूफानी दिनों की याद में डूबे रहे। वे दिन जब राजकमल हमारे सिर पर भूत की तरह सवार थे और हम उनको साथ रखकर ही जीने मरने का सपना देखते थे।

साथ में मयंक थे। और, युवा अध्येता सुजीत कुमार वत्स भी, जो इन दिनों विश्वभारती शांतिनिकेतन से राजकमल की कविता पर, यू. जी. सी. की परियोजना के तहत शोध कर रहे हैं। वह भी महिषी के हैं। बुधवारय कुल के हैं।

गपशप में महाप्रकाश की चर्चा चल निकली कि देखो न, पिछले साल वह चले गए। महाप्रकाश विलक्षण कवि थे और कविता जैसा ही मिजाज पाया था। वह भी बनगांव के थे। उन पर बात चल ही रही थी मयंक को इस कविता की याद आई थी। मैंने उनका संकलन 'संग समय के' निकाला। कविता पढ़ते पढ़ते वह दृश्य हमारी आंखों में जीवंत हो गया, जब महाप्रकाश ने रामशाला पर अपनी यह कविता सुनाई थी। जाड़े की रात के दस बजे गांव के जीवन में बहुत देर रात होती है। लेकिन उस दिन तो समूचा गांव रामशाला के इर्द गिर्द जमा था। महाप्रकाश खड़े होकर माइक पर आए थे। उन्होंने बड़ा ही लंबा ओवरकोट पहन रखा था। ओवरकोट काले रंग का था। वह उन्हें घुटने के नीचे 'छाबा' तक छूता था। उन्होंने फ्रेंच कट दाढ़ी रखी थी। कविता पढ़ने की उनकी अदा ऐसी थी कि राजकमल यदि कविता पढ़ते तो ऐसे ही पढ़ते—एक एक शब्द को उठाते, उसे तौलते, उच्चरित करते,

जैसे बोल नहीं रहे हों, 'मां तीर्थमयी के आरण्यक संस्मरणों में' अलकनंदा में विसर्जित कर रहे हों, ताकि चट्टानों का एक 'अखंड सुमेरु' निर्मित हो सके! दोनों में फर्क केवल एक था। महाप्रकाश की आवाज भारी थी, जबकि राजकमल की पतली। शब्दों को तौलकर राजकमल जब उच्चरित करते तो आपको लग सकता था कि छुटके मजीरे की कोई टुनटुनाहट आप पर लय बरसा रही हो! खैर। उस वक्त तो महाप्रकाश माइक की ओर किंचित झुके थे, फिर बोले थे–'मैं आपके लिए कविता पढ़ूं फूलबाबू?' और, ठहर गए थे। भाई रे, माहौल बना दिया था! जबर्दस्त बना दिया था!

इस याद में हम डूबे ही थे कि मयंक को एक और बात याद आ गई। महाप्रकाश से ही जुड़ी हुई। लेकिन, यह उस साल की बात नहीं है। उससे एक दो साल बाद के आयोजन की बात है। मामला भोजन से संबंधित है।

यहां यह बताने का मन करता है कि हमारे आयोजन में जो भी अतिथि अभ्यागत आते, उन्हें हम बहुत ही श्रद्धा से, प्रेम से भोजन कराते थे। यह हमलोगों के लिए सर्वाधिक महत्व की बात होती थी। रिटर्न भी मिलता था। जो भी विद्वान एक बार हमारे आयोजन में आ जाते, हमारे भोजन को–उसकी सामग्रियों के लिए भी, और उस स्नेह के लिए भी, जो उन्हें हमारे ग्रामीणों से मिलता था, बहुत याद करते थे। अतिथियों का भोजन राजकमल के आंगन में बनता था, जबकि उनकी ठांव पीढ़ी मधुसूदन बाबू(अब उनके पुत्र सरोज बाबू) के आंगन में लगती। मतलब, राजकमल तीन भाइयों का आंगन अलग था, और मदन बाबू सरोज बाबू आदि चार भाइयों का आंगन पैतृक था, जो पंडित फूदन चौधरी के जमाने से चलता आया था। यह पुराना दोमंजिला मकान था, जिसका विवरण हमें राजकमल की आत्मकथात्मक रचनाओं में मिलता है।

उस बार हुआ यह था कि काव्यपाठ चल ही रहा था कि महाप्रकाश, अपनी कविता पढ़ने के बाद, यह कहकर उठ गए कि उग्रतारा का दर्शन करके आते हैं। कार्यक्रम समाप्त हो गया। सारे अतिथि सरोज बाबू के आंगन आ गए। उसी ऐतिहासिक बरामदे पर सभी भोजन करने को बैठे, जिस पर राजकमल का बचपन बीता था, और यहां तक कि 1934 के भूकंप का भी जो साक्षी था। सभी लोगों ने महाप्रकाश की खोज की। वह तब तक नहीं लौटे थे, सो दो कार्यकर्ताओं को उन्हें बुला लाने भेजा गया। वह तारास्थान में थे। मंदिर बंद हो चुका था। मंदिर के बाहर उग्रतारा के आंगन में वह ध्यानस्थ पाए गए। उन्हें लाया गया। जब तक वह लौटकर सरोज बाबू के आंगन आते, अतिथियों का भोजन पूर्ण हो चुका था। सभी उठ चुके थे और आंगन से बाहर निकल चुके थे।

महाप्रकाश को फिर उसी बरामदे पर बैठाया गया। उन्होंने भोजन किया, इसमें कोई खास बात नहीं थी। उस प्रसंग की दो चीजें ऐसी थीं, जिसने हमें वह रात याद दिला दी थी। हुआ यह कि महाप्रकाश बरामदे पर जैसे ही आए, उन्होंने राजकमल की मां (अर्थात तीसरी मां जमुना देवी) को प्रणाम करने की इच्छा व्यक्त की। लालकाकी के ही आंगन में और बरामदे पर हम सारा कुछ करते थे, यह सब लालकाकी के ही मार्गदर्शन में होता था, लेकिन हमलोगों की पूरी कोशिश रहती कि उन्हें कोई कष्ट न होने दें। कार्यकर्ता लड़कों का नियंत्रण मयंक के जिम्मे होता था। महिला समाज का नियंत्रण लालसा करती थीं। अतिथिगण भोजन कर चुके थे। आंगन शांत हो गया था। लालकाकी भी थक गई थीं, सो घर के अंदर जा चुकी थीं। उन्हें खबर दी गई तो वह उठीं और बरामदे पर आईं। याद आता है, महाप्रकाश उनके चरणों पर साष्टांग लेट गए थे और वह रो रहे थे। रो रोकर कह रहे थे–आप मां हैं। आप हमें क्षमा कीजिए। आप मां हैं। आप हमें क्षमा कीजिए...

यह निर्णय करना मुश्किल नहीं है कि क्षमायाचना वह किसकी ओर से कर रहे थे! अपने लिए वह करते भी क्यों? और, अगर राजकमल की ओर से कर रहे थे, तो तय है कि वह बेहद भावाविष्ट थे। जो भी हो, लालकाकी ने उन्हें आशीर्वाद दिया और अपने सामने बिठाकर खाना खिलाने लगीं।

फिर दोनों बात करने लगे। महाप्रकाश के खाने की शैली को देखकर या यूं ही, पता नहीं कैसे, लालकाकी ने उस दिन एक किस्सा सुनाया था। वाकया यात्री नागार्जुन का था।

—एक बार की बात बताते हैं महाप्रकाश जी! फूलबाबू के साथ एक बार यात्री जी आए। उनके बारे में हम पहले से भी जानते थे। आए तो लगे मेरा पैर छूने। हमने कहा—यात्री जी, आप तो उमर में हमसे बड़े हैं, तो कहते क्या हैं कि लालकाकी, आप मातृस्थानीय हैं, इसमें उमर देखने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता है। इसी ओसारे पर हम उनको भोजन कराए थे। थाली, बाटी, छिपली, कटोरी सब आगे कर दिए तो वह कहने लगे कि लालकाकी, दही भी दे ही दीजिए। दही भी पहले ही दे दिए। तो, देखते क्या हैं कि सब बरतन की सामग्री को वे थाली में 'उझील' दिए और सबको एक साथ 'सान' दिए। फूलबाबू भी साथ ही भोजन पर बैठे थे लेकिन उनको शायद इनका तरीका मालूम हो। हमें तो मालूम था नहीं तो पूछे कि यात्री जी, ऐसा क्यों करते हैं! सबको साथ सान दीजिएगा तो कैसा लगेगा?

—तो वे कुछ जवाब दिए?—मैंने मुस्कुराते हुए पूछा।

—जवाब दिए सो ऐसा वैसा! बोले कि सब स्वाद और सब रस को साथ सान देने पर भोजन का स्वाद पौने सताइस गुना बढ़ जाता है। यह नियम तिब्बत के आयुर्वेद में लिखा हुआ है। फिर बताने लगे कि यह गुण उन्होंने सीखा कैसे। बताए कि बौद्धमठ में थे तो वहां संन्यासी लोग ऐसे ही खाते थे। कोई पूछता तो बताया जाता कि संन्यासी को स्वाद से क्या मतलब, इसीलिए सबको सान देते हैं। लेकिन असली रहस्य तो दूसरा था।

लालकाकी हंसने लगीं। महाप्रकाश भी हंसने लगे। हम सारे लोग हंसने लगे।

हंसी की बात चली तो लालसा को एक और प्रसंग याद आ गया। याद भर आया प्रसंग कि वह हंसने लगीं बिना बताए। हम परेशान कि भाई, बता तो दो कि हम भी हंसें। बालीं—अरे वही मछलीवाला किस्सा...

—मछली वाला किस्सा? मछलीवाला कौन सा किस्सा?

—अरे वही, मछली जो चोरी हो गई थी!

सच मानिए, मुझे तो वह किस्सा सही से याद भी नहीं था। लेकिन मयंक को याद था। बोला—हेह, वो भी कोई हंसने वाली बात है? उस दिन हमलोगों की हालत कितनी खराब हो गई थी, समझती हो!

—हालत तो जब खराब हुई थी तब हुई थी। आखिर में तो सब सम्हल गया ही था न! और आज? आज तो वह कथा आनंद का कंद है। कहो है कि नहीं?

मिथिला भोजन विन्यास के लिए नामी है, यह अलग से बताने की जरूरत नहीं है। हमारा संस्कार यह था कि भाई, इतने बड़े बड़े लोग, विशिष्ट अभ्यागत हमारे यहां आ रहे हैं—उनकी ही तो कृपा है कि आ रहे हैं! राजकमल हमारे संबंध सेतु हैं। उनसे वे भी जुड़े हैं, हम भी जुड़े हैं। लेकिन आ तो रहे हैं हमारे अनुरोध पर। और, आ रहे हैं हमारे गांव में! हम उनके लिए क्या कर सकते हैं? क्या दे सकते हैं उन्हें? यह विपन्न समाज क्या कदर कर सकता है उनका? कदर तो बस यही संभव है कि वे जो बोलें उन्हें गरिमा के साथ सुनगनेवाले श्रोता हम उपलब्ध कराएं। और यह जो सुअवसर मिल रहा है कि एक शाम का भोजन वे हमारे यहां करेंगे, इसको जैसे भी हो, यादगार बनाएं। याद आता है, भोजन का मीनू तय करने में भी हम अच्छा परिश्रम करते थे। तिलकोर का तरुआ तो एक तयशुदा आइटम था, कई बार हम यहां तक आ जाते कि कदीमा का फूल जमा कराते और उसका तरुआ बना लेते। गदपूरन या करमी या तोरी, जो भी साग उस समय ठीक से उपलब्ध हो पाए, वह हमारे मीनू में सीधे चला आता था। और, दो चीजों में तो हमारा जवाब ही नहीं था। एक

तो धेमड़ा कछेर की कबई मांगुर मछली और दूसरा विन्यासपूर्वक तैयार किया गया वह दही, जिसके बारे में अभ्यागत यह कहते हुए जाते थे कि हथेली भर दही उठाकर अगर दीवार पर मार दो तो वह घंटों तक नीचे नहीं गिर पाएगा।

ठहरिए। यहां पर थोड़ा भावुक मुझे होने दीजिए। और इसी भावुकता में थोड़ा गर्व भी कर लूं यह बताते हुए कि इस आयोजन के लिए मछली और दही का इंतजाम मेरे पिता करते थे। महिषी कोई व्यावसायिक जगह नहीं थी। न मछली का कोई बाजार था और न पैकेटवाला दूध ही आता था। मछली मारना जिनका व्यवसाय हो, ऐसे लोग हमारे यहां नहीं के बराबर थे। लोग शौकिया तौर पर, खेती किसानी से फुरसत के वक्त मछली पकड़ते थे। आपको अगर दस किलो कबई और मांगुर चाहिए तो पंद्रह दिन पहले से जमा करना होगा। और वह भी किसी एक शिकारी के भरोसे होने से रहा। जितने शिकारी हैं सभी से संपर्क कीजिए। मछली जो वे पकड़कर लाएंगे, उनमें बीसियों तरह की मछलियां होंगी–खेसरा पोठी से लेकर सौरा बुआरी तक। वह सब आपको नहीं चाहिए। आपको चाहिए सिर्फ कबई और मांगुर, वह भी जिंदा, जिसे पंद्रह दिन दस दिन तक पानी में जीवित रखा जा सके। और, वह हो बड़ी बड़ी, ताकि भोजन की कोटि उत्तम दर्ज की जा सके। यह सारा भार मेरे पिता अपने ऊपर लेते थे। इसके लिए वह दूसरे गांव के शिकारियों से भी संपर्क साधते थे। दूसरी तरफ, उस गुणवत्ता का दही जमाना भी कोई आसान काम नहीं था। दूध जमा करना इसलिए भी कठिन होता था कि दूध उत्पादकों के अपने अपने नियमित ग्राहक होते थे, जहां 'उठौना' लगा रहता था। फिर वह कलाकार ऐसे थे कि बीस किलो दूध को गोइठे की धीमी आंच पर तब तक खौलाते जब तक जलकर वह ग्यारह किलो पर नहीं आ जाता था। और भी उनके कुछ सूक्ष्म कायदे थे। मगर, यह समूचे का समूचा भार उनका था, और इस तरफ से हमारी टीम निश्चिंत रहा करती थी।

लेकिन भावुकता क्यों? इसलिए कि आपको याद होगा, परदेसी काका ने एक बार राजकमल से मेरी तुलना कर दी थी। मैंने तो उनको सुनना ही नहीं चाहा था, इतनी खराब उनकी वह बात मुझे लगी थी। लेकिन, मैं बताता हूं कि उन्होंने कहा क्या था। कहा था–'तुम इसलिए बढ़ोगे तारानंद कि तुम्हारे पिता बद्री महतो हैं। राजकमल इसलिए रुक गया कि उसके पिता मधुसूदन चौधरी थे। तुम बेहतर स्थिति में हो बाबू!' पिता के सपोर्ट को लेकर गर्व तो मुझे जरूर था लेकिन परदेशी काका को मैं क्या बाताता कि साहित्य के काम में बढ़ना क्या और रुकना क्या! सभी तो केवल अपना हिस्सा भर करते हैं।

तो, अक्सर यह भी होता कि जितने अभ्यागतों के योग्य मछलियां हमने जमा की होतीं, अंततः अभ्यागतों की संख्या कम हो जाती। या, कभी ऐसा भी होता कि हमारी आर्थिक स्थिति ठीक रहत और जरूरत से ज्यादा मछली हम जमा कर लेते। उस साल भी ऐसा ही कुछ हुआ था। पांच किलो के करीब तली हुई मछलियां बच गई थीं और हमने यह तय किया था कि जब 'माछ भात' पूरा हो जाएगा तो एक राउंड तली हुई मछलियां चला देंगे। इसकी तैयारी कर ली गई। इसकी घोषणा भी कर दी गई। माछ भात पूरा हो गया। आग्रह किया गया कि जरा तली हुई मछलियों का स्वाद लिया जाए। मछलियां राजकमल के आंगन में रखी थीं, क्योंकि खाना वहीं बनता था। वह आंगन एक पतली गली के रास्ते इस आंगन से जुड़ा हुआ था। एक कार्यकर्ता मछली लाने उस आंगन गया। मछली नहीं थी। जिस लोहिया में मछली रखी थी, वह लोहिया ही गायब था। वहां लालसा खुद थीं। नवीन की मां (धीर चौधरी की पत्नी) थीं। बुच्चन दीदी थीं। किसी ने आहट तक नहीं पाया और लोहिया गायब हो गया था।

चलिए, उस दिन तो जैसे भी हमने सम्हाला, सम्हाल लिया। बाद में, इस चोरी कांड के अन्वेषण

का जिम्मा लालसा और मयंक को दिया गया था। लालसा ने ठीक ठीक पता कर लिया कि यह किसका कारनामा था। वह युवक परिवार का ही सदस्य था। खास घर का। और, मयंक ने अन्वेषित किया था कि उस रात उस मछली के लिए अगर हमलोग हल्ला हंगामा या आरोप प्रत्यारोप किए होते तो जमकर हमारी धुनाई होनेवाली थी! असल में, सेंटीमेंट यह उभर आया था कि साहब, यह विलक्षण भोजन आप हमलोगों के टोले में, हमलोगों के घर परिवार में तैयार करते हैं, जिस तिसको खिलाते हैं, और हमें चखने भी नहीं देते। यह अन्याय हम कब तक बर्दाश्त करेंगे! चखने दरअसल उनको हम दे भी नहीं सकते थे क्योंकि हम खुद भी नहीं चखते थे। अंत में जो बचता था वह लालकाकी को सौंप दिया जाता ताकि वह अपनी स्वेच्छा से उचित लोगों को भोजन करा दें।

पर, लालसा की मह मह हंसी तो उस दिन रुकने का नाम नहीं ले रही थी।

आयोजन में आमंत्रित साहित्यकारों में एक और विशिष्ट व्यक्ति थे, जिनसे लालकाकी की अच्छी बातचीत होती थी। वह थे मणिपद्म। वह मैथिली के 'योद्धा साहित्यकार' कहलाते थे। भारी काया के बुजुर्ग व्यक्ति थे। सिर पर गांधी टोपी लगाते। बड़ा ही ओजस्वी भाषण देते। मंच पर खड़े होते तो जागरण का सा उन्माद श्रोताओं में भर देते थे। पेशे से चिकित्सक थे लेकिन बहुआयामी जीवन था, और साहित्य कर्म भी बहुआयामी। उनकी सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि मिथिला की दस से अधिक लोकगाथाओं को सीधे जनक से उठाकर उन पर उपन्यासों की रचना उन्होंने की थी। वह पुरानी पीढ़ी के आदमी थे। ऐसे लोग राजकमल के कटु आलोचक होते थे। यह बात मणिपद्म के साथ भी थी। लेकिन राजकमल के देहांत के एक दशक बाद, अब जो मैथिली का माहौल बना था, कई पुराने लोगों ने अपनी राय में संशोधन किया था। इनमें मणिपद्म प्रमुख थे। मणिपद्म को हम इसलिए आग्रह करके बुलाते कि उनके द्वारा कही हुई बात, जरा सा ही सही, परंपरावादियों का मनोबल भेदती थी। वह तंत्रशास्त्र के भी अच्छे ज्ञाता थे। तांत्रिक कथावस्तु पर कई उपन्यास भी उन्होंने लिखे। 'मुक्तिप्रसंग' की तांत्रिक व्याख्या जब वह करते, वह सुनने की चीज हुआ करती थी!

लालकाकी को वह हाथ जोड़कर, झुककर प्रणाम करते थे। वरिष्ठ का सा सम्मान देते हुए भी लालकाकी उनसे खुलकर बातें करती थीं। मणिपद्म जी को मालूम था कि लालकाकी का 'नैहर' मंगरौनी है। महिषी की ही तरह मंगरौनी भी मिथिला का ऐसा विशिष्ट गांव है, जहां के सारस्वत अवदान एक से बढ़कर एक हैं। एक बार जो उन दोनों की बात हो रही थी, याद है।

मणिपद्म बोले थे—आपके नैहर की तीन विशेषताएं। एक तो यह कि एक ही गांव में इतने दार्शनिक और साहित्यकार हो चुके हैं कि भारत के कई राज्यों में, कुल मिलाकर भी इतने नहीं हुए। दूसरी विशेषता यह कि मिथिला के मंदिरों में से एक तिहाई मंदिर उसी एक गांव में हैं। और तीसरी बात, एक गांव में इतना तालाब खोजने पर भी कहीं नहीं मिलेगा।

लालकाकी खुश हो गई थीं। बोलीं—और जानते हैं मणिपद्म जी, हमारे गांव के हरेक पोखर की अपनी अपनी विशेषता है। वहां तो एक कहावत मशहूर है—पोखरि में नब्बी पोखरि, माछ में चभच्चा...

मणिपद्म जी को भी कहावत याद थी। उन्होंने दूसरा पद पूरा किया—'रौद तपै में पुबारि पोखरि, जवान लेल एक बच्चा'। और बोले—हम तो अपना सौभाग्य मानते हैं लालकाकी कि चभच्चा पोखर की मछली हमें भी भोग हुई है।

लालकाकी उत्साहित हो गईं—सही कहते हैं मणिपद्म जी। क्या गुण है उस पोखर में, भगवान जाने! वैसा स्वाद किसी दूसरी मछली में नहीं। चौधरी जी (मधुसूदन चौधरी) को भी वहां की मछली बहुत पसंद थी। जयनगर में थे तो वहां से बारंबार भेजी जाती थी।

—और, धार्मिक परंपरा भी तो वहां की विलक्षण है। दीपावली में ही देखिए। एक टोला में काली

की मूर्ति बनती है, तो दूसरे में दुर्गा की और तीसरे में तारा की। एक ही अवसर पर तीनों महाशक्तियों की साथ साथ पूजा! ऐसा तो कहीं भी देखने में नहीं आता।

एक बार क्या हुआ कि समारोह के अपने वक्तव्य में मणिपद्म ने राजकमल के आखिरी दिनों को लेकर कुछ बातें कहीं। एक बात तो यह थी कि 1966 में राजकमल जिस भी किसी आत्मीय मित्र को पत्र लिखते थे, पत्र के शीर्ष पर शक्ति यंत्र बना देते थे। उसका आकार कुछ इस प्रकार होता था कि दो विपरीतमुखी त्रिभुज एक दूसरे पर चढ़े हुए–और बीच में बिंदु। मणिपद्म ने बताया कि राजकमल की यह नई आदत उनकी जिजीविषा का उन्मेष प्रकट करती थी। जिस भी किसी व्यक्ति ने यह सुझाव उनको दिया हो, उनका खयाल था कि यह सुझाव आचार्य रमानाथ झा ने दिया था–यह बहुत ही जीवनवर्द्धक सुझाव था। इसका तांत्रिक संदर्भ स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा था कि कागज पर या किसी भी आधार पर अंकित इस 'यंत्रराज' पर जिस जिसकी नजर पड़ती है, सबकी शुभाशंसा, सबका शक्ति साहाय्य व्यक्ति को अर्जित होता है। इसी क्रम में उन्होंने एक और बात बताई थी। वह राजकमल की कविता 'महावन' को लेकर थी। उनका कहना था कि जिस दिन उन्होंने पत्रिका में यह कविता पढ़ी थी, कविता पढ़ते ही उनको आभास हो गया था कि इस व्यक्ति की मृत्यु सन्निकट है। कैसे? इसे स्पष्ट करते हुए उन्होंने कविता की कुछ पंक्तियां भी कोट की थीं। राजकमल की वह कविता साप्ताहिक 'मिथिला मिहिर' के 27 फरवरी 1966 के अंक में प्रकाशित हुई थी। इसका अर्थ यह था कि दिनांक 22 फरवरी 1966 को राजेंद्र सर्जिकल ब्लॉक में भरती होने के ठीक पहले उन्होंने इस कविता की रचना की थी। कविता मृत्युमुखी नहीं थी। उसका अंत तो हम समझते थे कि विधेय ही था–

अस्तित्व के दो ही अविचल यथार्थ रह गए हैं अब
प्रथम यह कि हमलोग ढूंढ़ रहे हैं
किरणमाला;
दूसरा यह कि अतीत प्रेत की अनिवार्य संगति में
महावन में
जीवित हैं हमलोग।

विधेय इसलिए समझते थे कि इसमें किरणमाला के संधान को अस्तित्व का अविचल यथार्थ बताया गया था और इसे प्रथम स्थान दिया गया था। इसी वजह से महावन पर किरणमाला भारी पड़ती थी। और, कोई मैं ही अकेला यह समझ रहा होऊं ऐसा नहीं था। सभी समझते थे। बड़े बड़े समझते थे। राजकमल की अब तक कोट होनेवाली कविताओं में, शीर्षक बनाए जाने योग्य पंक्तियों के व्यवहार में यह कविता अव्वल थी। लेकिन, मणिपद्म दूसरी बात कह रहे थे। उनका कहना था कि इस कविता में एक गिद्ध का उल्लेख हुआ है, जिसका रंग काला पीला बताया गया है। वह बहुत भयानक गिद्ध के रूप में चित्रित हुआ है; जो बार बार कवि का ही नाम पुकारता है और कहता है कि चलो, अबकी बार तुम्हीं भुतहा मसान चलो और चलकर खपड़ी में अपने प्राण का भुंजा भूनो। और, वह गिद्ध बोल कहां से रहा है? वह सूखे सेमल वृक्ष के कुष्ठोदर में बैठा है, और कवि के साथ साथ मुल्क भर के लोग वर्षा से बचने के लिए उसी वृक्ष के तले एक डाल से दूसरे डाल के नीचे भाग दौड़ रहे हैं, मानो मृत्यु से 'चोरी नुक्की' का खेल खेल रहे हों। मणिपद्म कह रहे थे कि इस स्तर की कविता जब कोई कवि लिख रहा होता है, तो वह ट्रांस की स्थिति में रहता है। उस समय की उसकी जो भवितव्यता होती है उसके ही अनुरूप शब्द और उसी के अनुरूप बिंब उसकी पकड़ में आते हैं। इन बिंबों की व्याख्या कई तरह से की जा सकती है। तांत्रिक दृष्टिकोण से यदि इसकी

व्याख्या की जाए तो अर्थ होता है कि इस कविता के रचयिता की मृत्यु सन्निकट है। कारण है गिद्ध का रंग और कारण है कुष्ठोदर का बिंब।

गोष्ठी का संचालन मैं कर रहा था। मैंने अपनी टिप्पणी में कहा कि मृत्यु यदि सन्निकट थी, और ऐसा दिख भी गया था, और उस आदमी के लिए मन में आह भी थी, तो बुजुर्गों को उसे बचाने का यत्न करना चाहिए था, मार्गदर्शन किया जाना चाहिए था। टिप्पणी कटु थी। श्रोताओं पर जो मणिपद्म के वक्तव्य का प्रभाव था–रोमांच और करुणा से भीगे भीगे थे सब; ऐसे में मेरी टिप्पणी ने माहौल की मार्मिकता को और बढ़ा दिया। याद आता है, मणिपद्म एक बार फिर माइक पर आए थे। उन्होंने उत्तर दिया था कि महामाया के निर्णय को कौन बाधित कर सकता है? उग्रतारा की ही निर्मिति थे वह, उन्हीं को विसर्जन का मुहुर्त चुनना था। मान लीजिए कि हम उन्हें मार्गदर्शन करते, लेकिन वह उनकी समझ में नहीं आता, वह तदनुरूप व्यवहार नहीं करते।

तो, ऐसी ऐसी बातें थीं!

मायानंद मिश्र मैथिली की सांस्कृतिक दुनिया के स्टार माने जाते थे। विद्यापति पर्व को मैथिलों में राष्ट्रीय पर्व जैसा महत्व प्राप्त था। यह कार्तिक धवल त्रयोदशी से शुरू होता और प्रायः समूचे साल चलता रहता था। दुनिया भर में जहां भी कहीं मैथिलीभाषी निवास करते, इस पर्व को मनाने का जरूर ही प्रयास करते थे। और, अगर यह आयोजन किसी शहर में हो रहा हो तो उसकी पचहत्तर प्रतिशत सफलता इसी एक बात से सुनिश्चित हो जाती थी कि वहां मायानंद मिश्र आ रहे हैं। मैथिली के वह प्रख्यात उपन्यासकार, कथाकार और कवि थे। लेकिन, मंच के स्टार वह दूसरे कारण से थे। वह बहुत ही अच्छा बोलते थे। उनकी वक्तृता की छटा इतनी अपूर्व थी कि श्रोता समूह मंत्रमुग्ध हो जाता था, और हर उस बात के लिए राजी हो जाता था जो वह चाहते होते थे। उनकी वक्तृता की दो खूबियां विशिष्ट थीं। एक तो उन्होंने सहरसा और मधुबनी की मैथिली के सम्मिश्रण से एक जादुई भाषा विन्यास तैयार कर लिया था। दूसरे, बोलने की उनकी अदा न तो पुरानी पीढ़ी की अतिरिक्त मिचराहट से बोझिल होती, न ही नई पीढ़ी की शॉर्टकटवाली हड़बड़ाहट से। वह मध्य में अवस्थित होते थे। ठीक यही गुण उनके साहित्य में भी पाया जाता था। मंच के लिए एक खास विशेषता उनमें यह भी थी कि हास्य और व्यंग्य के प्रसंग जरूरी क्रियापदों की तरह उनकी वक्तृता में शामिल हो जाते थे। बड़े आयोजनों की वह एंकरिंग करते। समझिए, सालों भर उनका भारत भ्रमण चलता रहता था। उन्होंने हमें बताया था कि विद्यापति पर्व का आयोजन नवादा में भी अक्सर होता रहता था, जिसकी आयोजन समिति के प्रमुख राजकमल के पिता मधुसूदन चौधरी हुआ करते थे। वहां जो मधुसूदन बाबू का प्रताप था और सक्रियता थी, उसकी वह बहुत चर्चा करते थे।

हमारे आयोजन के तो वह अनिवार्य अतिथि हुआ करते थे। याद आता है, उन आठ वर्षों में राजकमल को लेकर हमने जितने भी आयोजन किए, कोई भी ऐसा नहीं था, जिसमें वह शरीक न हुए हों। और तो और, हम किसी पुस्तक की लोकार्पण गोष्ठी तारा स्थान में कराते और उनकी उपस्थिति जरूरी महसूस करते तो वह आ जाते थे। इसके कई कारण थे। एक तो यह था कि एक दौर में राजकमल के अतिनिकट मित्रों में से वह रहे थे, राजकमल के लिए बहुत आह, बहुत सम्मान उनके भीतर था। दूसरे, वे हमसे जुड़े थे। साहित्य रचना के परिप्रेक्ष्य में भी उनकी समझ थी कि हम उनके काम को आगे बढ़ा रहे हैं। फिर यह भी बात थी कि केदार के वह फुफेरे भाई लगते थे, और केदार न सिर्फ मेरे सर्वाधिक प्रिय मित्र थे, बल्कि हमारी टीम के एक जरूरी सदस्य भी थे।

एक दौर में मायानंद राजकमल के अत्यंत करीबी मित्रों में से थे। लेकिन किस दौर में? वह वही दौर था जब वह परदेसी काका के साथ भागलपुर में पढ़ते थे। और, वह दौर जब 'पंद्रह दिन महीना

दिन' के लिए किसी अज्ञातवास में चले जाते। पूछा जाता कि कहां गए थे तो बताते कि आसाम बोर्डर पर स्मलिंग कर रहे थे या फिर बनारस की किसी वेश्या के साथ काम कर रहे थे। परदेसी काका खूब समझते थे कि यह झूठ बोल रहा है, किंतु पितृस्थानीय बन जाते थे और उनके झूठों को कुल गरिमा की अपनी चादर ओढ़ा देते थे। बाद में उधर से जब मित्रों के पत्र आते तो राज खुलता था कि शाहजादे कहां गए थे। एक बार की बात परदेसी काका ने यूं बताई थी कि राजकमल बीस पच्चीस दिन गायब रहा। आया तो बताने लगा कि ट्रेन में एक लड़की से प्यार हो गया। उसी के साथ जाते जाते सहारनपुर चले गए। वहां लड़की के भाई को शक हो गया तो साले ने बहुत मारा पीटा और अपने फार्म हाउस में ले जाकर बंधक बना लिया। बहुत मुश्किल से जान बचाकर भागे हैं काका! लेकिन, उधर से जब मित्रों का पत्र आया तो स्पष्ट हुआ कि ये चार पांच लोग राहुल सांकृत्यायन से मिलने किसी पर्वतीय प्रदेश में गए थे।

भागलपुर से भागकर राजकमल जहां जाते थे, मतलब ज्यादातर दरभंगा जाते थे, उसके बहुत सारे किस्से मायानंद मिश्र के पास थे। और, उसके बाद के भी, जब उन्होंने पटना सचिवालय में नौकरी की थी, और परिवार के साथ पटना रहने लगे थे। दरभंगा से, उसके गांवों से, बौद्धिक युवा वर्ग से राजकमल गहरे जुड़े थे।

एक बार के अपने वक्तव्य में उन्होंने राजकमल से पहली मुलाकात का किस्सा सुनाया था– उन दिनों मैं दरभंगा में रहकर अपनी पढ़ाई कर रहा था। मेरे स्थानीय संरक्षक अमर जी थे। मैथिली में मैं गीत भी लिखता था और हास्य व्यंग्य भी। हास्य कथाओं का मेरा संग्रह 'भांगक लोटा' प्रकाशित हो चुका था। उस पर हरिमोहन झा का प्रचंड प्रभाव था। लेकिन मैं अपनी छोटी सी बंद दुनिया में संतुष्ट होकर लिख पढ़ रहा था कि इसी बीच मैंने ललित की कहानी 'कुलटा', 'वैदेही' के नए अंक में पढ़ी थी और मेरा दिमाग झनझना गया था कि आधुनिक मैथिली कथा साहित्य को तो ऐसा होना चाहिए। बाद में ललित से मेरा संपर्क हुआ और आगे तो वे मेरे संबंधी भी हो गए। ललित की दुनिया बहुत बड़ी थी। बौद्धिकों के बड़े विशाल समाज के साथ उनका साहचर्य तो था ही, अंग्रेजी के माध्यम से संपूर्ण विश्व साहित्य की पूरी जानकारी उन्हें थी। उन्हीं ललित ने एक दिन अपने मित्र दिवानाथ के डेरे पर एक युवा से, खास तौर से बुलाकर मेरी मुलाकात कराई थी। वे थे–मणींद्र राजकमल। वहां पर ललित और राजकमल के कई मित्र थे–दिवानाथ मिश्र, रमाकांत मिश्र, मंत्रनाथ, चेतानंद, उग्रानंद, जयानंद, नागदत्त आदि। ये सभी युवा एक से एक दिग्गज बौद्धिक थे। लेकिन, राजकमल से बात करके पहली बार मुझे लगा था कि विद्या की भी कितनी विराटता हो सकती है! प्रतिभा का ऐसा जाज्वल्यमान पुंज मैंने अब तक नहीं देखा था। प्राच्य और पाश्चात्य, प्राचीन और अर्वाचीन–कोई भी विषय ऐसा नहीं दीखता था जिस पर राजकमल की पकड़ न हो। मैं तो विस्मित रह गया था...

फिर, उन्होंने यह बताया था कि राजकमल अक्सर दरभंगा आते रहते। दिवानाथ के साथ टिकते। जितने दिन वे दरभंगा में रहते, वहां की हमारी तमाम गतिविधियां ठहर जाती थीं। और, बताया था कि दरभंगा शहर की कुछ चुनिंदा जगहें थीं, जहां यह टीम जुटी नजर आती–दरभंगा टावर पर दौलतराम होटल, टावरवाले वैद्य जी की भांग दुकान, माधवेश्वर पोखरे का मोहार, राज कंपाउंड का कोई कोना या फिर दिवानाथ या रमाकांत का डेरा। तमाम समय आधुनिक विश्वसाहित्य पर बात चलती रहती थी और तय किया जाता था कि मैथिली साहित्य को इसकी अगति से कैसे उबारा जाए। और, बताया था कि राजकमल उन दिनों हिंदी में अत्याधुनिक बोध की कविताएं लिखते थे, ऐसी कि जो ठीक से मेरी समझ में भी नहीं आती थीं। और यह भी कि सारे मित्र लगातार राजकमल पर दवाब बनाए रहते कि वह मैथिली में लिखें। और, अंततः तय यह हुआ था कि उनकी कहानी का मैथिली अनुवाद ललित कर दें फिर आगे वह मैथिली लिखने लगेंगे। उनकी यही कहानी 'अपराजिता' थी।

और जो तय हुआ था, वही हुआ भी।

अगले किसी साल के संबोधन में उन्होंने आचार्य रमानाथ झा वाला किस्सा सुनाया था। प्रसंग दरभंगा के माधवेश्वर पोखर घाट का था। गरमी के दिन थे, जब शाम के समय घाट पर हमारी चौपाल जमी थी। उसमें राजकमल थे, ललित थे, दिवानाथ थे, रमाकांत थे और मैं था। राजकमल ने अपनी वह कविता सुनाई थी कि *जिंदगी नहीं है पैरांबुलेटर / कि घूम आओ आया के साथ/ मौत की बढ़ती हुई साया के साथ।* इस पर टीका टिप्पणी चल रही थी। आनंद के क्षण थे कि इसी बीच अचानक सबकी हंसी रुक गई। जिसके हाथ में सिगरेट था, झट पोखर में फेंका। देखा कि जर्जर पुरानी साइकिल पर एक बुजुर्ग आए। साइकिल रोककर धोती कुरता उतारा। पोखर में घुसकर स्नान किया, संध्यावंदन किया और फिर विदा हो गए। इस बीच सबकी बोलती बंद रही। राजकमल उन्हें नहीं पहचानते थे। पूछा तो मैंने बताया कि आचार्य रमानाथ झा थे। उन्हें बहुत आश्चर्य हुआ। बोले—यही हैं? यही बहुत भारी विद्वान हैं? इस पर दिवानाथ ने चुटकी भी ली कि भारी विद्वान तुम किसे समझते हो? जो दारा सिंह या किंग कांग की तरह का हो? लेकिन, राजकमल ने प्रस्ताव रखा कि चलो, कल चलकर इनसे मिला जाए। अब प्रश्न उठा कि उनके साथ आचार्य जी के पास जाए कौन? दिवानाथ ने कहा कि उनसे मिलने का कोई फायदा नहीं होगा। वे तुम्हारी घंटे भर की बात को अपनी तीन हुंकारी में समाप्त कर देंगे। कविता सुनाना चाहोगे तो इस तरह आंख गुराड़कर ताकेंगे कि वाक्य विन्यास तक भूल जाओगे। लेकिन राजकमल का कहना था कि इतने बड़े स्कॉलर से मुलाकात का कुछ न कुछ तो फायदा होगा ही। मित्र लोग इससे भी सहमत नहीं थे। ललित ने कहा कि भाई, हम तो नहीं ही जाएंगे। इतनी दूर चलकर जाओगे और यदि कुछ उनसे पूछो तो जानते हो क्या होगा? वह अपना कोई निबंध पढ़ने के लिए प्रेस्क्राइब कर देंगे। अब खोजते रहो 1930 के दशक की मैथिली पत्रिका! और, इस तरह हम सब लोगों ने किनारा कर लिया था। और, वही आचार्य रमानाथ झा थे, जिन्होंने राजकमल के निधन के बाद राजकमल के 'ललका पाग' कथा संग्रह का संपादन किया था।

अगले किसी साल के अपने वक्तव्य में उन्होंने आधुनिक मैथिली के त्रिपुंड की अवधारणा पर प्रकाश डाला था। त्रिपुंड यानी कि त्रिमूर्ति। ये तीन थे—ललित, राजकमल और मायानंद। सच है कि इन्हीं तीनों ने मैथिली कहानी को मध्यकालीन बोध के धुंधलके से निकालकर आधुनिक युग की चुनौतियों के आमने सामने ला खड़ा किया था। इन तीनों कथाकारों की रचना प्रक्रिया किस तरह एक दूसरे से भिन्न थी, या फिर कथ्य के ट्रीटमेंट में या शिल्प के चयन में कैसे ये एक दूसरे से मतांतर रखते थे, यह सब मायानंद मिश्र से सुनना एक अविस्मरणीय अनुभव था। वह बताते कि कैसे ललित एक ही कहानी को चार चार बार रिराइट करते, मायानंद दो दो महीने तक दिमाग में कहानी को बुनते रहते—लिखते भी तो बेहतरी की उम्मीद में एक बार फिर से लिखते लेकिन राजकमल थे कि जरा देर वह आत्मस्थ होते, और फिर कलम उठाकर जो भी उन्हें लिखना होता, सीधे लिख जाते थे। अपने लिखे हुए को संशोधित करते हुए उन्हें कम ही देखा गया।

लेकिन एक साल के अपने वक्तव्य में तो उन्होंने हद ही कर दी थी। विषय उनके सामने यह उपस्थित था कि आप तीनों ने साथ साथ यात्रा शुरू की—आगे दिवानाथ के साथ साथ ललित भी डिप्टी कलक्टर हो गए, आप खुद भी विश्वविद्यालय की सेवा में आ गए, राजकमल भी तो सचिवालय की सेवा में आ ही गए थे, यह अलग बात है कि उन्होंने उसे छोड़ दिया—आज आप जब पीछे उलटकर देखते हैं तो क्या पाते हैं? कौन कहां पहुंचा? याद आता है, माया बाबू बहुत भावुक हो गए थे। एक तो वैसे ही वह कोमलकांत पदावली टाइप के व्यक्ति थे, ऊपर से उनका भावुक होना माहौल को भीषण रूप से मार्मिक बना गया। बोले—ललित ने और मैंने क्या किया? यही किया कि इस दौर के अंत तक आते आते अपने किए पोखर का एक एक मोहार चुन लिया और उस पर जम गए। जम

गए और दुनियादारी बसा ली। साहित्य जो वहां, उन दिनों था, वहीं रह गया। हम ही उससे निकल भागे। हमने अपने अपने लिए सुविधाएं बटोर लीं और उसे भोगने में लग गए। लेकिन राजकमल? मेरा एक मन कहता है कि वह बौख गए, भटक गए। साहित्य की जिस जुझारू सोहबत में उस समय हमलोग थे, उस दुनिया को अगर हम दोनों ने छोड़ दिया, उससे अलग हो गए, अलग दुनिया बना ली और उसमें आकर रम गए—तो, मेरा मन कहता है कि यही काम राजकमल को भी करना चाहिए था। नई दुनिया में तो वह आ भी गए थे, उसे उनको बसा लेना चाहिए था, रुक जाना चाहिए था। लेकिन उन्होंने क्या किया कि एक सोहबत छूटी तो दूसरी बना ली, दूसरी भी छूट गई तो तीसरी बना ली—लेकिन लगे रहे उसी में। जमे रहे साहित्य की ही दुनिया में। ठीक है कि वे मर गए, लेकिन ललित भी तो मर गए। कल हम भी तो मर जाएंगे। देखा तो यही जाएगा कि कौन क्या छोड़ गया, कौन क्या मैसेज देकर गया दुनिया से, देखा तो यही जाएगा अंततः; तब, मेरा दूसरा मन कहता है कि नहीं, हम गलत थे, राजकमल ही सही थे। वक्त ने साबित किया कि राजकमल ही सही थे...।

मायानंद मिश्र के पास, हमें बताने लायक ढेर सारी नई बातें थीं। इनमें राजकमल के साथ के किस्से तो थे ही, उनके जीवन की बहुत सारी ऐसी घटनाएं भी थीं, जिनके बारे में साफ साफ किसी को भी पता नहीं था। वह बताते थे कि राजकमल के साथ उनका गहन संपर्क तो 1956 के बाद नहीं रह गया था, लेकिन 1960 के बाद जब वह फिर पटना आ गए तो अक्सर भेंट मुलाकात होती रहती थी, जिसमें आत्मीयता की वही पुरानी ऊष्मा पाई जाती थी।

मायानंद हमारे शहर के गौरव थे। हम उनके प्रिय हैं, यह बोध हमेश उत्साहित करता था। उनका आवास विद्यापतिनगर में था। किसी भी दिन, कभी भी उनके यहां चले जाओ तो तपाक से मिलते थे। और, बातों के तो वह रसिया थे। किसी बात पर गोष्ठी जम गई तो आगे कितनी देर तक जमी रहेगी, कोई नहीं कह सकता था। हम राजकमल के जिज्ञासु थे, और उनके पास ढेर सारी नई बातें थीं। आप समझ सकते हैं कि हम उन्हें कितना परेशान करते होंगे!

देखने वाले देख सकते हैं कि राजकमल का जीवनपथ कठिन झंझावातों से घिरा रहा और तब भी, उसमें मोड़ पर मोड़ आते रहे। हमें भी उनके जीवन के कई मोड़ साफ साफ दिखाई पड़ते थे। दो मोड़ सर्वाधिक मूल्यवान थे। एक तो 1950 में, जब वह पुराने लंद फंद से उबर रहे थे और साहित्य लेखन की ओर पहला ठोस कदम उठाया था। इसमें दरभंगा की बहुत बड़ी भूमिका थी। नवादा के जंजाल से जब वह छूटे तो वह दरभंगा ही था, जिसने उन्हें थामा और दिशा दी। दूसरा मोड़ कलकत्ते की तरफ मुड़ता था। यह 1957 की बात है। कलकत्ता में जब वह रमे तो अपने लक्ष्य के प्रति और भी गंभीर हो गए। इस हद तक मजबूत कि साहित्य ही उनका जीवनधन हो गया। दुनिया की व्याप्ति जो बढ़ी वह तो बढ़ी ही, यह तय हो गया कि अब वह पीछे मुड़कर देखनेवाले नहीं हैं।

कलकत्ता वह कैसे पहुंचे थे, यह हमें मालूम था। उन्हें बाबा नागार्जुन ने सपोर्ट किया था। अपने बुरे से बुरे दिनों में भी जिस किसी एक साहित्यिक से वह लगातार जुड़े रहे, वह नागार्जुन ही थे। मसूरी के झंझावात से उबरकर जब वह पटना लौटे थे, तो हर बार की तरह नागार्जुन से ही विमर्श किया था। सचिवालय की नौकरी छूट चुकी थी। पटना में ऐसा कोई काम नहीं था, जिससे रोजी रोटी की गुंजाइश बने। काम करेंगे तो लिखने पढ़ने का ही, यह उनका अंतिम फैसला था, और इसमें नागार्जुन की सोलह आना सहमति थी। नवादा में पिता का दरवाजा शशिकांता जी के लिए तो खुला था, लेकिन उसी दरवाजे से होकर राजकमल का वहां प्रवेश करना पिता पुत्र में से किसी को भी मान्य नहीं था। कलकत्ता नागार्जुन का सर्वाधिक पसंदीदा शहर था, जहां वह अक्सर जाते तो रहते ही, संपर्कसूत्र भी वहां उनके बहुत थे। कुल दो लाइन की एक 'हथौटी' चिट्ठी उन्होंने राजकमल को दी थी—'यह

राजकमल है। तुम्हारे पास जा रहा है।' चिट्ठी छेदीलाल गुप्त के नाम थी। वह कम्युनिस्ट पार्टी की पत्रिका 'स्वाधीनता' में काम करते थे। राजकमल कलकत्ता गए और वहां रम गए। यूं वह वहां न तो 'स्वाधीनता' में काम कर सके, न पार्टी से ताल्लुकात बनाए रख पाए। छेदीलाल गुप्त से भी बहुत गहरी आत्मीयता हो गई हो, ऐसा भी नहीं हुआ। उन्होंने अपनी राह पकड़ी। लेकिन, हद आदमी थे छेदीलाल गुप्त भी! राजकमल को लेकर, साहित्य की समूची दुनिया टस्स से मस्स हो गई, लेकिन छेदीलाल गुप्त नहीं बदले। क्या उन्होंने भी राजकमल में किसी 'असाधारण विचित्र प्राणी' के दर्शन किए थे? राजकमल की मौत के बाद तक वह उन्हें 'अच्छा आदमी' कहते रहे!

कलकत्ता के बारे में हमें मालूम था लेकिन, दरभंगा के बारे में हम कुछ नहीं जानते थे। उन दिनों के बारे में उनके मित्रों ने जो संस्मरण लिखे, उनमें और सब बातें तो भरपूर थीं, लेकिन यह रहस्य अनावृत्त ही रह गया था।

हमने माया बाबू से पूछा था—1951 में राजकमल जी का विवाह बसैठ चानपुरा हुआ। ससुराल वह अक्सर जाते होंगे। उसी गांव के रहनेवाले ललित थे। ललित की बहन से आपका विवाह हुआ, तो आपकी भी ससुराल बसैठ चानपुरा। वहीं आपलोगों का संपर्क हुआ होगा। और तब वह दरभंगा की मित्र मंडली से जुड़ गए होंगे। यही हुआ न?

लेकिन, यह बिल्कुल ही नहीं हुआ था। माया बाबू बताने लगे कि राजकमल सीधे भागलपुर से दरभंगा जुड़े थे। विवाह के पहले। उनका एक दोस्त था समीर बोस। वह नाटा बंगाली बड़ा ही जीनियस। द्वंद्वात्मक भौतिकवाद का महापंडित था, समझिए। हमलोग मजाक में कहते भी कि राजकमल का दुर्लभ गंभीर विश्व साहित्य का ज्ञान एक तरफ, और बोस का मार्क्सवाद ज्ञान दूसरी तरफ, पलड़ा बोस का ही भारी पड़ता था। बात बहस में उसकी बड़ी रुचि थी। हर मामले में, हर बात में वह वामपंथी दृष्टिकोण का मुद्दा उठा देता था। राजकमल की उससे बड़ी पटरी बैठती थी। वह पढ़ता था टी. एन. बी. कालेज में। उसी कालेज के छात्र थे दिवानाथ मिश्र। यह दिवानाथ बोस का पक्का दोस्त। तो, इस तरह बोस ने दिवानाथ से राजकमल को मिलाया था। दिवानाथ के पिता दरभंगा राज में काम करते थे तो वहां उनका डेरा था और जमी हुई मित्र मंडली थी। दिवानाथ का घर सरिसवपाही गांव में था। तो, इस तरह राजकमल 1950 के किसी महीने में पहली बार दिवानाथ के साथ दरभंगा आए थे।

—लेकिन, ललित ने तो लिखा है कि जब विवाह के लिए बात चल रही थी तभी उन्होंने पहली बार राजकमल को देखा था।

—हां। वह देखादेखी शुद्ध वैवाहिक प्रसंग की थी। वह भी सिर्फ इसलिए कि राजकमल के साले राजवंशी ललित के बालसखा थे। बहन की शादी किस लड़के से कर रहे हैं, इस दृष्टिकोण से दिखाया था। और, ललित को तब कोई जानकारी नहीं थी कि लड़का कुछ लिखता पढ़ता भी है! इधर राजकमल भी अनजान कि उन्हें कोई ऐसा आदमी देख रहा है, जो कल मैथिली कहानी की अनिवार्य पहचान बननेवाला है। और, उस विवाह प्रसंग में तो एक ऐसी घटना हुई थी कि आप ताज्जुब करिएगा!

—क्या घटना हुई थी?

—घटना वहीं सौराठ सभा की है। राजकमल के विवाह प्रसंग को लेकर मधुसूदन बाबू सौराठ सभा पहुंचे थे। वहां चानपुरा के कन्यागत विश्वनाथ मिश्र की लड़की से विवाह की बात तय हो गई। घटक, पंजीकार सभी प्रसन्न हुए। राजकमल स्वयं भी वहां मौजूद थे। कन्यापक्ष के ढेर सारे लोग थे। जब सारी बातें पक्की हो गईं तो मधुसूदन बाबू ने खोज की कि लड़की के पिता कौन हैं! कन्यापक्ष वालों ने कुछ बहाना कर दिया कि इधर उधर कहीं गए हैं। एकाध घंटे के बाद फिर मधुसूदन बाबू ने खोज की। फिर से कोई नया बहाना बना दिया गया। तब मधुसूदन बाबू को शक हो गया। उन्होंने

जिद पकड़ ली कि नहीं, पहले उनसे मिलाइए तभी आगे का कोई कार्यक्रम होगा। खलबली बच गई। लाचार होकर विश्वनाथ मिश्र को सामने आना पड़ा। उन्हें देखकर सभी लोग अकबका गए। स्वयं राजकमल भी चिंतित हो गए। बात यह थी कि विश्वनाथ बाबू का रंग 'पकिया' काला था, और माना जाता था कि जैसा बाप वैसी बेटी! हाथ जोड़कर वह बोले–समधी जी, क्षमा कीजिएगा। मेरे वर्ण को देखकर आपलोगों का चित्त न भटक जाए, इसलिए मैं सामने नहीं आना चाहता था। मेरी बेटी गोरी और सुंदर है। अगर आपको कन्या पसंद नहीं आई तो आप अपने बेटे का दूसरा विवाह करा लीजिएगा। हमें कोई आपत्ति नहीं होगी! आदि आदि।

राजकमल के विवाह की यह कहानी अद्‌भुत थी, जिससे मैथिल समाज का बहुत सारा ताना बाना स्पष्ट होता था। हमने पूछा–आप तो उनके विवाह में शामिल हुए होंगे?

बोले–अरे नहीं! हमसे तो उन दिनों परिचय भी नहीं था। जिनसे था, उनमें से भी कोई नहीं था। किसी को पता ही नहीं था। सौराठ सभा से सीधे वे लोग चानपुरा गए और विवाह हो गया। दूसरी एक बात यह भी थी कि व्यक्तिगत मामलों में, पारिवारिक प्रसंगों में राजकमल कभी भी अपनी मित्र मंडली को शामिल नहीं करते थे। शामिल करने की तो छोड़िए, पता भी नहीं चलने देते थे। पचाने की उनकी क्षमता अपूर्व थी। भीतर लाख झंझावात भरे होते लेकिन बाहर से कुछ भी मालूम नहीं हो पाता था। निजी सुख दुख हमेशा वह ढककर रखते थे।

–तो फिर आपलोगों में बातें क्या होतीं थीं? सुना है, रात रात भर आपलोगों की गोष्ठी चलती रहती थी!

–मुख्य रूप से दो तीन चीजों पर बात चलती थी। हमारी मंडली में जितने भी लोग थे, सब एक से एक पढ़ाकू थे। दिवानाथ और रामू तो समझिए किताबी कीड़ा थे। ललित का भी यही हाल था। लेकिन, राजकमल सब पर भारी पड़ते थे। इसकी वजह यह थी कि उनका ज्ञान अपटुडेट रहता था। अंग्रेजी, फ्रेंच, रूसी और इटालियन साहित्य पर उनकी पकड़ इतनी अद्‌भुत थी कि दो चार माह पहले वहां क्या नया हुआ, इसकी भी जानकारी उन्हें रहती थी। हिंदी, बंगला और उर्दू की तो बात ही न हो। तो, ये चीजें मंडली को विभोर कर देती थीं। सभी उन्हें सुनना चाहते। मैथिली साहित्य के बारे में उन दिनों उन्हें कोई खास जानकारी नहीं थी। वह हमसे उन्हें मिलती। तीसरी बात यह होती थी कि सब लोग अपनी ताजा रचनाएं सुनाते। इसमें भी राजकमल सबसे आगे थे। एक तो गद्य और कविता, दोनों में ही उनका सृजन प्रवाह बहुत तेज था। दूसरे यह कि उनकी लिखी चीजें ज्यादा विचारोत्तेजक होती थीं। अक्सर उन पर लंबी चर्चा होती। कई बार तो मंडली पक्ष विपक्ष में बंट जाती थी। विपक्ष के नेता अक्सर रामू होते थे, कभी कभी दिवानाथ भी। उन दिनों राजकमल ने एक जबर्दस्त उपन्यास लिखा था–'गुलजार बीघा'। इसका भी पाठ बहुत दिनों तक चलता रहा था। और, फिर तो वह कलाकार आदमी थे। किस तरह से सबको अपने में उलझाकर रखा जाए, बखूबी जानते थे। एक प्रसंग मुझे याद आता है...

मायानंद मिश्र ने जो प्रसंग सुनाया था, बाद में देखा कि उग्रानंद ने भी अपने संस्मरण में उसका उल्लेख किया हुआ है। मात्र उल्लेख नहीं, इस प्रसंग को तो उन्होंने इतना मान दिया है कि इसी के नाम पर अपनी संस्मरण पुस्तक का नामकरण किया है। वह पुस्तक अब तक अप्रकाशित है।

जिन दिनों राजकमल के उपन्यास 'गुलजारबीघा' को लेकर मंडली में सनसनी फैली थी, उन्हीं दिनों की किसी गोष्ठी में अचानक राजकमल ने कहा था–जानते हो, यह मेरा पहला उपन्यास नहीं है। इससे पहले भी मैं उपन्यास लिख चुका हूं और वह छप भी चुका है और उसकी रॉयल्टी भी मैंने प्राप्त की है। यह सबके लिए आश्चर्य की बात थी क्योंकि उन दिनों तक उनकी कोई भी रचना प्रकाशित नहीं हुई थी। तो, उन्होंने यह कहानी सुनाई थी और बताया कि वह उपन्यास हिंदी में नहीं,

उर्दू में छपा। उसका नाम है–'और लाश जल गई'। इस उपन्यास की उर्दू साहित्य में बहुत चर्चा हुई। राजकमल को उर्दू साहित्य में गहरी दिलचस्पी जरूर थी, लेकिन उन्हें उर्दू लिखना नहीं आता था, यह बात हम सभी जानते थे। स्वाभाविक प्रश्न था कि वह आपने लिखा कैसे और उर्दू में छपा कैसे? तो, राजकमल ने यह कहानी सुनाई थी कि एक बार ट्रेन में वह किसी लंबे सफर पर थे। साथ में 'और लाश जल गई' की पांडुलिपि थी। वह हिंदी में थी। उसे वह पढ़ते जा रहे थे। उनकी बिल्कुल बगल में जो मुसाफिर थे, राजकमल ने गौर नहीं किया कि वह भी उसे जहां तहां पढ़ता जा रहा था। जब राजकमल ने उसे ब्रीफकेस में रखना चाहा तो साथी मुसाफिर ने उसे देखने की इच्छा व्यक्त की। राजकमल ने उन्हें दिया तो देखा कि वह सज्जन उस उपन्यास को पढ़ने में इस तरह तल्लीन हो गए कि जब वह खत्म हुआ, तभी उनकी नजर ऊपर उठी। उन्होंने राजकमल से पूछा कि यह नॉवेल किसने लिखा है! राजकमल ने बताया। राजकमल ने यह भी बताया कि वह इस उपन्यास को छपवाना चाहते हैं लेकिन कोई प्रकाशक नहीं मिल रहा है। साथी मुसाफिर ने वह पांडुलिपि मांग ली और कहा कि जानते हो मैं कौन हूं? मैं ख्वाजा अहमद अब्बास हूं। अब्बास साहब को राजकमल जानते तो थे ही, उनके फैन भी थे। अब्बास साहब ने यह साफ कर दिया कि इसे वह उर्दू में छपवाएंगे। और, उम्मीद जताई कि इस नॉवेल की अच्छी तारीफ होगी और रॉयल्टी भी अच्छी मिलेगी। राजकमल ने पांडुलिपि उन्हें दे दी और उर्दू में जल्द ही किताब छप भी गई और पांच सौ रुपए भी मिले! यूं, माया बाबू ने भी यह साफ कर दिया कि दरअसल ऐसी कोई बात हुई नहीं थी। अर्थात, यह मात्र राजकमल की अचूक कल्पनाशीलता थी!

एक दिन माया बाबू बताने लगे–जानते हैं, जिन दिनों राजकमल सचिवालय की नौकरी में थे, उन दिनों का उनका जीवनक्रम क्या था। बताएं तो विश्वास नहीं होगा कि वैसा तूफानी आदमी किस तरह परिवार सम्हालने में 'खप' गया था। एक सच्चे सद्गृहस्थ के जो भी लक्षण होते हैं, सब आप उनमें देख सकते थे। न कोई जिद, न कोई अहमन्यता (एटीच्यूड?), न ही कोई महत्वाकांक्षा। वह अक्सर कहते भी कि अब कोई सपना देखने का मतलब ही क्या रह गया है–बड़े हुए, नौकरी की, रिटायर्ड हुए और मर गए, यही तो एक गरीब किरानी का भवितव्य होता है। और, वह कहते कि अपने लिए उन्हें यह सब करने की कोई भी जरूरत नहीं थी, यह तो सिर्फ और सिर्फ उन्होंने अपनी पत्नी के लिए किया है। वह खुद को 'गरीब किरानी' कहते थे, सिर्फ इतना भर नहीं था। उनके रहन सहन में भी यह गरीबी दीखती थी। सौ रुपए के करीब उनका वेतन था। रामकृष्ण मिशन लेन में किराए के मकान में वह रहते थे। दो मंजिले पर उनका डेरा था। ऊपर एस्बेस्टस की छत थी, जो अपेक्षाकृत कम ऊंचाई पर थी। इसी में वह अपनी पत्नी के साथ रहते थे। रिश्ते के एक भाई को भी उन्होंने आश्रय दिया हुआ था, जो कालेज की पढ़ाई करता था। गरमी के दिनों में तो उस कमरे में वास कर पाना असंभव जैसा था। किस तरह पत्नी के साथ रहते होंगे, आप अनुमान कर सकते हैं, जबकि मुझे जैसा याद है, उनके कमरे में पंखा भी नहीं था। खैर, यहां से वह पैदल आफिस जाते थे ओर लौटते थे। पैदल चलने की क्षमता उनमें थी भी बहुत। सब्जी वगैरह खरीद लाने का काम भी वह स्वयं करते थे। वह ऐसा दौर था जब समूची साहित्यिक विरादरी से वह कट गए थे। हिंदी में तो उनका प्रकाशन अभी कायदे से शुरू भी नहीं हुआ था। लेकिन, हरेक रात, नियमपूर्वक वह लिखते जरूर थे। साहित्यिक लोगों से मिलना जुलना तक नहीं होता था। वहीं पटने में मैं रहता था, रामू रहते थे, ललित उग्रानंद आते जाते रहते थे। लेकिन मित्र मंडली में भी उनकी रुचि समाप्तप्राय थी। एकमात्र यात्री जी थे, जिनसे वह जुड़े हुए थे। वह भी पटना में ही रहते थे। हर सुख दुख में वह राजकमल और उनकी पत्नी का साथ देते थे।

लेकिन, राजकमल के जीवन में इन दिनों की जो शांति थी, सुव्यवस्थितता थी–जो कि वास्तव

में उनके पराजयबोध की उपज थी, बहुत दिन नहीं चल सकी। उन्होंने पत्नी को घर पहुंचा दिया और मसूरी चले गए। वहां सावित्री शर्मा से शादी कर ली। मगर, वह भी ज्यादा दिन नहीं चल सका। कुछ महीने बाद ही वह लौट आए। फिर कलकत्ता के जीवन संघर्ष में शामिल हो गए। यह बात हम जानते थे। एक दिन हमने माया बाबू से पूछा था—सावित्री शर्मा के बारे में कभी आपकी बात हुई थी उनसे?

माया बाबू का उनसे बात हुई थी। बाद में देखा कि उग्रानंद की भी बात हुई थी। मतलब उनके सभी दोस्त मामले को जानते थे। लेकिन किसी ने भी इसे लिपिबद्ध नहीं किया, फलतः यह प्रसंग किंवदंतियों और दंतकथाओं की भेंट चढ़ गया था।

माया बाबू ने हमें बताया था कि सावित्री से राजकमल का कोई भी पुराना परिचय नहीं था। वह उनकी सहपाठी थी, यह बात उन्होंने स्वयं फैलाई थी। असल में बात क्या थी? पटना रेलवे स्टेशन के ह्वीलर स्टॉल पर वह पत्रिकाएं देखने आते थे। वहां उन्होंने किसी पत्रिका के प्रतियोगिता पुरस्कारवाला कॉलम देखा। उग्रानंद ने लिखा है कि वह पत्रिका 'फिल्मफेयर' थी, जिसे कि वह कम ही देखते थे। प्रतियोगिता का प्रथम पुरस्कार मसूरी की सावित्री शर्मा को मिला था। उसका पता उन्होंने नोट कर लिया। उसे बधाई का एक पत्र लिख दिया—मणि चौधरी के नाम से। लिखा कि पटने में आप मेरी सहपाठी थीं। लेकिन, वह सहपाठी नहीं थीं, और पटना तो कभी आई भी नहीं थीं—यह सावित्री ने मणि को जवाबी पत्र में लिखा। उसने मणि को एक लड़की समझा था, क्योंकि राजकमल के पत्र में लिंग विभ्रमवाले वाक्य प्रयुक्त हुए थे। फिर, पत्राचार शुरू हुआ और सघन होता चला गया। सावित्री बड़े ही अमीर घराने की संभ्रांत युवा विधवा थीं। राजकमल से सात आठ साल बड़ी होंगी। वह बड़े ही धार्मिक स्वभाव की थीं; और, जीवन से लगभग टूट चुकी थीं। राजकमल की दोस्ती ने उनमें एक ललक जगाई, और वह प्रेम में पड़ गईं। सावित्री के माता पिता नहीं थे। बड़े भाई ही व्यवसाय देखते थे। भाई भाभी ने बहन के सुख में अपना सुख देखा। राजकमल शर्मा परिवार से दिल्ली में मिले भी तो संतोष (भाई साहब की किशोरी बेटी) से इंप्रेस हुए, सावित्री से तो बिल्कुल भी नहीं। लेकिन, उन्होंने शादी कर ली, और मसूरी के संभ्रांत अल्ट्रा मॉडर्न समाज में घुस मिले। शादी नहीं टिकने की वजह बनी संतोष, और राजकमल को अपमान सहकर लौट आना पड़ा। उस आदमी की एक मौत यह भी थी। लेकिन, वह उठ खड़े हुए। कहना चाहिए कि और ज्यादा 'जिम्मेवार आदमी' बनकर उठ खड़े हुए। उनका सारा किया हुआ काम तो इसके बाद का ही है।

मसूरी के अपने जीवनानुभव को लेकर राजकमल ने उपन्यास लिखा है—'देहगाथा'। इसे उन्होंने कलकत्ता से पटना लौट आने (सितंबर 1963) के बाद लिखा। इस उपन्यास में राजकमल ने जितने सारे 'गैप' छोड़े हैं, और वे छूट गए हों ऐसा नहीं, जान बूझकर छोड़े गए हैं, वहां पाठक की कल्पनाशीलता की, एक तरह से, परीक्षा ली गई है—उस गैप को भरकर यदि एक कथामंडल ('आभामंडल' की तरह) तैयार किया जाए तो उस आदमी के जीवन संघर्ष को समझा जा सकता है। उस उपन्यास के नायक की जो भी खूबियां हैं, सब गैप में चली गई हैं। सामने सिर्फ खामियां हैं। और, उपन्यासकार भी उसी में रस ले रहा है। लेकिन, हम देखते हैं कि भाई साहब का परिवार उन्हें साथ रखना चाहता है, सिर्फ उनकी कुछ शर्तें हैं। छोड़ने का निर्णय नायक का है। क्या हैं उसकी खूबियां कि वह 'निर्णेता' की भूमिका में खुद को रख पाने की ताकत अपने भीतर पाता है। क्यों तमाम लड़कियां उसे 'बेहद अच्छा इंसान' मानती हैं! समूची खूबियां गैप का शिकार बना दी गई हैं, क्योंकि लेखक को एक 'विकल मानुस' की कहानी लिखनी है! मायानंद मिश्र और उग्रानंद के किस्सों को याद करता हूं और 'देहगाथा' के पन्ने उलटता हूं तो राजकमल के बचपन वाला वह 'रासलीला प्रसंग' याद आ जाता है। और, परदेसी काका से पूछा गया वह प्रश्न! यह मणि चौधरी सावित्री का हसबैंड है। संतोष का प्रेमी है। वीनस, सोनाली और कुछ अन्य अल्ट्रा मॉडर्न लड़कियों का चहेता

ब्यायफ्रेंड है। और, यह आदमी उधर अपनी बीवी शशि से भी 'गहमागट्ट' जुड़ा हुआ है!

मैं सोचता हूं कि वहां, राजकमल का वह सपना पूरा हो गया होगा। उन्होंने देख लिया होगा कि कुछ सपने सपनों में ही ठीक रहते हैं!

राजकमल जयंती तेरह दिसंबर को होती थी, लेकिन इसकी तैयारी हमलोग अमूमन एक अक्टूबर से शुरू कर देते थे। अक्टूबर में ही दुर्गापूजा होती थी। नवरात्र का हमारे गांव में बड़ा ही विशिष्ट महत्व था। विद्या व्यक्तित्व वाला गांव था। ढेर सारे लोग ऊंचे ऊंचे पदों पर बाहर रहते थे। वे सभी इस मौके पर गांव आते। दो चार नवरात्रों तक लगातार अगर कोई नहीं आया तो लोग उसे 'अंतिम रूप से गया हुआ' समझ लेते और गांव उसके प्रति निरपेक्ष हो जाता था। किसने कितनी तरक्की की, कौन कहां पहुंचा—इसके परीक्षण का समय भी नवरात्र ही होता था। पहनावे ओढ़ावे से और भोज भात की निरंतरता से इसका पता चलता था। धन अगर किसी ने अर्जन किया तो उसकी सार्थकता इसी बात में देखी जाती थी कि कितना शानदार भोज उसने किया। इसके लिए कुछ अवसर जैसे मुंडन, उपनयन, विवाह, श्राद्ध आदि तो सनातन से चले आते थे, लेकिन नवधनिक लोगों ने जन्मदिन, मैरेज डे आदि भी मनाना शुरू कर दिया था। इन सबको प्रकट करने का सुअवसर इन्हीं दिनों प्राप्त हो पाता था। फिर यह भी देखा जाता कि किसके आंगन से कितना मोटा तगड़ा पाठा, जिसे 'छागर' कहा जाता, निकला। ये छागर उग्रतारा के समक्ष महानवमी को बलि चढ़ाए जाते थे। गांव में दुर्गा की प्रतिमा नहीं बनती थी। उग्रतारा को ही लोग दुर्गा का पूर्णावतार समझते थे। वह थीं मूलतः बौद्धों की देवी। गांव की प्रतिमा भी बौद्ध मूर्तिकला का ही अवदान थी, जिसे विद्वानों ने 'खदिरबनी' तारा के रूप में चिह्नित किया था। लेकिन पिछले तीन सौ साल से ब्राह्मण तंत्र के अनुसार हिंदू उनकी पूजा करते आ रहे थे। 1750 के दशक में दरभंगा राज की महारानी पद्मावती ने इस मंदिर का निर्माण कराया था। मंदिर का स्थापत्य 'शक्ति शैली' में होने की वजह से ऐसा प्रतीत होता था कि निष्णात तंत्रविदों की निगरानी में निर्माण कराया गया होगा। लेकिन, महानवमी के दिन एक हजार छागर, जिनकी संख्या बढ़ते बढ़ते इस साल तो सोलह हजार पर पहुंच गई है, और दर्जनों भैंसों की बलि चढ़ाने के बाद जब मंदिर का प्रांगण रक्तधार से सुसिंचित भयावह दीख रहा होता तो समझा जा सकता था कि बौद्ध देवी की आराधना हिंदू कितनी खूंखार श्रद्धा के साथ कर सकते हैं। सनातन से नियम चला आया था कि उस दिन पहला छागर, पहला भैंसा और पहला भेड़ा (नर भेड़) बुधवारय की ओर से देवी को समर्पित किया जाएगा। कुल का जो सबसे ज्येष्ठ पुत्र होता, वही इसका 'संकल्प' करता और भगवती को बलि निवेदित करता था। स्वयं राजकमल चौधरी ने कई बार, जब भी कभी वह गांव में होते, इस कर्मकांड को संपन्न किया था। बुधवारय की बलि अनुष्ठित होने के बाद ही दूसरों का नंबर आता था—पहले गांव के अन्य कुलों के, फिर उन पच्चीसों गांवों के, जहां के लोग अपनी मनौती पूरी होने के फलस्वरूप भगवती को छागर और भैंसे चढ़ाने आए होते। अक्सर ही ऐसा होता कि इन पच्चीसों गांववालों में 'पहले हम तो पहले हम' को लेकर भारी विवाद हो जाता, कई बार तो गंभीर मारपीट तक हो जाती थी। और, सबसे मजे की बात यह थी कि इस पूरे दृश्य को देखने के लिए हजारों हजार की तादाद में श्रद्धालु जमा होते। बलि चढ़ाने अर्थात भैंसों की गरदन काटने का दृश्य 'भर आंख' देखने के लिए लोग ऊंची जगहों पर चढ़ जाते। एक बार तो ऐसा भी हुआ था कि प्रांगण का पीपल वृक्ष (शांति का प्रतीक) श्रद्धालुओं का बोझ बर्दाश्त न करने के कारण दो भाग में फटकर गिर गया था।

लेकिन मेला लगता था जबर्दस्त! दो दिन का मेला तो ऐसा होता कि तिल धरने को जगह नहीं पाई जाती। गांव के जो लोग थे वो तो थे ही, आसपास के बीसियों गांवों के लोग मेला देखने आते—महिलाएं और बच्चों समेत। कोशी इलाके के गांवों में मेले की एक सुव्यवस्थित परंपरा पुराने जमाने

से चली आई थी। कृष्णाष्टमी का मेला बनगांव में लगता, तो फिर आसपास के किसी दूसरे गांव में नहीं लगता था। सभी गांवों के लोग मेला देखने वहीं जाते। इसी प्रकार काली पूजा का मेला चैनपुर में लगता था। लेकिन, दुर्गापूजा के मेले के लिए हमारा गांव मशहूर था। देहाती मेले के जितने भी आकर्षण हैं, सभी यहां पाए जाते थे। दो कार्यक्रमों के लिए यह मेला बहुत दूर दूर तक प्रसिद्ध था। एक तो यह कि यहां दोनों दिन, नवमी और दशमी को कुश्ती का दंगल होता। इसमें भाग लेने के लिए बिहार ही नहीं, कई बार दूसरे राज्यों से भी पहलवान मंगाए जाते थे। दूसरे, यहां दोनों दिन नाटक होते, जिन्हें बरसों बरस तक इलाके के लोग याद करते थे। नाटकीय प्रतिभा के एक से एक शलाकापुरुष गांव में मौजूद थे। अभिनेताओं की कई पीढ़ियां एक साथ सक्रिय थीं। बुधवारय के ही सदाशिव चौधरी और हीराकांत चौधरी बड़े ही प्रसिद्ध अभिनेता थे, जो उन दिनों भी नाटक में भाग लिया करते। स्वयं राजकमल के पितृव्य नरेंद्र नारायण चौधरी मशहूर नाट्य निर्देशक थे। पुरानी पीढ़ी के तारानंद झा, समोल मिश्र, धनराज महतो थे तो नई पीढ़ी के दयाशंकर मिश्र और अरविंद पोद्दार के टक्कर में दूर दूर तक कोई अभिनेता मौजूद नहीं था। फिर, अमरेंद्र झा और असगर अली जैसे सज्जाकार थे और वशीकांत चौधरी जैसे प्रॉम्प्टर निर्देशक। हजारों हजार की भीड़ रात रातभर नाटक देखती रह जाती थी।

इस मेले में हम पैसे कमाने का धंधा करते थे। देहाती मेला था, जहां मूड़ी झिल्ली, बताशा जलेबी, सिंगार पटार की दुकानें लगती थीं। हमने किताब की दुकान करनी शुरू की। ऐसी कोई दुकान पहले से नहीं लगती थी। दो तीन चौकी बिछा देते, उस पर चादर या साड़ी डालकर किताबें और कैलेंडर फैला देते। वे किताबें कोई विद्वानों या साहित्यिकों के पढ़ने की नहीं होती थीं। देहाती मेला था। देहाती लोगों के उपयोग की किताबें वहां मिलती थीं। बालपोथी, मनोहर पोथी, बच्चों की कहानियों की किताबें, अकबर वीरवल विनोद, डाक वचनावली, विद्यापति गीत संग्रह, हनुमान चालीसा आदि आदि। फिर देवी देवताओं के, प्राकृतिक दृश्यों और राष्ट्रनेताओं की तस्वीरें। मेरा यह धंधा बहुत दिन से चलता था, सातवीं आठवीं में पढ़ता होऊंगा, तभी से। लेकिन, अब राजकमल साहित्य परिषद् की हमारी टीम भी इसमें शामिल हो गई थी और हमने तय किया था कि इस धंधे में हुए मुनाफे से हम अपने पुस्तकालय की किताबें खरीदेंगे। हमारे लिए सबसे जरूरी था राजकमल की किताबें जुटाना। कभी कभी हमें ग्लानि भी होती कि राजकमल के नाम पर हम इतना करने का सोच रहे हैं लेकिन उनकी सारी किताबें भी हमारे पास नहीं हैं।

राजकमल की किताबें मिलेंगी कहां से, इसका कोई आसरा नहीं दीखता था। केदार जैसे मित्रों से यह पता चला था कि 'मछली मरी हुई' और 'चौरंगी' पटना में मिल सकती है। लेकिन, अन्य किताबों का कोई स्रोत नहीं दिखता था। हमने शशिकांता जी से संपर्क किया। उनके पास कोई भी किताब नहीं थी। नीलू हमारे कनिष्ठ थे। हमने उनसे भी संपर्क किया। उनके पास केवल दो किताबें 'मुक्तिप्रसंग' और 'कंकावती' थीं। वह भी केवल एक एक प्रति। दोनों किताबें हमने उनसे ली थीं और कॉपी पर उतार ली थीं। आगे तो यही होना था कि पटना कोई जाए तो उपलब्ध हो सकनेवाली किताबें हमारे पास पहुंचें।

इसी बीच एक दिन क्या हुआ कि सरोज बाबू ने हमें अपने पास बुलाया। वह लालकाका के सात पुत्रों में से छठे थे। उनका रजिस्टर्ड नाम मिथिलेश्वर चौधरी था। उन्होंने लॉ की डिग्री ली थी लेकिन प्रैक्टिस नहीं करते थे। लालकाकी की देखरेख के लिए गांव में रहते थे और पुश्तैनी जायदाद सम्हालते थे। वह सीधे सादे आदमी थे लेकिन अपने हर आग्रह पर अड़ जाने की पुरानी प्रवृत्ति उनमें थी। कुल खानदान का भेद भी बहुत मानते थे। गांव के लोग उनसे ठिठोली करते, लेकिन हम उन्हें सम्मान देते हुए किनारा काट लिया करते थे। उन्होंने खुद बुलाया। बोले—तुमको राजकमल जी की किताब चाहिए?

–हां, चाहिए। किताब के लिए तो हम व्यग्र हैं।

–लेकिन, दाम लगेगा।

–हां, देंगे। आप दिखलाइए, कौन कौन सी किताब आपके पास है?

उनके पास बहुत सारी किताबें थीं।

मछली मरी हुई, चौरंगी, देहगाथा, शहर था शहर नहीं था, मछलीजाल, अग्निस्नान, एक अनार एक बीमार, बीस रानियों का बाइस्कोप, नदी बहती थी, आंदोलन। किताब के रखरखाव से स्पष्ट था कि ये सारी किताबें या तो लेखकीय प्रतियां थीं या फिर राजकमल की निजी हस्ताक्षरित प्रतियां। अखरा भी कि ये नीलू के पास या शशिकांता जी के पास क्यों नहीं हैं कि इनके पास हैं। लेकिन हमें तो अभी अपनी पड़ी थी। किसी भी तरह ये किताबें हमारे पास आ जाएं, यह बड़ा प्रश्न था। दाम जोड़ा गया। संभवतः एक सौ अठहत्तर रुपए हुए। हमने वादा किया कि पैसा लेकर आते हैं, ले जाएंगे।

उस साल के मेले में हमने एक सौ साठ रुपए कमाये थे। पांच और रुपए का जुगाड़ हो गया। हमने सरोज बाबू से आग्रह किया कि हमें कुछ छूट दे दें मतलब, एक सौ पैंसठ में ही सारी किताबें दे दें। लेकिन वह तैयार नहीं हुए। अंततः 'चौरंगी' को उस दिन छोड़ दिया गया। वह किताब हमने कुछ दिन बाद उनसे खरीदी थी। फिर, केदार की मारफत मैथिली की शेष किताबें 'कृति राजकमलक', 'कविता राजकमलक' और 'आदिकथा' भी हमें मिल गईं। कहीं से हमने 'ललका पाग' और 'कथापराग' भी 'ऊपर' कर ही लिया।

इन किताबों को पढ़ते पढ़ते यह बात और भी स्पष्ट हो गई कि राजकमल की जितनी रचनाएं पत्र पत्रिकाओं में बिखरी हुई हैं, उसका केवल एक छोटा सा ही अंश पुस्तकाकार प्रकाशित हो सका है।

मैथिली कहानी के क्षेत्र में राजकमल चौधरी का अवदान विराट माना जाता था। ललित राजकमल मायानंद की जो स्वातंत्र्योत्तर तिजोड़ी थी, उसमें के ललित मायानंद तो पीछे छूट ही जा रहे थे, सच यह था कि मैथिली के सर्वश्रेष्ठ महान कथाकार का अगर निर्णय किया जाए तो उसके दावेदार राजकमल बनते दीखते थे। हिंदी में राजकमल के खाते में अच्छी कहानियां शायद कम थीं, जबकि मैथिली में ज्यादा थीं। उन कहानियों में उनकी निजता, उनका स्वत्व ज्यादा बढ़िया से अभिव्यक्त होता था।

उनकी कुल 36 मैथिली कहानियां पत्रिकाओं में प्रकाशित होने की सूचना मिलती थी। कहानियों के दो संकलन प्रकाशित थे–'ललका पाग' और 'कृति राजकमलक'। इन दोनों संकलनों को मिलाकर कुल 15 कहानियां ही उपलब्ध थीं। अन्य कहानियों का कोई अता पता नहीं था। सबसे दुखद यह था कि कहानियों के इन दोनों चयनों का दृष्टिकोण विशुद्ध शुद्धतावादी था। जान बूझकर कुछ चीजों को इनमें लिया गया था, बाकी को छोड़ दिया गया था। परिणाम था कि गिनी चुनी कहानियां ही थीं जो दोनों ही संकलनों में संकलित थीं। दरअसल ऐसा कर सकने की सुविधा राजकमल की कहानियां भी उपलब्ध कराती थीं। इसके दो कारण हो थे। एक तो यही कि 1959 के पहले राजकमल पक्ष निर्धारण के असमंजस के दौर से गुजर रहे थे, और यह चीज उनकी उन दिनों की कहानियों में दिख जाती थीं। दूसरी अहम बात यह थी कि अपने मैथिली कथा लेखन में वह कई बार अपने प्रकृत संस्कार में बने पाए जाते, जो परंपरावादियों के लिए कई बार होता था। 'ललका पाग' और 'फुलपरावाली' कहानियां तो स्पष्टतः पुरातन विभेदवादी तत्वों के समर्थन में बात करती थीं। और इसीलिए लोकप्रिय भी थीं।

जो भी हो। हमारी तो मुख्य चिंता यही बन गई कि बाकी बची इन 21 कहानियों को कैसे ढूंढ़ निकाला जाए। लोग बताते थे कि उनकी प्रकाशित कहानियों की वास्तविक संख्या इससे कहीं अधिक

होगी। कुछ लोग तो यह भी बताते कि उनकी कई कहानियां ऐसी भी हैं जो या तो छद्मनाम से प्रकाशित हैं या अब तक प्रकाशित ही नहीं हैं। हम इन कहानियों के लिए बेचैन हो रहे थे। ये कहानियां मैथिली की पत्रिकाओं—वैदेही, मिथिला दर्शन, मिथिला मिहिर, पल्लव आदि में छपी थीं। मिहिर वगैरह सुलभ था। दूसरे संकलकों ने अपने संकलनों में ये कहानियां ले ली थीं। लेकिन 'वैदेही' के पुराने अंक दुर्लभ थे। हम कोशिश में लग गए कि ये अंक हमें मिल जाएं। इन मामलों में हमारा सहारा बनते थे डॉ. महेंद्र, जो सहरसा कालेज में मैथिली के अध्यापक थे, चर्चित कवि कथाकार थे, और कोशी इलाके में होनेवाली मैथिली की किसी भी गतिविधि में प्राण फूंकने, उत्साह भरनेवाले सुहृद के रूप में प्रख्यात थे। उनकी खासियत यह थी कि उधर वह मायानंद मिश्र से जुड़े हुए थे, और इधर हम जैसे तरुण लेखकों से भी। और, यह जुड़ाव ऐसा था कि उनके बगैर न माया बाबू का काम चल सकता था, न हमारा। इस बार भी हम उन्हीं के पास पहुंचे। पूरी जानकारी लेने के बाद उन्होंने हमें मधेपुरा भेजा। मधेपुरा में प्रो. हितनारायण झा का आवास था। प्रोफेसर साहब का निधन हो चुका था, लेकिन उनके अवदान को उनके बच्चों ने हिफाजत से रखा था। उनके यहां पुरानी पत्रिकाओं की फाइलें सुरक्षित थीं।

हितनारायण बाबू आचार्यों की पुरानी परंपरा से आते थे। बहुत निष्ठा के साथ अपनी विद्या पढ़ी, बच्चों को पढ़ाया। कोई संकलन, अगर सिलेबस लायक नहीं दिखा तो संकलन संपादन कर दिया। एतद्धि। अब की नई परंपरा तो नए आचार्यों की थी। अगर वह मैथिली भाषा के प्रोफेसर हैं तो फिर, 'मैथिली लेखक' कैसे नहीं हैं? लीजिए किस विधा की किताब लीजिएगा! लेखक तो उनको होना ही पड़ेगा और आपको भी मानना ही पड़ेगा। आखिर, उन्हीं के अनुशासन वाली भाषा में आप लिखते हैं! और, कोर्स में तो उन्हीं की किताबें पढ़ाई जाएंगी क्योंकि उन्होंने ही डिजाइन किया है। यह आज का यथार्थ था।

'वैदेही' और 'मिथिला दर्शन' की फाइलें वहां हमें मिल गईं। राजकमल की प्रकाशित रचनाओं की सूची हम अपने साथ ले गए थे। लेकिन, उसमें भ्रांति की संभावना थी। हम जिस भी पत्रिका को उठाते, वर्ष के सभी अंक देख जाते। हमें कई नई रचनाएं मिलीं भी। अनामिका चौधरी के छद्मनाम से भी हमें कहानियां और लेख मिले। कुल मिलाकर तीन रातें और दो दिन में हम सारा कुछ देख गए और मिली चीजों को हाथ से लिखकर कागज पर उतार लिया। हम दो लोग थे—मैं और मयंक। प्रोफेसर साहब के घर में हमें एक कमरा सौंप दिया गया था। पता चला कि वही हितनारायण बाबू के लिखने पढ़ने का कमरा था। चाय नाश्ते का इंतजाम भी था। आग्रह तो भोजन का भी था, लेकिन यह ज्यादा होता!

कहानियों की प्रारंभिक पांडुलिपि के साथ जब हम सहरसा लौटे तो हमारे मन में नए विचार का उदय हो चुका था। विचार यह कि उनकी असंकलित कहानियों का एक संग्रह प्रकाशित कराया जाए। डॉ. महेंद्र बोले—इसमें तो कम से कम तीन हजार का खर्च आएगा। आपलोगों के पास हैं कितने पैसे? हमारे पास तो तीन सौ भी नहीं थे। वे हमें डॉ. मनोरंजन झा से मिलाने ले गए। डॉ. मनोरंजन भी हमारे पूर्व परिचित थे, जयंती समारोह में हर साल महिषी आते थे। वह भी मैथिली के अध्यापक थे। वह अत्यंत प्रखर और मुखर व्यक्ति थे, विश्वविद्यालय की राजनीति में तो सक्रिय थे ही, इलाके की समाजवादी राजनीति में भी अपनी खास पहचान रखते थे। युवातुर्क को बिना शर्त समर्थन के लिए वह हमेशा राजी पाए जाते। दोनों अग्रजों में फर्क यही था कि महेंद्र बाबू सज्जन, विनोदी और रचनात्मक थे, जबकि मनोरंजन बाबू दबंग, अड़ियल और रणनीति के माहिर आदमी थे।

सहरसा में एक संस्था थी—मैथिली साहित्य परिषद। उन दिनों इसके कर्ताधर्ता डॉ. मनोरंजन ही थे, सो इसकी गतिविधियां तेज थीं। अप्रैल 1983 में इसका वार्षिकोत्सव होनेवाला था। इसे वह भव्य

तरीके से आयोजित करना चाहते थे। हमने प्रस्ताव दिया कि इस अवसर पर आप राजकमल चौधरी का कथा संग्रह प्रकाशित करें। उन्हें यह प्रस्ताव इतना अच्छा लगा कि समझिए झूम गए। लेकिन तीन हजार उनके लिए भी बहुत था। आधा खर्च देने के लिए वह तैयार हुए। उन्होंने हमें मार्गदर्शन देने के लिए एक सीनियर को साथ कर दिया। सीनियर थे हमारे ग्रामीण और राजकमल के पारिवारिक वशीकांत अमलतास।

राजकमल की कहानियां हमें पर्याप्त तो जरूर मिल गई थीं, लेकिन सब की सब नहीं मिली थीं। पत्रिकाओं के कुछ ऐसे अंक भी थे, जिनकी प्रति हितनारायण बाबू के घर में उपलब्ध नहीं थी। 'कृति राजकमलक' के संपादक प्रख्यात आलोचक मोहन भारद्वाज से और प्रकाशक मैथिली अकादमी से हम नाराज थे। आचार्य रमानाथ झा ने 'ललका पाग' संग्रह में जो कहानियां ली थीं, भारद्वाज जी ने वे तमाम कहानियां, ('ललका पाग' को छोड़कर) अपने संकलन में ले ली थीं, और किताब का नाम भर बदल दिया था। हमें यह संसाधन का दुरुपयोग प्रतीत हुआ था। हमारी कोशिश थी कि जो कहानी किसी भी संकलन में आ चुकी हो, उसे किसी भी हाल में संकलित नहीं किया जाए। ऐसे में, जब हमने हिसाब किया तो पाया कि हमें कुछ और कहानियां चाहिए थीं।

हम सुपौल पहुंचे। केदार के साथ 'चिंता विचार' हुआ। और अंततः यह पाया गया कि यस्य क्वापि गतिर्नास्ति तस्य वाराणस्यां गतिः, अर्थात हम चलें दरभंगा। अमर जी से और उनके दामाद रामदेव बाबू से केदार का संपर्क था। मैं और केदार वहीं से दरभंगा निकल गए। दरभंगा उन दिनों जानकी एक्सप्रेस की रात भर की थका देनेवाली यात्रा के बाद ही पहुंचा जा सकता था। पहुंचे। रामदेव बाबू राजकमल के समकालीन कथाकार और प्रसिद्ध आलोचक थे। उन दिनों उनका घर प्रायः खपरैल का था, जिसके बाहरी बरामदे पर एक बेंच डेस्क लगा रहता था। वह शायद शिक्षार्थियों के उपायोगार्थ था। उन्होंने पत्रिका की फाइलें और बंडल निकाल दिए और सुबह से ही हम काम में भिड़ गए। काम पूरा करने में हमें दो रातें और तीन दिन लगे। रामदेव बाबू की सदाशयता के लिए हम उनके बहुत आभारी हुए। यूं अब सोचें तो वह बहुत भारी बात लगती है। जाड़े की रात। बाहर का बरामदा। लगातार काम। प्यास लगे तो पास के चापाकल पर पानी पिया जा सकता था लेकिन चाय के लिए तो काम बंद करके स्टेशन रोड तक आना पड़ता। तभी पहली बार मैंने यह महसूस किया था कि सहरसा मधेपुरा भी भले मिथिला में ही पड़ता हो, लेकिन दोनों जगहों की संस्कृति में आकाश धरती का अंतर था।

याद आता है, दरभंगा से सीधे हमलोग पटना निकल गए थे और पांडुलिपि मुरलीधर प्रेस को सौंप दी थी। प्रेस के मालिक थे देवेंद्र झा। वह इतने अच्छे आदमी थे कि समझिए, सौ दोस्तों के एक दोस्त थे। केदार का उनसे भी संपर्क था। मुझे वह सिर्फ नाम से जानते थे। हम ग्यारह सौ प्रतियों का संस्करण चाहते थे। कुल खर्च 3200 आता था। हमें उन्होंने 400 की छूट दी, लेकिन बाकी के 1300 भी हमारे लिए बहुत बड़ी रकम थी। इतने पैसे में तो हम कम से कम दस आयोजन कर लेते। पैसे जुटाने के उपाय हमने केदार के साथ भी मिलकर सोचे। कुछ लोगों से मिले भी। लेकिन, जल्द ही अहसास हो गया कि यह काम हमारे गांव के किए से ही हो सकता है। हमारे ग्रामीण डॉ. फुलेश्वर मिश्र पटना कालेज में अध्यापक थे। उन्होंने सौ रुपए दिए। बाकी तो हमारा जो सर्किल था, उसमें एक दो रुपए देनेवाले लोग ही थे। दस रुपए अगर कोई दे दे तो उसका नाम हम स्वर्णाक्षर में लिखे जाने योग्य मानते थे।

इस बीच एक बड़ी समस्या यह उत्पन्न हुई कि किताब की भूमिका किससे लिखवाई जाए! 'ललका पाग' की भूमिका आचार्य रमानाथ झा ने लिखी थी। वह मैथिली के सबसे बड़े प्रमाण पुरुष थे। अपनी भूमिका में यूं तो उन्होंने राजकमल की प्रशंसा ही की थी, जैसी कि आम पाठकों को दीखती

थी, लेकिन वास्तव में उन्होंने राजकमल को ध्वस्त कर दिया था। उनकी इस भूमिका को लेकर नवाचारी लेखकों में असहमति का भाव था, लेकिन आचार्य के विरुद्ध जाकर राजकमल के पक्ष में लिखने का साहस किसी को भी नहीं था। यहां तक कि 'कृति राजकमलक' की भूमिका तो मार्क्सवादी मोहन भारद्वाज ने जरूर लिखी लेकिन उसे रचना परिचय तक सीमित कर लिया और अपनी कोई भी राय जाहिर करने से साफ बच निकले। हम ऐसा नहीं कर सकते थे। हमें राय तो जाहिर कर ही देनी थी, अंजाम चाहे जो हो। लेकिन प्रश्न था कि इस कोटि के भूमिका लेखक हमें मिलेंगे कहां? काफी विचार विमर्श के बाद दो नाम हमारे सामने आए–प्रो. आनंद मिश्र और कुलानंद मिश्र। आनंद बाबू पटना विश्वविद्यालय में विभागाध्यक्ष थे। केदार के गुरु थे। राजकमल का नाम सुनकर पहले तो वह भड़के कि उन्हें क्यों इस (भूमिका लेखन) योग्य समझा गया! लेकिन, यह याद दिलाने पर कि आखिर आचार्य रमानाथ ने भी तो राजकमल साहित्य को विचार करने योग्य माना ही है, और यह भी याद दिलाने पर कि 'कृति राजकमलक' के संपादक मोहन भारद्वाज के साथ वरीय संपादक तो आप रहे ही हैं, वह पांडुलिपि देखने को तैयार हो गए। धीरे धीरे संकलन की सारी कहानियां हमने उन्हें पढ़वा दीं। कहानियां पढ़ते पढ़ते ही उनका जो रुख हमें दिखा था, कम ही उम्मीद थी कि वह लिखेंगे। उन्होंने नहीं लिखा। कह नहीं सकता कि वह राजकमल की कहानियों से नाराज थे या हमारे उतावलेपन से! उन्होंने इन कहानियों को 'जब्तशुदा' कहानियां बताईं। उनका आशय था कि ये कहानियां किताबों में संकलित करने योग्य नहीं हैं। वजहें और भी रही हों, हो सकता है। जिन दिनों राजकमल पटना सचिवालय में किरानी थे, भिखना पहाड़ी में डेरा था, तो आनंद बाबू भी पास ही रहते थे और राजकमल के व्यक्तित्व से परिचित (?) थे। संभव था कि उनके लेखे राजकमल का 'व्यक्ति' उनके साहित्य पर भारी पड़ता हो, जैसे नामवर सिंह को पड़ता था। कुलानंद मिश्र की समस्या लेकिन, दूसरी थी। राजकमल के वह अनन्य प्रशंसक थे। उन्हें बहुत ऊंचा स्थान देते थे। रमानाथ झा के स्टैंड से उन्हें भी बहुत भारी असहमति थी। लेकिन, वह निर्णायक काम करना चाहते थे। संपूर्ण राजकमल साहित्य पढ़ लें, उसके मर्म से गुजर जाएं तो कुछ ऐसा लिखेंगे जो राजकमल साहित्य को कायदे से स्थापित कर देगा। इसमें देरी लगनी थी। टुकड़े में वह नहीं लिखना चाहते थे।

कुल मिलाकर बहुत जल्दी हमें इस बात का अहसास हो गया कि 1300 रुपए का इंतजाम करने से कहीं ज्यादा कठिन किताब की भूमिका लिखने के लिए विद्वान खोजना था। अब इसे आप मेरी परम मूर्खता ही समझ लें कि यह संघर्ष हमें नितांत फालतू संघर्ष लगा था। संभव है, 'परम मूर्खता' जैसी चीज समझने में आपको असमंजस हो, लेकिन इतिहास बताता है कि मैथिली के तमाम कद्दावर लेखकों ने यही समझा था। यहां तक कि जो उन दिनों हमारी उमर के तरुण थे और बाद को मैथिली के गंभीर लेखक हुए, उन्होंने भी इतिहास में जाकर उस 'परम मूर्खता' को याद किया। बात क्या थी? बात सिर्फ यही थी कि विद्वान को ढूंढ़ते ढूढ़ते जब हम बेहद ऊब गए थे तो मुरलीधर प्रेस में बैठे केदार कानन ने मुझसे कहा था–इस किताब की भूमिका तुम लिखो तारानंद।

–मैं? मैं लिखूं? तुम पागल हो गए हो केदार!

–नहीं यार, पागलवाली कोई बात नहीं है। देखो, राजकमल को एक तरह से वे समझते हैं। दूसरी तरह से ये समझते हैं। लेकिन, हमारे लिए तो यह इंपोर्टेंट है न कि हम उन्हें क्या समझते हैं, कैसे समझते हैं। अपना सारा काम छोड़कर हम राजकमल के पीछे पागल बने हुए हैं। हमें उनमें कुछ दीखता है, तभी न! इसलिए बाबू, सब 'चिंता फिकिर' छोड़कर तुम खुद लिखो। हमलोगों के लिखने से ही बात खुलेगी कि राजकमल में हमें क्या दिखता है? किताब आ जाएगी तो लोग अपने अपने तरीके से देख लेंगे।

बाबा नागार्जुन कहते थे कि असली संघर्ष में जब आदमी लगा हो तो उसे आलतू फालतू संघर्ष से भाग जाने की जरूरत रहती है। जो यह नहीं कर पाता, पिछड़ जाता है। उस समय मेरी यही मनोदशा थी। 1500 रुपए देने पर किताब की कंपोजिंग शुरू हो गई थी। राजकमल के स्टाइल में सोचता तो किताब तो अब निकल ही जानी थी। लेकिन यह मेरा स्टाइल नहीं था। हमें तो 1300 का इंतजाम और करना था। हम चिंतित थे।

केदार के सामने हमने एक शर्त रखी—यार, एक वादा करो तो हम लिख सकते हैं।

—क्या?

—एक दर्जन विद्वानों से राजकमल साहित्य पर हम गंभीर लेख लिखवाएंगे और उसे हम दोनों मिलकर संपादित करेंगे। इसका प्रकाशक राजकमल साहित्य परिषद महिषी होगा। हम भीख मांगकर पैसे का बंदोबस्त कर लेंगे यार! अब हमको प्रकाशन का 'भांज' मालूम हो गया है। हो तैयार तो मिलाओ हाथ।

केदार तैयार थे। उन्होंने हाथ मिलाया। और, इस तरह 'चंपाकली विषधर' की भूमिका मैंने लिखी थी, जिसके लिए मैथिली साहित्य ने कभी मुझे माफ नहीं किया।

भूमिका लिखने में बचपना था, तरुणाई की मात्रा थी। कोई भी 18-19 साल का लड़का लिखेगा तो कैसा लिखेगा? लेकिन, यह असल बात नहीं थी। असल बात यह थी कि पुरातनपंथियों और मार्क्सवादियों, दोनों को ही मैंने, राजकमल के संदर्भ में, एक ही जमीन पर खड़ा पाया था, और इस बात को साफ साफ, अभिधा में, लिख दिया था—यह कहते हुए कि ये लोग (रमानाथ झा और मोहन भारद्वाज) वैष्णव प्रवृत्ति के लोग हैं, जिनसे राजकमल घोर घृणा करते थे। और लिखा था कि इन कहानियों को घटिया कहकर विवाद खड़ा करनेवाले लोग अब भी इसमें निहित पीड़ा को, त्रासदी को समझ पाएंगे, इसकी उम्मीद है। आनंद बाबू ने हमारी बातचीत में 'जब्तशुदा' शब्द का प्रयोग किया था। यह मैथिली का शब्द नहीं था। लेकिन, मैं समझता हूं कि उन दिनों 'सारिका' ने 'जब्तशुदा कहानी अंक' जैसा कुछ निकाला था, जो काफी हिट हुआ था, और यह शब्द वह वहीं से लाए होंगे। आनंद बाबू का तो हमने जिक्र नहीं किया था, क्योंकि कितने आनंद बाबुओं का जिक्र करते, लेकिन 'जब्तशुदा' शब्द हमने ले लिया था। और, लिखा था कि इस संकलन में जान बूझकर ऐसी कहानियां ली गई हैं, जिन पर कठिन विवाद खड़े हुए लेकिन यह दावा किया कि ये कहानियां 'मैथिली कथा साहित्य के ज्योतिर्मय इतिहास पृष्ठ' हैं।

वह किताब तो छपी भी, निर्धारित दिन को उसका लोकार्पण भी हुआ, लेकिन दो बातें खास तौर पर याद आती हैं। एक तो यह कि 300 रुपए बकाया रहने की वजह से 500 प्रतियां प्रेस में ही रह गईं, जिन्हें देवेंद्र बाबू ने बेचवाकर बकाया वसूला। दूसरे, लोकार्पण के दिन ही, इस बात पर कि इसकी भूमिका मैंने क्यों लिखी, मनोरंजन बाबू से विवाद हो गया जिसके कारण आगे कभी भी हमारे बीच सहज संबंध नहीं रह पाया। दरअसल, हुआ यह था कि इस भूमिका के दोटूकपन से ऐसा चौतरफा हमला मुझ पर हुआ था कि जिसने मुझे बिल में घुसने पर मजबूर कर दिया था।

बाहर की दुनिया से जो करारा तमाचा हमें लगा था, उससे उबरने में हमें छह महीने से कम तो क्या लगे होंगे। लेकिन हम उबर गए। और दो काम हमने हाथ में लिए। एक तो यह तय किया गया कि इस बार के दशहरा मेले में हम किताब बेचने का धंधा नहीं करेंगे। इसके बदले हम 'राजकमल : व्यक्तित्व और कृतित्व' विषय पर प्रदर्शनी लगाएंगे। दूसरी चीज यह कि राजकमल की कुछ कहानियों का नाट्य रूपांतरण करेंगे, इस तरीके से कि दशहरा मेले में उसका मंचन हो सके। सर्वसम्मति से निर्णय हो गया और इस काम की तैयारी हमने शुरू कर दी।

हमारे पास राजकमल की बहुत सारी चीजें तब तक उपलब्ध हो गई थीं। पुस्तकाकार प्रकाशित चीजें तो थीं ही, राजकमल के कई उपन्यास पत्रिकाओं में भी छपे थे। जैसे 'बीस रानियों का बाइस्कोप' अणिमा के जुलाई सितंबर 1965 के अंक में छपा था। इस प्रकार की कई चीजें भी हमने 'ऊपर' कर ली थीं। कहते हैं कि हिंदी के किसी साहित्यकार के निधन पर इतने विशेषांक नहीं निकले, जितने राजकमल पर निकले थे। हमने इनमें से भी अधिसंख्य उपलब्ध कर लिए थे। फिर, हमारे पास उनके बहुत सारे पत्र थे। उनके द्वारा व्यवहृत किताबें पत्रिकाएं थीं। उनकी डायरी के नमूने थे। उनकी कविताएं थीं। कुछ दूसरे बड़े लेखकों ने जो उन्हें पत्र लिखे थे, ऐसे कुछ पत्र भी हमारे पास थे। भिन्न भिन्न नमूने तो बहुत सारे थे। फोटुओं की भी कमी न थी। एक बढ़िया प्रदर्शनी का आयोजन तो हो ही सकता था।

तारास्थान के एक मकान में हमारे मित्र असगर अली किराए पर रहते थे। अभी कुछ ही दिन पहले उन्होंने वह मकान खाली किया था। उसके कर्ताधर्ता दिनेश चौधरी थे, जिनसे भी हमारा अच्छा संपर्क था। उस मकान का एक कमरा हमने ले लिया। मकान का बाहरी बरामदा सड़क पर खुलता था। सड़क यानी कि जहां 'घमासान' मेला लगता था। मेले के बीचोंबीच हमने इस बरामदे पर प्रदर्शनी सजा दी। प्रचार प्रसार काफी किया गया था। पैम्फलेट भी निकाले गए थे और गांव में लाउड स्पीकर घुमाकर 'एनौन्स' भी कराया गया था। कई लोगों को कई तरह की आपत्तियां थीं। मुख्य आपत्ति तो यही थी कि गांव उग्रतारा का है, मंडन मिश्र का है। इनकी ख्याति दूर दूर तक है। ये गांव की पहचान बने हुए हैं। इन पर बात होनी चाहिए। ठीक है कि राजकमल भी हुए, लेकिन पहले मंडन मिश्र कि पहले राजकमल चौधरी? सालभर उसी में लगे रहो, यह तो कायदे की बात नहीं हुई! माना कि तुमलोग कर सकते हो, लेकिन सबका करो न! सभी की उम्मीद तो तुम्हीं लोगों पर टिकी हुई है। और, हम अत्यंत विनम्रता से उन्हें जवाब देते–जल्द ही देखिएगा कका, हम उनलोगों पर भी करेंगे। पहले हमें इन पर कर लेने दीजिए।

दो तीन लोग खास तौर पर याद आते हैं, जिन्होंने इस आयोजन में हमारी बहुत सहायता की थी। अरविंद कुमार सिंह, बी. डी. ओ., ने राजकमल के कई फोटोग्राफ बड़े साइज में बनवाकर हमें ला दिए थे और एक पेंटिंग भी अपने परिचित चित्रकार से बनवा दिया था। स्थानीय हाई स्कूल में हिंदी शिक्षक थे सज्जन साह। कोशी इलाके के ही बाशिंदा थे। राजकमल की कविताएं जब वह पढ़ते तो अभिभूत हो जाते थे। उनको हमने यह जिम्मा दिया था कि राजकमल की ऐसी मार्मिक काव्य पंक्तियां चुन दें, जिनका पोस्टर बनवाया जा सके। यह उन्होंने बखूबी किया था। हमारे मित्र असगर अली उर्फ ऑस्कर मसीह स्थायी निवासी तो सहरसा के थे, लेकिन महिषी की आबोहवा में इस तरह रम गए थे कि किसी भी महिषीवाले से ज्यादा महिषीवाला दीखते थे। उनकी पत्नी गांव के प्रखंड स्तरीय अस्पताल में सीनियर नर्स थीं। असगर साहब सचमुच के हरफनमौला आदमी थे। उनसे आइडिया शेयर करने भर की देर होती थी, वह कुछ भी कर सकते थे। गांव के नाटकों में वह मेकअप से लेकर ड्रेस डिजाइनिंग और स्टेज डेकोरेशन तक का सारा काम अकेले सम्हाल लेते थे, जबकि किसी की फोर ह्वीलर गाड़ी खराब हो जाए तो मैकेनिक बनकर मरम्मत भी कर सकते थे और गांधी शौचालय किस तरह सफल होगा, इसके गुर भी राज मिस्त्रियों को समझा सकते थे। और तो और, कई लोग कहते थे कि उन्हें बम और पिस्तौल बनाने का कायदा भी मालूम था। इस आयोजन में उनकी जिम्मेवारी थी पोस्टर तैयार करने से लेकर साज सज्जा तक। कुल मिलाकर हमारा आयोजन बहुत ही सफल हुआ और, पढ़े लिखे लोगों के लिए उस मेले में सबसे बड़ा आकर्षण बनकर उभरा था।

उद्‌घाटन करने के लिए हमने जिला के एक प्रख्यात पत्रकार भवेश मिश्र को बुलाया था। वह

बनगांव के निवासी थे। राष्ट्रीय अखबार के जिला स्तरीय संवाददाता होने के साथ साथ वह स्वयं भी 'अयाची' और 'लक्ष्मीनाथ टाइम्स' नामक दो साप्ताहिक अखबार निकालते थे। उनके अखबार में उन दिनों मैं खूब लिखता था। पांच सात लेख तो राजकमल पर मैं उन्हीं दिनों तक लिख गया था। मैथिली में लिखता तो 'मिथिला मिहिर' में छपता और हिंदी लेख वह खास तौर पर अपने अखबार के लिए लिखवाते थे। अपने गांव, बनगांव में उन्होंने प्रसिद्ध संत लक्ष्मीनाथ गोसाईं की स्मृति में आयोजन की शुरुआत की थी। वह मैथिली लेखकों की पहली पीढ़ी के परम प्रख्यात साहित्यकार बलदेव मिश्र के पुत्र थे। उनके अनुज ललितेश मिश्र से हमारा अत्यंत निकट का संपर्क था। वह मैथिली के लेखक के रूप में प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके थे, और राजकमल चौधरी के ठीक बाद के मैथिली लेखन में एक अनिवार्य नाम की तरह उभरे थे। हमारे आयोजनों में भी वह बहुत आत्मीयता से शामिल होते थे। हमारे उस बार के आयोजन को देखकर ललितेश जी ने कहा था—तारानंद जी, राजकमल जी को आपलोग जितनी व्यापकता से देख रहे हैं, जानते हैं इसका क्या अर्थ है? राजकमल जी तो सिर्फ एक बहाना हैं। इसका असली अर्थ तो यही है कि इस गांव के उत्थान का समय अब आने ही वाला है। आपका आयोजन इसका सूत्रधार बने, यह मेरी शुभकामना है।

इस कार्यक्रम से जुड़ी हुई एक और यादगार बात न बताई जाए तो यह कहानी अधूरी रहेगी। यह बात सरोज बाबू से जुड़ी हुई है।

गांव ही नहीं, इलाके भर के पढ़े लिखे साहित्यप्रेमियों को इस प्रदर्शनी को देखने आने का आमंत्रण व्यक्तिगत रूप से हमने दिया था। सौ के करीब तो हमने पोस्टकार्ड लिखे थे। बहुत सारे लोग आए भी। इसी क्रम में सरोज बाबू, राजकमल के वैमात्रेय कनिष्ठ भ्राता, भी देखने आए थे। 3-4 बजे अपराह्न का वक्त रहा होगा। आस पड़ोस के गांव के कुछ साहित्यप्रेमी बुजुर्ग आए थे। प्रदर्शनी देखने के बाद उन्हें अपनी भावना प्रकट करनी थी। उनकी बात सुनने के लिए मैं प्रदर्शनी कक्ष से बाहर था कि इसी बीच कक्ष में 'हो हंगामा' होने लगा। हमारे मित्र सहयोगी अंदर थे। सुना कि अंदर कोई ऊंची आवाज में गरज तरज रहा है और हमारे मित्र उन्हें शांत करने की कोशिश कर रहे हैं। लेकिन गरज बढ़ती ही जा रही थी। वह सरोज बाबू थे। सरोज बाबू का गुस्सा बहुत खराब था और झगड़े में वह ऐसे ऐसे शब्दों और जुमलों का प्रयोग करते कि आपा बनाए रखना कठिन हो जाता था। मैं दौड़कर अंदर गया। वह मुझ पर ही गरज रहे थे। मैं उन्हें शांत करने की कोशिश करने लगा। और शांत वह होते भी कैसे? मुझे तो उनकी नाराजगी की वजह ही मालूम नहीं थी। पहले वह शांत हों तो वजह बताएंगे। वजह पता चले तो नाराजगी दूर करने का उपाय खोजा जाएगा। लेकिन सब तो होगा तभी, जब वह शांत हों। वह शांत ही नहीं हो पा रहे थे।

मैंने मयंक की ओर देखा। मतलब यह कि मामला क्या है? मयंक ने जरा बगल होकर बताया कि मामला क्या रहेगा? यह प्रदर्शनी देखकर उन्हें खराब लगा है। पचा नहीं पा रहे हैं। राजकमल सौतेले भाई थे तो दुश्मन थे। आंखों के सामने इनके पिता को अपमानित करते थे। और, उस आदमी की इतनी इज्जत? मरने के इतने बरस बाद भी? उसकी प्रदर्शनी लगे और वो भी बुधवारय के इसी गांव में? यह कहीं देखा जाए? यही बात है। और क्या रहेगी?

मुझे खीज हुई। लेकिन सरोज बाबू पर नहीं, मयंक पर। भाई, यह भावना दिल में है, यह तो है ही। इसे कौन नहीं जानता? लेकिन भावना तो दिल के अंदर है न! छिपे ढंके रहने देते। कपड़े के अंदर कौन नंगा नहीं होता? उसको उभारने वाली बात ही क्यों चलने दी तुमने? लेकिन, मयंक को भी मुझ पर खीज हुई। उसका मतलब था कि तुम हमें इतना 'कच्चा खेलाड़' समझते हो? मौका हम उनको मिलने देंगे? अर्थात गड़बड़ी मेरी यानी कि तारानंद की गलती की वजह से हुई है।

तब तक देखा—कुमोद मोहन और सरोज बाबू के बीच आमने सामने की भिड़ंत शुरू हो गई थी।

यानी तू तू मैं मैं।

कुमोद मोहन चीख रहे थे–हां जाइए, अपने भाई से हाथ धो लीजिए। अब वह आपके बाप की दौलत नहीं हैं, राष्ट्रीय संपत्ति हैं। राजकमल चौधरी जितना आपका, उतना हमारा। बोलिए, कैसे फरियाना है। फरिया लीजिए जैसे फरियाना है...

कुमोद मोहन की प्रचंड आग के सामने सरोज बाबू पानी पानी होने लगे थे। अब वह तर्क दे रहे थे–लेकिन तुम्हारे कहने से क्या होगा कुमोद? अभी भी वे राजकमल चौधरी ही हैं, राजकमल मिश्र तो नहीं बन गए...! यानी कि झगड़े को वह बुधवारय और हरियंबे गोत्र मूल की तरफ खींच रहे थे। कुमोद मोहन, मिश्र परिवार के थे। सरोज बाबू की बात से कुमोद का गुस्सा और बढ़ गया। वह दांत कीचकर सरोज बाबू पर गुर्राये–इह, बैमान आदमी सब कहीं का! पच्चीस 'बापुत' मिलकर एक लाचार भाई को बचा ही नहीं सके। वो बेचारा दवाई के बगैर, इलाज के बगैर तड़पकर मर गया और यहां पर बांह 'पुजा' रहे हैं! चुप रहिए! और अगर लगता है कि हमलोग बाप का दौलत हड़प रहे हैं तो थाना में जाकर केस कीजिए। हम सलट लेंगे। लेकिन यहां पर लबर लबर मत कीजिए...

मैं आगे बढ़ा और जाकर सरोज बाबू का हाथ थाम लिया–क्या हुआ सर? बताइए। हमको बताइए सर!

सरोज बाबू को भी रिलैक्सेसन का द्वार मिल गया। अब वह मुझ पर बरसने लगे। मैंने जिम्मा खुद सम्हाल लिया। कुमोद दूसरी ओर देखने लगे। सरोज बाबू ने बताया तब जाकर मुझे मालूम हुआ कि फसाद की जड़ 'विशाल भारत' की फाइल थी। यानी कि वास्तव में गलती मेरी!

बात यह थी कि सरोज बाबू से और उनके चाचा मांगन बाबू से मेरा किताबों का आदान प्रदान चलता था। सरोज बाबू को पढ़ने लिखने से कोई मतलब नहीं था, लेकिन काफी सारी किताबें उनके पास थीं। पढ़ने का शौक था मांगन बाबू को। वह अद्‌भुत पढ़ाकू थे। गुलशन नंदा से लेकर अज्ञेय तक सब पढ़ते थे। और काफी तेज पढ़ते थे। हर अगले दिन उन्हें नई किताब चाहिए होती थी। अब सोचता हूं तो अद्‌भुत लगता है उनका व्यक्तित्व। उन्होंने गांव के बीसियों नौजवानों को एक व्यापक दुनिया, किताबों की दुनिया से जोड़ दिया था। इन बीसियों नौजवानों में कोई एक मैं भी रहा होऊंगा! उन्हीं का प्रताप है कि उन बचपन के दिनों में मेरी दुनिया न सिर्फ बरबाद होने से बचा गई, बल्कि और बड़ी हो गई। और यह अहसास तो कृतार्थ कर देनेवाला था कि अपने इस गांव में, कोई एक ऐसा बुजुर्ग आदमी है, जो किताबों की दुनिया में मेरा स्वागत करने के लिए प्रस्तुत है। किताबों के स्रोत मेरे और भी कई थे, इसलिए आदान प्रदान लगभग बराबरी पर चल रहा था। उनके पास तो अकूत खजाना था ही। उनके आंगन जब हम जाते तो कभी कभी सरोज बाबू से भी बात होती, कभी अगर उनका अच्छा मूड रहा तो उनके पास क्या क्या है, कौन कौन सी किताबें, इसका विवरण सुनाते। लालकाका और राजकमल के द्वारा व्यवहार की गई सारी चीजें सरोज बाबू के ही संकलन में थीं। हमने पाया था कि राजकमल की लिखी किताबों की भी वे ही प्रतियां मांगन बाबू के पुस्तकालय में थीं, जो राजकमल ने लिखित रूप से अपने पूज्य पितृव्य को भेंट की थीं। बाकी किताबें सरोज बाबू के ही पास थीं।

सरोज बाबू के पास 'विशाल भारत' की पुरानी फाइलें थीं। लालकाका नियमित 'विशाल भारत' मंगाते थे और बजाब्ता जिल्द चढ़वाकर रखते थे। 1945-46 की एक जिल्द थी। राजकमल उन दिनों हाई स्कूल के विद्यार्थी थे। वह भी इसे पढ़ते थे। इसमें उनकी रुचि थी। यह प्रतीत होता था इससे, कि कई जगह 'मणींद्र' के साथ साथ तारीख भी लिखी हुई थी। वहां अधिकृत करने का भाव था। तो इसे जब हमने प्रदर्शनी के नजरिये से देखा तो यह दिखाने लायक चीज दीख पड़ी। उनसे लिया था तो मैंने अपने पढ़ने के लिए लेकिन इसे प्रदर्शनी में लगा दिया। और वह भी बगैर उनसे अनुमति

लिए। वह इसीलिए नाराज थे। मैंने गलती मान ली कि आपसे मुझे पूछ लेना चाहिए था। लेकिन इस बात पर अड़ा भी रहा कि 'यह जो किया वह अच्छे के लिए ही किया।' वह फिर उखड़ गए। मैंने फिर माफी मांगी। कहा कि कल सुबह आपके पास किताब पहुंच जाएगी।

लेकिन, उन्होंने हद कर दी। इसके बाद भी वह उखड़े ही रहे। बार बार चिल्लाते रहे कि यह किताब हमें अभी तुरंत चाहिए, हम अपने साथ ही ले जाएंगे।

और, मैं भी उखड़ गया। मैंने रैक पर से जिल्द उतारी और उनके हाथ में रख दिया—लीजिए।

और उन्होंने फिर भी हद पार करना नहीं छोड़ा। उन्होंने किताब ले ली!

'ललका पाग' मैथिली में राजकमल की सबसे मशहूर कहानी है। यह 'वैदेही' के कहानी विशेषांक 1955 में प्रकाशित हुई थी। इस कहानी के पहले राजकमल की तीन कहानियां मैथिली में छप चुकी थीं। लेकिन, कहा जाता है कि वे तीनों ही कहानियां मूलतः हिंदी में लिखी गई थीं और, उनके साथी कथाकार ललित ने उनका मैथिली अनुवाद करके प्रकाशित करवाया था। वे वो दिन थे जब उनकी रचनाशीलता अपना आकार गढ़ रही थी। पुराने लंद फंद दोस्तों से वह टूट रहे थे और बौद्धिकों की नई संगत में रम रहे थे। यह मैथिल बौद्धिक नौजवानों का दल था, जिसकी जड़ दरभंगा से जुड़ी हुई थी। दरभंगा के इलाके में मैथिली की ज्यादा 'चला चलती' थी। उधर ही उनकी ससुराल थी, जहां वह अक्सर जाया करते थे। मैथिली रचनाशीलता का भी वह करवटें लेने का समय था। जो भी हो। ललित ने जो राजकमल पर संस्मरण लिखा है, उसमें भी 'फुलपरासवाली' तक की कहानियों के अनुवाद का जिक्र है। उग्रानंद के संस्मरण में भी यही बात है।

'ललका पाग' के लोकप्रिय होने के कई कारण थे। राजकमल के निधन के बाद जब आचार्य रमानाथ झा ने कथा संग्रह संपादित किया, तो इसी कथा शीर्षक को किताब का नाम बनाया। यह कहानी कोर्स में लगी। बिहार टेक्स्टबुक कॉरपोरेशन के माध्यमिक पाठ्यपुस्तक में इसे शामिल किया गया। इस कहानी का बार बार मंचन हुआ। बाद में 'एक कहानी' सीरियल जिसे दूरदर्शन के लिए मंजू सिंह ने बनाया था, उसमें भी 'ललका पाग' को सम्मिलित किया गया, इस यूनिट के साथ गिरीश रंजन भी जुड़े हुए थे। इसके पहले भी 'ललका पाग' पर मुकम्मल सेलुलाइड फिल्म बनाने की तैयारी परवान चढ़ी थी। गाने तो रिलीज भी हुए थे, जिन्हें रवींद्रनाथ ठाकुर ने लिखे थे। फिल्म की सूटिंग भी काफी हद तक हुई थी, लेकिन रिलीज नहीं हो सकी। यह लोकप्रियता अब तक भी घटी नहीं है। हाल के दिनों में युवा निर्देशक प्रशांत नागेंद्र ने 'ललका पाग' पर एक फीचर फिल्म बनाई है।

इस कहानी की सफलता का रहस्य इसके थीम में छिपा हुआ था। राजकमल से उन दिनों गहरे जुड़े हुए कथाकार उग्रानंद अपने संस्मरण में लिखते हैं कि 'यह कहानी नकली थी, क्योंकि राजकमल जिन बातों में विश्वास करता था, उसकी ठीक उल्टी बात इस कहानी में दिखाई गई थी।' उल्टी बात क्या थी? यह थी कि पुरुष वर्चस्वी सामंती पाठक मन को इस कहानी में परितोष मिलता था। यहां राजकमल की स्त्री, कार्यान्वियन के स्तर पर दबी हुई थी। विद्रोह था, लेकिन मौन विद्रोह था। स्त्री के हक की बात थी, लेकिन वह लाउड नहीं थी, इसलिए 'अभद्र' भी नहीं थी। राजकमल की कहानियों को अभद्र मानने के पीछे मैथिलों का प्रमुख मनोविज्ञान यही था कि उनकी स्त्रियां अपने हक के लिए जब कार्रवाई करने पर उतरतीं तो बहुत आक्रामक हो जाती थीं। यह आक्रामकता कथानक में नहीं भी हो तो उस निर्णय में अवश्य होती थी, जो स्त्री अंततः लेती थी। इसमें ज्यादातर स्त्री की देह बीच में आ जाती थी। राजकमल की स्त्रियां अपनी देह को अपनी प्रमुख ताकत समझती थीं, और सामंतवाद पर, पूंजीवाद पर आक्रमण करने के सिलसिले में इसे हथियार की तरह इस्तेमाल करती पाई जाती थीं। 'ललका पाग' में यह नहीं था। वहां यह सामंतवादी अवधारणा मूर्त हुई दीखती

थी कि स्त्री को त्याग और तपस्या का जीवन जीना चाहिए, और यदि उसके साथ कुछ अन्याय भी हो रहा हो तो पुरुष के विवेक को जगाने की चेष्टा करनी चाहिए। पुरुष का विवेक जग जाए तो उसे न्याय मिलना पक्का हो जाता है। यहां प्रसंगवश मुझे हिंदू संत आशाराम बापू का कथन याद आ जाता है, जो उन्होंने निर्भया कांड के बाद टी. वी. पर अपने प्रसारण के दौरान कहा था। उनका कहना था कि निर्भया को अपनी जान सिर्फ इसीलिए गंवानी पड़ी कि उसने बलात्कार करनेवाले पुरुषों पर हमला किया। उसे प्रतिकार नहीं करना चाहिए था, गिरगिराकर विनती करनी चाहिए थी कि भैया, मेरे साथ बलात्कार मत करो।

'ललका पाग' की नायिका इस तरह गिरगिराकर विनती तो नहीं करती है पर वह हमला भी नहीं करती। सिर्फ सहज बनी रहती है। नवोढ़ा पत्नी को नितांत झूठे लांछन पर परित्यक्त करके लड़का अपनी पसंद की नई लड़की से शादी रचाने जा रहा है। मैथिलों की प्रथा के मुताबिक बारात के प्रस्थान करते समय दूल्हे के सिर पर लाल पाग होना चाहिए। उसका इंतजाम किसी ने नहीं किया है। अफरा तफरी मची है उसके लिए। इसी बीच यह होता है कि नायिका अपने बक्से से लाल पाग निकालकर दूल्हे को देती है। यह वही पाग है, जिसे पहनकर लड़का इस लड़की को ब्याह लाया था। वह पाग लड़के के हाथ में देती हुई नायिका मुस्कुराती हुई एक कमेंट मार देती है–'बड़े सुंदर लग रहे हैं आप। एक बार फिर आपसे ही शादी कर लेने की इच्छा हो रही है।' बस। यही लड़के पर भारी पड़ जाता है। वह आंगन में सबके बीच बैठकर रोने लगता है, जार बेजार। उग्रानंद ने तो जिक्र किया है कि यह कहानी बंगला कथाकार वनफूल की कहानी 'शंखध्वनि' से बुरी तरह प्रभावित थी, लेकिन, इस कहानी की सफलता के और भी दो बड़े कारण थे। एक तो था इसका वातावरण निर्माण। छोटे छोटे पैराग्राफों में राजकमल ने मिथिला के गांवों का, गांव में जी रही स्त्रियों का, उनके अंदर बाहर चल रहे झंझावातों का बहुत ही दुर्लभ विवरण दिया था। ऐसे छोटे छोटे पात्र सृजित किए थे, वार्ताएं डाली थीं, दृश्य रचे थे जो मैथिल सभ्यता के दैनंदिन आत्मसंघर्ष को जीवंत कर देता था। दूसरी थी उसकी भाषा। राजकमल के गद्य में एक लय तो हर जगह दीखती है, लेकिन उसमें अक्सर उड़ान पाई जाती है। यानी कि उड़ान का लय। 'ललका पाग' में स्थैर्य का लय था। एक प्रकार से, यह लय शास्त्रीयता का स्पर्श करता पाया जाता था, यानी कि रचना को क्लासिक कबूल कर लेने का अपील करता सा गद्य। यह गद्य राजकमल दुबारा लिख भी कम ही पाए। बहुत बाद की उनकी कहानी 'सुरमा सगुन विचारै ना' में गद्य की भावदशा तो वही जरूर है लेकिन अनुभव ने उस लेखक को किसी भिन्न चट्टान पर ला खड़ा किया है, इसलिए वह आर्द्रता नहीं है।

हमने जब 'ललका पाग' को नाट्य रूपांतरण के लिए चुना था, तो इतनी बातें हमारी समझ में नहीं थीं। हो भी नहीं सकती थीं। आम मैथिल बौद्धिकों की तरह हम भी यही सोचते थे कि भाई, रोने तो लगा न अंत में नायक? रोने का क्या मतलब है? मतलब साफ है कि वह पस्त हुआ। सामंतवादी सोच की नौका डूबी। अब वह शादी करेगा? कतई नहीं करेगा। अब स्त्री को उसका हक मिल ही गया समझो। इतना भर समाधान हो जाना काफी था। फिर तो इस कहानी का जो वातावरण था और जो इसकी भाषा थी, वह इसे 'पांच पत्र' (हरिमोहन झा) के बाद मैथिली की सर्वश्रेष्ठ कहानी बना देती थी।

बता ही चुका हूं कि हमारे गांव में दशहरा मेले में नाटक खेलने की परंपरा थी। इसकी ख्याति दूर दूर तक थी। लेकिन ये नाटक हिंदी में होते थे। अधिकतर ऐतिहासिक, कभी कभी सामाजिक। ये नाटक चर्तुभुज के लिखे होते या फिर भागलपुर के पी. एन. जायसवाल के। एकाध बार 'चंबलघाटी का लुटेरा' टाइप नाटक भी हुए थे। हम सुनते थे कि दरभंगा मधुबनी की तरफ कई गांवों में मैथिली नाटक भी होते हैं। हमारे इलाके में कर्णपुर (सुपौल) के रंगमंच का भी बहुत नाम

था। हमने सुना था कि वहां कभी मैथिली में भी कोई नाटक हुआ था। लेकिन हमारे गांव में मैथिली नाटक के बारे में किसी ने सोचा तक नहीं था। राजकमल चौधरी पर काम करते हुए गांव के मंच पर मैथिली नाटक के मंचन का खयाल हमें आया था। 'ललका पाग' इसके लिए सर्वोत्तम था।

नाटकों का मंचन नवमी और दशमी को होता था। दो नाटकों में से सर्वोत्तम को नवमी की रात रखा जाता, क्योंकि उस रात पड़ोसी गांवों के दर्शकों की भीड़ रहती थी। उस रात अच्छा परफॉर्मेन्स का मतलब होता–इलाके भर में चर्चा। लेकिन, दशमी का मेला गांव की स्त्रियों का होता। शाम के बाद तो मेला परिसर में पुरुषों के प्रवेश पर पाबंदी लग जाती थी। यह नियम सनातन से चला आया था। नवरात्र के नौ दिनों में गांव की स्त्रियां आम तौर पर मंदिर प्रांगण में नहीं जाती थीं, केवल दशमी का मेला उनके लिए था। गांव के प्रतिष्ठित परिवारों की बहुएं तो वर्ष में केवल एक दिन–इसी दशमी की रात उग्रतारा के दर्शन करने आती थीं। उस दिन का नाटक ऐसा चुना जाता जो सामजिक प्रकृति का अर्थात स्त्रियोपयोगी हो। हमने जब मैथिली नाटक करने का एलान किया तो इसकी सफलता पर शक करते हुए नवमी दशमी में से किसी भी दिन को 'कम जोखिम का दिन' नहीं माना गया, फलतः उस बार लगातार तीन दिन हमारे गांव में नाटक हुआ था। 'ललका पाग' का मंचन अष्टमी को हुआ था। तारास्थान के प्रांगण में गांव का स्टेज था। उस रात बहुसंख्यक घरों की बहुओं को एक और दिन उग्रतारा दर्शन के लिए नसीब हुआ था।

नाटक में दो स्त्री पात्र थे। एक तो कहानी की नायिका तीरू ही थी, दूसरी थी उसकी सास चननपुरवाली। गांव में लड़कियां स्टेज पर नहीं आती थीं। गाना गाने के लिए भी नहीं, नाटक में रोल करना तो बहुत दूर की बात थी। अब तो गांव से नाटक की परंपरा ही समाप्त हो गई, अब तक यदि नाटक होता भी रहता तो भी मुझे कम ही उम्मीद लगती है। इसकी वजह यह नहीं है कि गांव आगे नहीं बढ़ा है। लोग आगे बढ़े हैं, लेकिन बढ़े हुए लोग शहरों में रहते हैं और सैलानी बनकर 'कोशी घाटी की सभ्यता' (इस नाम से मैथिली कवि मित्र रमेश का एक काव्यसंग्रह भी है) देखने आते हैं। तीरू का रोल हमें ऐसे आदमी को देना था, जो संवेदना और समझ में भी विशेष हो और नाटकीय प्रतिभा में भी क्योंकि इसी पर नाटक की सफलता निर्भर करती थी। और सुदर्शन तो उसे होना ही चाहिए। हमने निशिकांत चौधरी का चयन किया। वह वशीकांत अमलतास के कनिष्ठ अनुज थे, और कई गतिविधियों में हमारे साथी थे। उन दिनों वह इंटरमीडिएट साइंस के विद्यार्थी रहे होंगे। उन्होंने स्वीकार भी कर लिया, यह एक बड़ी बात थी। गांव में स्त्रियों का रोल करने से युवक परहेज करते थे क्योंकि बाद में बातों बातों में लोग 'कबदाते' थे। हमारे अनुरोध पर निशिकांत तैयार हो गए, इसके पीछे दो बातें थीं। एक तो यह कि गंभीर लोगों की हमारी टीम थी, राजकमल की कहानी हम मंचित कर रहे थे और इतिहास में पहली बार कोई मैथिली नाटक हो रहा था। और दूसरी यह कि मेरे प्रति उनका प्रेम था और विश्वास भी कि अच्छा ही होगा। चननपुरवाली के रोल के लिए हमने अरविंद पोद्दार से अनुरोध किया। वह गांव के सर्वाधिक प्रख्यात नाट्यकर्मी थे। 'कलाकार जी' के नाम से वह उसी तरह जाने जाते थे, जैसे उनके वयोवृद्ध किंतु स्मार्ट सर्वोदयी पिता 'पोद्दार जी' के नाम से जाने जाते थे। अरविंद पोद्दार और दया शंकर मिश्र दो ऐसे कलाकार थे, जिनके आगामी रोल का इंतजार गांव एक साल तक करता था। दयाशंकर भाई हास्य कलाकार थे, जबकि अरविंद जी को कोई भी रोल, जिसके चरित्र में नाटकीयता की प्रचुर संभावना मौजूद हो, सूट कर सकता था। हमने उन्हें बिगड़ैल षड्यंत्री बूढ़ी सास बनाना चाहा तो उन्होंने रोल समझा और सहर्ष तैयार हो गए। उनका अभिनय उस साल भी इतना जमा था कि कुछ मत पूछिए।

एक समस्या भोला मास्टर और मुंशी पटोरी लाल जैसे पात्र को लेकर थी। ये दोनों विलेन थे।

लेकिन मिथिला के विलेन थे, यानी कि सारी खलनायकी केवल बुद्धि से। न लाठी चलेगी न डंडा, लेकिन सांप भी मर जाएगा और भैंस भी आ जाएगी। ये दोनों चरित्र राजकमल की अद्‌भुत उपज हैं। भोला मास्टर तो मैथिली की उनकी कई कहानियों/उपन्यासों में इसी नाम से आते हैं। ये ऐसे तत्व हैं जो कुटिल बुद्धि की बदौलत समाज पर धाक जमाए रखना चाहते हैं। ये सामंत नहीं हैं और किसान भी नहीं हैं। राजकमल अपनी कहानियों में सूचित करते हैं कि आजादी के बाद लचर पचर पढ़े हुए लोगों की एक ऐसी जमात पैदा हो चुकी है, जिसने इतने ढंग से पढ़ाई नहीं की कि उसे नौकरी मिल सके, न किसानी की बुद्धि सीखी क्योंकि पढ़ा लिखा आदमी किसानी कैसे करेगा! गांव में रामसागर चौधरी (तीरू के ससुर) जैसे लोगों की पहचान है क्योंकि पुराने जमींदारों के खानदान से आते हैं जो बेटे को डाक्टरी पढ़ा सकता है। या फिर, झिंगुरनाथ (तीरू के भाई) की पहचान है क्योंकि वह 'ढाका बंगाला' में कमाता है! यानी कि मजदूरी बाहर जाकर करो तो प्रतिष्ठा बरकरार रहती है। पहचान ज्योतिषी की भी है क्योंकि धार्मिक अनुशासन उनके अधीन है, और 'जनसाधारण' लोग आमतौर पर उसे तोड़ना नहीं चाहते। लेकिन भोला मास्टर की क्या पहचान है? उनके साथ परिचय का संकट है। इस संकट को वह अपने अधकचरे ज्ञान और कुटिल बुद्धि से हल करना चाहते हैं। वे 'अलिखित दैनिक पत्र के अवैतनिक महासंपादक' हैं अर्थात वे आपके बारे में कोई भी भद्दी अफवाह इस तरह उड़ा दे सकते हैं कि गांव में आपका सिर उठाकर चलना मुश्किल हो जाए। जाहिर है यह कमजोरों पर ही चलेगा। स्त्रियां सबसे ज्यादा इसका शिकार होती थीं, इस तरह स्पष्ट है कि ये लंपट भी होते थे। पटोरीलाल तो इतने महान थे कि मैथिली में बात ही नहीं करते थे, काहे कुहेवाली 'कचराही' छांटते थे। कचहरी में मुंशीगीरी मिल गई होगी! जो भी हो, तीरू के जीवन को तबाहोबर्बाद करने में इन दोनों की सर्वोपरि भूमिका थी। इन दोनों का रोल महत्वपूर्ण था क्योंकि नाटक की मार्मिकता को विपरीत ध्रुव पर खड़े होकर भी, बढ़ाने में ये ही दोनों कमाल कर सकते थे।

भोला मास्टर का रोल मैंने लिया और पटोरीलाल का पप्पू (अजित चौधरी) को दिया गया। पप्पू आज भी नाटक के उन संवादों को, मिलने पर, दुहराते हैं और आनंद आनंद हो जाते हैं। मयंक रामसागर चौधरी बने थे और आशुतोष झिंगुरनाथ।

गांव के नाटक में प्रांपटिंग की बड़ी खास भूमिका होती थी। प्रांपटर ही असल में नाटक का निर्देशक होता। यह किसी ऊंची समझवाले आदमी का पद था, और यह करने के लिए वशीकांत अमलतास प्रसिद्ध थे। वह इन सब में रस भी लेते और अपनी बौद्धिक क्षमता से सबको साथ लेकर चल भी सकते थे। अब वह सहरसा के महिला कालेज में अध्यापक हो गए थे, इसलिए रिहर्सल में समय दे पाना उनके लिए संभव नहीं था। यह काम मैं कर लेता। उनका सहयोग पूरा था, जरूरत पड़ने पर कभी भी हम सहरसा के उनके डेरे पर जाकर उनसे विमर्श कर सकते थे।

वशीकांत जी हमारे आयोजन से कितने आनंदित थे, इसका एक दृष्टांत याद आता है।

उन्हीं दिनों उन्होंने फिलिप्स का एक टेप रिकॉर्डर खरीदा था। गांव के लिए यह अद्‌भुत चीज थी क्योंकि ज्यादातर लोगों ने इसे देखा तक नहीं था। अपने पिता पंडित शिवेश्वर चौधरी (मधुसूदन चौधरी के पितृव्य) के स्तुति पाठ के कुछ नमूने, कुछ अन्य चीजों के टेप उन्होंने अपने डेरे में हमें सुनाए थे। तो, ये रिकॉर्डिंग सुनकर हमें यह आइडिया आया कि क्यों न हमलोग साउंड इफैक्ट के लिए नाटक में इस यंत्र का उपयोग करें। उन्होंने हामी भर दी। अगले दिन नया आइडिया हाजिर था। नाटक में दो तीन सीन ऐसे थे, जिनमें मंच पर केवल दृश्य आता था, आवाज नेपथ्य से केवल सूत्रधार की आती थी। नेपथ्य के स्वर जो आते थे वे कुछ इस प्रकार के थे—'जांते में गेहूं पीसती मैथिल स्त्री, ढेकी पर चावल कूटती मैथिल स्त्री, ओखर में चूड़ा कूटती, सिलौट पर पिठार पीसती और इन सबके बंधे लय पर कोई नया पुराना पद हौले हौले गाती मैथिल स्त्री को पहचानने में जरा

सी दिक्कत नहीं होती। तुलसी चौरे को लीपती, अरिपन पर सिंदूर पिठार के रक्त श्वेत फूल पत्ते उगाती मैथिल स्त्री, सामा चकेबा और जट्टा जटिन खेलती मैथिल स्त्री...' आदि आदि। तो, तय यह हुआ कि सामा के गीत, जट्टा जटिन गीत, जांता चलने की आवाज, बातचीत की आवाज आदि रिकार्ड किया जाय और प्रांपटर की आवाज के साथ उसे पेश किया जाए। अमलतास जी ने टेपरिकॉर्डर हमें सौंप दिया, और हमलोग वह सब कर पाए।

एक और आइडिया हमारे कला निर्देशक असगर अली को आया था। आइडिया था कि क्यों न हमलोग अपने नाटक की शुरुआत कास्टिंग से करें, जैसे फिल्मों में होता है। वशी बाबू नाटक के बारे में नेपथ्य से बताते जाएं और परदे पर सबका नाम आता जाए।

—लेकिन यह होगा कैसे?

—उसको छोड़िए न! वो हम देखेंगे।

नाटक की शुरुआत में मंच पर अंधेरा कर दिया गया था। सफेद धोती का परदा टांगा गया था, जिस पर पीछे से रोशनी आ रही थी। असगर भाई ने बड़े कागज का फरमा बना रखा था, जिस पर उचित तरीके से कटाई की गई थी। वह दर्शक दीर्घा से झक झक दिखाई पड़ता था। उधर अमलतास जी की धीर गंभीर आवाज आ रही थी—नाटक के बारे में, कहानीकार के बारे में, पात्रों के बारे में...

सो, उस नाटक का अद्भुत शो हुआ था! और, गांव का वह पहला नाटक था, जिसके दो शो हुए थे। लोगों की जबर्दस्त डिमांड पर अगले साल फिर से उसका मंचन किया था। उस बार वह दशमी की रात हुआ था।

'ललका पाग' के रेडियो नाट्य रूपांतर का आइडिया मुझे सीताराम शर्मा से बातचीत के दौरान आया था। वह दरभंगा रेडियो में नाटक विभाग के प्रोड्यूसर थे। दरभंगा रेडियो से मेरी कविताएं और वार्ताएं प्रसारित होती थीं। इसी क्रम में कभी वहां था तो शर्मा जी ने मुझसे आग्रह किया था कि कोई रेडियो नाटक लिखिए। वह बहुत ही सहृदय व्यक्ति थे। स्वयं कुछ लिखते तो नहीं थे लेकिन मिजाज लेखकों वाला पाया था। बाबा नागार्जुन से उनकी संगत थी। रेडियो में तो उनकी प्रतिष्ठा थी ही, बाहर भी बहुत थी। उन्होंने नाटक लिखने की बात कही तो मुझे खयाल आया कि क्यों न 'ललका पाग' को रेडियो नाट्य बना दिया जाए!

और वह बना दिया गया। शर्मा जी ने देखा तो बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने मुझे पत्र लिखकर सूचित किया कि आलेख अच्छा जमा है और यह भारी सफलता प्राप्त करेगा। उन्होंने भी अपने कलाकारों के साथ इस नाटक की भव्य तैयारी शुरू की। और, जिस पहले दिन इसका प्रसारण हुआ, वह रोमांचित कर देनेवाला अनुभव था! नाटक की प्रस्तुति इतनी बेजोड़ हुई थी कि उसमें मिथिला की संस्कृति, मैथिल स्त्री की पीड़ा 'टन टन' बजती थी। यह प्रायः 1985 की बात है। पिछले तीस वर्षों में उस रेडियो नाटक का 150 से कम बार प्रसारण क्या हुआ होगा! दरभंगा रेडियो के सबसे लोकप्रिय नाटकों में इस नाटक का नाम आता है। मैं कभी एक बार रेडियो पर 'श्रोताओं के पत्र' कार्यक्रम सुन रहा था तो किसी ने किसी दूसरे नाटक को सुनने के बाद प्रतिक्रिया दी थी कि 'ललका पाग' बहुत दिन से नहीं सुन पाए हैं, उसे सुनाइए, जबकि दो ही महीने पहले वह प्रसारित हुआ था!

मिथिला के जो भी लोग दरभंगा रेडियो का प्रोग्राम सुनते हैं, और ऐसे लोगों की संख्या काफी बड़ी है, उन्होंने अपने जीवन में दो चार बार 'ललका पाग' जरूर ही सुना होगा। हमने जो अभियान चलाया था—मैथिल समाज में राजकमल को विचारणीय और स्वीकार्य बनाने का अभियान—मुझे स्वीकार करना चाहिए कि इसमें जयंती समारोह, अखबारी लेखन और पुस्तक प्रकाशन से भी अधिक योगदान इस रेडियो नाटक का रहा था। इसका एक दृष्टांत मुझे याद आता है।

राधाकांत चौधरी हमारे गांव के परम प्रतिष्ठित व्यक्तियों में से एक थे। वह भी बुधवारय कुल के थे। अथाह ज्ञान उन्होंने अपने उद्यम और अनुभव से अर्जित किया था। कोशी इलाके के सबसे महत्वपूर्ण गांव बलुआ बाजार में वह उच्च विद्यालय के प्राचार्य थे। स्वयं मुख्यमंत्री उनके शिष्यवत रह चुके थे, और पूर्व रेलमंत्री ललित नारायण मिश्र उनकी अनन्य श्रद्धा करते थे। वह शुद्धतावादी विचार के व्यक्ति थे और मानते थे कि चरित्र ही देश को महान बनाता है। मेरे लिए यह आश्चर्य की बात थी कि दार्शनिक ओशो (जिन्हें वह प्यार से 'दढ़ियल' कहते थे) के तो वह अचूक प्रशंसक थे लेकिन राजकमल के लिए जरा सा भी मान उनके भीतर नहीं था। वह उनसे नाराज रहते थे। मेरे प्रति उनकी कृपा रहती थी कि असहमति भले हो, लेकिन मैं कुछ कायदे का काम कर रहा हूं और आगे जाकर अच्छा करूंगा।

तो, क्या हुआ कि रेडियो पर कभी 'ललका पाग' नाटक उन्होंने सुन लिया। अगले ही दिन उनका बुलावा आ गया। मैं उनसे मिलने पहुंचा तो वह इतने गदगद थे कि पांव तक छूने नहीं दिया। बोले– 'नहीं जनाब, आज तो आप हमसे हाथ मिलाइए।' मैं तो चकित कि ऐसी क्या बात हो गई है! और, वह अपने कायल के इतने पक्के थे कि जब तक वह जीवित रहे, जब भी मैं उनसे मिला, पांव भले ही जबर्दस्ती मैं उनके छूं लूं, लेकिन हाथ वह जरूर मिलाते थे।

वह बोले–राजकमल का तो आपने उद्धार कर दिया साहब! मैं अकबका गया। व्यंग्य वह आमतौर पर नहीं करते थे। लेकिन, इसमें मुझे व्यंग्य छोड़कर कुछ दीख ही नहीं पा रहा था।

मैंने पूछा–क्या हुआ बाबा?

बोले–कल मैंने 'ललका पाग' सुना है। आपने तो कमाल कर दिया है। कोई विश्वास ही नहीं कर सकता कि वह राजकमल ने लिखा होगा। ओह, क्या सुंदर दृश्य खींचे हैं आपने! जीवंत कर दिया है!

–लेकिन, बाबा! मैंने कुछ नहीं किया है। सब कुछ राजकमल जी का ही किया हुआ है। भाव को स्पष्ट करने के लिए कहीं कहीं कुछ शब्द भर मैंने जोड़े हैं। वह रचना राजकमल जी की है बाबा, मैंने कुछ नहीं किया है।

वह मेरी ओर टुक टुक ताकने लगे। इसका मतलब था कि ऐसा भी कहीं हो सकता है? ऐसा तो कदापि नहीं हो सकता!

घर आकर और 'ललका पाग' संग्रह लेकर जब दुबारा मैं उनके पास पहुंचा, वह बाहर ही बैठे धूप सेंक रहे थे। उनसे अनुमति लेकर राजकमल की कहानी मैंने पढ़कर सुनाई।

और, कहानी सुनने के बाद जो उनमें विचार परिवर्तन हुआ था, सब संगतियों के विचार उन्होंने पूछे थे, सबने प्रशंसा की थी, और राजकमल पर बात करने के लिए उन्होंने एक दिन फिर मुझे आने कहा था–यह सब देख सुनकर तो मेरा हृदय जुड़ा गया था!

राजकमल की प्रकाशित कृतियों के नाम देखो तो हर कहीं, मैथिली में उनके तीन उपन्यासों की सूचना मिलती थी। ये तीन थे–आदिकथा, आंदोलन और पाथर फूल। 'आदिकथा' और 'आंदोलन' हमें मिल गए थे और इन्हें पढ़ भी लिया था। अब हम 'पाथर फूल' की खोज में थे। वह किताब किसी के भी पास नहीं थी। केदार के पास नहीं, महेंद्र बाबू के पास नहीं, और रामदेव बाबू के पास भी नहीं। मैंने सहरसा कालेज के पुस्तकालय में जाकर खोज की। वहां मैथिली की बहुत सारी किताबें थीं। लेकिन, 'पाथर फूल' वहां भी नहीं था। सहरसा के प्रमंडलीय पुस्तकालय का एक एक रैक छान मारा, लेकिन वह नहीं था। मैंने सरोज बाबू का दरबार किया। उन्होंने स्वीकार किया कि हां, 'पाथर फूल' उनके पास है। दरबार जारी रहा। बरसों बीत गए। सारी किताबें उन्होंने दिखाईं, लेकिन 'पाथर फूल' नहीं

दिखा सके। अंततोगत्वा उन्होंने स्वीकार किया कि नहीं, वह किताब नहीं है।

उस किताब के बारे में लोग तरह तरह की बातें करते थे। कोई कहता कि इस नाम से राजकमल की कोई किताब नहीं है। दृष्टांत के लिए कहा जाता कि बताइए—'पारवती मठ' नामक किताब है? 'गुलजार बीघा' नामक किताब है? 'सामुद्रिक और अन्य कहानियां' है? इसी तरह इसे भी समझिए। समझिए कि इस नाम से उपन्यास लिखने की उनकी योजना थी, लेकिन वह लिख नहीं पाए। लिखा भी हो तो प्रकाशित नहीं हो पाया। राजमकमल को नहीं जानते हैं? इतना भर झूठ बोलना उनके लिए कौन बड़ी बात थी? कोई दूसरा कुछ दूसरी ही बात बताता—देखिए, वह पोर्नोग्राफी की किताब थी। बात बस इतनी ही थी कि उसे मैथिली में लिखा गया था। वह राजकमल के शुरुआती दिनों की रचना थी। उसे बाद में उन्होंने खुद ही डिसऑन कर दिया। अब वह छपी कि नहीं छपी, यह कोई प्रश्न ही नहीं है। बात यही है कि उसे राजकमल ने अपनी रचना मानने से इनकार किया।

मामले का अंतिम निबटारा हो जाए, यह सोचकर हम मायानंद मिश्र के पास पहुंचे। सीधा प्रश्न किया कि 'पाथर फूल' की सच्चाई क्या है?

वह बोले—देखिए, हम तीनों—ललित, राजकमल, मायानंद—कहानी लिखने से आगे बढ़कर उपन्यास की ओर आना चाह रहे थे। तीनों ही कोशिश में थे। पहली सफलता मुझे मिली कि 'बिहाड़ि पात पाथर' (1954) छपी। इसके बाद राजकमल की 'आदिकथा' (1958) आई। ललित सबसे अंत में 'पृथ्वीपुत्र' (1965) लिख पाए। ललित तो फिर दूसरा कोई उपन्यास लिख भी नहीं पाए। मैंने और राजकमल ने इसके बाद भी कई उपन्यास लिखे। इसी क्रम में उन्होंने 'पाथर फूल' भी लिखा था, जो प्रकाशित भी हुआ।

—प्रकाशित हुआ?

—हां। प्रकाशित तो हुआ ही।

—लेकिन, वह किताब कहीं नहीं मिलती है!

—हां, इसका कारण है। वह उपन्यास छपा तो जरूर लेकिन प्रेस में ही सड़ गया।

—ऐसा क्यों हुआ?

—जैसी कि मुझे जानकारी है कलकत्ता दंगा के कारण। वहीं वह किताब छप रही थी।

—क्या आपने वह किताब पढ़ी है?

—नहीं। मैं तो क्या, किसी ने भी नहीं पढ़ा होगा। वह किताब निकली ही नहीं।

—यह कब की बात है?

—संभवतः 1966-67 की।

यह हमारे लिए बहुत बुरी खबर थी कि वह किताब छपी तो जरूर लेकिन प्रेस से बाहर निकल ही नहीं सकी। फिर हमें उत्सुकता हुई—देखना चाहिए कि राजकमल के जिन मित्रों ने उन पर संस्मरण लिखे हैं, उनमें से किसी ने इसके बारे में कोई जिक्र किया है या नहीं! योगिराज ने जिक्र किया था। उन्होंने लिखा था कि दरअसल 'पाथर फूल' ही राजकमल का पहला मैथिली उपन्यास था। 'स्वरगंधा' के प्रकाशन (1958) के भी पहले राजकमल ने इसे छपवाने की व्यवस्था की थी। 'पल्लव' के संपादक ए. सी. दीपक ने इसे प्रकाशित किया था। उन्होंने भी जानकारी यही दी थी कि किताब मुद्रित तो हुई, लेकिन प्रेस में ही सड़ गई। इस क्रम में योगिराज ने खास बात यह लिखी थी कि इस किताब की एक प्रति राजकमल के पास थी, किताब की दूसरी प्रति के भी बाहर निकलने की जानकारी उन्होंने ही दी थी, और लिखा था कि यह प्रति दीपक जी के पास थी, जिसे उन्होंने बड़े ही सम्मान के साथ अपने पास सुरक्षित रखा हुआ था। उन्होंने बताया था कि 1971 में जब 'मातृवाणी' के प्रकाशन क्रम में वह दीपक जी से मिलने गए थे तो वह प्रति

उन्होंने उन्हें भी दिखाई थी।

निपट अंधेरे में अब हमें रोशनी का एक कतरा दिखा था। यह राजकमल का पहला उपन्यास था, और 'स्वरगंधा' के भी पहले उन्होंने इसे छपाने का प्रयास किया था, इसका मतलब था कि यह 1966-67 की नहीं, बल्कि 1954-55 की बात थी। योगिराज का विवरण महत्वपूर्ण था, क्योंकि यह रास्ता मुहैया कराता था। दो दो रास्ते! किताब की एक प्रति राजकमल के पास थी, एक प्रति दीपक जी के पास।

इस समय तक हमारे पास राजकमल की ढेर सारी अप्रकाशित कविताएं जमा हो गई थीं। कविता की एक नोटबुक (कॉपी) तो हमें मदन झा के किराना दुकान से मिली थी। उनकी डायरी, उनके पत्र, उनकी टिप्पणियां। लेकिन गौर करने की बात है कि इनमें से कोई भी चीज राजकमल के निजी कलेक्शन की नहीं थी। ये चीजें ऐसी थीं जो उन्होंने पहले ही किसी दूसरे को दे दी थीं, और उनसे होते हुए हमारे पास तक पहुंच गई थीं। मतलब यह था कि जब राजकमल का देहांत हुआ था, उस समय उनके घर में, या कवि कुटीर में जो किताबें, जो अप्रकाशित रचनाएं, जो पांडुलिपियां मौजूद थीं, उनमें से कोई भी चीज मिलना तो दूर, हमने देखा तक नहीं था। इस बारे में हमने कई बार शशिकांता जी से भी बात की थी। वह अपना दुख व्यक्त करने लगती थीं—गांव में वे बीमार पड़ गए तो उनको लेकर हम सदर अस्पताल सहरसा गए। वहां उनकी हालत नहीं सुधरी और उन्हें पटना रेफर कर दिया गया। उनको लेकर हम पटना गए। वहां उनका देहांत हो गया। उधर से लौटते हुए सिमरिया में उनका अंतिम संस्कार हुआ। हम रोते बिलखते खाली हाथ गांव लौटे। आप समझ सकते हैं कि उस वक्त मेरी क्या हालत रही होगी। कहां उनकी किताब है, कहां पांडुलिपि है, किसको सुध थी? हम तो कुछ भी सहेज नहीं पाए। उनके भाई ने जैसा समझा, सम्हाला। मेरे पास तो लौटकर कुछ भी नहीं आया। हम क्या बता सकते हैं कि उसमें कौन कौन सी पांडुलिपि थी या कौन सी किताब थी! आप उन्हीं के पास देखिए। उनका दुख हमें बेचैन कर देता था।

राजकमल चौधरी के छोटे भाई सुधीर चौधरी उर्फ माधवेंद्र नारायण चौधरी बिहार ट्रांसपोर्ट कारपोरेशन के आफिस में काम करते थे। पटना के अनीसाबाद में उनका डेरा था। सभी स्रोतों से हमें यही जानकारी मिली थी कि राजकमल के संग्रह की सारी सामग्री उन्हीं के पास हैं। राजकमल के अफरातफरी भरे देहांत के बाद ये सारी सामग्री सुधीर बाबू के पास होती, यह तर्कसंगत भी था और औचित्यपूर्ण भी। सभी भाइयों में राजकमल की रचनात्मकता से लगाव रखनेवाले वही एक व्यक्ति थे। एक जमाने में उन्होंने यह भी निर्णय किया था कि वह भी बड़े भाई की तरह लेखक बनेंगे। पिता मधुसूदन चौधरी ने तो तीनों ही भाइयों के साथ एक ही जैसा व्यवहार किया था, लेकिन वह सुधीर ही थे, जिन्होंने पिता के विरुद्ध सबसे मुखर होकर मोर्चा खोला था। लेकिन अब वह गलती पर उतारू थे। उनके घर में एक बड़ा बक्सा था, जिसमें उन्होंने राजकमल की सामग्री सुरक्षित रखी हुई थी, लेकिन कड़े इतने थे कि उसे किसी को खोलकर दिखाने में भी परहेज करते थे। हमने उनसे बार बार प्रार्थना की कि सारी चीजें रखें भले वे ही, लेकिन दुनिया के सामने ला दें। नीलू ने भी बार बार उनसे अनुरोध किया। शशिकांता जी ने भी कहा। लेकिन वह टस्स से मस्स नहीं हुए। धीरे धीरे यह हो गया कि महिषीवालों से वह 'हड़कने' लगे। एक बार तो नीलू के साथ मिलकर हमलोगों ने यह भी प्लान किया था कि पुलिस से सहयोग लेकर छापामारी कराई जाए और रचनाएं बरामद की जाएं।

अब तो हमारी यह स्थिति हो गई थी कि प्रार्थना तक करने के लिए हम सुधीर बाबू के पास नहीं जा सकते थे। हमें यह जानकर बेहद खुशी हुई कि केदार का सुधीर बाबू से पुराना परिचय है, पटना विश्वविद्यालय में जब वह पढ़ते थे तभी से राजकमल की अप्रकाशित रचनाओं की प्रत्याशा

में वह वहां जाते हैं। केदार ने बताया कि उन्होंने दिया तो कुछ नहीं है लेकिन वादा किया है कि देंगे। इन्हें वह 'संकल्प' में प्रकाशित करना चाहते थे। हमने तय किया कि केदार उनसे गहन संपर्क बनाए रखें और अन्य चीजों के साथ साथ 'पाथर फूल' पर भी नजर रखें। केदार ने यही किया। जाने कितनी बार वह सुधीर बाबू के पास हाजिर हुए लेकिन अंत अंत तक एक पन्ना भी हस्तगत न कर सके।

अब हमारे पास एक ही रास्ता बच रहा था। वह दीपक जी के पास जाता था। इस रास्ते पर बहुत संभलकर चलना था क्योंकि यह भी अगर असफल हुआ तो आगे कोई संभावना बचती नहीं थी। इधर, हमारे साथ आगे एक समस्या यह थी कि दीपक जी के प्रति हम बहुत झिझक महसूस कर रहे थे। इसका भी कारण था 'चंपाकली विषधर'।

हुआ यह था कि राजकमल के देहांत के बाद ए. सी. दीपक ने उनकी दो किताबें पाकेट बुक सिरीज में प्रकाशित की थीं। एक तो 'निरमोही बालम हमर' कहानी संग्रह था, दूसरा 'एक अनार, एक बीमार' (हिंदी उपन्यास) का मैथिली अनुवाद 'एक अनार एक रोगाह' था। दीपक जी आइडिया के मास्टर थे। मैथिली प्रकाशन के क्षेत्र में एक से एक नए प्रयोग वह करते रहते थे। इसी क्रम में यह नया प्रयोग उन्होंने किया था। उनके इस प्रयोग के साथ दिक्कत यह थी कि पाकेटबुक की अपनी पृष्ठ सीमा और मूल्य सीमा थी, और राजकमल की अधिक से अधिक रचना को अंटाने का सात्विक लोभ भी था। सो, उन्होंने कई स्थलों पर रचनाओं का संक्षिप्तीकरण कर दिया। एक संपादक के रूप में उन्हें यह कोई खास बात नहीं लगी होगी। लगा होगा कि थोड़ा संक्षिप्त होने पर भी पाठक तो कहानी समझ ही लेगा। लेकिन, हमने इस पर कड़ा एतराज किया था। 'चंपाकली विषधर' की भूमिका में मैंने लिखा था कि राजकमल की रचना को तोड़ मरोड़कर प्रस्तुत करने का अधिकार ए. सी. दीपक को नहीं है, और ऐसा करके उन्होंने अपने आप को गैरजिम्मेदार साबित किया है। उस भूमिका की मैथिली लेखकों पर जितनी कड़ी प्रतिक्रिया हुई थी, स्वाभाविक था कि ए. सी. दीपक के पास जाने में हम झिझक महसूस कर रहे थे।

पथ की खोज में हम हंसराज के पास पहुंचे। वह दरभंगा में मैथिली के अध्यापक थे। उन शुरुआती दिनों की, राजकमल की मित्र मंडली के वह भी एक कनीय सदस्य थे और कथाकार कवि के रूप में मिथिला समाज में समादृत थे। उनकी सबसे बड़ी खूबी यह थी कि उनकी स्मरण शक्ति बहुत तीक्ष्ण थी और मिथिला के इतिहास के हजारों अलिखित तथ्य उन्हें, उचित प्रक्रम के साथ, जुबानी याद थे। वह उनकी व्याख्या भी अपूर्व करते थे। वह जब राजघराने के किसी अंदरूनी वाकये का बखान करने लगते थे तो पूरा इतिहास ही मानो जगकर जीवंत हो जाता था। उग्रतारा मंदिर निर्माण के संबंध में भी बहुत सारे तथ्य उन्हें मालूम थे। वह सब तो बाद में। उस दिन तो 'पाथर फूल' का ही प्रसंग चला था।

हंसराज ने बताया था कि हां, 'पाथर फूल' प्रकाशित हुआ था। लेकिन, कलकत्ता से नहीं, दरभंगा से प्रकाशित हुआ था। जिस प्रेस में छपा था, वह अब नहीं है, दस पंद्रह साल पहले बिक गया। और बताया कि हां, मैंने वह छपी हुई किताब देखी थी। पूरी पढ़ी तो नहीं लेकिन इतना याद है कि सौ सवा सौ पेज का क्राउन आकार में छपा हुआ था। उपन्यास में दो अध्याय थे। एक का नाम 'पाथर' था, दूसरे का 'फूल'। उसमें राजकमल ने दिखाया था कि सेक्स जब तक देह की सीमा में अटका रहता है तब तक पूर्ण नहीं होता। उसकी पूर्णता के लिए प्रेम की जरूरत होती है, जो त्याग और समर्पण से ही हासिल होता है।

—तो, वह उपन्यास जब छपा तो फिर जारी क्यों नहीं हुआ? प्रेस में ही सड़ क्यों गया?

और, उन्होंने जो बात बताई वह काफी सनसनीखेज थी। बताया कि यह बात सही नहीं है कि वह किताब प्रेस में सड़ गई; सचाई यह है कि उसे प्रेसवाले ने जला दिया।

—जला दिया? जला क्यों दिया?

—किसी ने उस उपन्यास को लेकर बहुत जोर अफवाह फैला दी थी कि इस प्रेस में अश्लील साहित्य छप रहा है। कई लोग आ आकर प्रेसवाले को धमकाने लगे। बात पुलिस तक चली गई। तो, इसी अफरातफरी में प्रेस मालिक ने प्रेस की पिछली 'अंगनी' में पांडुलिपि समेत किताब के बंडल निकाले और किरासन छिड़ककर जला दिया। किताब की बाइंडिंग तब तक हो चुकी थी और सिर्फ कवर चढ़ाना बाकी था। इस घटना के पहले जो एक दो प्रति राजकमल या दीपक जी ले गए थे, वही अवशेष बचा।

बहुत सारे प्रश्न हमारे भीतर कुलबुला रहे थे। यह समूची घटना किसी षड्यंत्र की तरह प्रतीत होती थी। किसने किया यह? क्यों किया? राजकमल से दुश्मनी थी या उस किताब से? और, क्या वह किताब सच में अश्लील थी? किताब की थीम जो हंसराज बता रहे थे, वह तो बहुत वाजिब बात थी, तो फिर अश्लीलता की गुंजाइश कहां से निकलती थी? और, राजकमल तो बेहद बिगड़ैल और गुस्सैल थे। पता तो उन्होंने लगा ही लिया होगा कि किसने किया यह सब। फिर बात वहीं तो खत्म नहीं हुई होगी। आगे भी कुछ न कुछ घटना अनुघटना जरूर हुई होगी। आगे क्या हुआ? और, दीपक जी भी तो जमींदार आदमी थे। युवा थे। उनके भी अपने संपर्कसूत्र थे। उन्होंने भी तो वैसे ही नहीं छोड़ दिया होगा। उन्होंने क्या किया? आगे क्या हुआ?

हंसराज के पास हमारे प्रश्नों के उत्तर नहीं थे। यदि हों भी तो वह बताने में परहेज कर रहे थे। शायद कुछ अनुचित बातें रही हों, जिन्हें वह प्रकाश में लाना गैर जरूरी समझते हों। यह मिथिला की बौद्धिक प्रथा थी। यदि आप अनुचित बात की चर्चा कर रहे हैं तो माना जाएगा कि आप अनुचित को प्रश्रय दे रहे हैं। अब, यह बात और है कि कोई बात अनुचित है या अनुचित नहीं है इसका निर्णय उन्हीं को करना है, आपको नहीं। मिथिला के इतिहास के लाखों दुर्दांत अध्याय इसी औचित्य मीमांसा में मानव स्मृति से लुप्त हो गए, उसे किसी ने कागज पर लिप्यंतरित नहीं किया। हंसराज इस मायने में धन्यवाद के पात्र थे कि इन दुर्दांत अध्यायों पर अपनी जानकारी भर, खुलकर चर्चा करते और बाद को उन्होंने संस्मरणात्मक ढंग की ऐसी किताब भी लिखी। लेकिन, अभी तो वह खुद ही चुप थे।

फिर, हम अपने प्रिय कवि और नई पीढ़ी के मित्र अभिभावक जीवकांत से जाकर मिले। वह ड्योढ़ गांव में रहते थे। उनसे हमारा पत्राचार बरसों से चलता था। गजब के सहृदय आदमी थे। उन्होंने कविता लेखन की शुरुआत परिपक्व वय में 1966 में की थी, और उसी साल राजकमल से उनका पत्राचार शुरू हो गया था। राजकमल ने उन्हें पसंद किया था और मैत्री जैसी चीज भी दोनों के बीच स्थापित हो गई थी। अगले साल वह महिषी भी आए थे—राजकमल के घर। 'ललका पाग' कथा संग्रह की भूमिका जो आचार्य रमानाथ ने लिखी थी, उसका लिखित रूप से तर्कसंगत विरोध जीवकांत ने ही 'आखर' में किया था। वह हमारे प्रिय थे, अतिप्रिय थे। जयंती समारोह में हम हर साल उन्हें बुलाते, लेकिन उनके साथ यात्रा के अचेतन भय की समस्या थी, कहीं भी आने जाने से आमतौर पर परहेज करते। दूसरी बात यह भी थी कि मंच पर कविता का अच्छा वाचन नहीं कर पाते थे, न जी खोलकर बोल पाते थे। हमें तो उनकी यह चिंता बेवजह लगती थी लेकिन उनके मन में यह बात गहरे पैठी हुई थी। उन्होंने अपना क्षेत्र सीमित कर रखा था—लेखन और केवल लेखन!

जीवकांत ने हमें बताया था कि उन्हें भी वही किस्सा मालूम है, जो हमें हंसराज ने बताया था। उस किस्से को भी वह शक की निगाह से देख रहे थे।

'पाथर फूल' के बारे में उन्होंने भी केवल सुना था, देखा नहीं था। और, उन्होंने बताया था कि ए. सी. दीपक बेहद अच्छे आदमी हैं। साहित्य की राजनीति से उन्हें कोई मतलब नहीं है।

स्वभाव में विनम्रता का गुण है। इसलिए इस बात की कम उम्मीद है कि 'चंपाकली विषधर' की भूमिका से वह इतने आहत हुए होंगे कि दरवाजे पर चढ़ने नहीं दें। और, उन्होंने दीपक जी के नाम एक सिफारिशी पत्र लिखकर हमें दे दिया। उसमें उन्होंने लिखा कि ये नौजवान भविष्णु कार्यकर्ता हैं। इनका अगर सहयोग किया जाए तो आशा की जा सकती है कि सहयोग सार्थक होगा। उन्होंने मुझसे पूछा—और कुछ लिखा जाए? मैंने हाथ जोड़ लिए थे कि और क्या लिखा जाएगा! असल में, हमारा अभियान उनको भी पसंद आया था। उन्होंने महसूस किया था कि यह उपन्यास अगर मिल जाए, फिर से प्रकाशित हो जाए तो एक अच्छा काम होगा!

ए. सी. दीपक का गांव नेहरा था। सकरी से टमटम या रिक्शा पकड़कर वहां जाया जाता था। पक्की ग्रामीण सड़क तो बनी हुई थी, लेकिन उसकी हालत जर्जर थी। नेहरा बाबा नागार्जुन के गांव तरौनी का पड़ोसी गांव है। गांव की नाक जगह पर दीपक जी का घर था। पुराने जमींदारों के स्टाइल का कोठा, ड्योढ़ी। बाहर एक बंगला था, जो अतिथियों के लिए था। वहां एक संदूक रखा था—पुराने जमाने का, कीमती काठ का बना। दीपक जी से मिलकर हमें बहुत अच्छा लगा। वह वाकई एक सहृदय आदमी थे। उनके हृदय में बहुत आत्मीयता थी, जो हर प्रसंग में छलककर बाहर आ जाती और हमें दिख जाती थी। उन्होंने चाय, नाश्ता, भोजन, सब कराया। और लगातार हम बात भी करते रहे। जीवकांत के पत्र ने उन्हें हमारे प्रति और भी कृपालु बना दिया था।

उन्होंने बताया कि हां, इस किताब का प्रकाशन मैंने किया था। यह कहीं से भी अश्लील साहित्य नहीं था। यौन प्रवृत्तियों के बारे में जरूर था लेकिन उसका लेखन गंभीर तरीके से किया गया था। कहीं भी सतहीपन नहीं था कि उसे पढ़ते हुए आप यौन उत्तेजना अनुभव करने लगें। इस किताब की पांडुलिपि हमें 1954 में ही मिली थी, लेकिन दो साल तक हम इसे प्रकाशित नहीं कर पाए थे। और यह बताया कि जिस समय यह किताब छप रही थी, तब तक राजकमल बिहार छोड़ चुके थे।

हमारे मन में जो ढेर सारे प्रश्न कुलबुला रहे थे, हमने उन सबके बारे में जिज्ञासा की। वह विस्तार में उतरने को तैयार नहीं हुए। इतना ही कहा कि छोड़िए, बहुत पुरानी बात हो चुकी है।

—लेकिन सर, वह उपन्यास तो हमें चाहिए!

—क्यों चाहिए?

—वह हम पढ़ेंगे सर! जुगाड़ लगाकर उसे प्रकाशित भी करेंगे। जो उस समय परिस्थितिवश नहीं हो सका था, वह अब हो जाएगा। राजकमल जी का साहित्य उनके पाठकों तक पहुंच सकेगा।

दीपक जी ने ध्यानपूर्वक हमारी बात सुनी और चुप लगा गए। उनकी मुद्रा से स्पष्ट होता था कि वह हमारी योजना से संतुष्ट नहीं हैं। और, उन्होंने कहा—देखिए, उस किताब की एक कापी तो मेरे पास थी लेकिन...। फिर, वह इतिहास बताने लगे कि कितने लोगों को उन्होंने पढ़ने के लिए दिया था, और आशंका व्यक्त करने लगे कि फलां फलां में से ही किसी ने किताब मार ली होगी। मतलब कि अब यह किताब उनके पास नहीं थी। कथन तर्कसंगत था। योगिराज ने यह किताब सम्मान से सहेजकर रखते हुए जब उन्हें देखा था, उसके ठीक पंद्रह बरस बाद हम उनसे मिलने गए थे। इस बीच तो यह सब हो ही सकता था। यह कहना कुफ्र होगा लेकिन कहना ही पड़ेगा कि हमें उनकी बात पर जरा सा भी विश्वास नहीं हुआ था। उनका चेहरा ही बता रहा था कि वह 'लाथ' कर रहे हैं, झूठ बोल रहे हैं। लेकिन कुछ भी नहीं किया जा सकता था।

अब दीपक जी दिवंगत हो चुके हैं। याद करता हूं तो पाता हूं कि मैथिल मानुस के हिसाब से वह बिल्कुल अलग आदमी थे, और सभी अर्थों में एक अच्छे आदमी थे। आगे उनसे मेरा संपर्क भी बराबर बना रहा। यहां तक कि आगे के अपने संग्रह प्रकाशनों के लिए उन्होंने कई बार मेरी रचनाएं आमंत्रित कीं, उन्हें छापा। हमने महिषी में 1997 में जो विशाल मैथिली साहित्य उत्सव का

द्विदिवसीय आयोजन किया था—'सगर राति दीप जरय'—उसमें दीपक जी महिषी आए थे। यह अलग बात है कि आगे कभी भी न उनसे मैंने 'पाथर फूल' पर कोई बात की, न उन्होंने ही अपनी ओर से कुछ कहा। लेकिन, सोचता हूं तो अथाह लगता है कि क्यों उन्होंने किताब देने से इनकार कर दिया था! उस समय तो उन्हें जरूर ही मान जाना चाहिए था जब मैंने बेअदबी करते हुए भी, उनसे कह दिया था कि सर, एक बार फिर ठीक से ढूंढ़ लीजिए। अगर कहीं किताब मिल गई तो उसे हमलोग यहीं बैठकर उतार लेंगे। हमलोग कागज लेकर आए हैं...

और कुछ नहीं था वह। सिर्फ मोह था। निरर्थक मोह। अध्यात्म मोह को खराब चीज बताता है। लेकिन हम अपनी बौद्धिकता की दबंगई में फैसला कर लेते हैं कि अगर हमारा मोह किसी अच्छी चीज में है तो इसमें कोई बुराई नहीं है। लेकिन, बुराई है। सोचिए तो! दीपक जी तो गए दुनिया से! अब तो उनकी किताबों को कोई देखनहार भी नहीं है। मान लीजिए कि एक दो पीढ़ी तक सहेज संवार होता भी रहा, फिर भी उपयोग तो नहीं ही हुआ न! और आगे तो फिर कागज की उमर ही कितनी होती है!

सोचिए तो, उस किताब की तीसरी प्रति यदि हमने नहीं ढूंढ़ ली होती तो वह अभी कहां होती!

'पाथर फूल' की तीसरी प्रति का होना किसी सूचना पर आधारित नहीं था। हमने मैथिली पढ़ने लिखनेवाले पचासों लोगों से संपर्क किया था। ज्यादातर लोगों ने उस किताब के प्रति अनभिज्ञता ही प्रकट की थी या फिर, कभी उसे देखा है—इस बात से इनकार किया था। कुछ गिने चुने लोगों ने यदि यह किताब देखी भी थी तो या तो राजकमल के पास देखी थी या फिर ए. सी. दीपक के पास। कहीं तीसरी जगह यदि किसी ने देखी भी हो तो ऐसे आदमी से हमारी मुलाकात नहीं थी। इस किताब की तीसरी प्रति भी हो सकती है, यह शुद्ध संभावना पर आधारित बात थी। लेकिन, महत्वपूर्ण यह था कि यह संभावना जीवकांत ने व्यक्त की थी। दरअसल हमारी असफलता से वह बेहद दुखी हुए थे। उन्होंने कहा था कि जो हुआ, अर्थात दीपक जी ने किताब हमें नहीं दी, इसकी उम्मीद चालीस प्रतिशत ही थी। साठ प्रतिशत तो यही संभावना थी कि वह हमें दे देते। लेकिन हारना वह नहीं जानते थे और न चाहते थे कि पढ़ने लिखनेवाला आदमी अंततः हारे। उन्होंने संभावना व्यक्त की थी कि तीसरी प्रति 'वैदेही' संपादक कृष्णकांत मिश्र के पास हो सकती है। इस संभावना के पीछे कारण जो उन्होंने बताए थे वे हम भी समझते थे। लेकिन, वह हमें सूझ नहीं रहा था।

कृष्णकांत मिश्र राजकमल के समवयस्क थे और बाद को इतिहास के अध्यापक हुए। वह मिथिला के विख्यात विद्यावान कुल की संतान थे। आजादी बाद के नवजागरण दौर के वह एक उत्साही कार्यकर्ता थे। स्वभाव से नवाचारी थे और मैथिली साहित्य को नई गति प्रगति की ओर ले जाना चाहते थे। उसी दौर में जब राजकमल और उनके मित्रों ने मैथिली में पढ़ना लिखना शुरू किया था, कृष्णकांत बाबू दरभंगा से 'वैदेही' मासिक पत्रिका का प्रकाशन करते थे। उनके पास साधन थे, और गतिविधियों के लिए बीच शहर में भवन परिसर भी था। गति प्रगति के लिए विचारोत्तेजना चाहिए थी, जिसे खोजने का हुनर भी उनके पास था और पैदा करने की बुद्धि भी। अपनी बौद्धिकता और परिश्रम की बदौलत उसी जमाने में, 1956 में, उन्होंने दरभंगा में मिथिला आर्ट म्यूजियम की स्थापना कराई थी, जिसका उद्घाटन करने इंदिरा गांधी आई थीं। उन्होंने चार चार ऑरिएंटल कांफ्रेंस मिथिला में करवाए। 1963 के कांफ्रेंस में तो ऐसा माहौल बना था कि दरभंगा शहर के विकास के लिए दरभंगा नरेश ने ग्यारह मन सोना और एक ट्रक चांदी भारत सरकार को दान कर दिया था। वह बहुत ऊर्जावान व्यक्ति थे और ऐसे लोगों से घिरे रहते थे, जिनमें नया कुछ करने का जज्बा होता। स्वाभाविक था कि राजकमल को वह बहुत पसंद करते थे। उनके लेखन के लिए उनमें बहुत सम्मान था। हमें यह

बात मालूम थी कि राजकमल के प्रति जैसा तीव्र अस्वीकार भाव उन दिनों के प्रतिष्ठितों में था, कृष्णकांत बाबू नहीं होते और 'वैदेही' नहीं होती तो आगे कुछ होना मुश्किल था। अगस्त 2000 में उनका देहांत हुआ और आखिरी दिन तक वह 'वैदेही' का काम करते रहे।

यह जगजाहिर बात थी कि राजकमल की रचनाओं के प्रति उन्हें अनुराग था। राजकमल का उपन्यास दरभंगा के किसी प्रेस से छपा, उसकी बाइंडिंग भी हो गई, इसके बाद जाकर हादसा हुआ—और कृष्णकांत बाबू उस वक्त दरभंगा में थे और मैथिली की तमाम गतिविधियों में सक्रिय थे—तो, यह संभावना की ही जा सकती थी कि उसकी अगर तीसरी चौथी जैसी कोई प्रति और भी निकली हो, तो उनमें से कोई उनके पास हो सकती है।

कृष्णकांत बाबू मुझे बहुत मानते थे। 'वैदेही' में मैं नियमित रूप से लिखता था। किसी विचारोत्तेजक विषय पर उन्हें कुछ छापना होता तो वह पत्र लिखकर अनुरोध करते थे।

'वैदेही' का कार्यालय एक जमाने से ही अत्यंत सुव्यवस्थित था। वहां छपी किताबों के संग्रहण के लिए गोदाम तो था ही, पांडुलिपियों का एक संग्रहालय भी था और पुस्तकालय भी। इधर इन सबके रखरखाव में थोड़ी शिथिलता दिखती थी, मगर पहले से जारी व्यवस्था का अनुसरण कायम था। हमने अपना दुखड़ा उनके सामने रोया। उन्होंने उत्साह से सुना और बताया कि हां, वह किताब तो होनी चाहिए! किताब उनकी पढ़ी हुई थी। पुस्तकालय की पंजी निकाली गई। पंजी में 29 नंबर क्रमांक पर 'पाथर फूल' दर्ज था। उस क्षण हमें कितनी खुशी हुई होगी, आप समझ सकते हैं। उनके कार्यालय में तीन स्टाफ काम करते थे। तीनों से हमारा परिचय और मित्र भाव था। उन्होंने भरत चौधरी को किताब निकालने के लिए कहा। हम भी भरत जी के साथ लग गए। अलमारी खुली और पाया गया कि वह किताब अपनी जगह पर नहीं है। अगले ही पल हमारे सामने फिर से अंधेरा था। हमने आसपास की लाइनें भी देखीं। पूरी अलमारी देख गया। दूसरी भी। लेकिन वह किताब कहीं नहीं थी। हम हताश हो गए।

कृष्णकांत बाबू बोले—देखिए, यह बहुत दिन पहले की बात है। यहां से किताब कोई ले गया होगा, इसकी उम्मीद तो हम नहीं करते हैं। लेकिन हो सकता है, कभी किताब निकाली गई हो और जगह पर नहीं पहुंची हो, बाद में बंडल में बंध गया हो। ऐसा अगर हुआ होगा तो किताब ऊपर छज्जे पर होगी।

वैदेही कार्यालय के कमरों में लिंटल लेवल पर अंदर की ओर छज्जे निकाले गए थे, और उन पर छत की ऊंचाई तक किताबों के, पत्रिकाओं के ढेर सारे पुराने बंडल बेतरतीब रखे हुए थे। जाला और धूल को देखकर लगता था जैसे बरसों से उन्हें किसी ने छुआ नहीं है। हम उनका मुंह ताकने लगे। वह बोले—आप उत्साही व्यक्ति हैं। हम आपकी मदद जरूर करेंगे। लेकिन वह मिल जाए तभी न!

हम झटके से आगे बढ़ गए। कहा—अभी हमें काफी समय दरभंगा रहना है। यदि आपकी आज्ञा हो तो हम दो तीन युवक सफाई अभियान चलाते हैं। सब सुव्यवस्थित कर देंगे। वह मिल गई तो बहुत उत्तम होगा। आपने कहा था कि 'वैदेही' की सभी पुरानी फाइलें आप मुझे देंगे, वह भी दे दीजिएगा।

दरभंगा रहने का हमारा कोई पूर्व निर्धारित कार्यक्रम हो, ऐसा नहीं था। लेकिन मरता क्या न करता! कृष्णकांत बाबू मान गए और उसी दिन हमने अपने सफाई अभियान का श्रीगणेश कर दिया।

अभियान पूरा करने में पांच दिन लगे थे, जबकि तीसरे ही दिन हमें 'पाथर फूल' की प्रति मिल गई थी। लेकिन वह क्षतिग्रस्त प्रति थी। कहते हैं कि 'आशा हि दुराशया'। उम्मीद यह जगी कि तीसरी प्रति यदि हो सकती है तो कौन जाने, चौथी प्रति भी हो सकती है!

झोल और जाले को पहले तो हमने झाड़ू में डंडा बांधकर साफ किया था। फिर ऊपर चढ़े थे। हाथ में एक कपड़ा था, जिससे बंडल को झाड़ते। जगह खाली कर उस पर झाड़ू चला देते। फिर बंडल को खोलकर देखते कि उसमें क्या क्या है। पुस्तकालय की जो किताबें थीं, उस पर नंबर चढ़े हुए

थे। उन्हें नीचे करते। 'वैदेही' के पुराने अंकों की सालाना फाइलें बनी हुई थीं। उन्हें साथ बांधकर बंडल बना देते।

कि इसी बीच 'पाथर फूल' मिला था। भूरे रंग के कार्डबोर्ड की जिल्द चढ़ी थी। इसे मजबूरी में लगाया गया था। उस पर काले अक्षरों में हाथ से लिखा गया था—पाथर फूल, लेखक श्री राजकमल चौधरी। किताब का नंबर लाल इंक से लिखा हुआ था। कवर उलटाने पर सीधे किताब का पहला अध्याय शुरू हो जाता था—पाथर। किताब 110 पृष्ठों की थी। किताब की हालत बुरी थी। आरंभ से इसके 57 पृष्ठ का नीचे से लगभग एक चौथाई भाग कीड़ा खा गया था। शुरू के पन्ने तो इस तरह क्षतिग्रस्त थे कि पिछले पेज से अगले पेज की कहानी में तारतम्य बैठाना कठिन हो जाता था, लेकिन 15-20 पन्ने के बाद हालत कुछ सुधरी थी। 58वें पेज से आगे के पन्ने सुरक्षित थे।

यह चीज जब मेरे हाथ लगी, मैं बुरी तरह कांप रहा था। इतने दिन भटकते भटकते इस किताब की कीमत मैं समझ गया था। भीतर निर्णय विचार यह चल रहा था कि किसी भी हाल में अब इस किताब को हाथ से निकलने नहीं देना है। हम सुधीर बाबू को देख चुके थे। दीपक जी को देख चुके थे। कृष्णकांत बाबू इन दोनों से अलग थे, लेकिन मन नहीं मानता था। कुछ भी ऐसा वैसा हो जाए और यह हाथ से निकल जाए! हम रिस्क नहीं लेना चाहते थे। मैंने चुपचाप अकेले मोर्चा संभाला। अपने साथी तक को भान नहीं होने दिया कि किताब मिल गई है। उसे हमने शर्ट के नीचे छिपा लिया। किसी बहाने से नीचे उतरे। और कुछ कारण बताते हुए, 'हांजी हांजी' करते हुए बाहर निकल लिए।

दरभंगा में तब तक फोटोस्टेट मशीन आ गई थी। सबसे पहले तो हम वहीं पहुंचे और फोटोस्टेट, बाइडिंग कराने के बाद ही निश्चिंत हुए।

उस रात ही जो मैंने वह किताब पढ़नी शुरू की थी—अद्‌भुत रोमांचक अनुभव था वह! लेकिन, डेढ़ दो घंटे में जब वह किताब पूरी हुई सारा रोमांच विलीन हो गया था। राजकमल ने अपनी उस किताब में मुझे निराश किया था। इसके बाद तो मेरी मनोदशा ही बदल गई थी। उस समूची रात मैं सो नहीं पाया। चौबीस पच्चीस साल का एक युवा एक सीनियर जीनियस के बारे में निर्णय कर रहा था कि जरूर उसने स्वयं ही कुछ चक्र रचकर इस किताब को जलवा दिया होगा।

अगले दिन फिर से नियत समय पर सफाई अभियान शुरू हुआ। उस दिन इसकी घोषणा कर दी गई कि 'पाथर फूल' मिल गया। किताब कृष्णकांत बाबू के हाथ में थी। वह दुखी भी थे कि इसे कीड़े ने चाट खाया है। लेकिन उनकी आंखों में ममता थी। अपने हाथों उन्होंने साफ सुथरी किताब को एक बार फिर से 'झाड़ झूड़' किया, और मेरे हाथ में दे दी—लीजिए, इस किताब का अब आपको जो करना है, कीजिए!

उस किताब को प्रकाश में लाने के सिवाय अब मैं कर भी क्या सकता था!

याद आता है, अभी दो चार साल पहले, एक दिन कभी दिल्ली में, राजकमल प्रकाशन के कार्यालय में यह समूची कहानी अविनाश ने अशोक माहेश्वरी को सुनाई थी। प्रसंग आ गया था इस कारण कि रचनावली प्रकाशन के क्रम में इस किताब का हिंदी अनुवाद अशोक जी के टेबुल पर था। तो, अशोक जी ने मुझे फोन किया था, कहा था कि यह समूची कहानी यदि आप लिख दें और वह इसकी भूमिका के रूप में छप जाए तो कितना अच्छा हो!

मैं मुस्कुराकर रह गया था!

...तो, मैं बता रहा था कि उस दिन केदार और सुभाष भाई आए थे। बरसों बरस के बाद हम राजकमल का घर देखने गए थे। घर देखकर हमारी आंखें भर आई थीं। वापस आकर हम 'बदरिकाश्रम' में

बैठ गए थे और हजार तरह की चिंताओं में मुखर हो गए थे। केंद्र में राजकमल थे।

केदार को 'फूलबाबू का बंगला' बेहद याद आ रहा था। उसका इस तरह नहीं होना उन्हें सदमे में डाल गया था। वह नहीं रहा तो उसके बदले में कुछ और होता! जैसे कोई स्मारक। वह नहीं तो कोई घर ही, जो उनका होता। कुछ भी नहीं होना यानी कि जंगल झाड़ फूस होना वाकई दुखी करता था। एक बार का जयंती समारोह हमने उसी बंगले पर मनाया था। वह केदार को याद था। देर तक हम उस बारे में चर्चा करते रहे। उन्होंने पूछा–उस बंगले का कोई फोटो है? फोटो था। मैंने उन्हें दिखाया। उन्हें याद आया कि उस बंगले पर एक सरकारी साइनबोर्ड लगा रहता था, जिस पर लिखा था–पशुपालन विभाग, कृत्रिम प्रजनन केंद्र। मैंने उन्हें बताया कि उस बंगले के बारे में बनगांव के एक कवि रमेश चंद्र खां 'किशोर' ने एक कविता भी लिखी थी–राजकमल के देहांत के एक दो बरस बाद। केदार को कविता मालूम थी, फिर भी उसका एक बार फिर पाठ किया गया–

'पत्थर पर दूब/ कठिन है अथवा/ असंभव, यह तो माटी का संयोग/ या फिर तृप्ति का आकर्षण/ या फिर वासना का योग!

भखड़ी हुई चिकनी माटी पर/ सुस्पष्ट है तुलसी के सिर पान की जड़/ जैसे आपरेशन टेबुल पर चिथड़े चिथड़े हुआ उसका शरीर...

सचमुच, इसीलिए तो भूल गई/ वह बेशरम उग्रतारा/ उस भंगीबे को/ निर्लज्जी को आज भी लाज नहीं/ कि खड़ी है अब तक/ कचहरी में पुरुषों के बीच/ डाइवोर्स के कठघरे में...

इसीलिए तो/ महिषी का काटेज नुमा घर/ माहिष्मती का दरिद्र 'राज मंदिर'/ स्वार्थ की आंधी में/ ढह गया/ बन गया भैंसों बैलों का बथान/ टंग गया प्लेट मवेशी अस्पताल का/ जिसमें कोष्ठित हुआ–कृत्रिम प्रजनन केंद्र/ नन्हें नन्हें अक्षरों में...

'कृत्रिम' और 'स्वतः' के मध्य की यह रेखा/ दरअसल विरोध की रेखा/ बहुत गहरी हो गई है अब/ जैसे कि फूलबाबू की यही हो वसीयत/ और जिसका साक्षी हो महिषी गांव/ और यहांवाली उग्रतारा...

वह तो भूल ही गई बेटखौकी/ निस्पृह हुई डायन/ तभी तो उसी के लिए खिला गुलाब/ उसी के निमित्त अर्पित गेंदा/ बन गया पीला कपीस/ उजला सफेद/ जैसे मरीज श्वेत कुष्ठ का/ कि जैसे गोबर के ढेर पर/ भादो की बदली में जनमा कोई कुकुरमुत्ता...'

कविता ने हमें और भी उदास कर दिया।

–जानते हो केदार, वह जमीन जिस पर उन्होंने बंगला बनवाया, उन्हें आराम से मिल गया हो, ऐसा भी नहीं था। वह जब 1966 में गांव आए तो इसी जमीन को उन्होंने घर बनाने के लिए पसंद किया। पुराने खतियान में वह उनके पुरखों की थी भी। लेकिन नया सर्वे चालू था। और यह जमीन दबंगों के कब्जे में थी। दबंग भी उन्हीं के गोतिया थे। स्थानीय प्रशासन और राजनीति पर दबंगों की पक्की पकड़ थी। मधुसूदन बाबू से तो यह सात जनम में नहीं होनेवाला था। राजकमल ने इसे लड़कर हासिल किया था। यानी कि देह के स्तर पर लड़कर...

–लेकिन आज यह जमीन नीलू के कब्जे से कैसे निकल गई?

–नहीं। निकली नहीं। निकाल दी गई। दरअसल यह प्लॉट राजकमल तीनों भाइयों के ही हिस्से में आया था। लेकिन केदार, शरम की बात है लेकिन सच है कि उस स्थल को बुधवारय परिवार घोर अशुभ मानता था। पंडितों के विधान के मुताबिक उस पर शौच कर्म के अतिरिक्त कुछ भी नहीं किया जा सकता था। सभी तो चाहते थे कि वह नीलू ही ले, लेकिन शशिकांता जी अड़ गईं। उन्होंने यहां तक कह दिया कि नीलू को हिस्सा न दें सो ठीक, लेकिन वह जमीन नहीं चाहिए! तुमने

देखा न, नीलू के चचेरे भाई को वह जमीन मिली है, लेकिन उस जगह उसने घर नहीं बनाया, हटकर बनाया। वहां जंगल है...

—ओह! वहां कोई स्मारक होता!

—हम तो बीस बरस से यह चाहत लेकर बूढ़े हो रहे हैं केदार! जानते हो, 1978 में हरिमोहन बाबू (प्रख्यात लेखक) हमारे गांव आए थे। उग्रतारा के दर्शन के बाद खासतौर पर वह उस बंगला को देखने पहुंचे थे, और उस क्षण की अनुभूति को उन्होंने एक मार्मिक कविता में उतारा था—*मन में आया—रहता यदि यहां उनका कोई स्मारक / छोटी सी भी कोई प्रस्तर मूर्ति / फूल मैं चढ़ाता उनके सम्मान में/ लेकिन वहां कीचड़ मात्र कीचड़ था ठेहुने भर तक / कमल जा चुका था, कीचड़ ही कीचड़ था अब शेष। ऐसी ठेस लगी हृदय में कि जैसे/ वहां बहुमूल्य अपना कुछ खो आया हूं...*

—ओह!

—बहुत बोझ महसूस करते हैं यार! लेकिन उससे क्या होगा? वे तैयार हों तभी तो!

फिर हम बात करने लगे कि राजकमल का परिवार उस घर, उस जगह को अशुभ क्यों मानता था। उसमें रहते हुए राजकमल मरे, केवल इतनी सी बात नहीं थी। रेणुजी के धरमपुर इलाके से माहिर कलाकारों को बुलवाकर राजकमल ने फूस के बने उस बंगले का सुरुचिपूर्ण निर्माण कराया था। इसका उपयोग वह अपने ऑफिस के रूप में करते थे, जिसमें शयनकक्ष और अतिथिकक्ष भी अलग अलग थे। शशिकांता जी पुराने आंगन में रहती थीं, जिसे हम 'फूलबाबू का आंगन' कहते थे, और वह मधुसूदन बाबू के आंगन से लगा हुआ था। केवल खाना खाने के लिए राजकमल आंगन जाते थे। बाकी सारा समय यहीं बिताते थे। उस जमाने के पारिवारिक बच्चों से पूछो तो वे यही बताते हैं कि जब भी कभी चाय पहुंचाने या किसी दूसरी बात के लिए वे वहां जाते तो उन्हें हमेशा लिखते हुए ही पाते थे। लेकिन, यह सच का केवल एक पहलू था। दूसरा यह था कि पड़ोस की एक विधवा युवती लगभग हमेशा उनके आस पास पाई जाती थी। गांव में फूलबाबू का रुतबा लगभग वैसा ही था, जैसा 'पाथर फूल' के फूलबाबू का हम देखते हैं। यानी कि कोई भी विरोध उन्हें मंजूर नहीं था। उस विधवा के बारे में समूचा गांव 'जानता' था कि बड़े बड़े अघोरियों से उसकी सांठ गांठ है और यह कि वह 'हक्कल डायन' (विनाशक तांत्रिक अभिचारों में निष्णात) है। यह प्रसिद्धि थी कि राजकमल उस स्त्री का केवल दैहिक भोग ही नहीं करते बल्कि उससे 'डायन' सीख रहे थे। प्रख्यात लेखक सोमदेव, जो तंत्र विद्या के भी पारंगत हैं और राजकमल के मित्र भी रहे हैं, ने बताया था कि हां, राजकमल की मौत साधारण मृत्यु नहीं थी, तांत्रिक अभिचार में ही उनकी जान गई थी। उनका कथन था कि उच्चाटन प्रक्रिया सीखते हुए उनका संतुलन बिगड़ा और उन्हें जान गवांनी पड़ी थी। दूसरी ओर, यह भी कहा जाता था कि उस स्त्री की नकेल उन दबंगों के हाथ में थी, जिनसे लड़कर राजकमल ने वह जमीन हासिल की थी। विश्वास किया जाता था कि उस समूची जमीन को इस तरह 'बांध' दिया गया है कि उस पर बसकर सुखी जीवन बिताना असंभव है। शशिकांता जी का इस बात पर अटल विश्वास था। और, उस बंगले में एक और बात यह थी कि इलाके भर के मुफ्तखोर नशेड़ी दिन दिन भर वहां बैठकर फूलबाबू का दरबार करते, उनकी चिलम भरते रहते थे, या फिर मांस मछली भांग दारू का इंतजाम करते थे। और इन सबके बीच, राजकमल जीवन में आखिरी बार प्रेम की तलाश में थे। वह अलकनंदा दासगुप्त थीं, जो बनारस में रहती थीं। हर दिन उन्हें पत्र लिखते। उनके लिए कविताएं लिखते। इन दिनों तो वह गजलें और शेरो शायरी लिखने लगे थे, जो शायद जरा भी जमती नहीं थी। लेकिन वह हमारे आपके लिए शायद थी भी नहीं। वह जिसके लिए थी, उस पर जमती हो! मृत्यु से सिर्फ 126 दिन पहले, 12 फरवरी 1967 को इसी बंगला में बैठकर राजकमल ने अपने मित्र शंभुनाथ मिश्र को लिखा था—'अलका को बीवी बनाकर रख लेना

होगा, चाहे धर्म से, या कानून से, सहमति लेकर नहीं, सिर्फ उसे हमेशा के लिए साथ रख लिया जाए, मगर मुझे तो गांव में ही रहना होगा—और, गांव की अपनी सीमाएं होती हैं। क्या वह एक किसान लेखक की बीवी या प्रेमिका या रखैल बनकर स्थायी रूप से रह सकेगी? वह कहती है, मगर, मुझे यकीन नहीं होता है।'

वह बंगला अब नहीं बचा था। लेकिन, उधर 'फूलबाबू का आंगन' भी नहीं बचा था—वह आंगन जहां हम अतिथियों के लिए भोजन बनवाते थे। पर, वह नीलू के दखल में था। चारों ओर से घेरकर नीलू ने लोहे का ग्रिल लगवा दिया था, जिस पर लिखा था—राजकमल निवास। ग्रिल की छेद से झांककर देखो अंदर जंगल झाड़ उगा दिखता था।

और मधुसूदन बाबू का वह मकान—जिसमें 1934 का भूकंप आया, और जिसमें बंगालन संन्यासिन आई, और जिसके कोठे पर प्रवेश की अनुमति मधुसूदन चौधरी और त्रिवेणी देवी को छोड़कर किसी को भी नहीं थी, और जहां राजकमल ने अपनी अनंत यात्रा का पहला कदम उठाया, और जहां नागार्जुन किसुन जैसे कितने ही दिग्गजों की 'पानी पीढ़ी' लगी थी, और जिसके बरामदे पर बैठाकर हम अपने अतिथियों को भोजन कराते थे—वह जर्जर हवेली, सुनसान वीराने में चीत्कार कर रही थी। टूटा ही सही, लेकिन किवाड़ अब तक मौजूद था। दीवारें ढह रही थीं। ऊपर चढ़ने की सीढ़ियां ध्वस्त हो चुकी थीं। नीचे आंगन में विशाल 'झाड़ झंखाड़' उग आए थे। वहां अब कोई आदमी नहीं रहता था। वहां रहने वाले अंतिम आदमी सरोज बाबू थे। उनकी मृतात्मा के प्रति हमने कृतज्ञता ज्ञापित की कि जब तक वह जीवित रहे, इस घर को घर की गरिमा मिलती रही।

केदार बोलेलेकिन मित्र, उस आंगन में जाकर तो तुम बिल्कुल से बेचैन आत्मा दिख रहे थे! कुछ ज्यादा ही विचलित नहीं थे?

मैं झेंप गया। अब मैं केदार को कैसे समझाता कि उस वक्त मेरे साथ क्या हुआ था! हुआ यह था कि दो वीर बांकुरे मेरी आंखों में आकर खड़े हो गए थे। वे दोनों लालकाका और फूलबाबू थे। और, मैं एक ही साथ दोनों की 'उचिती' कर रहा था—आप दोनों ही गलती पर थे महाराज! दोनों ही कुपंथ चढ़े थे! बाप बेटे भी कहीं इस तरह लड़ते हैं! ज्ञानी बाप बेटे!

दो संसारों में फंसे लोग

अर्चना वर्मा

''**पैदा** होने से मरने तक यही तो करना होता है इस महान देश में—सिद्ध करो कि तुम अच्छे बेटे हो। अच्छे भाई। अच्छे विद्यार्थी। अच्छे पति। अच्छे पिता। अच्छे बिजनेसमैन—वगैरह वगैरह। क्या मजाल कि कोई एक मिनट भी अच्छा या बुरा न बन कर सांस ले ले।''

''यह देश दलालों का देश है। यहां फलने फूलने के लिए किसी न किसी तरह का दलाल बनना पड़ता है।''

अलका सरावगी के उपन्यास **'जानकीदास तेजपाल मैंशन'** में उपरोक्त कथन जयदीप के हैं। या शायद जयगोविंद के। दोनों एक ही चेहरे के दो नाम हैं। जयगोविंद वास्तविक व्यक्ति है और जयदीप उसके आत्मकथात्मक उपन्यास का नायक। दूसरे अध्याय में उद्घाटन होता है कि पिछला अध्याय दरअसल उस आत्मकथात्मक उपन्यास का पहला अध्याय था जिसे अभी अभी स्वयं उसके लेखक जयगोविंद ने पढ़ कर खत्म किया है। उपन्यास और उसके नायक का नाम जयदीप है, जिसे लेखक ने अपनी दिवंगत पत्नी दीपा और खुद अपने नाम जयगोविंद के जोड़ से गढ़ा है। उसकी जिंदगी में दीपा की जगह बताने के लिए यह जानकारी बहुत जरूरी है अन्यथा उपन्यास में दीपा बहुत जगह नहीं घेरती। जगह तो वस्तुतः न जयगोविंद, न जयदीप, न कोई और चरित्र ही घेरता है क्योंकि उपन्यास परिप्रेक्ष्यों की तुलनाओं से रचित एक जरूरी उपन्यास है, चरित्रों, घटनाओं, अनुभवों जैसी तफसीलों से नहीं जबकि यही सोचने के आदी हम रहते आए हैं कि कथा तफसीलों में जीवंत होती है।

यह उपन्यास जयदीप या जयगोविंद को केंद्र में रखते हुए भारत की आजादी के ऐन आस पास पैदा हुई पीढ़ी के लोगों की कहानी कहता है। लेखिका एक जगह इस पीढ़ी को उसके अन्यत्र मशहूर किए गए नाम से याद करती है—'मिड्नाइट्स चिल्ड्रेन'। दो संसारों के बीच फंसे लोग जो ये सोचते

हुए बड़े हुए कि वे देश का भविष्य हैं लेकिन उस भविष्य के वर्तमान होने तक उन्हें पता चला कि पूरी अर्थव्यवस्था को निर्माण तंत्र की जगह दलाल तंत्र में विकसित कर दिया गया है।

जयदीप की सोच समझ और कभी अधैर्य तो कभी हताशा को व्यक्त करते हुए 'इस देश', 'यह देश' के नाम पर ऐसे बहुत से निष्कर्ष अनियिमित अंतरालों पर टेक की तरह, बार बार आते हैं, जैसे 'इस देश में कोई भी बड़े से बड़ा चोर लुटेरा डाकू खूनी नहीं है जो आदर्शों की बात न करता हो : जो गांधी सरदार पटेल या नेहरू का नाम न लेता हो' या 'दुनिया कहां आगे जा रही है यह इस देश में किसी को जानना ही नहीं है,' या 'मुनाफे का कोई मौका छूटना नहीं चाहिए यही मानो मूल मंत्र है इस देश का'।

उपरोक्त निष्कर्षों का संदर्भ बिंदु अमरीका है जहां से जयगोविंद सिस्टम इंजीनियर में मास्टर्स करने के बाद खुद को अच्छा बेटा सिद्ध करते हुए माता पिता की इच्छानुसार लौट आया है। उसको यह भी सिद्ध करना है कि लौट कर उसने सही किया।

अमरीका मानो कर्म संस्कृति, कार्यपद्धतियों की नियमावलियों, जनतांत्रिक प्रणालियों और कायदे कानूनों की कारगर कार्यान्विति का निकष है। लेकिन तब की पीढ़ी के अमरीका जाने वालों के लिए यह अपनी जगह जमीन से उखड़ जाने, अपनी जड़ें खो देने का पर्याय भी है। उसके लिए दो संसारों के बीच फंसे होने का अर्थ केवल अतीत और वर्तमान के संदर्भ से ऐतिहासिक ही नहीं बल्कि भारत और अमरीका व यूरोप के संदर्भ से भौगोलिक भी है। भावी विकास के मॉडल के तौर पर जहां भविष्य का नक्शा देखा जा रहा है और इस तरह भूगोल को भावी इतिहास बनाया जा रहा है। इस तरह अब उनके लिए दो तरह की नियतियों के बीच विकल्प संभावित हैं—फंसे रहें, या उखड़ जाएं। अपने मोह, अपने मूल्य, अपनी निष्ठा, अपने संकल्प लिए वे खाली हाथ ठगे रह गए हैं।

दूसरे अध्याय में हम देखते हैं कि जयगोविंद के जीवन में अब 'जाल समेटा' का क्षण आ पहुंचा है जब हमेशा के लिए बेटे के पास मुंबई जा रहने के लिए घर का सामान समेटते बांधते उसे कागजों के कार्टन में पहले कभी, पत्नी के देहावसान के बाद की बिखरी हुई मनःस्थिति में लिखे गए अपने आत्मकथात्मक उपन्यास का पहला ड्राफ्ट मिल गया है और वह उसे पढ़ने में मशगूल हो गया है। अपने हाथों लिखा गया अपना जीवन एक टेक्स्ट में बदल गया है—तब के जयदीप से लेकर अबके जयगोविंद तक की यात्रा में वह अपने से अलग अपने आपको देखता है। कभी कहीं स्वयं विस्मित भाव से टिप्पणी करता है—"आदमी जब कोई कथा कहता है, तो क्या वह एक ऐसे प्रवाह में अपने को डाल देता है जिसका उसे खुद पता नहीं होता?" और अपने विस्मय की व्याख्या में बताता है कि असलियत और उपन्यास में कहां क्या दूरी है, लेकिन जयदीप के जीवन की उठापटक, आपाधापी और उतार चढ़ाव के लिए जयगोविंद की यह 'जाल समेटा' की मनःस्थिति एक परिप्रेक्ष्य, एक निकष भी देती है। ज्यादातर वह अपनी जिंदगी के उन हिस्सों को याद करता है जो उपन्यास में आने से रह गए हैं। जबकि जीवन हमेशा हर संरचना को चुनौती देता उसके इर्द गिर्द या उसके बिल्कुल बाहर रह जाता है। इस दृष्टि से कथा के भीतर कथा की यह औपन्यासिक संरचना संक्षेपण और संघनन की एक अचूक युक्ति साबित होती है।

उपन्यास में जगह जगह पर वस्तुस्थिति में जयदीप का भावात्मक निवेश और दूरंदेशी मूल्यात्मक टिप्पणियां इसके कथ्य को एक ओर सरसरे निरीक्षण की अखबारी परिणति में विघटित होकर रह जाने से बचाती हैं और दूसरी ओर अति ज्ञात और परिचित कथ्य के निरर्थ, निर्जीव तफसीलों में स्फीत हो जाने से भी। परिप्रेक्ष्यों को नुकीला बनाने का यह एक कारगर उपाय बन पड़ा है।

कलकत्ता के भूमिगत मेट्रो के निर्माण के सिलसिले में होने वाली खुदाई ने जानकीदास तेजपाल मैंशन और आस पास की अन्य इमारतों की नींव को हिला दिया है। एक समूची पद्धति, अर्थव्यवस्था

और मूल्य संसार के ढहने और उसको अपदस्थ करती हुई दूसरी व्यवस्था के उभरने की कथा के लिए जानकीदास तेजपाल मैंशन अपने पिछले इतिहास की स्मृतियों, साझा जीवन पद्धति के मूल्यों और ढहाए जाने को तैयार झुकी हुई दीवारों और हिलते हुए खंभों के साथ एक बहुत सटीक रूपक की तरह उभरता है।

उपन्यास के भीतर के उपन्यास की संरचना की केंद्रीय वस्तु जानकी दास तेजपाल मैंशन को ढहाने के सरकारी निर्णय और उसके बाशिंदों की इस मांग की टकराहट से जुड़ी है कि उन्हें मुआवजा नहीं, बल्कि वहां की नई इमारत में अपनी छोड़ी गई जगह के बराबर की जगह चाहिए। जयदीप मेट्रो पीड़ित बंधु ऐसोसिएशन का प्रेजिडेण्ट है। बल्कि यह मोर्चा है ही उसी का खड़ा किया हुआ। जानकीदास तेजपाल मैंशन उसका कम्फर्ट जोन है। उसके लिए वह केवल इमारत नहीं, अपना, अपने परिवार, अपने समाज, अपने शहर का इतिहास भी है और एक मूल्यसंसार भी।

एडवोकेट बाबू के नाम से मशहूर उसके पिता ने प्रथम विश्वयुद्ध के बाद कुल जमा बीस साल की उम्र में बड़ा बाजार और सूतापट्टी की तंग गलियों में बसे हुए राजस्थान के धनी मारवाड़ी व्यापारियों की मदद की थी कि कलकत्ता इंप्रूवमेण्ट ट्रस्ट ने चौरंगी को उत्तर कलकत्ता से जोड़ने के लिए बड़ा रास्ता निकाल कर दोनों तरफ जो प्लॉट काटे थे उनकी बोली लगाएं। कलकत्ता में कभी बंगाली कारोबारियों की तूती बोलती रही होगी, लेकिन अब उनके नाम पर सिर्फ सड़कें और महल बचे हैं। राजस्थान से आए मारवाड़ियों को उनकी जगह लिए तकरीबन सौ साल हो गए। वही जयदीप का अपना समाज है और मारवाड़ी होने के नाते बंगालियों का सांस्कृतिक अहंकार उसमें थोड़ा हीनता का भाव जगाता है, वैसे ही जैसे बाद में अमरीका में अपना ब्राउन होना।

जानकीदास मैंशन के मालिक जानकीदास के विश्वासपात्र एडवोकेट बाबू ने तब इस दो चौक वाली इमारत में अपने परिवार के लिए आधे तल्ले का निवास खरीदा था और पूरा तल्ला खरीद लेने के सेठ जानकी दास के सुझाव के जवाब में कहा था ''अगर आदमी को ईमान से पेट भरना हो तो उतने ही पांव फैलाने चाहिए, जितनी उसकी चादर हो।''

जयदीप ने अपनी मां से गर्व और अभिमान के साथ एडवोकेट बाबू की ईमानदारी की कहानियां सुनी हैं, संस्कार में वही मूल्य पाए हैं, ईमान की कमाई खाने वाले नौकरीपेशा पिता की गैरमामूली हिम्मत और संकल्प के परिणामस्वरूप कम्प्यूटर इंजीनियरिंग में मास्टर्स की पढ़ाई के लिए अमरीका भेजा गया है और गहन कृतज्ञता के साथ उत्तराधिकार में उनके नाम के साथ जुड़ा सम्मान भी पाया है। यह उसकी मानसिक बनावट की बुनियादी जमीन है।

प्रथम अध्याय में वही जानकीदास तेजपाल मैंशन पिछले पंद्रह सालों से क्रमशः ढहाया जाते जाते अब अपने आखिरी मुकाम पर आ गया है। बाकी बाशिंदे थक कर, अपना अपना मुआवजा लेकर या डराए धमकाए जाकर छोड़ गए हैं लेकिन जयदीप अपनी पत्नी दीपा के साथ छिपी हुई धमकियों, संभावित खतरों और अनुभूत भय के बावजूद अब तक डटा हुआ है।

यहां तक आते आते उसने बहुत कुछ सीख लिया है। उसने जो सिद्ध करना तय किया था वह उसके पाए हुए मूल्य और संस्कार थे, उसके रगो रेशे में इस तरह पैवस्त कि उनसे छुटकारा पाया नहीं जा सकता, बल्कि ऐसी कोई भी कोशिश उसे या तो अपराध भाव से भरती थी या फिर सिर्फ बेहद मजबूरी में, अपने आप से भी छिपाकर ही की जा सकती थी। अब उसकी सोच उसे बताती है कि 'काश एडवोकेट बाबू ने अपने रसूख और जान पहचान का इस्तेमाल कॉर्पोरेशन में काउंसिलर या असेंबली में एम एल ए बनने के लिए किया होता तो परिवार की हालत आज कुछ और ही होती, पर एडवोकेट बाबू तो अपनी ईमानदारी और अपनी नाक ऊंची रखने में ही रह गए, जमाना जाने कहां निकल गया।' अब उसे मालूम है कि वह क्या चाहता है और क्यों चाहता है।

उसे यह भी मालूम है कि अपनी मंजिल हासिल करने के लिए उसे पुराने संदर्भों की कोई जरूरत नहीं है—पुरानी बातें, पुराने मूल्य, पुरानी पीढ़ी और उनका इतिहास—ये सब चीजें उसके किसी काम की नहीं हैं। अमेरिका ने उसका परिप्रेक्ष्य बदल दिया है। देश के बारे में उसके निष्कर्षों में एक यह भी है कि 'अमेरिका ने उससे उसका देश छीन लिया है।'

वस्तुस्थिति में जयदीप के भावात्मक निवेश के समतोल की तरह यह 'मैटर ऑफ फैक्ट' टिप्पणी आती है जो बताती है कि उन जैसों का अमरीका जाना एक बड़ी योजना का हिस्सा था। अमेरिका ने आजादी के दस साल बाद पीएल 480 का गेंहू भारत को रुपयों के बदले में दिया और उन रुपयों को वापस कृषि विश्वविद्यालय बनाने के लिए भारत में नियोजित कर दिया, इस तरह अमेरिका भारत में खाद बीज आदि उत्पादों के लिए अपना बाजार बनाने की शुरुआत कर रहा था। डॉक्टरी इंजीनियरिंग पढ़ने के लिए जाने वाले छात्र सब उसी योजना के हिस्से हैं। 'तुम जाने अनजाने अमेरिकी चीजों और जीने के तरीकों को चाहने लगते हो। एक दिन तुम्हारी सब बातें, तुम्हारे शब्द, तुम्हारी भाषा, तुम्हारे तीज त्यौहार तुम्हारे घर की सब चीजें अमेरिका की होंगी।'

निजी निर्णय और व्यक्तिगत जोखिम के तहत अमरीका जाने वाली तब की पीढ़ी के लिए ऐसा कोई निष्कर्ष दूर की कौड़ी, कुछ कुछ हास्यास्पद सा भी, प्रतीत हुआ हो सकता है लेकिन उपन्यास के उत्तरार्ध और बीसवी सदी के मध्यांतर के बाद उभरने वाली जयगोविंद के पुत्रों की अब की पीढ़ी के काल में 'मार्केटिंग कौशल' की दूरंदेशी दूरगामी नीतियों और विज्ञापनों की पहुंच और पकड़ को देखते हुए वह क्षण मात्र को भी चकित नहीं करता।

लेकिन कहानी सिर्फ जयदीप और जानकीदास मैंशन को खाली न करने की उसकी जिद, उसे एक सामूहिक प्रयत्न में बदलने के लिए बाकी बाशिंदों को भी वहीं रुके रहने के लिए संगठित करने के तकरीबन पंद्रह बरस के अंततः असफल संघर्ष की नहीं, उसको गढ़ने वाले जयगोविंद की भी उतनी ही है जिसकी जिंदगी का बहुत सारा हिस्सा जयदीप वाले उपन्यास की संरचना के बाहर रह जाता है। उस उपन्यास को पढ़ते पढ़ते जयगोविंद इस बाकी बचे को जीवन की तरह बेतरतीब ही रखते हुए उसके बिखराव समेत शामिल करके किताब के फलक को और भी बड़ा विस्तार देता है—कभी पूरक प्रतिक्रिया की तरह कभी अपने 'जाल समेटा' वाले तात्कालिक वर्तमान के स्मृतिदंशित अकेलेपन की अभिव्यक्ति की तरह और कभी तब के सचमुच जिए गए जीवन के शेष अनुभवों के मूल्यांकन के साथ कुल पौने दो सौ पृष्ठों में दुनिया भर में बीसवी सदी के मध्यांतर से गुजरती हुई दुनिया की अगली सदी में प्रवेश तक की कहानी दर्ज होती है। जयदीप की कहानी में लाइसेंस, कोटा, परमिट वाले भारत में हर नवोन्मेष, हर आविष्कार, हर निष्णात कौशल को कुचल देने वाली संकीर्ण स्वार्थी, स्वयंपोषी कुटिलता की हद तक पहुंची हुई चतुराई है जो अंततः उसको पैरों के नीचे खड़े रहने भर की जमीन देने के लिए भी उसकी धातु को पिघलाकर अपने सांचे में ढाले बिना नहीं छोड़ती।

जयदीप जैसा व्यक्ति सारी योग्यताओं से लैस होने के बावजूद इस तंत्र में बार बार असफल होने को अभिशप्त है और अंत में थोड़ी बहुत जो सफलता उसे अगर सफलता कहें तो, उसके हाथ आती भी है, तो उसके सिद्धहस्त जुगाड़िया की तरह इस जुगाड़ तंत्र का हिस्सा बन जाने के बाद। इसमें उसके बुद्धि कौशल, अमरीका की डिग्री, जीतोड़ मेहनत का नहीं, उसके वाक् चातुर्य, लोगों को प्रभावित करने की क्षमता और संपर्कजाल का हाथ है। पीआरओ, ट्रबल शूटर, जुगाड़ू, काम कराने वाला वगैरह उसकी इसी भूमिका के दूसरे नाम हैं। लेकिन दिक्कत यह है कि काम वह दूसरों का ही करवा सकता है, खुद अपने काम नहीं आ सकता। उसका अपना मूल्यबोध या फिर उसकी पत्नी दीपा का सत्यनिष्ठ स्वभाव ऐसा होने ही नहीं देगा। असल में तो उसे जयदीप बनाए रखने में दीपा के इस स्वभाव का हाथ बहुत गहरा है।

जयगोविंद की कहानी में भारत से लेकर अमरीका तक इस उथल पुथल में फंसी पीढ़ी की सब कुछ बदल डालने की तड़प और बेचैनी का चित्र है। भारत में नक्सल और यूरोप व अमेरिका में द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद की पीढ़ी का साठ के दशक का छात्र आंदोलन। जयगोविंद दोनों के संपर्क में आया, भले ही दोनों के तट पर लेकिन तटस्थ नहीं। भारत में सहपाठी देवनाथ और शांतनु जो आंदोलन से उपराम होकर ऊंचे ओहदों पर पहुंचे, अमेरिका में मिशेल जो भारत में उत्तराधिकार में पाई हुई मूल्यचेतना के समतोल अमेरिका में कमाई हुई मूल्यचेतना का स्रोत रही है, आज भी उसके अवचेतन का एक गहन, अंतरंग, कोमल हिस्सा। उपन्यास के ये अंश और उनके साथ जयगोविंद की बहस और समापन टिप्पणी बहुत महत्वपूर्ण हैं, उसकी मुख्य संरचना का हिस्सा न होने के बावजूद!

जयदीप की कहानी और जयगोविंद के जीवन के उत्तरार्ध में उसके बेटों का समय है। वही उपन्यास का समापन समय भी है। वह समय जब सारी दुनिया में रुपए का बाजार रात दिन चल रहा है अमेरिका के रुपए हांगकांग में किसी के काम आने वाले हैं और जापान में किसी सौदे में उन्हीं रुपयों से एक बड़ी रकम का फयदा हो सकता है। दोनों लड़के इसी काम में लगे रहते हैं एक अमरीका में एक बंबई में। यही काम जयगोविंद ठीक ठाक कभी कर नहीं पाया। मिली मिलाई नौकरी छोड़ना जयगोविंद के लिए हमेशा अपराधबोध जैसी चीज रही थी जबकि बेटे बैठे बिठाए नौकरी बदलते हैं और हर बार उनकी तन्ख्वाह बढ़ जाया करती है।

परिभाषाएं बदल चुकी हैं। नायक बदल चुके हैं। 'आदमी को जिंदगी में जीतने के लिए एक छठी इंद्रिय की जरूरत होती है। लोग जिसे भ्रष्टाचार कहते हैं वह दरअसल इसी 'एक्स्ट्रा' दिमाग की सिस्टम को अपनी शर्तों पर चलाने की प्रतिभा है। इस कम्प्यूटर का सॉफ्टवेयर बनाना और चलाना हर किसी के वश की बात नहीं।' इस प्रतिभा के धनी नए नायक हैं शेयर मार्केट का विराट घोटाला करने वाले हर्षद मेहता और अब दूसरा, उसका सहपाठी रह चुका प्रीतम भंसाली। दोनों ही पकड़े गए। पिछला नायक हर्षद मेहता तो फिर भी पचास की उम्र में हार्ट अटैक से मर गया था। अब का प्रीतम भंसाली तो हृदय से और रक्तचाप से इतना मजबूत है कि पकड़े जाने के पहले ही इकट्ठा कर ली गई निजी जायदाद को जयगोविंद के जरिए बिकवा कर अपनी सुरक्षा का इंतजाम कर लेगा और अपना बाल भी बांका नहीं होने देगा।

लाइसेंस, परमिट, कोटा वाले भारत के बाद अब यह मुक्त प्रतियोगिता का पूंजी बाजार है। दोनों ही तरह के बाजारों की तरह तरह की हरकतों की अंदरूनी जानकारी उपन्यास में दी गई है। दोनों ही अपनी अपनी तरह के जटिल जंजाल हैं, दोनों की अपनी अपनी आपाधापी। और खुद को बचाए रखने की सांस रोक कोशिश।

अंत में एक बार फिर जमीनों की खरीद बेच है और पुरानी इमारतों को ढहा कर खड़ी की जाती नई बहुमंजिला इमारतें और मॉल। जयगोविंद का ऑल्टर ईगो जयदीप यहीं जानकीदास मैंशन को ढहने से बचाने के लिए जुटा है जबकि जयगोविंद स्वयं इस बाजार का दबंग व्यापारी है, जबर्दस्ती जमीनें खाली करवाता, दखल करता और कब्जा लेता और कमीशन कमाता हुआ। दीपा का देहांत हो चुका है।

जयदीप और जयगोविंद दोनों के ही लिए दीपा का साथ और प्यार जीवन की सबसे अधिक मूल्यवान उपलब्धि है। सब कुछ खत्म हो जाने के बाद भी बचा रह जाने वाला शक्ति का स्रोत। शायद यही सूत्र है जिसे उपन्यास अपने अंत में बिना किसी अतिरंजना के पाठक के हाथ में थमा हुआ छोड़ जाना चाहता है।

जानकीदास तेजपाल मैंशन : अलका सरावगी, **प्रकाशक :** राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, **मूल्य :** 175 रु.

परंपरागत संरचनाओं के विरुद्ध

अमिताभ राय

पीर नवाज उपन्यास को खत्म करने के बाद पाठक एक सामाजिक के रूप में हतप्रभ सा रह जाता है। उसकी हतप्रभता का रहस्य औचकता में नहीं है। एक उपन्यासकार के रूप में **राजू शर्मा** ने भारतीय समाज के उन नासूरों पर उंगली रखी है, जो सबकी जिंदगियों का हिस्सा है और जिसे सभी जानते हैं। घोटाला जापानी इंसेफेलाइटिस का हो या कॉमनवेल्थ का या कोयले या टेलिकॉम का, इनके संदर्भ में हम रोजमर्रा के जीवन में विभिन्न माध्यमों से आ रही सूचनाओं के आधार पर जानते हैं। हतप्रभता का दूसरा संदर्भ उस बेचारगी से उभरता है जिसमें राघव या एक सामाजिक कुछ भी कर पाने में सक्षम नहीं हो पाता। ऐसा नहीं है कि चाहता नहीं है या कोशिश नहीं करता। कोशिश के बावजूद कुछ भी नहीं कर पाता। जैसे राघव नहीं कर पाता, वैसे ही एक सामाजिक के रूप में हममें से अधिसंख्य लोग नहीं कर पाते। प्रश्न है कि क्या यह एक राजनैतिक सामाजिक उपन्यास है? अगर हम स्कैम के इर्द गिर्द पाठक या आलोचक के रूप में खुद को सिमटाने की कोशिश करेंगे, तो जतिन, दीवा और खुद राघव के मानसिक संदर्भ छूट जाएंगे। पूरा उपन्यास जतिन, राघव, दीवा आदि सामाजिकों के निजी संदर्भों और स्कैम जैसी सामाजिक समस्या के बीच संचरण करता रहता है। यह संचरण ही एक आलोचक के सामने सबसे बड़ी चुनौती है, क्योंकि ऊपर से राघव जतिन संदर्भ, राघव दीवा संदर्भ और स्कैम का संदर्भ आपस में जुड़े नहीं दिखाई पड़ते। तब उन सूत्रों की तलाश आवश्यक हो जाती है, जो इन बिखरे कथासूत्रों को जोड़कर उन्हें एक संपूर्ण रचनात्मक इकाई में बदल दे। अगर पाठक और आलोचक के रूप में हम ऐसा कर पाने में असफल रहते हैं, तो सबसे पहला प्रश्न यह ही होगा कि फिर ये अलग अलग कहानियों के रूप में क्यों नहीं लिखी गईं? इसके अभाव में रचनात्मक संपूर्णता खंडित हो जाएगी और रचना मूल्यहीन।

मेरे विचार से इस उपन्यास का प्रस्थानबिंदु दुर्घटना या अनिच्छित स्वीकार हो सकता है। राघव

की जिंदगी में जतिन अनिच्छित ही प्रवेश करता है और राघव अनिच्छित रूप से ही कमीशन का मेंबर बना दिया जाता है। एक भी संदर्भ में उसकी स्वीकृति नहीं है। उस डोर के सहारे ही पूरा उपन्यास आगे बढ़ता है। यह अनिच्छित स्वीकार या दुर्घटना इसीलिए महत्व की हो जाती है, क्योंकि स्वीकार भले ही अनिच्छित हो, पर एक बार स्वीकार करने के बाद वह गंभीरता, कर्तव्यबोध, भावुकतापूर्ण तटस्थता के साथ व्यवहार और कार्य करता है। हम जीवन में अकसर ऐसा देखते हैं कि अनिच्छित चीजों के प्रति हम गंभीर नहीं होते। उससे भागना चाहते हैं या पिंड छुड़ाना चाहते हैं। राघव ऐसा नहीं करता है और यही उसके नायकत्व का आधार है, उसका वैशिष्ट्य है। अन्यथा सिस्टम से हारा हुआ सामाजिक रचना का केंद्र कैसे बनता? हारता तो वह जतिन वाले संदर्भ में भी है। वह जानता है और उपन्यास में बारंबार कहता भी है कि वह जतिन से नफरत करता है, जतिन उसे बेवकूफ बना रहा, दीवा उसे आगाह करते हुए कहती है ''ऐसा रोगी जो हर तरह से अपनी ग्रंथियों के सामने बेबस और लाचार है, वहीं (वही) दूसरे मायनों में निसंग, मजबूत और आत्मनिर्भर भी है, सबसे अहम यह है कि तीस साल के अंतराल के बाद, इतनी बड़ी दुनिया में जतिन ने अपने मानसिक फितूरों के समाधान या कहो टेक के लिए तुम्हें चुना, और तुम तक वो पहुंचा।'' तो क्या जतिन अपनी लिखित या अलिखित कहानी खोजता हुआ राघव तक आता है, जैसा वह अन्य कहानियों के संदर्भ में करता भी है। कथा के बीच इसके दो महीन आधार हैं। एक जतिन की सुनाई अनेक (संभवतः छः) कहानियों को राघव दर्ज करता है, जिसमें जर्मन लड़की वाली कहानी का प्रत्यक्षण राघव को कलकत्ते से ट्रेन से लौटते हुए होता है। राघव बेहद परेशान हो जाता है। आक्रांत होता है। वह अखबार में छपी उस कहानी के वर्ष आदि का पता कर जांचना चाहता था कि जतिन ने इस कहानी को कहीं से पढ़कर सुनाया भर था या उसने उसकी रचना की थी। अगर उसमें ऐसी क्षमता थी, तो क्या इस पूरे उपन्यास का व्यापक आख्यान भी जतिन ने ही रचा है। राघव कई बार कहता है कि इसकी रचना जतिन ने की है, मैं शब्द दे रहा हूं। आखिरी संदर्भ में राघव कहता है–''यह ख्याल अब अनवरत और स्थिर है कि यह जतन, यह लेखन किसी वृहद् और व्यापक कथानक का हिस्सा है।''

दूसरा संदर्भ कहानी सुनाने के पैटर्न से उभरता है। जतिन कहानी का बीज देखता है, उसको रचता है, उसका प्रमाण खोजता है और फिर वापस अपनी दुनिया में चला जाता है। इस व्यापक कथा में भी जतिन एक दिन अचानक आता है, कथा का विस्तार देखता है, प्रस्तुत करता है और एक दिन अचानक गायब हो जाता है। जतिन ने राघव को ही क्यों चुना, इसका भी कोई प्रत्यक्ष उत्तर इस उपन्यास में दिखायी नहीं पड़ता है। अगर जतिन ने ऐसी कोई कहानी लिखी थी और इस उपन्यास का नैरेटर वास्तव में राघव की जगह जतिन है, तब ही ऐसा हो सकता है। जिस मनसी संदर्भ को राघव बार बार याद करता है और जतिन के प्रति विद्वेष रखता है, संभवतः जतिन में भी उस बात की कुंठा हो। सामाजिक की कुंठा (रोग) और समाज का रोग (यहां घोटाला, अनैतिकता, भ्रष्टाचार आदि) समानांतर संदर्भ का सृजन करते हैं। यह समानांतरता दुर्घटना के सिद्धांत को भी कंट्राडिक्ट नहीं करती, राघव के रचनाकार होने को भी कंट्राडिक्ट नहीं करती और न ही राघव के पात्र होने को। जतिन और राघव वैसे भी बदली हुई भूमिकाओं में हैं। राघव कथाकार बनना चाहता था और वैज्ञानिक बन गया, जतिन साइंस का निर्लज्ज समर्थक और साहित्य का मजाक बनाने वाला था, तो वह कथाकार बन गया।

उपर्युक्त प्रश्नों की जटिलता का कुछ समाधान इस प्रश्न के उत्तर में भी निहित है। 'पीर नवाज' के रचनाकार राजू शर्मा हैं। पर लेखक ने शैली या संरचना ऐसी रखी है कि उपन्यास के भीतर राघव भी क्रिएटर की भूमिका में है। वह भी उपन्यास लिख रहा और आखिर तक पहुंचते पहुंचते जो एक व्यापक रूपक तैयार होता है, उसमें जतिन वास्तविक क्रिएटर दिखाई देने लगता है। फिर

गणेश और वेदव्यास का मिथक तो दिमाग में खुजली उत्पन्न करने के लिए है ही। राघव कहता है– ''रचना धर्म की अप्रतिम तस्वीर में मैंने खुद को गजानन की जगह दी है और क्षण भर के लिए जतिन खन्ना के खयाल को महर्षि के आसन पर बिठाने की कामना की है।'' और नैरेटर बिल्कुल आखिर में कहता है–''कहीं 'मैं' के बाहर भी तो एक और 'मैं' नहीं, जो इस कथा का सूत्रधार और जनक व्यास है?'' क्या इस दो में जब राजू शर्मा जुड़ते हैं, तो समस्या नहीं खड़ी हो जाती? व्यास और गणेश के मिथक में तो दो की ही भूमिका है। अब इस मिथकीय ढांचे से अर्जित ज्ञान में राजू शर्मा की भूमिका कैसे तय की जाय? कम से कम इस उपन्यास में नैरेटर के साथ रचनाकार की पोजिशनिंग इसीलिए महत्वपूर्ण है, क्योंकि यह उपन्यास ज्ञान मीमांसा की सीमाओं तक जाता है। उपन्यास में एक स्थान पर आता है कि 'कहावतों के साथ हल्की सियासत और फेरबदल होती रहे, सबके लिए अच्छा है।' इस मिथकीय ढांचे में राजू शर्मा की पोजिशनिंग आवश्यक होते हुए भी हमारे लिए सुलभ हो, यह आवश्यक नहीं। इसे लेखक की हल्की सियासत और फेरबदल मानने में कोई हर्ज भी नहीं है।

ऊपर मैंने कहा कि यह उपन्यास ज्ञान मीमांसा की सीमा तक जाता है। इसका तात्पर्य यह भी है कि यह उपन्यास मात्र वर्णन या विस्तार तक सीमित नहीं है। ज्ञान मीमांसा का क्षेत्र निश्चितरूपेण वर्तमान और भविष्य होता है, क्योंकि ज्ञान मीमांसाओं का उद्देश्य मानव समाज को जैसा है, उससे और बेहतर बनाना है। फिर इस उपन्यास में तो सामाजिक और तंत्र दोनों की रुग्णता स्पष्ट है। इस रुग्णता को समझने के लिए और उससे जूझने के लिए उपन्यासकार ने ज्ञान के उपलब्ध अनेक स्रोतों का इस्तेमाल किया है। इतिहास, राजनीति, दर्शन, मनोविज्ञान, खुद के अनुभव और सहज बोध सबका इस्तेमाल करता है। सबका इस्तेमाल करते हुए उपन्यासकार जिस जटिल और संश्लिष्ट औपन्यासिकता का निर्माण करता है, वह परिपक्व पाठकों की मांग करता है। यह उपन्यास इस अर्थ में भी पृथक है। लोकप्रिय साहित्य की सीमा तक खिसक आए कथा साहित्य से इतर, पढ़ते हुए यह हमसे धैर्य, सूझ और संवेदनशीलता की अपेक्षा रखता है। धैर्य, क्योंकि अनेक प्रकार के अंतर्द्वंद्वों, द्वंद्वों, अर्थछवियों को समेटने के कारण बुद्धि का घोड़ा यहां सरपट नहीं दौड़ पाता। यह समतल मैदान की नहीं, पहाड़ की ऊबड़ खाबड़ जमीन है। उपन्यास के साथ चलते हुए धैर्य चाहिए। सूझ, क्योंकि रूपकों और अन्यार्थों का खूब इस्तेमाल है। संवेदनशीलता वैसे तो साहित्य मात्र के लिए अपेक्षित है, परंतु यहां कथानक, घटना और चरित्रों का जो संगुंफन है, वह इधर के हिंदी उपन्यास के पाठकों के लिए नया और गैर पारंपरिक है। यह समाज और सामाजिकों के मस्तिष्क को समानांतर सत्ता के रूप में प्रस्तुत करता है और दोनों में विचरता रहता है।

संभवतः पिछले 20-30 वर्षों में प्रकाशित किसी अन्य उपन्यास में उपन्यास अथवा कथा की संरचना को लेकर इतनी बात नहीं की गई है। इसकी संरचना की अनेक समस्याएं भी हैं। पहली तो इसकी रचना प्रक्रिया दोहरी है। इसके दोहरेपन के संदर्भ में इस लेख के बिल्कुल आरंभ में भी कुछ बातें की गई हैं। परंतु थोड़े और गहराई से विचार करने पर एक और तथ्य द्रष्टव्य होता है। जहां राजनैतिक सामाजिक प्रसंग है, वहां तो स्पष्टता है, समस्या वहां उत्पन्न होती है, जहां भौतिक जगत में होने वाले कार्यकलापों का मानसिक अवतरण प्रस्तुत किया गया है। अगर कोई सत्य इस विधि से उद्घाटित होता है, तो वह सदैव प्रत्यक्ष और भौतिक रूप से स्थूल नहीं होता। वे सामाजिक की कुंठाओं, आग्रहों दुराग्रहों, सहमतियों असहमतियों की मानसिक क्रियाओं के साथ उपलब्ध होता है। इस विधि से सत्य को पकड़ने की कोशिश करता सामाजिक कई बार सत्य से दूर भी हो जाता है या रहता है। इसीलिए विश्लेषण उतने स्पष्ट नहीं होते। नैरेटर कहीं भी निश्चयात्मक अथवा निर्णयात्मक नहीं है, क्योंकि वह केवल वर्तमान का ही आख्यान नहीं कर रहा। वह पुरानी जतिन, मनसी आदि के पुराने संदर्भ में तो लगभग 30 वर्ष पुरानी घटनाओं को याद कर रहा है।

कथाकार ने कथा संरचना में, जो इसको मानसिक यात्रा बताया है, इसका लाभ क्या हो सकता है? उपन्यास की संरचना का एक मुख्य क्लू इन पंक्तियों में पाठकों के हाथ लगता है : 'मैं नहीं कह सकता असल था या सपना', क्योंकि XXX 'अगर स्वप्न भी था तो यह आग्रह प्रकट और परम था कि इस कहानी का अपना अलग मिजाज और स्वतंत्र वजूद है, मसलन प्रकाश और दरार, चांद की आभा और रजत झील से इसके स्वायत्त रिश्ते हैं, हो सकता है मैं बस माध्यम या साधन हूं, यह जतन अब एक अनिवार्य शर्त है, जो मैं यह कहानी लिख रहा हूं, वह भी मुझे रच रही है, कौन जानता है आगे क्या होगा, जबकि सब हो चुका है!' यह जो अनिर्णय की स्थिति दिख रही है, वास्तव में यह निर्णयात्मक बोध है। नैरेटर निर्णयात्मक होने की सीमा तक सच और स्वप्न को देखता है, परंतु क्या पाठक के लिए भी ऐसी निर्णयात्मकता संभव या आवश्यक है? जबकि अपने ज्ञानात्मक विवेक से हम जानते हैं कि स्वप्न भी किसी या किन्हीं अंशों तक सत्य का ही रूप होता है। स्वप्नों का आधार भी यथार्थ भौतिक जगत ही होता है। एक तथ्य की ओर और भी ध्यान जाता है कि 'अगर यह स्वप्न था तो यह आग्रह प्रकट और परम था कि इस कहानी का अपना अलग मिजाज और स्वतंत्र वजूद था।' 'इस कहानी' से तात्पर्य उस कथा से है जो राघव इस उपन्यास के भीतर लिखने को कृत संकल्प है। जिसके लिखे अंश से हरी रोशनी कागज पर उद्भासित हो रही थी, जो गहरे अंधेरे में थी 'प्रकाश और दरारों का कोई रहस्यमय' करार निर्मित कर रही थी। निश्चितरूपेण यह अंधेरा जितना भौतिक जगत का है, उतना ही अवचेतन का भी है। भौतिक जगत और अवचेतन के बीच यह उपन्यास लगातार संचरण करता रहता है। संचरण तो यह भूत, भविष्य और वर्तमान में भी करता है। जैसा मैंने ऊपर कहा कि ज्ञान मीमांसा का क्षेत्र वर्तमान और भविष्य है, परंतु उपन्यास का कार्य व्यापार तो घटित का पुनर्सृजन है। 'यह अनवरत और ग्रसित यात्रा, इधर से उधर, अतीत से वर्तमान, वर्तमान से अतीत, खुद में आक्रांतकारी है।' यह अनवरत यात्रा न अखंड है और न क्रमिक। राघव कहता है–''मैंने सीखा कि जिस क्रम में कथा पढ़ी जाती है, जरूरी नहीं उसी क्रम में उसकी रचना हुई हो।'' राजू शर्मा उपन्यास में वर्तमान और अतीत का जो रसायन तैयार करते हैं, उसके बीच जिस तरह से संचरण करते हैं, वह महत्वपूर्ण होकर भी संरचना के धरातल पर हमारे लिए चैलेंज प्रस्तुत करता है। घटनात्मकता के आधार पर भी यह संचरण मौजूद है। दीवा प्रसंग और घोटालों से संबंधित अंश वर्तमान से संदर्भित हैं, तो मनसी और जतिन प्रसंग भूतकालिक है। दोनों का उद्देश्य एक स्वस्थ भविष्य के निर्माण की आकांक्षा में निहित है।

निश्चित तौर से रचनाकार अपने उद्देश्य और प्रबोध के आधार पर ही घटनाओं की पुनर्रचना करते हुए उसमें विक्षेप उत्पन्न करता है। नैरेटर कहता है–''एक अफसानानिगार का कम से कम इतना कर्तव्य है कि वह आवश्यकता या मजबूरी से सद्गुण पैदा करे, यह नहीं कि उसके अनर्गल प्रयासों के लिए दूसरे उसकी यंत्रणा भोगें।'' इस सद्गुण का केंद्र निश्चितरूपेण मनुष्य और उसका समाज है। मानव समाज के विकास में प्रतिरोध की भूमिका अनिवार्य है। राघव अपनी ईमानदारी और कर्तव्यनिष्ठा के बल पर प्रतिरोध करता है। राघव के साथ हम सब भी जानते हैं कि सत्ता के दैत्यकारी और आसुरी प्रवृत्तियों के समक्ष, परिणाम के स्तर पर, राघव की कोशिशों का विशेष महत्व नहीं। हम सब यह भी जानते हैं कि राघव की हार लगभग निश्चित है। राघव का हारना प्रतीकार्थ में मनुष्यता का ही हारना है। यह जानते हुए कि उसे इस लड़ाई में हारना है, वह लड़ता है। सबसे महत्व की बात यही है। वह चुपचाप अपना काम भी करता है, सबूत जुटाता है, उसके आधार पर रिपोर्ट बनाता है। वह बेहद सावधानी बरतता है, सतर्कतापूर्वक कार्य करता है। उसकी सावधानी, सतर्कता, तमाम तरकीबें जस्टिस के घाघपन के सामने चूक जाती हैं। जस्टिस और तंत्र की मिलीभगत से रिपोर्ट बदल दी जाती है। ऐसी चाल चली जाती है कि नकली रिपोर्ट को राघव के नाम पर चस्पा

कर दिया जाता है। वह हताश होता है, पर लड़ना नहीं छोड़ता।

मैं उस साहित्य को महत्वपूर्ण नहीं मानता, जिसमें प्रतिरोध का गुण न हो। प्रतिरोध का यह अर्थ नहीं है कि हम सड़क पर सबका सिर कलम करते रहें। साहित्य प्रतिरोध का वैचारिक आधार प्रस्तुत करता है। शब्दों से हत्या नहीं हो सकती और आज व्यवस्था में लोगों की चमड़ी इतनी मोटी हो गई है कि शब्दों से उपजा व्यंग्य उनके लिए मूल्यहीन, अस्तित्वहीन हो गया है। राघव की प्रतिरोध चेतना इसीलिए महत्वपूर्ण है कि वह अपने मध्यवर्गीय सुरक्षित, सुविधाभोगी जिंदगी का त्याग करता है और समाज और सामाजिकों के लिए खतरे उठाता है। मध्यवर्गीय, सुविधाभोगी राघव कहता है–''मेरे मिडिल क्लास जीवन को पूरी सुरक्षा और सुविधाएं हासिल हैं, जिसकी गारंटी संवैधानिक है, मेरी कोई जिम्मेदारियां नहीं, विरासत में पर्याप्त धन संपत्ति पाई जिसका संपन्न निवेश है।'' वही राघव जस्टिस के तमाम प्रलोभनों को नकार देता है, नजरअंदाज कर देता है।

दूसरी तरफ प्रजापति त्रिवेदी जैसे लोग हैं, जो अपने लिजलिजे व्यवहार की खोल में खुद को सुरक्षित रखते हैं लेकिन जब मौका आता है, तो गुपचुप तरीके से राघव की मदद करते हैं, उन्हें सबूत देते हैं। उनके विरोध का तरीका भी शहीदाना नहीं है और न ही वह राघव की तरह किसी प्रकार से/का कोई मूल्य चुकाता है। सिपाही पांडे भी इसी श्रेणी का है। एक तीसरी श्रेणी डॉ. जावेद की है, जो सीधे प्रतिरोध की कीमत अपनी जान गवांकर चुकाते हैं और उनके लिए इंसाफ की कोई सूरत भी नहीं बन पाती या उसकी दूर तक कोई संभावना नहीं दिखाई देती।

इस प्रतिरोध अथवा प्रतिरोध की यंत्रणा के समानांतर सिस्टम अपने पुरजोर वजन के साथ मौजूद है। उसका वजन स्वस्थ पहलुओं की ओर इशारा नहीं करता। इस संदर्भ में जो पहला ख्याल जेहन में आता है वह यह कि हम व्यवस्थाओं का निर्माण क्यों करते हैं? व्यवस्था की ऐसी सड़ांध देखकर तो एकबारगी मन में यह विचार भी उठता है, जानवरों ने जो अपना समाज आज भी कायम रखा है, जहां इंसानों की पहुंच न हो, तो क्या वह इस व्यवस्था से भी बुरा है? यह गड़बड़ी तब ज्यादा खलती है, जब हम घोषित करते हैं कि हम दुनिया के सबसे बड़े लोकतंत्र हैं। नैरेटर की यह टिप्पणी कितनी खतरनाक है, इसे संवेदनशील पाठक आसानी से समझ लेता है–''सवाल यह था कि क्या इस तरह का व्यापक और नंगा कवर अप और छल एक मजबूत और संक्रमित लोकतंत्र में संभव है?'' मैं इसे 'मजबूत और असंक्रमित' के अर्थ में पढ़ूंगा, क्योंकि यह एक हाइपोथेटिकल विचार है, जिसका तात्पर्य यह है कि अगर हमारा सिस्टम मजबूत और असंक्रमित होता तो अव्यवस्था, अन्याय, भ्रष्टाचार आदि का इस तरह का नंगा कवरअप नहीं होता। यह हाइपोथेटिकल विचार राघव जैसे गैर दुनियादार के लिए बिल्कुल ही अस्वाभाविक नहीं है। वह सफल वैज्ञानिक है। वैज्ञानिकों की अपनी दुनिया और कार्य पद्धति है। उसका समाज की रोजमर्रा की कार्य पद्धति से विशेष मेल मिलाप नहीं है। इसीलिए जब राघव को सिस्टम के व्यापक ढांचे के भीतर धकेला जाता है, तो वह घाघ दुनियादारों की तरह भ्रष्ट नहीं होता। वह सही का पक्ष रखने की कोशिश करता है। खैर, ऊपर के सवालों से इस हाइपोथीसिस को मिलाकर पढ़ते हुए नयी निर्मित व्यवस्थाओं पर हमारा ध्यान सहज ही जाता है। हमने मानव सभ्यता के विकास की लंबी यात्रा के बाद लोकतंत्र को पाया है। आजादी के बाद लोकतंत्र एक संवैधानिक विचार और व्यवहार बनता है। सामंती व्यवस्थाओं से हम बाहर आए। लोकतंत्र को जनता का शासन माना जाता है। जनता अपने मताधिकार का इस्तेमाल कर अपने प्रतिनिधियों का चुनाव करती है और फिर सरकार का गठन होता है। इस तरह वोट सत्ता की न्यूनतम इकाई हुई जैसे पदार्थ की न्यूनतम इकाई परमाणु है। परंतु जब कोई प्रतिनिधि सत्ता के केंद्र में पहुंचता है, तो वह प्रतिनिधित्व के सिद्धांत को त्याग देता है। व्यावहारिक धरातल पर वह प्रतिनिधित्व के सिद्धांत को त्याग शक्ति संकेंद्रण के सिद्धांत में भरोसा करता है। वह सामंती

व्यवस्थाओं से बाहर निकल ही नहीं पाता। व्यावहारिक रूप में यह शक्ति संकेंद्रण का ऐसा वीभत्स दौर है कि 'सर्वशक्तिमान ताज जो शाह ने पहना था, वह हर अदद कुर्सी की शक्ति के सामने बौना है।' यह रोग की कैसी सटीक पकड़ है। नैरेटर कहता है—"सांप और दूध की कथा तो आदिमानव के अज्ञान का भोला भय था, सूर्य की किरण के साथ वह मिट भी जाता था पर सिस्टम का सिस्टमपना तो उत्तर आधुनिक प्रज्ञान का प्रतिकाव्य है, नव उदार की संरचना की ज्योति, यह इंसान की कृति है, इसका संधान या निराकरण न सांप के बस का है, न दूध के मिठास के बस में...बहरहाल, इन कथाओं में जंगली आग की तरह फैलने की प्रवृत्ति है, इसीलिए विरामचिह्न लगाने में समझदारी होगी, इससे पहले कि कथानक में सिपाही तंत्र और न्यायपालिका अपने हित और मंसूबे साधने का मन बना लें...!"

इस उद्धरण में उपन्यासकार ने 90 के बाद की सारी परिस्थितियों को चिह्नित कर दिया है। सिस्टम के सिस्टमपने का जो भय डॉ. जावेद में है, प्रजापति त्रिवेदी में है, जिसका ग्रास राघव भी बन ही जाता है आखिर में, वह मनुष्य के आदिम और प्राकृतिक मनोभावों का अंग नहीं है। इस तरह की भ्रष्ट राजनैतिक सामाजिक व्यवस्था में और उसके साथ जब पूंजीवादी व्यवस्था में उदारीकरण, निजीकरण आदि की प्रक्रियाएं प्रारंभ होती हैं, तो सिस्टम का ढांचा इन प्रक्रियाओं के साथ नहीं बदलता। उदारीकरण, निजीकरण आदि के पीछे का विचार एक तो पश्चिम से आ रहा है, जहां एक ओर पूंजीवाद अपनी उग्रता में पहले से मौजूद है, पर दूसरी ओर वहां के सिस्टम में नागरिक अधिकार और उनकी वैधानिकता सुरक्षित है। एक तथ्य यह भी है कि विचार की आदर्शात्मकता यहां भी सुरक्षित है और पश्चिमी अमेरिकी देशों में भी। इन आदर्शों को 100 प्रतिशत तो संभवतः वहां भी व्यावहारिक धरातल पर ट्रांसफॉर्म नहीं किया जा सका होगा, परंतु काफी हद तक वे वहां सिद्धांत को व्यवहार में बदल पाए हैं। सिद्धांतों का व्यवहार में ट्रांसफॉर्मेशन सामाजिक की नहीं, समाज की सामूहिक चेतना का प्रश्न है। पूंजीवादी व्यवस्था के भीतर भी जिन स्थितियों का निर्माण कर पश्चिमी समाज ने अपने समाजों के लिए बेहतर सामाजिक संदर्भ तैयार किए, वही स्थितियां जब भारत जैसे देशों में थोपने की कोशिश की गईं, तो उनके सहयोग से भ्रष्ट व्यवस्था ने अपने आप को और ज्यादा मुक्त महसूस किया। ठेके, एनजीओ और सरकारी तंत्र मिलकर जो घोटाला रचते हैं, वह कितना विध्वंसकारी होता है, इसे हम इस उपन्यास में आसानी से देख सकते हैं। मुख्यमंत्री के साथ मीटिंग वाला जो रूपक बनाया है उपन्यासकार ने, वह सिस्टम के सिस्टमपने को बखूबी दिखाता है। इतना भ्रष्ट और अनैतिक होने पर भी यह व्यवस्था कितनी निर्भय, आत्मविश्वास से पूर्ण और अविचलित है, इसे जस्टिस के इस कथन से समझा जा सकता है : 'वो ठीक है, चलो माना। पर तुम्हारी रिपोर्ट क्या उखाड़ लेगी, बताओ? सिर्फ करप्शन पर परवान चढ़ेगी। XXX जो ताकतवर हैं वो और ताकतवर हो जाएंगे।' जस्टिस राघव को समझाने के लिए जिन तर्कों को गढ़ता है, वे अपने निहितार्थों में कुटिल, क्रूरतापूर्ण और भ्रष्टाचार को बढ़ावा देने वाले हैं। इसीलिए मानवता के विकास में स्वस्थकर नहीं हैं। यह अनैतिक भी है और अनैतिहासिक भी, क्योंकि जिस कमीशन को घोटाला की जांच, भ्रष्टाचार को उजागर करने के लिए बनाया गया था, उसी को जस्टिस 'राजनितिक संघर्ष की पैदाइश' बताता है। इसी तरह की बात जावेद भी करता है—"आप समझते हैं दिल्ली को इसका ज्ञान नहीं? यह कोई पहली जांच नहीं, आडिट के पैरे पहले से हैं, जंग खा रहे हैं, कमीशन का गठन आपसी लीपापोती और सौदेबाजी का दोतरफा औजार है।" ये दोनों पात्र लगभग एक ही बात करते हैं, परंतु अपने निहितार्थों में विभेद के कारण अर्थ की व्यंजना में एक दूसरे के विपरीत और विरोधी हैं। 'सड़ांध तक पका, षड्यंत्र और लूट की पराकाष्ठा और हत्यारा था जापानी एनसिफेलाइटिस का स्कैम', ऐसे घोटाला के रहस्यों को उद्घाटित करने के लिए

निर्मित कमीशन, इसका एक रूप से संरक्षक ही बन जाए, उसको बचाने के लिए तर्क गढ़ने लगे, तो ऐसे समाजों का भविष्य उज्ज्वल और विकासोन्मुख नहीं हो सकता। इस तथ्य को समझते हुए ही राघव कहता है–''मेरे रसोइये के हृदय में भी क्या ऐसा ही कोई *बड़ा चित्र* है? नहीं है। वह अपने खेत, जिन्हें वह पीछे छोड़ आया है, उसकी निरंतर कटती, घटती, लुटती मेड़ों के पार दृष्टि नहीं उठा पाता, क्षितिज से क्षितिज तक का मनावलोकन एक तरह का विलास है, रथ के *बड़े चित्र* में जावेद अहमद के लिए कोई जगह नहीं बिरादर!'' यह कथन रचनाकार के दृष्टिकोण, उसकी पक्षधरता सबको एक साथ ही उद्घाटित कर देता है।

इस पूरे उपन्यास में एक खास प्रवृत्ति को अलग से रेखांकित करने की आवश्यकता है। जिस पॉपुलर कल्चर और उस पॉपुलर कल्चर के समय और सांस्कृतिक संदर्भ में ज्ञान के प्लेसमेंट के साथ अथवा प्लेसमेंट की संभावना के साथ उपन्यास की शुरुआत होती है, वह पूरे उपन्यास में एक अंतवर्ती धारा के रूप में विद्यमान रहता है। यह ज्ञान परंपरागत ज्ञान के साथ साहचर्य में होगा या उसको रिप्लेस कर नयी मीमांसा की शुरुआत करेगा? फिर इसके लिए उपन्यास क्यों? मेटाफिजिक्स की सैद्धांतिक गहराइयां क्यों नहीं? इसका सीधा उत्तर यह है कि यह पोपुलर कल्चर आज हमारे जीवन में उग्र पूंजीवादी भौतिकतावादी मानसिकता के साथ बाइप्रोडक्ट के रूप में विकसित हो रहा है। इसीलिए जीवन की सामान्य गतिकी के साथ वह भी सतह पर आ रहा है। चूंकि उपन्यास जीवन का ही चित्र है, इसीलिए वह ऐसे उपन्यासों में अनुस्यूत है। सैद्धांतिक धरातल पर अलग से कार्य हो ही रहा है। हर अध्याय के प्रारंभ में अथवा बीच में जिस तरह से फिल्मी गानों के संदर्भ में आते हैं, वह इसी भाव का साहित्यिक रूपांतरण है।

एक अन्य तथ्य, जो राजू शर्मा के उपन्यासों की प्रवृत्यात्मक विशेषता है, जिस पर ध्यान जाता है। मुहावरों का सार्थक इस्तेमाल। राजू शर्मा अपने उपन्यासों में मुहावरों का जितना सार्थक और जितने संदर्भों में इस्तेमाल करते हैं, वह पूरे हिंदी कथा साहित्य में अन्यतम है। इनके यहां मुहावरे केवल लाक्षणिक एक्सप्रेशन भर नहीं हैं, अपितु वे पूरे तंत्र, उसकी मानसिकता को कथा में निबद्ध करते हैं। जिस संदर्भ में राजू शर्मा ने 'ढाक के तीन पात' मुहावरे का इस्तेमाल किया है, वह कई पृष्ठों के लिखे जाने से अधिक व्यंजक हो जाता है। यह एक मुहावरा स्त्री शोषण और त्रासदी को कबीलाई संस्कृति से लेकर उत्तर आधुनिक समाजों तक फैला देता है। मुहावरों की शक्ति के साथ उसकी सीमा को खुद लेखक भी पहचानता है। भले ही उसकी व्यंजकता सबके लिए समान हो, पर रचना में राजू शर्मा का निर्वाह विस्तृत और उत्कृष्ट है। वे मुहावरों का सदैव हू ब हू इस्तेमाल नहीं करते, अपितु उन्हें अपने उद्देश्य के अनुसार रीकंस्ट्रक्ट भी करते हैं, रिफ्रेम भी करते हैं।

पाठक इस उपन्यास के साथ एक विस्तृत, अनेक स्तरीय और बहु ज्ञान मीमांसीय स्तरणों में भटकता है, यात्रा करता है। यह एक संश्लिष्ट उपन्यास है। अर्थ के जितने स्तरों को धारण करता है, उससे पठनीयता कहीं कहीं बाधित होती है। हमारी गंभीर औपन्यासिक कृतियां और साहित्य भी लोकप्रिय साहित्य की सीमा को छूना चाह रहा है। इसीलिए हिंदी का पाठक समतल मैदान में विचरण करने वाला प्राणी हो गया। इसी कारण 'पीर नवाज' जैसे उपन्यासों पर गंभीरता अथवा पठनीयता के क्षरण का आरोप लगाया जा सकता है। इसके बावजूद अनेक स्तरीयता और बहु ज्ञान मीमांसीय स्तरणों में विचरण और कथानक के औपन्यासिक विस्तार के कारण यह उपन्यास नयी संभावनाओं को प्रस्तुत कर पाने में सक्षम है।

पीर नवाज : राजू शर्मा, **प्रकाशक :** राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, **मूल्य :** 495 रु.

कथा साहित्य को पढ़ने के दो रास्ते

अवनीश मिश्र

साहित्य आलोचना की समस्या वास्तव में साहित्य को पढ़ने के तरीके की खोज की समस्या है। साहित्य की आलोचना का केंद्रीय सरोकार यही रहा है कि आखिर किसी कृति को पढा कैसे जाए? साहित्य को पढ़ने की अलग अलग दृष्टि यां आलोचना के लोकतंत्र का निर्माण करती हैं। इस लोकतंत्र के एक सिरे पर आस्वादवादी आलोचना है, तो दूसरे सिरे पर वे अधुनातन अस्मितावादी पद्धतियां हैं, जिनमें दलित आलोचना के साथ स्त्रीवादी आलोचना सबसे प्रमुख है। स्त्रीवादी और आस्वादवादी दृष्टि से लिखी गई आलोचना की दो पुस्तकों का एक साथ विवेचन, एक मायने में इन दोनों पद्धतियों की शक्ति, उपयोगिता और अनुपूरकता के प्रश्न का उत्तर खोजने में मददगार साबित हो सकता है।

साहित्य में दर्ज इंसान का चेहरा वास्तव में पुरुष का चेहरा है। जब तक स्त्रियों ने अपना साहित्य लिखना नहीं शुरू किया, तब तक साहित्य की स्त्री सिमोन द बोउवार के शब्दों में 'समाज द्वारा गढ़ी गई स्त्री' ही थी। बिना चेहरे की स्त्री। आज जब एक नई स्त्री पुराने साहित्य को पढ़ती है, तो वह उसमें अपना चेहरा खोजती है। ऐसा करना वास्तव में अन्याय की परंपरा की खोज करना है। नई स्त्रीवादी चेतना के तहत यह स्वाभाविक है कि पुराने साहित्य की परीक्षा नये ढंग से की जाए। यह खतरों से भरा काम है, क्योंकि इस क्रम में कई मूर्तियां खंडित होती हैं। **रोहिणी अग्रवाल** की किताब **हिंदी उपन्यास का स्त्री पाठ** ऐसी ही असहज करनेवाली मूर्तिभंजक किताब है। यह पुस्तक 'क्लासिक' कहे जाने वाले हिंदी उपन्यासों को पढ़ने की एक नई दृष्टि और 'प्रदत्त' को जांचने का मौका देती है।

कोई भी यथार्थ एक्सक्लूसिव नहीं होता। इसके कई संस्करण होते हैं। हर व्यक्ति यथार्थ को अपनी नजर से देखता, समझता और अनुभव करता है। यथार्थ की यह बहुविधता, किसी कृति की अनेक व्याख्याओं की संभावना को जन्म देता है। रचना अपने अंदर बहुपरती यथार्थ के कई कोड

छुपाए रखती है। आलोचक का काम कृति में छिपे इन कोडों को खोलना है। उन्हें डीकंस्ट्रक्ट करना है। उपन्यास का स्त्रीवादी पाठ, स्त्री नजरिये से उपन्यासों की डीकोडिंग और डीकंस्ट्रक्शन की मांग करता है। रोहिणी अग्रवाल की किताब 'हिंदी उपन्यास का स्त्री पाठ' उपन्यास को स्त्री के नजरिये से देखने और उनमें विन्यस्त पितृसत्ता के चिह्नों को पहचानने और उन्हें डीकोड करने की गंभीर कोशिश है। हाल के वर्षों में आई आलोचनात्मक पुस्तकों में इसका महत्व इस बात के लिए माना जा सकता है कि यहां 'स्त्री सच' और 'स्त्री अनुभव' ही आलोचना की कसौटी है। इस तरह यह किताब एक साहित्यिक स्त्रीवादी एक्टिविस्ट द्वारा इतिहास अन्वेषण का दर्जा प्राप्त कर लेती है।

इस किताब में प्रेमचंद से लेकर राजेंद्र यादव तक आठ कथाकारों के प्रतिनिधि, लगभग क्लासिक करार दिए गए उपन्यासों (और कुछ कहानियों को भी) स्त्रीवादी नजरिए से विश्लेषित किया गया है। किताब के मूल में एक सवाल है : अगर कोई कृति स्त्री या दलितों को लेकर वर्तमान समझदारी की कसौटी पर खरी नहीं उतरती, तो उसे कालजयी कैसे कहा जाए और फिर उनका हम क्या उपयोग करें? भूमिका में उन्होंने लिखा है–"अक्सर यह कहा जाता है कि आज की जमीन पर खड़े होकर पुरानी कृतियों का पाठ नहीं किया जाना चाहिए, खासकर स्त्री और दलित दृष्टि से क्योंकि उस समय समाज स्त्री एवं दलित प्रश्न को लेकर न इतना संवेदनशील था, न सजग। यह भी तर्क दिया जाता है कि लेखक अपने युग की वैचारिक हदबंदियों के बीच रहकर ही अभिव्यक्ति की राह चुनता है। मुझे इस मान्यता पर आपत्ति है। एक, यदि युगीन वैचारिक हदबंदियां ही रचना की घेराबंदी करती हैं, तब वह कालजयी कृति कैसे हुई?" इस किताब का उद्देश्य बहुत स्पष्ट है : "नया रचने के साथ साथ क्लासिक कही जानेवाली कृतियों का स्त्री पाठ भी जरूरी है ताकि स्त्री पुरुष दोनों के मन में स्त्री के प्रति पलते अनादर और द्वेष भाव को परिलक्षित किया जा सके।" आलोचक का लक्ष्य इन आठ रचनाकारों की कलम से सिरजी गई स्त्रियों पर पड़े आभामंडल को काटकर उनके असली चेहरे, उनके दुख, उनकी शक्ति और कमजोरियों की शिनाख्त करना है। इस मायने में यह किताब एक किस्म की खोज है। बेहद श्रम के साथ लिखे गए कुल आठ लेखों में आलोचक सृष्टा (रचनाकार) के हाथों रची गई स्त्रियों के मन की ही नहीं, सृष्टा के मन की भी थाह लेती हैं। वे न सिर्फ उपन्यासों में स्त्री के प्रस्तुतीकरण का इतिहास लिखती हैं, बल्कि उस पितृसत्ता को भी बेपरदा करती हैं, जिनकी ये उत्पाद हैं। अचरज नहीं कि यह किताब ध्वंसात्मक शैली में लिखी गई है। इस ध्वंस के पहले शिकार हुए हैं कथासम्राट प्रेमचंद।

आलोचक का प्रेमचंद पर आरोप है : 'प्रेमचंद स्त्री मानस को बिल्कुल नहीं जानते।' अपने इस आरोप के लिए प्रमाण जुटाने के लिए गोदान उपन्यास की स्त्री पात्रों मुख्यतः धनिया और मालती का चुनाव किया गया है। ग्रामीण धनिया जो विद्रोही है, दिलेर है, मुंहजोर है। शहरी मालती, जिसे आधुनिक स्त्री के रूप में दिखाया गया है। 'दोनों एक दूसरे की विलोम भले न हों, भिन्न तो जरूर हैं।' सवाल है कि क्या धनिया को स्त्री मुक्ति का प्रतीक माना जा सकता है? क्या वह नई स्त्री चेतना का प्रतिनिधित्व करती है? रोहिणी जी ऐसा नहीं मानतीं। उनका मत है, 'धनिया की दिलेरी छद्म आवरण मात्र है जिसके नीचे 'अपने नारीत्व के संपूर्ण तप और व्रत से अपने पति को अभयदान देती' और 'सोहाग' रूपी तृण के सहारे जीवन सागर को पार करती किसी भी औसत पतिव्रता स्त्री को देखा जा सकता है।' यानी धनिया के चमकीले व्यक्तित्व की पपड़ी के नीचे पितृसत्ता के हाथों गढ़ी गई एक कोई भी अन्य स्त्री है। 'धनिया के पास सवाल उठाने के लिए स्त्री दृष्टि और स्त्री हृदय नहीं है।' रोहिणी अग्रवाल का आरोप है कि अगर प्रेमचंद सचमुच धनिया को विद्रोहिणी और जांबाज स्त्री छवि में बांधना चाहते तो क्या उसे नैतिकता के इन दोहरे मानदंडों के खिलाफ ठगी गई स्त्रियों को लामबंद करने का विवेक नहीं देते? सवाल है, क्या यह धनिया से 'कुछ ज्यादा' की मांग

तो नहीं? दरअसल, उसका विद्रोह कहीं भी नॉर्म नहीं है– एबरेशन/विचलन है। एबरेशन होकर ही वह सशक्त और अर्थवान है। अर्थवान इसलिए है क्योंकि वह एक मूक बना दी गई स्त्री का विद्रोह है। उसके व्यक्तित्व का विचलन तब तब प्रकट होता है, जब जब उसे अपने अस्तित्व पर संकट महसूस होता है। वह निराला की उस भारतीय स्त्री का ही तो प्रतिरूप है, जिसके बारे में निराला ने लिखा है, 'मार खा रोई नहीं' पितृसत्ता की गढ़ंत होने के बावजूद उपन्यास में उसकी भूमिका उपन्यास की कथा और लक्ष्य में सार्थक है। उसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह एक प्रामाणिक किरदार है। आदर्श भले न हो।

प्रेमचंद की स्त्री दृष्टि वास्तव में मालती के चरित्र में प्रकट होती है। प्रेमचंद धनिया को जितना जानते हैं, उतनी रब्त जब्त उनकी मालती से नहीं है। मेहता और मालती गोदान की कथा के अनिवार्य पात्र नहीं हैं। गोदान के शहरी पात्र प्रेमचंद के मन में चल रही वैचारिक बहस, जो उनके युग की भी बहस है, को प्रस्तुत करने के लिए हैं। दिक्कत मेहता के कथनों से नहीं है। वह पितृसत्ता का संभ्रांत प्रतीक है। रोहिणी अग्रवाल ने ठीक लक्षित किया है– 'प्रेमचंद के पुरुष पात्र सामंती मनोवृत्तियों से सिरजे औसत पुरुष हैं।' मेहता भी इसका अपवाद नहीं है। लेकिन, मालती को आखिरकार 'समाज द्वारा गढ़ी गई स्त्री' ही दिखाने को कैसे न्यायोचित कहा जाए? भले ही लोगों को मेहता मालती का सह जीवन में मित्र की तरह रहने का फैसला प्रेमचंद की क्रांतिकारिता लगे, लेकिन मित्र बन कर मेहता और मालती बराबरी के आसन पर आसीन नहीं हैं। मेहता, मालती को श्रद्धा के पद पर बैठाता है, तो मालती मेहता में अपना पथ प्रदर्शक और रक्षक भी पाती है। उसके जीवन को नीचे की ओर लेकर नहीं जाना चाहती।' यह उसी मालती के वचन हैं, जिसके बारे में प्रेमचंद ने पहले वर्णन में ही कहा है, 'आप नवयुग की साक्षात प्रतिमा हैं।' क्या मालती प्रेमचंद की नवयुग की प्रतिमा का आदर्श है? रोहिणी अग्रवाल इस तथ्य की ओर ध्यान दिलाती हैं कि 'इससे पूर्व (गोदान के पूर्व) सीमंतनी उपदेश की रचयिता अज्ञात हिंदू महिला, पंडिता रमाबाई, ताराबाई शिंदे, आनंदी गोपाल, सावित्रीबाई फुले स्त्री को गुलाम बनानेवाली पितृसत्तात्मक व्यवस्था का विश्लेषण करने के साथ साथ स्त्री को मनुष्य समझनेवाली समाधानमूलक सरणियों और संवेदना की आवश्यकता का प्रसार कर चुकी हैं।' फिर भी आखिर क्यों 'उनके लेखन में उक्त महिलाओं के लेखन सरीखी तड़प, आक्रोश और पुनर्निर्माण की जूझती जिद नहीं?' धनिया में न सही, ऐसी स्त्री की झलक मालती में तो मिल सकती थी। उस स्त्री की झलक जो आलोचक को टैगोर की मृणालिनी (पत्नी का पत्र), टॉल्सटॉय की अन्ना केरेनिना और अज्ञेय की सुखदा (पगोड़ा का वृक्ष) में मिलती है। रोहिणी अग्रवाल ने सही कहा है कि कि 'गोदान' उपन्यास में एक भी ऐसी स्त्री पात्र नहीं है, जो हममें गति, बेचैनी और संघर्ष पैदा करे। इस बात को ऐसे भी कहा जा सकता है कि गोदान में ऐसा कोई पात्र नहीं है– न स्त्री, न पुरुष। इस तरह से 'यथास्थितिवादी' होने की बात स्त्री चरित्रों पर ही नहीं पुरुष चरित्रों पर भी लागू होती है।

सिर्फ प्रेमचंद ही नहीं, जैनेंद्र, हजारी प्रसाद द्विवेदी और भीष्म साहनी भी रोहिणी अग्रवाल की परीक्षा में उत्तीर्ण होने के लायक अंक नहीं जुटा पाए हैं। जैनेंद्र के उपन्यास 'त्यागपत्र' की मृणाल हिंदी कथा साहित्य के अविस्मरणीय पात्रों में शुमार की जाती है। लेकिन, रोहिणी अग्रवाल को जैनेंद्र की स्त्री दृष्टि में एक दोहरापन दिखता है। वे यह तो मानती हैं कि 'मृणाल हिंदी कथा साहित्य की पहली आधुनिका स्त्री है, जो स्त्री मुक्ति का परचम लहराये बिना नारी मुक्ति के मर्म को समझ सकी है', लेकिन मृणाल के विद्रोह और उसकी मुक्ति में उन्हें खोखलापन भी नजर आता है। जैनेंद्र की मृणाल पर उनका आरोप है : मृणाल पल भर को भी पितृसत्तात्मक व्यवस्था के प्रभाव से मुक्त नहीं हो पायी है। वह अपने होने को महसूसती है, लेकिन अपने लिए नहीं, पति या पति से इतर दूसरे

पुरुषों के लिए।' जैनेंद्र के प्रति तो वे और भी कठोर हैं–'स्त्रीत्व की प्रतिष्ठा और मर्दवादी स्त्री की स्त्री सशक्तीकरण के उदाहरण के रूप में प्रस्तुति यही है जैनेंद्र की स्त्री दृष्टि का सारतत्व मूलतः प्रतिगामी, यथास्थितिवादी और स्त्री विरोधी।' सवाल है क्या मृणाल की नियति दूसरी नहीं हो सकती थी? जैनेंद्र को लगता है–नहीं। होरी के लिए प्रेमचंद को भी यही लगता है। शायद इसलिए कि जैसे होरी मरजाद को बचाये रखने के लिए कटिबद्ध है, उसी तरह मृणाल में पतिव्रत धर्म की 'मर्यादा' को बचाये रखने की इच्छा है। दोनों इस इस सच्चाई से बेखबर हैं कि दोनों की मर्यादाएं शोषकतंत्र की निर्मितियां हैं और इन्हें तोड़ डालना ही मनुष्य होने के नाते उनका कर्तव्य है। उनका ऐसा होना अप्रामाणिक या अयथार्थ नहीं है। शायद इसलिए अपनी चारित्रिक कमियों के बावजूद उनकी सार्थकता असंदिग्ध है।

हजारी प्रसाद द्विवेदी पर उनके आरोपों की लंबी सूची है : एक, नारीवादी दृष्टि से उनका व्यक्तित्व और नीयत दोनों शक के घेरे में आ जाते हैं। दो, उनकी अभिजात मनोवृत्ति सामाजिक व्यवस्था की क्रूरता से संत्रस्त सामान्य स्त्री पात्रों की नियति पर विचार करना नहीं चाहती। तीन, प्रेम आचार्य द्विवेदी के निमित्त आत्मविस्तार एवं आत्मोत्सर्ग का माध्यम नहीं, पतिव्रत धर्म को मजबूत करने का लुभावना औजार है। चार, उनके लिए प्रेम सेवा का पर्याय है और प्रेम अर्थात सेवा एवं निष्ठा की मांग सिर्फ स्त्री से करते हैं...। आरोप गंभीर हैं। इन आरोपों को साबित करने के लिए हजारी प्रसाद द्विवेदी के उपन्यासों के भीतर से उदाहरण भी दिए गए हैं। कई जगहों पर न सिर्फ नैरेटर के वक्तव्यों को लेखक की मान्यता बता कर प्रस्तुत किया गया है, बल्कि आलोचक ने उपन्यास के पात्रों के वक्तव्यों को भी लेखक की मान्यता साबित कर दिया है। यहां जैनेंद्र के उपन्यास 'सुनीता' की प्रस्तावना से इस कथन को एक अभिगृहीत के तौर पर लिया है : 'सृष्टि, सृष्टा को छिपाए है। मुझे भी न पात्रों के पीछे छिपा मानें।' लेकिन, यह एक सामान्यीकरण है। जैनेंद्र ने यहीं आगे लिखा है–'यह पुस्तक मुझे व्यक्त करने को बनी है। फिर भी सृष्टि ही दिखती है, स्रष्टा कहां दीखता है?' यानी जो सृष्टि ही है, वही सच है, सृष्टा का सच भले उसमें शामिल हो, लेकिन वह सृष्टि का ही सच है। यह निश्चयवादी आलोचना है। रोहिणी अग्रवाल इस तथ्य को नजरअंदाज कर देती हैं कि उपन्यास के पात्र, उपन्यासकार के नियंत्रण से बाहर निकलने के लिए छटपटाते रहते हैं, उनके ही प्रतिरूप नहीं होते। ई.एम फॉस्टर का मानना है कि पात्र कथानक, परिवेश और थीम पर कब्जा कर लेते हैं।

एक स्वतंत्र, सशक्त, आत्मचेतस, तेजोमयी स्त्री के स्वप्न के साथ जब वे भीष्म साहनी के कथा संसार में दाखिल होती हैं, तो वहां भी उन्हें निराशा हाथ लगती है। भीष्म साहनी पर उनके आरोप हैं : एक, उनके स्त्री एवं पुरुष पात्र स्टीरियोटाइप भूमिकाओं से ऊपर उठकर निजता ग्रहण करने का कोई प्रयास नहीं करते। दो, भरे पूरे जीवंत स्त्री मानस को नहीं समझते। तीन, वे न स्त्री आंदोलन एवं लेखन के मूल प्रश्नों से टकराने की कोशिश करते हैं, न प्रचलित धारणाओं को तोड़ने की। चार, उनका स्त्री विमर्श शिथिल और इकहरा है और उसके आगे कई प्रश्नचिह्न लगे हैं। भगवतीचरण वर्मा पर भी उन्होंने एक लंबा आरोपपत्र तैयार किया है। भीष्म साहनी के स्त्री पात्रों को लेकर आलोचक के निष्कर्ष आग्रहपूर्वक किये गए सामान्यीकरण लगते हैं। एक वकील की तरह सबूत जुटाते हुए, वे भीष्म साहनी को कटघरे में खड़ा कर देती हैं। रोहिणी अग्रवाल को भीष्म साहनी के स्त्री पात्र प्रामाणिक तो लगते हैं, मगर आदर्श नहीं लगते। वे उन्हें कमजोर और पितृसत्ता की अनुगामिनी दिखाई देते हैं। रोहिणी अग्रवाल का आरोप है कि 'भीष्म साहनी की सभी स्त्रियां किसी न किसी रूप में थुलथुल (कुंतो) का प्रतिरूप अथवा विस्तार हैं–परनिर्भर, दब्बू और बेवकूफ।' उन्हें लगता है कि भीष्म साहनी हाथ पकड़कर संकटापन्न स्थिति से उन्हें (स्त्री पात्रों को) उबारना नहीं चाहते। उन्हें शिकायत

है कि वे अपने स्त्री पात्रों को युगानुरूप कांति और ओज से संपन्न क्यों नहीं करते? सवाल है कि क्या लेखक वास्तव में ऐसा हाथ पकड़कर उबारने वाला उद्धारक या मसीहा हो सकता है?

यशपाल के कथा संसार की स्त्री खासकर 'दिव्या' रोहिणी अग्रवाल को स्त्री के अपने स्वप्न के ज्यादा नजदीक लगती है। यशपाल के बारे में वे लिखती हैं–''स्त्री को अपने समग्र साहित्य का केंद्रबिंदु बनाकर यशपाल इस धारणा को बल देते हैं कि स्त्री के साथ सामंजस्य के बिना पुरुष और सृष्टि दोनों का अस्तित्व और विकास संभव नहीं।'' वे यशपाल के उपन्यास 'दादा कामरेड' में सिमोन द बोउवार की किताब 'द सेकंड सेक्स' की प्रसिद्ध उक्ति 'स्त्री पैदा नहीं होती, बनायी जाती है' की प्रारंभिक सुगबुगुहाटों को देखती हैं। वे मानती हैं कि स्त्री पुरुष संबंधों, विशेषकर विवाह संस्था के स्वरूप को लेकर यशपाल की दृष्टि को मार्क्स, एंगिल्स, रसेल जैसे विदेशी विचारकों ने प्रभावित किया है, तो यशपाल की प्रशंसा में यह भी कहती हैं कि उन्होंने पितृसत्तात्मक समाज व्यवस्था के स्त्री उत्पीड़क स्वरूप के औचित्य को जिस प्रखरता के साथ रेखांकित किया है, वह उनके मुक्तिकामी समकालीन रचनाकारों में भी नहीं मिलती। लेकिन, यशपाल के बारे में उन्हें यह भी लगता है कि वे 'एन डिलीवरी के वक्त जड़ीभूत हो जाते हैं।' वे लिखती हैं–''यशपाल का समूचा साहित्य उनकी वैचारिक संकल्पनाओं, अंतर्विरोधों और दुर्बलताओं का विशाल भंडारगृह है।'' यशपाल की स्त्री दृष्टि के अध्ययन का केंद्र उन्होंने बनाया है उपन्यास 'दिव्या' को, जो कि एक सचेत चुनाव है। वे बिल्कुल सही लक्षित करती हैं कि दिव्या का सारा संघर्ष अंततः अपनी मानवीय अस्मिता की तलाश है। दिव्या का आत्मविश्वास आलोचक को आकर्षित करता है। कुल मिलाकर, यशपाल की सीमाओं को रेखांकित करते हुए भी उनकी स्त्री दृष्टि से संतुष्ट नजर आती हैं और उनके प्रति प्रशंसात्मक भाव रखती हैं।

जिन दो उपन्यासकारों की स्त्री दृष्टि उन्हें अपनी सोच, मान्यताओं और स्वप्नों के ज्यादा करीब लगती है, वे हैं अज्ञेय और राजेंद्र यादव। अज्ञेय के उपन्यास 'नदी के द्वीप' के पाठ के बाद की उनकी प्रतिक्रिया 'सम्मोहित, विजड़ित, मुक्त मैं' सब कुछ बयान कर देती है। वे इसी सम्मोहन की अवस्था में लिखती हैं–'' 'नदी के द्वीप' महज एक औपन्यासिक कृति नहीं है, स्त्री पुरुष संबंधों को हर तरह की अपूर्णता से उच्छिन्न कर सर्वथा नई दृष्टि से चीन्हने की चुनौती है।'' वैसे, अगर पूर्णता एक मृग मरीचिका, एक मिथ है, तो हर तरह की अपूर्णता को खत्म करने की यह औपन्यासिक कामना खुद सवालतलब हो जाती है। रोहिणी अग्रवाल यह समझती भी हैं, इसलिए सफाई देती हैं कि 'बेशक नदी के द्वीप वक्त से आगे की रचना है। अपने रचनाकाल (1950) से आगे की रचना नहीं, हमारे समय से भी आगे की रचना।' यानी नदी के द्वीप का यथार्थ आज भी हमारा यथार्थ नहीं है। अचरज नहीं कि अज्ञेय के उपन्यास 'नदी के द्वीप' की स्त्री से वे संतुष्ट हैं। यह आलोचना का आदर्शवाद की ओर झुकाव है। 'नदी के द्वीप' यथार्थवादी परंपरा पर अपना दावा नहीं कर सकता। खुद अज्ञेय ने 'नदी के द्वीप' को चार व्यक्ति संवेदनाओं के अध्ययन का उपन्यास मानते हैं। रोहिणी अग्रवाल विवाह संस्था की आत्यंतिक पवित्रता की अवधारणा को स्त्री मुक्ति की राह में सबसे बड़ी चुनौती मानती हैं। यही कारण है कि 'नदी के द्वीप', उन्हें इस दृष्टि से एक प्रशंसनीय कृति लगती है। इसी वजह से यशपाल की दिव्या उन्हें पसंद आती है। रोहिणी अग्रवाल सिर्फ रेखा पर ही नहीं रीझी हुई हैं वे भुवन पर भी उतनी ही रीझी हुई हैं। उन्हें लगता है कि 'भुवन से पुरुष विरल हैं, या यूं कहें कि कि भुवन पहला पुरुष है जो पितृसत्तात्मक व्यवस्था के दबावों के भीतर से स्वयं और स्त्री को नहीं देखता।' वे अज्ञेय को पूर्ण अंक देकर परीक्षा में पास कर देती हैं क्योंकि वे यह मानती हैं कि, 'रेखा भुवन गौरा यदि यथार्थ जगत के पात्र नहीं हैं, तो भी उनका न होना कथा के प्रभाव को या लेखकीय मंतव्य को नष्ट नहीं करता है। वे स्त्री पुरुष संबंधों का अनुकरणीय मॉडल प्रस्तुत करते हैं।'

राजेंद्र यादव के कथा संसार के भीतर आलोचक ने बहुत संभलकर कदम रखा है। कैसी है इस

स्त्री विमर्शकार की स्त्री? कितनी मुक्त है वह? कितनी सच्ची है उसकी मुक्ति? ऐसे सवालों के जवाब खोजती हुई वे आगे बढ़ती हैं और महसूस करती हैं कि 'राजेंद्र यादव की दृष्टि में स्त्री मुक्ति का प्रश्न इकहरा नहीं है। वे समकालीन या परवर्ती रचनाकारों की तरह स्त्री को अपना प्रवक्ता बना उसके असंतोष और फरियाद के जरिए पितृसत्तात्मक व्यवस्था का पुनरीक्षण करने की मांग करते हैं, लेकिन इस प्रक्रिया में एक पलड़े को बेहद झुकाकर पुरुष मात्र को दोषी नहीं ठहराते। ...बिना बोले व्यंग्य को मारक हथियार बनाकर स्त्री प्रश्नों पर विचार करना राजेंद्र यादव के स्त्री विमर्श की खूबी है जहां अतिरिक्त भावुकता नहीं है। है तो संयत और संवेदनात्मक बौद्धिक विश्लेषण—व्यक्ति की मानसिक संरचना की पड़ताल के जरिए उनकी मानसिकता को ठोस आकार देती पितृसत्तात्मक व्यवस्था की मनोरचना का तार्किक विश्लेषण।' ऐसा नहीं है कि राजेंद्र यादव की कमियां आलोचक को नहीं दिखी हैं, लेकिन ये कमियां, उनकी स्त्री दृष्टि के तेज के सामने ओझल होती जाती हैं।

हिंदी उपन्यास का यह स्त्री पाठ, अपनी निष्पत्तियों में खासा विचारोत्तेजक और विवादास्पद है। इस किताब की कई स्थापनाएं, खासकर उपन्यास पढ़ने के तरीके, उपन्यास और आलोचना के लिए स्त्री मुक्ति के यूटोपिया को प्रतिमान बनाना, कुछ असहज सवाल छोड़ जाते हैं। इससे लेखकीय तटस्थता कई जगहों पर दरकती हुई दिखती है। अगर रोहिणी अग्रवाल उपन्यास में स्त्री दृष्टि के सवाल को उपन्यास की यथार्थवादी संरचना के भीतर भी लोकेट करतीं, तो किताब का प्रभाव कहीं ज्यादा बढ़ता। ऐसी किताबें बहुत कम आती हैं, जिनको पढ़ते हुए पुरानी किताबों को फिर से उलटना पड़े, उन्हें निष्कर्षों के साथ साथ रखना पड़े। यह किताब पाठक से यह काम करवाती है। उम्मीद की जानी चाहिए कि आनेवाले समय में यह किताब उपन्यास की स्त्री दृष्टि को लेकर एक भरी पूरी बहस पैदा करेगी।

वरिष्ठ आलोचक **विश्वनाथ त्रिपाठी** की किताब **कहानी के साथ साथ** इस मायने में महत्वपूर्ण है कि यहां प्रेमचंद से लेकर बिल्कुल आज तक के कहानीकारों की कहानियों को गहरी आत्मीयता के साथ पढ़ा और परखा गया है। किताब के फ्लैप पर विश्वनाथ त्रिपाठी को आस्वादवादी आलोचक कहा गया है। एक तरह से यह सही भी है क्योंकि कहानी के आस्वाद्य होने या प्रभावित करने की क्षमता को वे कहानी का मूल गुण मानते हैं। प्रेमचंद के साहित्य के बारे में तो उन्होंने 'स्वाद' शब्द का इस्तेमाल भी किया है : 'मुझे प्रेमचंद के साहित्य का अनुभव एक स्वाद की तरह होता है।' फिर भी उन्हें कोरा आस्वादवादी आलोचक कहना सही नहीं है। अगर आस्वाद 'रसानुभूति' है, तो त्रिपाठी जी के लिए वह रामचंद्र शुक्ल के शब्दों में 'लोक हृदय में लीन होने की अवस्था' है। 'लोक' विश्वनाथ त्रिपाठी का प्रिय शब्द है। त्रिपाठी जी के लिए 'आस्वाद' एक नैतिक शब्द है। जो नैतिक है, संघर्ष की प्रेरणा देनेवाला है, वही नैतिक है। वही आस्वाद जगाता है।

रमाकांत की कहानियों पर चर्चा करते हुए, उन्होंने कहानी की कसौटी को रमाकांत के शब्दों में ही उद्धृत किया है : 'कहानी ऐसी हो, जो लिख और छप जाने के बरसों बाद भी बोर न करे।' 'बोर न करना' साहित्य की कसौटी है। चूंकि जीवन कभी बोर नहीं करता, इसलिए जिस साहित्य में जीवन है, वह बोर नहीं कर सकता। त्रिपाठी जी किसी कृति के पास मित्र की तरह जाते हैं। उससे, उसकी कृति से ही नहीं, उसके पात्रों के साथ भी बोलते बतियाते हैं। गपशप करना पुरानी पीढ़ी की विशेषता है। ऐसा लगता है, उन्होंने नागार्जुन से यह शैली ली है। नागार्जुन कालिदास से पूछते हैं, 'कलिदास सच सच बतलाना'। नागार्जुन पूछ सकते हैं, तो विश्वनाथ त्रिपाठी क्यों नहीं पूछ सकते हैं! किसी जांचकर्ता की तरह नहीं, जिज्ञासु पाठक की तरह!

प्रेमचंद त्रिपाठी जी के आत्मीय हैं। त्रिपाठी जी के शब्दों में 'जो साहित्य बड़ा होता है, वह निजी

भी होता है। बड़ा रचनाकार अपने प्रशंसक और पाठक का आत्मीय होता है; जैसे तुलसी के राम हैं।' इतनी आत्मीयता है, तो तटस्थता संभव नहीं है। उन्होंने लिखा है, 'हम उनके निष्पक्ष या तटस्थ आलोचक नहीं हो सकते।' यही बात वे अपने गुरु हजारीप्रसाद द्विवेदी के लिए भी कहते हैं। जिससे आत्मीयता हो, उसी पर कविता की जा सकती है : 'अरे तेजबहादुर तिवारी के पूत/ बिसनाथ तुम इत्ते बड़े हो गए। बुढ़ाए गए!' यही आत्मीयता, थोड़ी कम ज्यादा तीव्रता के साथ दूसरे कथाकारों के प्रति भी मिलती है। नजदीकी बनाए बगैर, वे किसी पर नहीं लिखते। आलोचना करने के लिए भी यह नजदीकी जरूरी है। प्रेमचंद इतने आत्मीय और लोकप्रिय क्यों हैं? इस सवाल का जवाब त्रिपाठी जी के लिए प्रेमचंद के कथा साहित्य के देशकाल में छिपा है। त्रिपाठी जी इस तथ्य की ओर रेखांकित करते हैं कि प्रेमचंद का रचना संसार ठेठ पूर्वी उत्तर प्रदेश का है। उनका शायद ही कोई ऐसा प्रसिद्ध पात्र हो जो कानपुर के पश्चिम और बनारस के पूर्व का हो। उनके कथा साहित्य का काल भी इसी तरह संकुचित है। 1910-36 का। त्रिपाठी जी ने इस देशीयता और समकालीनता को प्रेमचंद की कालजयिता का आधार माना है। वे लिखते हैं, ''देशीयता रचनाकार की अपनी आधारभूमि है, जिससे वह कालजयी होता है। यह वह इतिहास है, जिसके आधार पर वह साहित्य कालबिद्ध होकर कालजयी होता है या कालातीत।'' निर्मल वर्मा ने अपने एक लेख में प्रेमचंद के उपन्यासों को अभारतीय (विक्टोरियन ढांचे का उपन्यास) कहा है। इसका प्रतिवाद करते हुए त्रिपाठी जी कहते हैं कि प्रेमचंद के उपन्यासों और कहानियों पर चंद्रकांता संतति, तिलिस्म होशरुबा, पंचतंत्र, जातक आदि का प्रभाव है। कथा सुनाने की शैली ठेठ गंवई है : चौपाल पर कथा सुनाने की।

नामवर सिंह ने निर्मल वर्मा की कहानी 'परिंदे' को नई कहानी की पहली कहानी कहा था। त्रिपाठी जी अचरज करते हैं कि नई कहानी का नयापन निर्मल वर्मा में ढूंढ़ा गया; भीष्म साहनी, अमरकांत, शेखर जोशी, विद्यासागर नौटियाल में नहीं। दोनों के नयेपन में क्या अंतर है, इस पर कोई बात ही नहीं की गई, क्योंकि इनको प्रेमचंद की परंपरा का कहानीकार कह कर निबटा दिया गया था। यानी जो प्रेमचंद की परंपरा में होगा, वह नया कैसे हो सकता है! त्रिपाठी जी को इस बात का रंज है कि नई कहानी की राजनीति में परसाई, रमाकांत, हृदयेश आदि कहानीकार उपेक्षित हुए। यहां उन्होंने नई कहानी ही नहीं नई कविता और मुक्तिबोध के संदर्भ में नामवर सिंह की आलोचकीय दृष्टि की सीमा की ओर भी संकेत किया है।

किताब की भूमिका वास्तव में उदय प्रकाश और मनोज रूपड़ा की कहानियों पर केंद्रित है। मुख्यतौर पर उदय प्रकाश पर। उदय प्रकाश के रचना संसार की विशेषताओं को त्रिपाठी जी ने एक एक कर गिनाया है। एक तरह से उन्होंने उनकी कहानियों का भाष्य किया है। उनकी गिरहें खोली हैं। वे लिखते हैं, 'उदय प्रकाश की कहानियां अपने समय को बहुलता और अनेकविधता में दर्ज करती चलती हैं। निश्चय ही उनमें पक्षधरता है। वे साम्राज्यवादविरोधी हैं', 'उदय प्रकाश में प्रतिकूल के प्रति जो आंतरिक और न अंटने वाली क्षुब्ध उच्छल घृणा है उसका एक रूप साम्राज्यवाद विरोध भी है। यह घृणा आहत, उपेक्षित, असहाय होकर लथपथ होती है, तिरिछ के पिता, डॉ वाणकर और मोहनदास जैसे पात्रों के रूप में प्रस्तुत होती है।' आगे इन कहानियों का भाष्य करते हुए वे लिखते हैं, 'उदय प्रकाश के कथा साहित्य की नैतिकता मेरी समझ में इस विरोधाभास को उजागर करने में है कि ज्ञान, शक्ति और साधन में चकित कर देनेवाली जादुई वृद्धि के अनुपात में सत्ता क्रूर और अमानवीय हुई है।' ये विशेषताएं त्रिपाठी जी के आस्वाद के अनुकूल हैं, लेकिन उदय प्रकाश की कहानियों में असह्य रोमांचक भयानक फैंटेसी, जिससे कोई निजात नहीं है और पीड़ितों की असहायता और दुर्गति का चरम चित्रण, इंसान का पूर्ण खलयनायकत्व...उनके आस्वाद संस्कार को झटका देता है। इसके पीछे शायद 'अच्छाई की जीत में उम्मीद बचे या बचाये रहने' की निजी सदिच्छा है। इसी

तरह से शिल्प के प्रयोग को भी बहुत सही पहचानने के बावजूद वे उसकी अनिवार्यता की जगह उसमें चमत्कार और चौंकाने की प्रवृत्ति, विज्ञापन, आकर्षण और शोर देखते हैं और आखिर में वे निष्कर्ष देते हैं कि 'उदय प्रकाश ओर मनोज रूपड़ा का कथा साहित्य जानकारियों, चौंकानेवाले असामान्य से इतना ग्रस्त है कि वह अधिकांश भारतीय जन की धूल धूसरित, उदास मटमैली जीवन कथा नहीं लगता। वहां बहुत चटकीलापन, शोर, आकर्षण, विज्ञापन, शिकायत, रोष, घृणा, हिंसा और उसका समाधान शमन यौन केलि है। ऐसा स्वप्न जो इकहरा है। क्रूरता है इकहरी तो, उसका विरोध भी इकहरा। उदय प्रकाश और रूपड़ा दोनों कथाकार आधुनिक संवेदनशील महत्वपूर्ण चौंकानेवाली सुर्खियों के कथाकार हैं।'

त्रिपाठी जी को शिकायत उदय प्रकाश की शैल्पिक युक्तियों से भी है। उन्हें लगता है कि उदय प्रकाश ने अपनी कहानियों का प्रासाद कुछ कथानक रूढ़ियों और कृत्रिम चमत्कारों, तरकीबों पर खड़ा किया है। मसलन, उत्कट संभोग के चित्र और भूमंडलीय जानकारी और समाचारों की सरणि उन्हें उदय प्रकाश के कथा साहित्य की कथानक रूढ़ि लगती है। दरअसल, त्रिपाठी जी शिल्प के प्रति अतिरिक्त सजगता को कहानी का नकारात्मक पक्ष मानते हैं। अखिलेश की कहानी 'जलडमरूमध्य' के लिए भी उन्होंने कहा है कि 'मेरी शिकायत है कि उत्कृष्ट समकालीन स्थिति और विचार बीज को अखिलेश ने शिल्प के लवाजमात से पाटकर गड़बड़ा दिया है।' लेकिन, जिसे त्रिपाठी जी चौंकाने वाली सुर्खियां बटोरना, शोर कहते हैं, अगर वही हमारे समय की सच्चाई हो, तो कथाकार उससे बच कर कहां जाए? त्रिपाठी जी प्रभावित करने की क्षमता को कहानी का सबसे बड़ा गुण मानते हैं। उन्होंने लिखा है, वस्तुतः श्रेष्ठ रचना चमत्कृत नहीं करती। प्रभावित करती है।' 'चौंकाने' और प्रभावित करने के बीच क्या कोई साझा सूत्र हो सकता है, इस ओर उन्होंने ध्यान नहीं दिया है।

कहानी के अपने प्रतिमान के कारण ही त्रिपाठी जी को संजीव की कहानी 'आरोहण' ज्यादा पसंद आती है और वे इसे 'हमारे समय में लिखी हुई कहानियों में क्लासिकी कहानी' कहते हैं। संजीव उन्हें 'विज्ञापनी मानसिकता से ग्रस्त रचनाकारों की दौड़ से' अलग दिखाई देते हैं। विश्वनाथ त्रिपाठी को संजीव की कहानियों में वे गुण मिलते हैं, जो उन्हें प्रभावित करते हैं। आस्वाद देते हैं– 'ये कहानियां सौंदर्य की पहचान कराते हुए और बिना कहे पाठक को आंतरिक सौंदर्य से भरती हैं। साथ ही उन्हें सामाजिक आर्थिक आचरणसंहिता भी प्रदान करती हैं।' 'यहां सौंदर्य एक सांस्कृतिक परिघटना के तौर पर उभरता है।' जाहिर है, साहित्य से त्रिपाठी जी की अपनी अपेक्षाएं हैं, और जब इन अपेक्षाओं की पूर्ति होती है, तभी उनके अंदर के सहृदय का स्वाद जागता है।

इसी कारण उन्हें स्वयं प्रकाश पसंद हैं। उन्होंने लिखा है, ''मुझे स्वयं प्रकाश की कहानियां इतनी अच्छी इसलिए लगती हैं, क्योंकि वे सौंदर्य की पहचान कराते हुए और बिना कहे पाठक को आंतरिक सौंदर्य समृद्धि से भरती हैं साथ ही उसे एक सामाजिक ऐतिहासिक आचरण संहिता भी प्रदान करती हैं।'' यहां त्रिपाठी जी ने सांप्रदायिकता को केंद्र बना कर लिखी गई स्वयं प्रकाश की कहानियों का मनोयोगपूर्वक सूक्ष्म विवेचन किया है।

भीमसेन त्यागी की कहानी 'टेलीविजन' भयावह समय की भयावह सच्चाई को दर्ज करनेवाली कहानी है। त्रिपाठी जी के लिए यह कहानी अपने समय से आगे देख सकने की लेखकीय क्षमता का प्रमाण होने के कारण महत्वपूर्ण है। यह कहानी, भूमंडलीय, बाजारवादी, उपभोक्तावादी, अनैतिक, भ्रष्ट, मूल्यहीन समय समाज के चेहरे की पहचान कराने वाले आईने के समान है। त्रिपाठी जी के लिए यह कहानी सिर्फ इस भयावह सच्चाई को दिखाने के लिए ही नहीं, बल्कि इस भयावह फैंटेसी को सच करनेवाली शक्तियों की पहचान करने के लिए ज्यादा महत्वपूर्ण है। इस कहानी के संदर्भ में की गई एक टिप्पणी गौरतलब है, ''टेलीविजन' कहानी में बलराम का आचरण आज इतना चौंकाऊ

लगता है, जब कहानी छपी थी तब यह अपठनीय लगती थी।'' क्या 'चौंकाऊ' होने को उदय प्रकाश की कहानियों का अवगुण मानने पर त्रिपाठी जी पुनर्विचार करना चाहेंगे?

इस किताब में शेखर जोशी की 'पुराना घर' अवधेश प्रीत की 'अली मंजिल', और अखिलेश की 'जलडमरूमध्य' कहानी को एक तरह से जोड़ कर पढ़ा गया है। तीनों को जोड़नेवाला तत्व है 'घर'। तीनों कहानियों में 'जलडमरूमध्य' सबसे लंबी कहानी है। जलडमरूमध्य या जलसंधि। दो भूमि के बीच की जगह। एक तरह का नो मैंस लैंड। हम से पहले की पीढ़ी इसी नो मैंस लैंड पर खड़ी है। अपनी धरती पहचान में नहीं आती और सामने जो धरती दिख रही है वहां 'स्वागत नहीं है' की तख्ती लटक रही है। 'पुराना घर' कहानी का संदर्भ मानवीय स्वभाव की क्षुद्रता और सबके लिए घर के अपने अपने मायने से जुड़ता है। 'अली मंजिल' और उससे भी बढ़कर 'जलडमरूमध्य' दो दुनिया के बीच की परित्यक्त भूमि, परित्यक्त पीढ़ी, परित्यक्त मूल्यों, परित्यक्त स्मृतियों की कहानी है। 'जलडमरूमध्य' के सहाय जी की नियति में टोबाटेक सिंह की नियति दिखाई देती है। त्रिपाठी जी ने इस कहानी को संस्कृति, सभ्यता, समाज और नियति के बड़े सवाल से बड़े फलक पर देखा है।

दलित कहानियों पर बात करने के लिए त्रिपाठी जी ने दो कहानियों का चुनाव किया है : ओमप्रकाश वाल्मीकि की 'सलाम' और दूसरी सूरजपाल चौहान की 'अहल्या'। त्रिपाठी जी ने यहां दलित साहित्य का महत्व स्वीकारा है। वे लिखते हैं ''दलित साहित्य हिंदी साहित्य का विशिष्ट, इस समय सबसे महत्वपूर्ण घटक है।'' लेकिन थोड़ी दिक्कत तब होती है, जब वे दलित साहित्य को 'उल्लास' के साथ जोड़ते हैं जबकि सच यह है कि दलित साहित्य उल्लास का नहीं, असीम वेदना, संघीभूत अपमान के अनुभव, ब्राह्मणवादी व्यवस्था से प्रतिशोध और ऐतिहासिक अन्याय के खिलाफ आवाज उठाने का साहित्य है। ऐसी ही परेशानी तब होती है, जब वे पारंपरिक प्रतिमानों के सहारे इन कहानियों का विश्लेषण करते दिखते हैं। मसलन, वे कहते हैं ''ओमप्रकाश वाल्मीकि को डिटेल्स की क्षमता हासिल करनी है।'' कहानी के लिए डिटेल्स/ब्यौरों का महत्व निर्विवाद है, लेकिन यह क्राफ्ट का मामला है, जिससे कथ्य से रचनात्मक दूरी बनाई जाती है। दलित साहित्य में अगर कहानीकार, क्राफ्ट के प्रति अतिरिक्त सजग होगा, तो उससे उसका सत्य दूर छिटक जाएगा, और फिर वह सत्य थोड़ा अभिजात रूप लेकर, रूप बदल कर कहानी में दर्ज होगा। ऐसा होते ही, दलित कहानी अपनी शक्ति खो देगी, क्योंकि अनुभूति की तीव्रता ही उसकी पहचान है।

त्रिपाठी जी के लिए आस्वाद्य वही है, जिसमें नैतिकता बोध हो, संघर्ष और परिवर्तन की प्रेरणा हो। उदय प्रकाश और मनोज रूपड़ा की कहानियां, इसलिए तमाम विशेषताओं से भरी होने के बावजूद त्रिपाठी जी की कसौटी पर खरी नहीं उतरती। जबकि इसी कसौटी पर उन्हें रमाकांत श्रीवास्तव की कहानी 'चैंपियन' और कैलाश वनवासी की कहानी 'इस समय चिड़ियों के बारे में' ज्यादा पसंद आती है, क्योंकि दोनों का भाव निराशा का नहीं, उम्मीद, संघर्ष से जीत का है। किरण सिंह की कहानी संज्ञा, दीपक श्रीवास्तव की कहानी लघुतम समापवर्तक भी उन्हें अलग से विचारणीय कहानी लगी है। किरण सिंह की कहानी 'संज्ञा', जो थर्ड सेक्स की किरदार संज्ञा और उसके पिता के मानसिक अंतर्द्वंद्वों को केंद्र में रखकर लिखी गई है, त्रिपाठी जी को स्त्री और पुरुष से ऊपर उठकर एक नवीन मानवीय विमर्श लगती है। इसी तरह दीपक श्रीवास्तव की कहानी 'लघुतम समापवर्तक' उन्हें इसलिए अच्छी लगती है, क्योंकि इसमें बाल मनोविज्ञान का सूक्ष्म वर्णन है, जो अपने अल्पकथन के शिल्प में और निखर गया है। युवा कहानीकार उमाशंकर चौधरी की कहानी 'अयोध्या बाबू सनक गए हैं' त्रिपाठी जी को एक सामर्थ्यवान कहानीकार की कहानी लगती है। इसे उन्होंने एक ऐसी अच्छी कहानी कहा है, जो आलोचक के काम की होती है।

हालांकि, यह किताब कहानियों पर केंद्रित है, लेकिन इसमें शेखर जोशी पर एक संस्मरण भी है : 'शेखर जोशी : कहा बापुरो इंद्र!' चूंकि यह संस्मरण, 'गंगा स्नान करने चलोगे' में संकलित नहीं है, इसलिए इसका महत्व और बढ़ गया है। यह किताब अरुण प्रकाश को समर्पित है, लेकिन कुछ फुटकर टिप्पणियों के अलावा अरुण प्रकाश की किसी कहानी पर अलग से विवेचना का न होना खलता है। महिला कथाकारों ने पिछले 15 वर्षों के कहानी परिदृश्य पर अपनी विशिष्ट छाप छोड़ी है, लेकिन यहां किरण सिंह की एक कहानी के अलावा किसी अन्य महिला कथाकार पर दृष्टिपात नहीं किया गया है। टुकड़ों में निर्मल वर्मा की कहानी कला पर यहां खूब टिप्पणियां हैं, लेकिन, उन पर भी अलग से नहीं लिखा गया है। वैसे, विद्यासागर नौटियाल और रमाकांत पर केंद्रित लेख, कहानी आलोचना की मुख्यधारा द्वारा की गई इन कथाकारों की उपेक्षा की भरपायी करने की कोशिश जरूर करता है। रमाकांत की कहानी 'कार्लो हब्शी का संदूक' के साथ जिस तरह से निर्मल वर्मा को रख कर देखा गया है, वह बाकी बातों के साथ ही त्रिपाठी जी के न सिर्फ अपने सौंदर्य प्रतिमान, बल्कि राजनीतिक पक्षधरता को भी स्पष्ट करता है।

इस किताब में संकलित निबंध, आलोचना से ज्यादा भाष्य हैं। भाष्य सिर्फ कहानी का नहीं, कहानी के रास्ते जीवन का। यानी ये दोहरा भाष्य हैं। इस किताब का महत्व इसलिए भी है कि इसमें कम से कम तीन कथा पीढ़ियों की कहानियों पर एक साथ विचार किया गया है। इस बात के लिए त्रिपाठी जी की प्रशंसा करनी होगी कि उनमें न सिर्फ नये से नये के प्रति उत्कट जिज्ञासा बनी हुई है, बल्कि नये के प्रति उनका विश्वास भी कायम है। कहानी की क्षेत्रीयताओं का विस्तार कर रहे नये कहानीकारों पर लिखना, साहित्य के भविष्य के प्रति उनकी आश्वस्ति को दर्शाता है। वैसे यह कहानी आलोचना की मुकम्मल किताब न होकर मूलतः लेखों का संकलन है, मगर कहानी की कला को समझने की दृष्टि देने के साथ ही कहानी में विन्यस्त जीवन को समझने और उसकी समीक्षा करने का विवेक भी देती है।

उपरोक्त दोनों पुस्तकें कथा साहित्य के संसार में दाखिल होने की दो पगडंडियां हैं, जो पाठक को अपने अपने सत्य की ओर ले जाती हैं। ये अपने आप में पूर्ण सत्य नहीं हैं, लेकिन अपनी अपूर्णता में भी इनका महत्व असंदिग्ध है। दिलचस्प यह है कि ये सत्य आपस में विरोधी न होकर एक दूसरे के अनुपूरक हैं। साहित्य में एक साथ कई दृष्टियों की उपस्थिति वास्तव में उस सह अस्तित्व की भावना का प्रमाण है, जिसे बचाने का दायित्व साहित्य पर है।

हिंदी उपन्यास का स्त्री पाठ : रोहिणी अग्रवाल, **प्रकाशक** : राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, **मूल्य** : 500 रु.

कहानी के साथ साथ : विश्वनाथ त्रिपाठी, **प्रकाशक** : वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, **मूल्य** : 395 रु.

खलबलाता समय कहानी के भीतर से...

अमृता जोशी

हिंदी कहानी की अपनी निजी विशेषता है कि अर्थगत संदर्भों में इतिहास बोध, मूल्यवत्ता, स्थूल समाजशास्त्रीय जीवन के भीतर गहरे बहती ऊर्जस्वल शक्ति व सूक्ष्म सत्यों को उसने आत्मभूत किया है। सच पूछा जाए तो यह कड़वा सच है, हिंदी कहानी ने अपनी संरचना में प्रारंभिक विकासीय सोपानों को छोड़कर कोई खास शैल्पिक परिवर्तन नहीं किया है, उसका वैशिष्ट्य 'कालखंड' को अपने प्रवाहमान धारा में पूरे सामर्थ्य से पकड़ लेने में है। हिंदी कहानी की यही वस्तुनिष्ठता उसे निरंतर केंद्रीय विधा के रूप में स्थापित करती है। कहानी की इस उर्जस्विता का प्रमुख कारण यह भी है कि कहानी देशकाल व वातावरण से प्रभावित होते हुए भी उपन्यास के समान देशकाल व वातावरण की सीमाओं के पार भी रही है। परंपरा के 'उत्स' को व्यंजनात्मक रूप से ग्राह्य बनाकर भी कहानी ने देशीय व ऐतिहासिक सीमाओं से परे समय की 'सार्वकालिक' व्याख्या प्रस्तुत करने की चेष्टा की है। कहानी का यही वैशिष्ट्य उसे जीवंत बनाए हुए है।

इधर आए मो. आरिफ एवं संजय कुंदन के नवीनतम कहानी संग्रहों क्रमशः 'चोर सिपाही' एवं दोनों ही कहानी संग्रह अपनी सरलता, सहजगम्यता में वर्तमान समय का आवक्ष रचते हैं। दोनों कहानीकार अपनी अपनी तरह से समकालीन विसंगतियों का आभ्यंतर व बाह्यांतर चेहरा पाठक के समक्ष रखकर पीछे हट जाते हैं, कहानी की अथगर्भिताओं, मंतव्यों, व्यंजनाओं को पाठक द्वारा समझे जाने के लिए। सांप्रदायिक पूर्वाग्रह, बाढ़ग्रस्त क्षेत्रों की भीतरी विभीषिका, मानवीय संवेदनाओं का प्रतिस्थापन, प्रेम, भूमंडलीकरण की पदचाप आदि विषयों की बहुस्तरीय परतें आरिफ बिना किसी चस्पा मानसिकता, विचाराग्रह, शिल्प के आडंबर के संवेदनाओं के सूक्ष्म स्तर पर 'कहानी' के 'कहानीपन' को बनाए रखते हुए खोलते हैं। उधर, संजय की कहानियां मध्यवर्गीय उच्चवर्गीय उच्चवर्गोन्मुख कमजोरियों और दुर्बलताओं के साथ मीडिया जगत की भीतरी लाचार, अपाहिज

कार्यशैली एवं उपभोक्तामूलक संस्कृति में मनुष्य के निरंतर अकेला पड़ते चले जाने की विडंबना का बयान हैं।

मो. आरिफ की कहानियों के संग्रह **चोर सिपाही** संदर्भ में किताब के फलैप पर प्रसिद्ध आलोचक नामवर सिंह का कथन उनकी कहानियों का मिजाज बयान कर देता है–''आरिफ की कहानियां, अपनी सादगी, सरलता और 'शार्पनेस' से हतप्रभ कर देती हैं। इसके विषय और इनका गद्य दोनों ही विशिष्ट हैं। इनके यहां 'पठनीयता' के साथ जो 'गंभीरता' है वह विरल है।'' इस कहानी संग्रह में कुल आठ कहानियां है। संकलन की आधार कहानी है, चोर सिपाही। अपनी आकारगत दीर्घता के बावजूद यह कहानी धर्म व सांप्रदायिक पूर्वाग्रहों के बीच 'मनुष्य' होने के जमीनी प्रश्न व संवेदनाओं के सूक्ष्म कैनवास पर रची गई है। संप्रदाय के प्रश्न ना चाहते हुए किस तरह एक जुड़ते हुए 'मनुष्यता' के व्यापक यथार्थ में संशय, भय, अविश्वास के कारक बनकर रह जाते हैं, यह कहानी इस तथ्य को बारीक बुनावट से खोलती है। 26 जुलाई, 2008 को अहमदाबाद में हुए बम विस्फोटों की पृष्ठभूमि में कहानीकार ने इसे डायरी शैली में लिखा है। डायरी है, एक दसवी कक्षा के विद्यार्थी सलीम की, जो बोर्ड परीक्षा के बाद छुट्टियों में अपनी नानी के पास गया है। बम विस्फोटों की वजह से शहर में फैली दहशत, भय, आतंक को करीब से देखता है। सलीम के मामू इस्माइल और मानसुख पटेल की दोस्ती धर्म व सांप्रदायिक कारणों की वजह से नफरत में बदल जाने के स्थूल सत्य की बजाय, दोस्ती में छाई परस्पर आशंका, अविश्वास या पीड़ा को व्यक्त करती है। जिसका कारण सिर्फ दोनों का दोस्ती में पृथक धर्म है। अज्ञेय की शरणदाता कहानी के देवींदरलाल याद आ जाते हैं जो दंगों के दौरान अपने विश्वासी दोस्त के प्रति किसी प्रकार का संदेह ना रखते हुए मोहल्ला नहीं छोड़ते हैं (यह और बात है कि बाद में उन्होंने इस विश्वास को खंडित होते देखा)। स्नेह, विश्वास, बचपन से साथ रहे इस्माइल मामू और मानसुख पटेल में भी है किंतु उत्तरोत्तर कहानी इस व्यंजना में विकसित होती है कि किस तरह समाज के एक छोटे से हिस्से का उन्माद, सनक और आतंककारी प्रवृत्तियों से एक पूरी कौम अविश्वास संशय, से दहशत, अपराधबोध, भय, निरीह, पीड़ात्मक स्थिति से गुजरती है। पूरी कौम जैसे कटघरे में खुद को खड़ा पाती है। कहानी के अंत में पराग मेहता के मामले में दोनों तरफ से बढ़ी अराजकता की वजह से इस्माइल का इस आशंका से भर उठना कि मानसुख पटेल अब सचमुच उसे दोषी मानकर बदला लेने आए हैं और स्वयं को पलंग के नीचे छुपा लेना इसके साथ मानसुख पटेल द्वारा इस तथ्य को समझे जाने पर दुःख और पीड़ा से भरकर मूर्छा सी स्थिति में लुढ़कने का दृश्य इस कहानी का वह विडंबनात्मक 'बिंदु' है जहां कहानी 'कहानीपन' पा लेती है। यही क्षण है, जो कहानी को सार्थकता देता है। यहीं यह कहानी अपने समय की अन्य सांप्रदायिक विषयों पर लिखी कहानियों से अलग हो जाती है। कहानी के बीच में दंगाई वातावरण में बच्चों द्वारा खेले गए 'चोर सिपाही' खेल को जिस तरह कहानीकार ने पूरी कहानी में अर्थध्वनि के रूप में गुंथा है, वह अनुपम है।

कहानी दंगों के दौरान के भय, दहशत, असुरक्षित जीवन, दमघोंटू माहौल के साथ, स्थान स्थान पर इस दौरान स्त्रियों के साथ किए गए दुर्व्यवहार, गोधरा कांड के बाद के नृशंस वातावरण, मुस्लिम बहुल इलाकों की भीतरी स्थिति व वातावरण को बखूबी उभारती है। पूरी कहानी बहुत सहज, सरल रूप से गतिशील रहते हुए अपने समग्र प्रभाव में 'विडंबना' का सशक्त उदाहरण है। कहानी के प्रारंभ से ही नैरेटर के माध्यम से लेखक ने पात्र संरचना तथा कहानी के तंतुवाय में 'लेखकीय अहस्तक्षेप' की (सिवा कुछ गैरजरूरी अप्रासंगिक प्रसंगों को हटाने के) बात कहकर कहानी और पाठक की परस्पर अंतःक्रिया के बीच से स्वयं को अनुपस्थित कर लिया है। आरिफ की 'चोर सिपाही' कहानी बिना किसी भाषाई व शिल्पगत आडंबर के एक सांस्कृतिक संकट को अपनी पूरी

ताकत से पकड़ती है। कहानी पूरी हो जाती है, और पाठक या यूं कहें श्रोता के हृदय में 'चोर सिपाही' कहानी में आया इस्माइल के छुपने और मानसुख पटेल द्वारा उसे खोजे जाने का दृश्य कहानी की पुनर्व्याख्या की संभावनाओं के साथ अंकित रहता है।

संग्रह की दूसरी कहानी 'मोहब्बत अली हकले' मुस्लिम धर्म में 'तलाक' की प्रणाली की रूढ़, अतार्किक विसंगतियों को व्यंग्य से पकड़ती है। यहां व्यंग्य के साथ ही इस रूढ़ जीवनशैली का तीखा मखौल है। मोहब्बत अली द्वारा लिया गया जल्दबाजी में तलाक का फैसला उस पर तब भारी पड़ जाता है जब क्रोध के प्रशमन पर पुनः उसे रहीमा की आवश्यकता महसूस होती है। यहां लेखक ने प्रकारांतर से उस पुरुषवादी मानसिकता की भी पोल खोली है, जहां मोहब्बल अली चाहता है कि रहीमा का विवाह शरीयत के अनुसार किसी ऐसे व्यक्ति से हो जो सिर्फ कहने भर के लिए पति हो किंतु शारीरिक रूप से पति होने के अधिकार का दावा न करे। कहानी हास्यबोध के साथ तलाक की इस अजीबोगरीब किस्म की प्रणाली का मखौल उड़ाती है। क्योंकि शरीयत के अनुसार रहीमा तब तक मोहब्बत अली से पुनः निकाह नहीं कर सकती जब तक 'एक निश्चित अवधि के बाद उस बीवी का किसी दूसरे के साथ निकाह हो, दोनों कुछ दिन मियां बीवी की तरह रहें, ऐश करें, फिर नया शौहर उसे तलाक दे, फिर इद्दत की बिद्दत...और कहीं जाकर पुराना बेवकूफ शौहर अपनी पुरानी बीवी से शादी कर सकता है।'' (पृ. 43) यह कहानी धार्मिक लीक पीटती दंभबाजी, अहमन्यता का भी पर्दाफाश करती है।

'मन' संग्रह की बहुत सघन कहानी है। अपनी सघनता में यह पाठक को निम्नवर्गीय जीवन के खुरदरे यथार्थ की विवशताओं, मजबूरियों, लाचारियों, को किसी आयातित, फैशनपरक, स्थूल संवेदनाओं में नहीं पकड़ती वरन यह उस असमान सामाजिक व्यवस्था की नब्ज पकड़ती है जहां एक व्यक्ति बयालीस साल के अथाह परिश्रम, लगन, एकनिष्ठता के बावजूद सामाजिक भेदमूलक, पक्षपातपूर्ण, निर्मम स्वार्थलोलप व्यवस्थागत ढांचे को तोड़कर चपरासी की छोटी सी नौकरी को स्थायी नहीं करवा पाता। उत्तराधिकार (व्यंग्य से) के रूप में यही नौकरी उसके पुत्र को मिलती है। नेरेटर ने इस त्रासद और कारुणिक स्थिति का बारीकी से ब्यौरा लिया है। कहानी के भीतर एक स्थान पर बाबू अर्थात, नैरेटर का पिता स्कूल का मुआयना करने आए इंस्पेक्टर के लिए रखे गए सांस्कृतिक कार्यक्रम में सबके सामने नाचता है, इस आशा में कि शायद इंस्पेक्टर प्रसन्न हो तो उसकी भी नौकरी पक्की हो जाए। कहानी यहां आत्यंतिक सघनता से बाबू की त्रासदी का विडंबनात्मक आख्यान बन जाती है। ''मुंह में लाली और कालिख पोतकर और धोती की पूंछ को लटकाकर मैंने सबके सामने बंदर नाच दिखाया। खुद ही डमरू बजाता और खुद ही उछल उछल कर नाचता। कभी चौकी पर तो कभी चौकी के नीचे। मुंह ऐसे बनाता और पूंछ ऐसे हिलाता जैसे सचमुच का बंदर।'' (पृ. 55 56) यह एक शानदार बिंब है कहानी का, जो पूरी कहानी की अंतःप्रवृति की संश्लिष्ट अभिव्यक्ति के रूप में है। बाबू जैसे कमजोर, निम्नवर्गीय व्यक्ति अपनी तमाम मेहनत, लगन के बावजूद सामने बैठे इंस्पेक्टर, मैंनेजर, सैक्रेटरी साहब, प्रिंसिपल आदि लोगों के रूप में मौजूद व्यवस्था के सामने तमाशा भर हैं। यह बंदर बार बार उन्हें काटने को दौड़ता है, पर काटता नहीं है। यहीं आरिफ स्थूल सामाजिक व्यवस्थागत ढांचे के भीतर की उस सूक्ष्म वास्तविकता को रचते हैं, जो कहानी का मूल 'उत्स' है। यदि यह बंदर काट लेता है तो यह समस्या या विषमता की सरलीकृत परिणति है। एक रचनाकार सामाजिक अंतर्वाहिनियों के भीतर बहती 'सूक्ष्म वास्तविकताओं' की रचनात्मक अभिव्यक्ति करता है ना कि स्थूल सत्यों की।

'लुत्फ' और 'मृत्युपर्व' मानवीय संबंधों पर लिखी अलग अलग पृष्ठभूमि की कहानियां हैं। यह खास बात है कि कहानीकार ने संग्रह की अधिसंख्य कहानियों को हास्यबोध से लैस करते हुए भी

गंभीरता को बरकरार रखा है। 'लुत्फ' एक अकेली स्त्री के अकेलेपन को हास्यात्मक मगर गंभीर संवेदनात्मक दृष्टि से उभारती है। 'मृत्यु पर्व' में वर्तमान उपभोक्तामूलक संस्कृति में मनुष्य का धीरे धीरे संवेदनात्मक रूप से अपने आस पास पड़ोस घर परिवार में हुई मृत्यु को लेकर शून्य होते जाने का चित्रण है। कमलेश्वर की 'दिल्ली में एक मौत' कहानी का ध्यान यहां सहसा आ जाता है।

संग्रह की दो अन्य महत्वपूर्ण कहानियां हैं, 'प्रेम कहानी...यह भी', तथा 'कागज का जहाज...।' आरिफ अपनी कहानी को रोमानी आधार नहीं देते, यह उनकी विशेषता है। 'प्रेम कहानी यह भी' एक 50 वर्ष की उम्र में 'किशोरवय सहज प्रेम' पर पुनर्दृष्टि है। परिस्थिति पर हल्के परिहास का नमक यहां भी आरिफ की अन्य कहानियों के समान मौजूद है, किंतु जीवन के प्रति एक गंभीर सौंदर्यवादी दृष्टि से सुसंपन्न। नैरेटर इस सौंदर्य को 50 वर्ष की उम्र की दहलीज से पलटकर किशोरवय प्रेम के प्रति पुनरावलोकन से रचता है। जाहिर है, नैरेटर के पास जीवन के व्यापक अनुभव का संचय है, जो किशोरकालीन उस सहज भावुकता व गहरे आकर्षण का नए अनुभवदृष्टि संपन्न तरीके से पुनर्व्याख्यान है। पत्र शैली में लिखी गई इस कहानी का प्रारंभ अपने किशोरवय में जी गई प्रेमिल भावुकता के प्रति स्वीकारोक्तियों से ही होता है, जिसे लेखक ने आयु का ही प्रभाव माना है, तथापि प्रारंभ में ही इस प्रभाव को जीवन की जद्दोजहद, जीवन को बटोरते रहने की उत्तरोत्तर लंबी प्रक्रिया की तुलना में कहीं ज्यादा एक शाश्वत, आदिम भाव सत्य के रूप में स्थापित किया है, जो सामाजिक व परिस्थितिजन्य कारकों की वजह से परिणति की दूसरी दिशाओं में मुड़ जाता है। यह कहानी प्रकारांतर से कई स्त्री संदर्भों को भी उठाती है। यह अकेली कहानी संग्रह में स्त्रीपरक अंतर्दृष्टि से संपन्न दिखाई पड़ती है। किंतु इसे स्त्री झंडेबाजी से नहीं मापा जा सकता, वस्तुतः यह परिवर्तन किसी न किसी रूप में पुरुष व स्त्री दोनों ओर से है, चाहे अलग अलग धरातल पर ही सही। जीवन का सहज 'उत्स' दोनों के ही हाथों से खोया दिखाई पड़ता है। वस्तुतः यह एक बेहद सुंदर प्रेम कहानी के कलेवर में जीवन के मूल, सहज, सरल प्रवृत्तिजन्य 'उत्स' की खोज का आख्यान है। 'पाठ अंतर्पाठ' की प्रविधि के तहत इस कहानी के कई संभावनाशील आयाम खोजे जा सकते हैं।

'विखंडन' की ठीक ठाक मुकम्मल परिभाषा स्वयं देरिदा भी नहीं पाए थे। 10 जुलाई, 1986 को अपने जापानी मित्र इजुत्सु को उन्होंने इसका कारण एक पत्र में लिखा ''वह इसलिए कि सारे विधेय, सारी परिभाषित अवधारणाएं सारे शब्दकोशीय अर्थ, सारी वाक्यगत अभिव्यक्तियां, जो एक क्षण परिभाषा करने का अनुवाद करने में समर्थ लगती हैं, दूसरे क्षण स्वयं विखंडित हो जाती हैं या विखंडन के योग्य लगने लगती हैं।'' पाठ पद्धति की पक्षधरता में विखंडन के लिए उन्होंने स्पष्ट लिखा ''इस अर्थ में विखंडन कोई पद्धति नहीं है।'' (लिट्रेरी थियरीज, सं —जुलियान बुलफ्रेज, 1999, पृ. 271) विखंडन को उन्होंने विमर्श ही माना है, तथापि चूंकि समकालीन हिंदी कहानी अभी तक अपना कोई निजी आलोचनात्मक मानदंड नहीं खोज पाई है, विखंडन को यदि कहानी के एक सहगामी तत्व के रूप में लें तो इसी संग्रह की 'कागज का जहाज' कहानी की पुनर्व्याख्या की संभावनाएं बनती हैं। 'कागज का जहाज' जैसे एक घोर नवउदारवादी सांस्कृतिक चकाचौंध, पूंजीवादी सभ्यता को आंखें तरेरता करारा सवाल है, जिसका उत्तर इस सभ्यता के पास नहीं, क्योंकि यह जिस मूलभूत वस्तु पर टिकी है वह है अर्थ का अवशोषण। कहानी के प्रारंभ में ही रामदीन और सोनवा को लेकर लेखक ने इस तथ्य को उजागर कर दिया है ''दुनिया इसी तरह आगे गाफिल बनी रहेगी और रामदीन सोनवा के साथ वहीं उसी तरह बूढ़ा होने लगेगा। और एक दिन जबकि दुनिया आराम से सो रही होगी...बेखबर ...वे वहीं मर जाएंगे। खेला खतम।'' (पृ. 90) कहा जाए कि पूरी कहानी पूंजीवादी सभ्यता में बाढ़ग्रस्त क्षेत्र के इस गरीब, पिछड़े, उपेक्षित वर्ग के रामदीन व सोनवा, के 'मर जाने' की प्रक्रिया का ही विकास है, तो अत्युक्ति नहीं होगी। 'विखंडन' यहां प्रविधि नहीं, कहानी के एक तत्व

के रूप में लिखा जा सकता है। रेल की पटरी पर बाढ़ के संकट का समय बिताता यह वर्ग अब राजनैतिक हड़कंपों और उसके आडंबरपूर्ण पैंतरेबाजियों को समझ चुका है। स्थिति यह है कि रिलीफ के लिए आई सामग्री भी उसके लिए पैसे जुटाने का साधन है। बाढ़ विभीषिका की चपेट में आए इस वर्ग के साथ जो सरकारी तंत्र की छलना है, वह कहानी का विषय है।

आरिफ की इन कहानियों की प्रमुख विशेषता है, हास्यबोध और गंभीरता के संतुलन का विरोधाभासी स्थानापन्न। ये कहानियां सहज हैं किंतु अंतर्दृष्टि से संपन्न। आरिफ की इतिहास दृष्टि गहरी है, अपने समय को दर्ज करते समय वे बारीक से बारीक तथ्यों का संवेदनात्मक ताना बाना रचते हैं। 'चोर सिपाही' कहानी को समकालीन हिंदी कहानी की एक उपलब्धि के रूप में रेखांकित किया जा सकता है। ऐतिहासिक छद्म को आरिफ समझते हैं, 'एक अधुरा शहर' में वैश्वीकरण की कस्बाई जिंदगी में अविकल्पात्मक घुसपैठ के संबंध में लिखते हैं–''समस्तीपुर की यही विडंबना है। शायद अन्य छोटे शहरों की भी। लोग 'मैं भी हूं' के चक्कर में खुद को शर्मशार करते हैं और खुश होते हैं। यह स्थिति विडंबनापूर्ण से आगे बढ़कर कारुणिक हो उठी है।'' (पृ. 117) इस कथन की अंतर्दृष्टि से आरिफ की इन कहानियों को भी आंका जा सकता है। आरिफ ने 'जो नहीं है' के मोह में 'जो है' को नहीं नकारा है, और यह उनकी कहानी कला की ऊर्जस्विता है। हां, भाषा को अर्थध्वनि देकर वे कहानी की 'तीव्रता' को बनाए रखते हैं। असल में समकालीन कहानी को अपने जातीय, ऐतिहासिक बोध के बिना समझा जाना कठिन है। फूको की अवधारणा के आलोक में भारतीय समकालीन कहानी का स्वरूप समझने का प्रयत्न ठीक वैसे ही है जैसे देश में बैठे एक व्यक्ति का विदेश की जलवायु के हिसाब से फसल उगाने की चेष्टा।

आरिफ की कहानियां अपने परंपरा बोध में कहानी की संभावनाओं को व्यक्त करती हैं। 'लेखकीय निःसंगता' इन कहानियों का आलोक है। आज जहां कहानी सूचनाओं के बोझ तले होने के आरोप का शिकार है, लेखक अधिक से अधिक 'सुपठित' होने के दंभ को व्यक्त करने से बाज नहीं आता, आरिफ बिना बनावट के समय का आभ्यंतर कहानी के माध्यम से रचते हैं। अधिसंख्य कहानियों के शिल्प में 'विडंबना प्रविधि' का प्रयोग है। अपने पूर्व कहानी संग्रह 'फूलों का बाड़ा' की विमर्शीय मानसिकता के दंभ से लेखक यहां मुक्त है। किंतु, व्यंग्य एक नकारवादी प्रविधि है, जाहिर है, कहानी जैसी संभावनाशील विधा में लंबे समय तक इसका प्रयोग एक तरह से लेखक को निजी तौर पर कहानी से बाहर नहीं जाने देता। इस संग्रह में 'मोहब्बत अली हकले' में यह कुछ अंश तक देखा जा सकता है। व्यंग्य भाषा और व्यंग्य ध्वनि दो अलग बातें हैं। निरंतर व्यंग्य भाषा का प्रयोग कहानी में संवेदनात्मक पक्ष के लिए घातक है। आरिफ की यह भाषात्मक सीमा है कि तीव्र प्रभाव के लिए वे 'व्यंग्य भाषा' का ही सहारा लेते हैं। जहां तक व्यंग्य ध्वनि की बात है यह उनकी कहानियों की ताकत है। किंतु 'व्यंग्य भाषा' का ही निरंतर प्रयोग कहीं न कही कहानी की मूल आत्मा के लिए अहितकारी है। किंतु, इस सीमा के बावजूद भी 'चोर सिपाही' आरिफ का एक संभावनाओं से युक्त पठनीय कहानी संग्रह है।

भूमंडलीय उपभोक्तामूलक आभासी, संस्कृति का छद्म यथार्थ, वर्चस्ववादी ताकतों का बाहुल्य, मनुष्य का 'उन्माद' द्वारा स्थानापन्न आदि किस तरह से सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया में 'मनुष्य' को हाशियागत कर रहे हैं, यह **संजय कुंदन** के **'श्यामलाल का अकेलापन'** का प्रमुख प्रतिपाद्य है। मध्यवर्गीय अवसरवादी लोलुपताएं, दुर्बलताएं, मीडिया जगत में वर्चस्ववादी ताकतों की घुसपैठ, महानगरीय संस्कृति द्वारा ग्राम्य संस्कृति को पटखनी, मानवीय संवेदनाओं का वर्तमान पूंजीगत माहौल में पिछड़ना आदि विषयों को संजय किस्सागो की परंपरागत शैली में कुछ इस अंदाज में रखते हैं,

जैसे पूछ रहे हों "कहिए अब इस पर आप क्या कहेंगे?" 'श्यामलाल का अकेलापन' संग्रह की प्रमुख कहानी है; उत्तर आधुनिक संस्कृति का छद्म आडंबरयुक्त चेहरा इस कहानी का विषय है। जीवन सिर्फ दिखावा, खुद को श्रेष्ठतर साबित करने की होड़, वस्तुओं का जमघट हो गया है। इन सबके मूल में है अर्थ। अर्थप्रधान दृष्टि। गौर करें, तो आज से 25-30 वर्ष पहले तक मानवीय संवेदनाओं का यह अपरूप प्रत्यक्षतः देखने को नहीं मिलता था। आम आदमी के लिए एक सहज सरल, शांतिप्रद जीवन काम्य था, किंतु नवउदारवादी उपभोक्ता संस्कृति में मनुष्य सिर्फ वस्तुओं के 'होर्डिंग' में तब्दील होकर रह गया है। घोर प्रतियोगितावादी अपसंस्कृति में 'मानवीयता' का वास्तविक चेहरा स्वयं को उपेक्षित, पिछड़ा व लतियाया हुआ महसूस करता है। श्यामलाल यही महसूस करते हैं! मनुष्य आपस में सुख दुख बांटे ना बांटे, अभिसंस्कृत होने का, तथाकथित उपभोक्तामूलक नवीन मानदंडों पर स्वयं को अत्याधुनिक साबित करने की होड़ व दंभ जरूर बांटता है। और यही आज के समय की सबसे बड़ी त्रासदी है कि मनुष्य वास्तविक जीवन जीना भूलकर एक 'अभिनय' जीने लगा है। श्यामलाल को घर, बाहर, दफ्तर, मोहल्ले सब जगह यही सालता है। विडंबना यह है कि श्यामलाल भीतर से कुछ को लाचार, असहाय, उपेक्षित महसूस कर ऐसी कवायद में जुट जाते हैं जिससे वे स्वयं को समय के कागज पर प्रासंगिकता से रेखांकित कर सकें। श्यामलाल की यह बेचैन कोशिश ही इस कहानी का मूल 'उत्स' है। "लेकिन श्यामलाल क्या करें, वे किस चीज की हार्डिंग बनें?.. .वे क्या कहें कि सामने वाला थोड़ी देर के लिए उनका लोहा मान ले। ऐसी कोई चीज उन्होंने तो खरीदी ही नहीं जिसका बखान किया जा सके...श्यामलाल माथापच्ची करते रहे। दिमाग में इतनी हलचल मची थी कि नींद बहुत दूर थी। वे उठे और घर में चक्कर काटने लगे।" (पृ. 95) श्यामलाल अकेला है क्योंकि वह ऐसा नहीं है। कहानीकार ने किंतु 'ऐसा' होने की बेचैन विवशता भरी कोशिश को 'कथ्य' बनाया है। कहानी के अंत में, श्यामलाल का सिक्यूरिटी रूम के गार्ड और सुपरवाइजर को गाना सुनाना एक खड़खड़ाती काठ, कंकर, पत्थर ध्वनि के बीच 'चिड़िया के गीत' सा बचा रहना है। ध्यान से देखें, तो श्यामलाल सिर्फ इसी कहानी में, वह संग्रह की अन्य कहानियों में भी मौजूद है। असल में, कहानियों में ही नहीं वास्तविक जीवन में यह 'श्यामलाल' जहां जहां विद्यमान है, वहीं वहीं अकेला है। 'अगला जनम' के वर्माजी अपने तमाम चाहे हुए अनुभवों का संवेदन 'अगले जनम' तक स्थगित करते चले जाते हैं, जिनके जीवन के प्रत्येक क्रियाकलाप का रिमोट जैसे बॉस के पास हो। व्यवस्था के भीतर रहने की विवशता व न निकल सकने की छटपटाहट 'रैली' कहानी के नरेंद्र में भी देखी जा सकती है। मीडिया जगत में कार्यरत नरेंद्र मीडिया के भीतर बाजारवाद व उपभोक्तावाद की घुसपैठ को लेकर बैचेन है किंतु ना चाहते हुए भी वह स्वयं इसी व्यवस्था का पुर्जा बनकर रह जाने के लिए अभिशप्त है।

मीडिया में बाजार व अर्थतंत्र की घुसपैठ ने उसकी सामुदायिक छवि व जनपक्षरता को धराशायी किया है, उसे वर्चस्ववादी ताकतों व उपभोक्तामूलक सांस्कृतिक साम्राज्यवाद का एक संवाहक बनाकर छोड़ दिया है, यह चिंता संग्रह की अन्य कहानी 'हीरो', में भी व्यक्त हुई है। यह एक अर्वाचीन विषय है, जिस पर भारतीय दूरसंचार नियामक प्राधिकरण (ट्राई) ने 12 अगस्त, 2014 को अपनी रिपोर्ट में व्यापक स्तर पर चिंता व्यक्त की है। संजय की कहानियों का वैशिष्ट्य यह है कि उन्होंने यह 'चिंता' सूचनात्मक रूप से नहीं वरन संवेदनात्मक स्तर पर भी जाहिर की है। ट्राई की रिपोर्ट का यह तथ्य कि समकालीन मीडिया सामुदायिक जन संस्कार के निर्माण, बहुल सांस्कृतिक वैविध्यपूर्ण लोकमत का स्पष्ट व निष्पक्ष चेहरा रखने की बजाय आर्थिक उदारवाद के बाद तेजी से उभरे एक छोटे से उच्च मध्यमवर्गीय मूल्यों, हितों, प्रायोजित जीवन शैली, प्रायोजित जनमत का हितैषी बनकर रह गया है, संजय की कई कहानियों में प्रत्यक्षतः व अप्रत्यक्षतः आया है। कहानी 'हेलिकॉप्टर वाले भइया' भी एक भोले

और सीधे साधे ग्रामीण व्यक्ति का राजनैतिक स्वार्थलोलुप दुष्चक्रों का शिकार होकर रह जाने के अलावा प्रसंगतः मीडिया जगत की अपाहिजगी व नाकामी को बयान करती है। सत्तालोलुप शक्तियों राजनैतिक घोटाले, पूंजीवाद व बाजारवादी घुसपैठ ने किस तरह लोकतांत्रिक स्वरूप को विकृत किया है, यह इन कहानियों में विडंबनात्मक रूप से आया है। चाहे 'हीरो' का चंदन हो, 'हेलिकॉप्टर वाले भइया' का 'बैजू भइया', रैली का 'नरेंद्र' हो या 'श्यामलाल का अकेलापन' का श्यामलाल श्यामलाल समाज में हर जगह, हर स्थिति में अकेला ही है। यहां आकर संग्रह का शीर्षक 'श्यामलाल का अकेलापन' एक गहरी अर्थगर्भिता प्राप्त कर लेता है। 'श्यामलाल' वस्तुतः कहानी संकलन की केंद्रीय मानसिकता है।

कहानी 'महानगर के किस्से' महानगरीय संस्कृति की उस विडंबनात्मक उत्पादन प्रधान मानसिकता को व्यक्त करती है जहां मनुष्य के स्वप्न पर भी उसका अपना अधिकार नहीं रह गया। 'स्वप्न के अंत' की यह विडंबनात्मक स्थिति मनुष्य की समस्त कल्पनाशक्ति के उत्तरोत्तर ह्रास की पोषक है। उसकी समस्त रचनाशीलता पर प्रश्नचिह्न है। 'स्वप्न' और 'इतिहास' के अंत की घोषणाएं कहीं उसे जमीनी यथार्थ से दूर एक 'उपकरण' में तब्दील करती जा रहीं। मनुष्य के बचे रहने के लिए उसके 'स्वप्न' व 'कल्पना शक्ति' का बचे रहना आवश्यक है।

'निवेशक' व 'बाउंसर' कहानियां अलग अलग स्तरों पर महानगरीय चकाचौंध, आभासी यथार्थ छवियों, नवउदारवादी सांस्कृतिक मूल्यबोध, छदम आडंबरयुक्त जीवनशैली के प्रति मोह आदि के माध्यम से जड़ों से कटते जाते भारतीय ग्राम्य जीवन की यथार्थपरक त्रासदीपूर्ण छवियां हैं। 'निवेशक' का फूलन इस मोह व आकर्षण के पीछे अपनी बेटी का भी 'निवेश' कर डालता है। विडंबना यह है कि वह अपनी बेटी को उच्चवर्गीय जीवनशैली इसलिए सिखाना चाहता है ताकि उसका विवाह एक एन.आर.आई. से हो, जिसमें उसके व्यापारिक हित जुड़े हैं। भारतीय ग्राम्य यथार्थ यहीं आकर घुटने टेकता है। यहां फिर कहानी का तेवर व्यंग्यात्मक है, किंतु, कहानी के अंत में, फूलन द्वारा आत्मग्लानि व पश्चाताप के बाद लिया गया निर्णय कहानी की मारकता को कमजोर कर देता है। कहानी के अंत तक वह समझ जाता है कि वह एक छद्म महानगरीय संस्कृति का शिकार बनकर धीरे धीरे अपना सब कुछ गवां रहा है, और कहानी की धारा के पलट वह अपना निर्णय बेटी के पक्ष में एक 'निवेशक' की बजाय 'पिता' की तरह लेता है, यहां कहानी की तीखी व्यंग्य शक्ति को आघात पहुंचता है। किंतु, कहा जा सकता है कि भारतीय जातीय बोध की जड़ें अभी इतनी भी कमजोर नहीं हुईं कि उन्हें संभाला ना जा सके। ग्राम्य व महानगरीय संस्कृति का द्वंद्व 'बाउंसर' कहानी में भी है। वहां भी कहानी के अंत में शरद द्वारा दिए गए शकरपारों को गोपी लेकर एक भोला ग्राम्य यथार्थ नष्ट होने से बचा ले जाता है। 'शकरपारे' प्रतीक है, दरअसल यह गोपी के 'अपने होने' का सहज स्वीकार है। बिंब व प्रतीक कहानीकार ने संग्रह में अन्य स्थानों पर भी रचे हैं। 'रैली' कहानी में नरेंद्र के माध्यम से कहलाया गया है 'कुएं के कछुए' का बिंब। कछुए का दब जाना और कुएं के स्थान पर दुकानों का खड़ा होना जैसे ग्राम्य यथार्थ का दब जाना और पूंजी की स्थापना है।

'डार्क रूम' कहानी पीढ़ीगत अंतराल को व्यक्त करती अन्य समकालीन कहानियों से इस मामले में अलग है कि शर्माजी अपने संस्कारों में 'आबद्ध' ना रहने के बावजूद, पीढ़ीगत अंतराल को भेदने के अपने तमाम प्रयत्नों के बावजूद भी एक उम्र के बाद पुत्र विक्रांत की निजी दुनिया का हिस्सा नहीं बन पाते। 'टैगोर वाटिका' संकलन की संभवतः एक कमजोर कहानी है, गददश्रु भावुकता लिए स्त्री संघर्ष का सतही व स्थूल चित्रण।

संग्रह की अंतिम कहानी 'मेरा मोहल्ला जिंदाबाद' एक तरह से किसी भी 'वाद' के निर्माण की

प्रक्रिया खोलती है। कहानी में आया वाक्य 'मुझे समझ में आ गया कि किसी भी बाद के लिए नफरत का होना भी बेहद जरूरी है।' (पृ. 159) यह कहानी राष्ट्रवाद, प्रांतवाद, क्षेत्रवाद, जातिवाद की मूल संरचनात्मक थियरी पर प्रहार करती है। कहानीकार ने बहुत बारीकी से सुभाष नगर और नेहरू नगर के बच्चों के परस्पर प्रतिस्पर्धात्मक व्यवहार को उत्तरोत्तर आग्रह, पूर्वाग्रह व धीरे धीरे वैमनस्य में बदल जाने की प्रक्रिया के माध्यम से तमाम वादों के मूल में 'नफरत' की भूमिका को चिह्नित किया है। यह कहानी वर्तमान समाज की 'विज्ञापन' प्रवृत्ति का भी मखौल उड़ाती है। सरस्वती पूजा के प्रसाद को 'डीलक्स प्रसाद' कहकर भीड़ बटोरने का आइडिया इसी का उदाहरण है।

संजय ने किस्सागोई के परंपरागत शिल्प में ही समकालीन विडंबनाओं, यथार्थ, विद्रूपयों को अनुस्यूत कर सांस्कृतिक संकट को पकड़ने की चेष्टा की है। यूं देखा जाए तो 'कहानी : नई कहानी' में 'कुतूहल' व 'अतीत का बोध' को कहानी के चिरस्थायी तत्वों के रूप में उल्लेख करते हुए नामवर सिह जी ने लिखा है–''कहानी का मूल अर्थ ही है जो हो चुका है उसका कथन।'' 'हो चुके' को कहने का सबसे सहज, सरल तरीका किस्सागोई ही है। किस्सागोई को लेकर बहुत से रचनाकारों नें हिंदी साहित्य को सशक्त कहानियां दी हैं। जहां तक संजय का प्रश्न है, 'किस्सागोई' को लेकर उन्होंने 'अतीत का बोध' तत्व की रक्षा निरंतर की है। किंतु, 'कुतुहल' को बनाए रखने में कहीं वे शिथिल हुए है। इसका कारण है, कहानी की स्थिति, पात्रों आदि से लेखक की उपस्थिति को नदारद नहीं कर पाना। हां, रोचकता को उन्होंने बराबर बनाए रखा है। संजय की कहानियों का सबल पक्ष है उनकी साफगोई और कथन की भंगिमा। व्यंग्यपूर्ण स्थितियों का निर्माण इन कहानियों को ग्राह्य बनाता है, यह और बात है कि व्यंग्य की धार को, कहानी के अंत तक आते आते, संजय आत्मग्लानि, पश्चाताप, विकल्प आदि से कुछ कमजोर कर देते हैं। संभवतः इसका कारण है संजय का कवि हृदय। अपनी कहानियों में संजय कवि संवेदना को अंतर्धारा की बजाय स्थूल भावुक प्रसंगों में प्रयुक्त कर गए हैं, अन्यथा हिंदी कहानियों में रेणु, निर्मल वर्मा जैसे उदाहरण भी हैं जिनकी कहानियों में आया 'संशलिष्ट कवित्व' उन्हें वैशिष्ट्य दिलाता है।

मध्यवर्गीय व्यक्ति की दहलीज पर खड़ी स्थिति को जिस तरह आमने सामने होकर वे पकड़ते हैं वह उनकी कहानियों का सबल पक्ष है। ऐतिहासिक संकट व सांस्कृतिक साम्राज्यवाद की पदचाप उनकी कहानियों में सुनी जा सकती है। शिल्प और भाषा के तिलस्म ना तोड़ती हुई भी इन कहानियों का विडंबनात्मक स्वर इन्हें पठनीय बनाता है। मनुष्य का 'अंतर्द्वंद्व' इन कहानियों की आंतरिक संरचना का वह तंतु है जो इन्हें समकालीन कहानियों के बीच विशिष्ट स्थान देता है। इन्हें अवश्य ही पढ़ा जाना चाहिए, अपने समय के आदमी से रूबरू होने के लिए।

समकालीन हिंदी कहानी में ये दोनों कहानीकार अपने रचनात्मक वैशिष्ट्य के साथ सामाजिक परिवर्तनों के बीच 'मनुष्यता' के प्रश्न कहानी के बीच उठाते हैं। दोनों ही कहानीकार हिंदी कहानी की परंपरा से अपना 'ग्राह्य' चुनकर अपने समय के ऐतिहासिक व सामाजिक द्वंद्व का रचनात्मक आख्यान प्रस्तुत करते हैं। कहानी की विधागत मूल संरचना के प्रति तहस नहस की प्रवृत्ति न रखते हुए ये कहानीकार एक तरह से कहानी के 'श्रव्य' गुण को बनाए हुए हैं। इनकी कहानियों में श्रोता की उपस्थिति तलाशी जा सकती है। पाठक के भीतर के इस गुण को बचाए रखना इन कहानीकारों को मूल अंतः संरचनात्मक प्रवृत्ति के निकट खड़ा करता है।

चोर सिपाही : मो. आरिफ, **प्रकाशक :** भारतीय ज्ञान पीठ, नई दिल्ली, **मूल्य :** 160 रु.

श्याम लाल का अकलापन : संजय कुंदन, **प्रकाशक :** किताबघर, नई दिल्ली, **मूल्य :** 300 रु.

समाज एवं राजनीति की समझ का विस्तार

अनंत राम मिश्र

दमित इतिहास के अध्ययन के लिए मिथक महत्वपूर्ण हैं। वे वर्तमान के आयामों के ऊपर एक ग्रिड की तरह फैले होते हैं।[1] इस ग्रिड को हटाकर उसके नीचे की सामाजिक राजनीतिक तहों को देखने का काम इतिहासकार करता है। यह आवश्यक नहीं है कि कोई समाजविज्ञानी लेवी स्ट्रास के मिथक के बारे में दिए गए अध्ययनों से सहमत हो। मिथक का अपना कालबोध और समाज होता है। भारतीय समाज में मिथक और वर्तमान की अंतर्क्रिया पर बद्री नारायण लगातार लिखते रहे हैं और समकालीन समाज एवं राजनीति की समझ में विस्तार करते रहे हैं। **बद्री नारायण** की किताब सैफ्रान हिंदुत्व : सैफ्रान पालिटिक्स एंड दलित मोबलाइजेशन 2009 में आई थी। हाल ही में इसका हिंदी अनुवाद **हिंदुत्व का मोहिनी मंत्र** के नाम से आया है। इस किताब का विषय मुख्यतः हिंदी भाषा भाषी दलित जनता के बीच भारतीय जनता पार्टी और राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की उन कोशिशों का विश्लेषण है जिनके द्वारा हिंदुत्ववादी राजनीति के राष्ट्रीय ढांचे में दलित अस्मिता को नत्थी कर दिया जा रहा है। यह किताब एक किस्से से अपनी बात स्पष्ट करती है कि देहातों में एक ठग था। वह किसी भी नवविवाहिता की नथ उतार लिया करता था और उसे आभास तक नहीं होता था। ठीक इसी तरह राजनीतिक प्रक्रियाएं जब चुनावी परिणाम में परिवर्तित हो जाती हैं तो जनता को पता चलता है। लेखक ने इन प्रक्रियाओं का सूक्ष्म अध्ययन व विश्लेषण किया है। उनकी किताब भारतीय जनता पार्टी की उस राजनीति को समझने में मदद करती है जिसने दलितों के एक बड़े हिस्से को अपनी ओर गोलबंद किया है। यह काम दलितों के भगवाकरण की इस मुहिम को दर्शाता है कि कैसे दलित समुदाय के कुछ हिस्से, उस हिंदुत्व को तथा भगवा राजनीति को अपना लेते हैं जिनके मूल में ही दलितों का उत्पीड़न छिपा है।

बद्री नारायण अपनी बात को एक खास क्राफ्ट में प्रस्तुत करते हैं। यह क्राफ्ट सहज और

सरल होता है जो समाज की राजनीतिक पेचीदगियों को खोलता जाता है। अपनी बात रखने के लिए लोककथाओं तथा लोकगीतों के साथ अकादमिक विमर्श का लेखक ने बेहद उम्दा समायोजन किया है। यह किताब बताती है कि दलितों से जुड़े प्रतीकों तथा मिथकों का उपयोग करने तथा उन्हें गढ़ने की भाजपाई परियोजना कितनी दिलचस्प है। आमतौर पर हर चुने गए दलित नायक को लेकर बड़ी धूमधाम से एक समारोह का आयोजन किया जाता है। ऐसे समारोह में इन मिथकों के हिंदूकरण की प्रकिया देखी जा सकती है। समारोहों से पहले इन दलित पुरुष नायकों के चित्रों से युक्त बैज, स्टिकर, कार्ड इत्यादि छापे और बांटे जाते हैं। ये सभी खूब रंगबिरंगे और सजावटी होते हैं और इन दलित नायकों को महाराणा प्रताप जैसे हिंदू मिथकीय नायकों की तरह एक शूरवीर और पराक्रमी योद्धा के रूप में चित्रित करते हैं।

दलितों से जुड़े प्रतीकों तथा मिथकों को गढ़ने तथा उनका उपयोग करने का कार्य बसपा भी करती है। बसपा के ऐसा करने तथा भाजपा के ऐसा करने की प्रक्रिया में फर्क है। अतीत के इन मिथकों और किंवदंतियों की मदद से बहुजन समाज पार्टी दलित सत्ता, विकास और जन कल्याणकारी परियोजनाओं में बेहतर हिस्सेदारी प्राप्त करने का प्रयास कर रही है। एक तरफ बहुजन समाज पार्टी दलित समुदायों के सशक्तिकरण के लिए और उनमें आत्मसम्मान पैदा करने के लिए अतीत का इस्तेमाल कर रही है, जिससे अंततः राजनीतिक और लोकतांत्रिक शक्ति के लिए संघर्ष को रूप दिया जा सकता है। एक दूसरे छोर पर भाजपा है। भाजपा दलितों की पहचान को हिंदू अतीत और पहचान से संलग्न करने का प्रयास कर रही है, ताकि उन्हें अपने खेमे में खींचकर सत्ता प्राप्त की जा सके। भाजपा विभिन्न दलित जातियों के मिथकों, नायकों और जातिगत इतिहासों के माध्यम से उनकी स्मृतियों की पुनर्रचना कर रही है। बहुजन समाज पार्टी और भाजपा द्वारा दलित मिथकों के इस्तेमाल में एक अंतर यह भी है कि बहुजन समाज पार्टी ज्यादातर 1857 के विद्रोह से जुड़ी दलित महिलाओं के मिथकों को उठा रही है—उदाहरण के लिए झलकारी बाई, ऊदादेवी, महावीरी देवी, अवंती बाई से जुड़े मिथक। इनसे पार्टी की नेता मायावती की छवि को पुनर्रचित किया किया जा सके। दूसरी तरफ, भाजपा के अभियान में दलित महिलाओं के मिथक बहुत कम या न के बराबर दिखाई देते हैं। यह बहुजन समाज पार्टी की तरह राष्ट्रवादी आंदोलन या 1857 के विद्रोह के नायक नायिकाओं के मिथकों को उठाने की बजाय वैदिक या पूर्व मध्ययुगीन अतीत के दलित नायकों के मिथकों का इस्तेमाल कर रही है। भाजपा ने अपने आरंभिक दौर में हिंदुओं के सभी वर्गों को हिंदुत्व के अंतर्गत लाने के लिए राम का सहारा लिया। इन वर्गों में दलित और मध्य जातियां भी शामिल हैं। इसके बाद भाजपा ने स्थानीय मिथक रचना पर भी जोर दिया। इस रणनीति के तहत अब पार्टी दलितों को हिंदुत्व शक्तियों से जोड़ने के लिए स्थानीय मिथकों, स्थानीय इतिहास, स्थानीय अतीत और स्थानीय मुद्दों को ढूंढ़ ढूंढ़ कर निकालने लगी। अब स्थानीय संदर्भो, स्थानीय इतिहास और स्थानीय अतीत के हिंदूकरण के माध्यम से गांवों में हिंदुत्व की राजनीति भाजपा की राजनीति का हिस्सा बन चुकी है।

बहराइच में पासियों को हिंदुत्व के झंडे के नीचे लाने के लिए राजा सुहैलदेव के मिथक का राजनीतिक इस्तेमाल भाजपा करती है। हिंदू मुस्लिम सौहार्द्र के प्रतीक गाजी मियां को एक क्रूर मुस्लिम शासक के रूप में चित्रित किया जाता है तथा राजा सुहैलदेव को उनके खिलाफ खड़ा कर उन्हें हिंदू धर्म के रक्षक के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। सुहेलदेव को भर पासी राजा बताया जाता है। बहराइच और उससे सटे जिलों में पासी समुदाय का बड़ा हिस्सा रहता है। इस समुदाय को एक युद्धात्मक स्मृति के जरिये राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ बड़े राजनीतिक समूह में समारोहपूर्वक शामिल करता रहा है। मई 2004 में भाजपा, विश्व हिंदू परिषद और राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ ने बाकायदे सांसद योगी आदित्यनाथ को बहराइच बुलाया और सुहेलदेव से संबंधित मेले का उद्घाटन कराया। दूसरी तरफ इन्हीं दिनों मसूद

गाजी की आक्रमणकारी छवि को पुनर्प्रसारित किया गया। एक दार्शनिक आधार पर अस्पृश्यता को इस प्रकार की परियोजनाओं में मुस्लिम आक्रमण से उपजी समस्या बताया जाता है। दोष मुस्लिम आक्रांताओं को दिया जाता है। इस प्रकार एक ही समय में असमानता और बहिष्करण को पीछे छोड़ते हुए इसके लिए एक दोषी को खोजने का प्रयास किया जाता है। एक स्वर्णिम हिंदू अतीत की राष्ट्रवादी परियोजना इन्हीं प्रयासों से उपजती है। इस तरह बद्री नारायण मानव समुदायों की सामूहिक स्मृतियों के उन क्षणों को रेखांकित करते हैं जब उसे मूर्त रूप से राजनीतिक लामबंदी के लिए इस्तेमाल कर लिया जाता है। दलित नायकों का भगवाकरण उत्तरी बिहार के सलहेस के व्यक्तित्व की भाजपायी पुनर्रचना में देखा जा सकता है। एक तैयारशुदा सांस्कृतिक सामग्री में दलित दुसाध नायक सलहेस ब्राह्मणीकृत हो जाता है।

ए.के. रामानुजन का एक लेख है थ्री हंड्रेड रामायनाज : फाइव एकजांपल्स एंड थ्री थाट्स आन ट्रांसलेशन[2] यह लेख भारत में रामकथा की व्याप्ति और उनके कथा संदर्भों को व्याख्यायित करता है। रामकथा के विभिन्न प्रसंग लोकचेतना में गहरे तक समाये हैं। इस बात को राजनीतिक तौर पर हिंदुत्व की राजनीति करने वाले समूहों ने समझा है। शबरी और राम के बीच सहयोग की भावना को नये सिरे से प्रस्तुत किया जा सकता था। यही किया गया। शबरी को एक राजनीतिक एजेंडे में शामिल किया गया क्योंकि मुसहर उन्हें अपनी देवी मानते हैं। बिहार और उत्तर प्रदेश में मुसहर जाति के दो लोकप्रिय नायकों दीना और भदरी बंधुओं को राम और लक्ष्मण का अवतार बताया गया। सांस्कृतिक स्रोतों की इस राजनीति को उत्तर भारत के मुसहरों के संदर्भ में समझने के लिए 2003 के माघ मेले में स्वामी प्रपन्नाचार्य के उस वक्तव्य का सहारा ले सकते हैं जब वे कहते हैं कि दलितों में राम किसी और रूप में पैदा हुए हैं (पृ. 128)। वास्तव में आधुनिक समय में कथावाचक एक नये किस्म की महीन राजनीति का प्रसार भी करते हैं। अर्जुन पटेल ने अपने एक अध्ययन में यह दिखाया है कि किस प्रकार आदिवासी समुदायों को मोरारी बापू, प्रफुल्ल चंद्र शुक्ला, आशाराम बापू, पांडुरंग अठावले एवं स्वामी सच्चिदानंद हिंदुत्व के बृहद आख्यान में समाहित करना चाहते हैं। वे आदिवासी चेतना पर अपनी धारणाओं को सजग राजनीतिक ढांचे के अधीन लाना चाहते हैं।[3] स्वामी प्रपन्नाचार्य के द्वारा राम के कथानकों को नया रूप दिए जाने को इसी संदर्भ में देख सकते हैं। राम के जन्म में छूट लेने की यह जुगत राम को मुसहरों के नजदीक ले जाती है। राम भाजपा के नजदीक जाते हैं। बद्री नारायण तस्वीर के एक दूसरे पहलू को उलटकर पाठक के सामने रखते हैं। मुसहरों ने अपने आपको देश की जनतांत्रिक प्रक्रिया से जोड़कर समुदाय के सशक्तीकरण, सामाजिक समानता और विकास के लिए न केवल अपने आपको तैयार किया बल्कि भारतीय राष्ट्र राज्य की परियोजनाओं की पुनर्व्याख्या करने का प्रयास भी किया है। मुसहर समुदाय ने स्वयं उन मिथकों पर जोर दिया है जो उनमें आत्मसम्मान की भावना का सबलीकरण कर सकें। मुसहर अतीत में अपनी शक्तिशाली स्थिति की स्मृति के द्वारा एक बेहतर वर्तमान रचना चाहते हैं।

बद्री नारायण की दूसरी किताब को पहली किताब के सातत्य में पढ़ा जा सकता है।

मुक्ति का प्रश्न मानवता का स्थायी प्रश्न है। आधुनिक समय में पूरी दुनिया में हाशिये के समुदायों ने इस प्रश्न से मुठभेड़ की है और अपनी राहें बनायी हैं। भारत में आजादी की लड़ाई के दौरान मुक्ति के प्रश्न किसी एक स्वर में नहीं थे। यह किसी एक समूह से जुड़ा हुआ प्रश्न नहीं था। आजादी की लड़ाई में अलग अलग समूह थे जिनका अपना विशिष्ट स्वर था। उनके लिए मुक्ति के मायने भी अलग अलग थे। भारत की आजादी की लड़ाई की महागाथा छोटी छोटी गाथाओं से मिलकर बनी है। इसमें दलितों की गाथा है। उनके अपने तरीके हैं। दलितों ने अपनी मुक्ति की लड़ाई को स्पष्ट और गहन करने के लिए अपने रास्ते खोजे। इस प्रक्रिया को इतिहासकार और सामाजिक

मानवशास्त्री बद्री नारायण **दलित वीरांगनाएं एवं मुक्ति की चाह : उत्तर भारत में दलित संस्कृति, पहचान और राजनीति** नामक पुस्तक में बखूबी स्पष्ट करते हैं। बद्री नारायण 1980 के दशक में दलित आंदोलन के भीतर आए उभार के अध्ययन के लिए राजनैतिक गोलबंदी तथा सांस्कृतिक मिथकों के अंतर्संबंधों की व्याख्या करते हैं कि किस प्रकार सांस्कृतिक परिक्षेत्र में सामान्य दशा में पड़े हुए मिथक नये राजनीतिक अर्थ ग्रहण कर लेते हैं। वे प्रभुत्व को चुनौती देते हैं। बद्री नारायण दलित आंदोलन को समझने के लिए प्रस्तावित करते हैं कि हमें उस प्रक्रिया को देखने की जरूरत है जिसमें कोई प्रतीक गढ़ा जाता है।

यह पुस्तक इस बात से शुरू होती है कि कई बार मिथक यथार्थ से ज्यादा प्रभावशाली हो जाते हैं। वे यथार्थ में नया अर्थ भर देते हैं। अतीत की स्मृतियां भी अक्सर वर्तमान की दमनकारी स्थितियों से उबरने में मदद करती हैं। कई बार ऐसी स्थितियों से उबरने के लिए अतीत को नये नये रूपों में खोजना पड़ता है। बद्री नारायण ने मिथक रचना तथा अतीत के निर्माण के महत्व को गहराई तक समझा है तथा इसी आधार पर वे उत्तर प्रदेश में बसपा द्वारा दलित आंदोलन में इस हथियार के प्रयोग के तरीकों तथा उससे मिली सफलता को रेखांकित करना चाहते हैं। 1857 के विद्रोह में दलितों की भूमिका से जुड़े मिथकों और स्मृतियों की खोज, पुनर्रचना, प्रस्तुति और दलित समुदायों का समर्थन जुटाने के लिए बसपा द्वारा इनका प्रयोग भी इस पुस्तक के अध्ययन का विषय है। इस तरह यह किताब सांस्कृतिक राजनीति और उत्तर प्रदेश के उपेक्षित समुदायों की जनतांत्रिक भागीदारी के बीच परस्पर संबंध को समझने का प्रयास करती है।

अपनी लेखन प्रविधि में नवीनताओं और विषय की आधारभूत समझ से ही कोई अकादमिक लेखन अपनी जगह बनाता है। बद्री नारायण उपेक्षित पड़े स्रोतों में इतिहास का शिल्प तलाशने में समर्थ हैं। मौखिक तौर पर सुनाई जाने वाली कहानियों, गीतों, सामान्य सी दिखने वाली पतले आकार की पुस्तिकाओं से इतिहास को वे रेशा रेशा जोड़ते हैं। बद्री नारायण के अंदर इतिहासकार, कवि और दर्शक तीनों एक साथ रहते हैं। यह अकादमिक व्यक्तित्व उन्हें गीत संगीत, नौटंकी जैसी दृश्य छवियों तथा सांस्कृतिक प्रस्तुतियों के नजदीक जाकर उन्हें पुनर्व्याख्यायित करने का अवसर देता है। बद्री नारायण जिस इतिहास को लिख रहे हैं वहां 'राष्ट्रीय महान' के बरक्स 'स्थानीय वीरांगनाएं' इतिहास के पहिये को घुमा रही हैं। संभ्रांत राष्ट्रवादी वृत्तांतों को परे रखते हुए दलितों ने अपना वैकल्पिक वृत्तांत रचा और ऐसे नायक नायिकाओं की खोज की जो संभ्रांत राष्ट्रवादी नायकों के समानांतर ऐतिहासिक निर्मितियों को दलित जनता के समक्ष ला पाने में सक्षम हुए। ये वृत्तांत मौखिक परंपरा से होते हुए मुद्रित रूप में आए। मुद्रण से पुनः वाचिक परंपरा में इन आख्याानों को र्निमिति हुई। इसमें शिक्षा, स्कूलों और लेखन की बड़ी भूमिका रही। इन्होंने वह समूह तैयार किया जो दलित वैचारिकी और उसकी राजनीति को आगे चलकर बदलने वाले थे। ज्योतिबा फुले और भीमराव आंबेडकर की परंपरा में स्थानीय रूप से दलित बुद्धिजीवियों के दस्तों ने इतिहास और उत्पीड़न के आख्यानों के बीच से मुक्ति की राह दिखलाने वाले चरित्र खोज निकाले।

सहारनपुर और उसके आसपास के इलाकों में महावीरी देवी के आख्यानों ने पददलित भंगियों में लोकधर्मी विद्रोह की चेतना भर दी। महावीरी देवी को लोकप्रिय प्रतीकों में हाथ में हंसिया पकड़े दिखाया गया जिससे दलित मेहनतकश वर्ग अपने आपको जोड़ सकने में सक्षम हो सकता था। बद्री नारायण इसे प्रतीकों के जनतंत्रीकरण की दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम मानते हैं। आजादी की लड़ाई को वीरता के आख्यानों के साथ मेहनतकशों को जोड़ने वाले दलित आख्यानों तक मार्क्सवादी इतिहासलेखन की दृष्टि नहीं गई। वह गोदी मजदूरों, रेल में काम करने वाले मजदूरों और कारखानों के संगठित मजदूरों तक सीमित रही है। दलित मजदूर स्त्री के आख्यानों को हम महावीरी देवी के

साधारण चरित्र में देख सकते हैं। इस सामान्य इतिहास से जुड़ी स्मृतियां दलितों के एक सशक्त मानस का निर्माण करती हैं।

यह किताब उत्तर प्रदेश में दलित गोलबंदी की प्रक्रिया को समझने का प्रयास है। दलितों की राजनैतिक गोलंबदी की भाषा और इस भाषा की निर्मिति समझने में यह पुस्तक न केवल मदद करती है बल्कि इतिहास लेखन में नवीन प्रविधियों की ओर इशारा करती है जिनके द्वारा भविष्य के इतिहासकार अपवंचित तबकों का इतिहास प्रामाणिक स्रोतों से लिख सकेंगे। ये स्रोत अभिलेखागारों से ज्यादा समुदायों की साझी चेतना में समाहित हैं। ये स्रोत चौक चौराहों पर सामान्य सी मूर्तियों में हैं और समुदायों के गीतों में हैं जिन्हें उन्होंने अपनी मुक्ति की परियोजना को आगे बढ़ाने के लिए रचे हैं। बद्री नारायण तथा उनकी टीम इस कार्य के लिए बधाई की पात्र हैं कि वे सुदूर अंचलों से उन किवदंतियों, गीतों, सांस्कृतिक दृश्यों को, उनके महत्व और प्रासंगिकता को ढूंढ़ कर लाए हैं, जिनका एक जगह मिलना सामान्यतः दुर्लभ है। यह पुस्तक इस मायने में महत्वपूर्ण है कि इसमें दलित विमर्श से जुड़ी सैद्धांतिक धाराओं के साथ साथ उस नई राजनैतिक भाषा का प्रयोग है जो सांस्कृतिक प्रतीकों पर आधारित है। यदि लेखक ने तमाम अन्य लेखकों के उद्धरण दिए हैं तो फील्ड डायरी तथा लोकगीत, मिथकों का भी पर्याप्त उल्लेख किया है।

अपरोक्ष रूप से दोनों पुस्तकें वैज्ञानिक परोक्षवाद की सीमा को राजनीति में उजागर करती हैं। 16-18 सदी में स्थापित विज्ञान की सार्वभौमिकता उच्छिन्न होकर नित नये मिथकों को प्रजनित कर रही है। दूसरी ओर आनंद कुमार स्वामी का यह कथन कि मिथक शाश्वत सत्य के सातत्व संवाहक हैं भी कुरचित हो गया है। आज विज्ञान अपना मिथक रच रहा है और राजनीति अपना। एक बाजार के लिए दूसरा सत्ता के लिए। उपर्युक्त दोनों किताबें अकादमिक जगत से जुड़े विद्वानों, सामाजिक तथा राजनैतिक कार्यकर्ताओं, पत्रकारों और दलित अध्ययन के छात्रों के लिए बेहद उपयोगी हैं।

संदर्भ

1. क्लाड लेवी स्ट्रास(1973), स्ट्रक्चरल एंथ्रोपोलोजी 2, पेंगुइन बुक्स, न्यूयार्क : 3-4
2. तीन सौ रामायण, ए.के. रामानुजन (अनुवाद 2012) छबल जायसवाल, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
3. अर्जुन पटेल (2015), आदिवासियों का हिंदूकरण : दक्षिण गुजरात से एक एकल अध्ययन, आधुनिक भारत में दलित : दृष्टि एवं मूल्यांकन, संपादक–एस. एम. माइकल, सेज भाषा, नई दिल्ली : 180 209

हिंदुत्व का मोहिनी मंत्र : बद्री नारायण, (अनु. युगांक धीर), **प्रकाशक :** राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, **मूल्य :** 200 रु.

दलित वीरांगनाएं एवं मुक्ति की चाह : उत्तर भारत में दलित संस्कृति, पहचान और राजनीति : बद्री नारायण, (अनुवादक : युगांक धीर), **प्रकाशक :** राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, **मूल्य :** 200 रु.

आधुनिकता पर पुनर्विचार : भारतीयता के परिप्रेक्ष्य में

अजय वर्मा

आधुनिकता की सबसे बड़ी विडंबना यह है कि इसकी एक ही परिभाषा पूरी दुनिया पर थोप दी गई जबकि हर देश, हर समाज की अपनी देशज विशिष्टताएं होती हैं, संस्कृति की अपनी संरचना होती है जिसके केंद्र में उस समाज के मिथक होते हैं और अपनी भाषा होती है, उसके अतीत की विरासतें होती हैं जिनके बारे में बात करने का सीधा अर्थ अतीतजीवी होना नहीं होता। **राजकुमार** अपनी पुस्तक **हिन्दी की साहित्यिक संस्कृति और भारतीय आधुनिकता** में इस परिप्रेक्ष्य में आधुनिकता और ज्ञानोदय की निर्मम पड़ताल करते हैं। इस विमर्श के खतरों से वाकिफ होने के बावजूद उन्होंने आधुनिकता और ज्ञानोदय के दौरान उत्पन्न विभिन्न सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक अवधारणाओं तथा सिद्धांतों, जिनमें विज्ञान के नए आविष्कारों से लेकर पूंजीवाद, मार्क्सवाद आदि सम्मिलित हैं, को नए सिरे से समझने की बात उठाई है। लेखक के अनुसार अब तक इन विषयों में जो हमारी समझ रही है उसके बारे में पुनर्विचार किया जाय कि यह वास्तव में हमारी अपनी समझ रही है या यह उपनिवेशवाद की साजिश थी जिसमें हम बड़े आह्लादपूर्वक शामिल हो गए, बगैर यह समझे कि यह साजिश हमारे ही, यानी उपनिवेशवाद का शिकार रहे देशों के खिलाफ रची गई थी। इस पर बहुत ही विस्तारपूर्वक और संतुलित ढंग से लेखक ने इस किताब में विचार किया है।

पुस्तक का पहला लेख है 'प्रकृति, मनुष्य और आधुनिकता'। प्रकृति यहां एक विशेष ऐतिहासिक संदर्भ में आई है क्योंकि दुनिया भर में उपनिवेश बनाने की शुरुआत और आधुनिकता का एजेंडा प्रकृति का दमन करके ही फलीभूत हुआ। डेनियल डेफो के 'रोबिनसन क्रूसो' नामक उपन्यास की रचना इसका प्रमाण है। इसके पीछे मिथक की भूमिका से भी इंकार नहीं किया जा सकता। धन की लूट के लिए नाविकों की साहसिक यात्राओं ने न सिर्फ प्रकृति का दमन किया बल्कि अनेक देशों में ऐसे भयानक नरसंहार किए कि वहां के मूलवासियों की नस्लें समाप्त हो गईं। इसके पीछे प्रेरणास्रोत

के रूप में 'अदन के बाग' के मिथक की भूमिका से इंकार नहीं किया जा सकता। इन नरसंहारों का जिक्र इस पुस्तक में मौजूद है। मगर इस पुस्तक का मूल विषय इससे संबंधित ब्योरे जुटाना नहीं, इसे विश्लेषित करना है कि आधुनिकता के प्रोजेक्ट के साथ प्रकृति के दोहन की जो अनियंत्रित प्रक्रिया उपनिवेशवाद के दौर में चली और आज लेट पूंजीवाद के दौर में जिस अवस्था में पहुंच गई है उसके कारण मानव सभ्यता के अस्तित्व पर ही संकट खड़ा हो गया है। लेखक के पर्यावरण को लेकर चिंताएं आधुनिकता और पूंजीवाद के उदय तक ही सीमित नहीं हैं बल्कि आज के अनियंत्रित विकास के कारण मनुष्य की आबादी का जो एक बड़ा हिस्सा अस्तित्व का संकट झेल रहा है वह भी इसमें शामिल है। यह चिंता किसी पर्यावरणविद की नहीं बल्कि सामाजिक मानवीय अस्तित्व की फिक्र करने वाले पब्लिक इंटेलेक्चुअल की है। इसीलिए राजकुमार हेबरमास की तरह आधुनिकता के अधूरे प्रोजेक्ट के लिए शोक नहीं मनाते बल्कि वे इसके पूरे प्रोजेक्ट पर ही सवाल खड़ा करते हैं। वे कहते हैं– ''अर्थशास्त्रियों का मानना है कि पश्चिमी ढंग के विकास के मॉडल को अपनाने पर जो आबादी तबाह होगी। उसे बसाने के लिए एक नहीं चार अमेरिका की जरूरत पड़ेगी! किंतु सबसे महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि पश्चिमी ढंग का जीवन स्तर प्राप्त करने के लिए धरती के संसाधनों का जिस बड़े पैमाने पर दोहन करना पड़ेगा, उसे यह धरती बर्दाश्त नहीं कर सकती। इसलिए पर्यावरण की चिंता सिर्फ शौक या शगल नहीं, मजबूरी है।'' इसी क्रम में मार्क्सवाद के बारे में फैले भ्रम का भी निवारण करते हुए कहते हैं कि मार्क्स ने न केवल इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या प्रस्तुत की बल्कि मनुष्य और प्रकृति को एक दूसरे से पूरी तरह अलग करके देखने और प्रकृति पर मनुष्य के विजय के तर्क को भी स्वीकार नहीं किया। 'मार्क्स द्वारा रचित 1844 की आर्थिक और दार्शनिक पांडुलिपि के हवाले से वे कहते हैं कि मार्क्स का स्पष्ट कहना था कि मनुष्य का जीवन प्रकृति से संभव हुआ है और उसे प्रकृति से सतत संवाद बनाए रखना चाहिए।'

राजकुमार मार्क्सवाद के बारे में यहां जो कहते हैं वह कई मायनों में महत्वपूर्ण है। पहला उल्लेखनीय तथ्य यह है कि इस पूरी पुस्तक में परंपरा, संस्कृति, आधुनिकता के बारे में उनका जो मूल दृष्टिकोण है, मार्क्सवाद उसमें बाधक नहीं है बल्कि इस समझ को तार्किक और व्यापक रूप से मानवतावादी बनाने में उनकी सहायता करता है। इसको इस तरह समझा जा सकता है कि उपनिवेशवाद के रथ पर चढ़कर जो आधुनिकता तीसरी दुनिया के देशों में, खास तौर से भारत में आई उसका लक्ष्य था अनियंत्रित भौतिक विकास और यह विकास का एजेंडा उपनिवेशों की लूट पर निर्भर था। इसका मतलब यह है कि मार्क्स इस अनियंत्रित भौतिक विकास के विरोध में थे क्योंकि उपनिवेशों की लूट का अर्थ प्रकृति के दोहन से जुड़ा हुआ है। हमारी जो सांस्कृतिक विरासत है उसमें प्रकृति के दमन को स्वीकृति नहीं है बल्कि वह हमारे आध्यात्मिक ही नहीं, भौतिक जीवन का भी अविभाज्य अंग है। जाहिर है कि मार्क्स की भारत के बारे में एकाध शुरुआती टिप्पणियों को लेकर उन्हें उपनिवेशवाद का समर्थक कहना एक ऐसी टुटपुंजिया मनोवृत्ति है जिसका शिकार हमारे बहुत सारे मार्क्सवादी साथी भी रहे हैं। हालांकि इस पर रामविलास शर्मा ने विस्तारपूर्वक लिखा है और मार्क्स का बचाव करते हुए यह कहा है कि जिस समय उन्होंने भारत में औपनिवेशिकों की ऐतिहासिक जिम्मेदारी की बात कही उस समय उनके पास प्रामाणिक सूचनाएं नहीं थीं, जबकि इसके विपरीत एजाज अहमद ने अपनी पुस्तक IN THEORY में बिना मार्क्स का बचाव किए साबित किया है कि अंतर्विरोधों के बावजूद मार्क्स उपनिवेशवाद के समर्थक नहीं थे।

इस प्रसंग का सामयिक पहलू यह है कि लेखक मार्क्सवाद के प्रति अधकचरी समझ को चुनौती देते हुए उसे फिर से पढ़ने की जरूरत बतलाता है और इससे यह भी साबित होता है कि आज जो संकट हमारे सामने है उसके संदर्भ में मार्क्सवाद की प्रासंगिकता और ज्यादा बढ़ जाती है। मगर ध्यान

रखने की जरूरत है कि जिस प्रकार लेखक आधुनिकता के संबंध में देशीयता का पक्षधर है उसी प्रकार मार्क्सवाद को भी भारतीय परिप्रेक्ष्य में ही प्रासंगिक मानता है। यह देखना दिलचस्प है कि इस परिप्रेक्ष्य में लेखक मार्क्सवाद और गांधीवाद के बीच अद्भुत समानता देखता है। वर्गीय दृष्टिकोण भले ही भिन्न हो किंतु प्रकृति, मनुष्य और आधुनिकता के संदर्भ में दोनों के बीच अद्भुत समानता है और इसी को लेखक आज के परिप्रेक्ष्य में जरूरी मानता है। 'हिंद स्वराज और आधुनिकता' में लेखक ने गांधी के देशज दृष्टिकोण को विवेचन के केंद्र में लाने का काम किया है। इस प्रकार राजकुमार पश्चिम की आधुनिकता के विखंडन की जरूरत पर बल देते हैं और इस विखंडन के लिए देशज दृष्टिकोण की जरूरत है जिसकी वकालत रवींद्रनाथ टैगोर से लेकर प्रेमचंद ने की थी और गांधी की किताब 'हिंद स्वराज' इस प्रसंग में आज बहुत महत्वपूर्ण मानी जा रही है। 'हिंद स्वराज और आधुनिकता' में लेखक ने इस प्रसंग में विस्तारपूर्वक चर्चा की है और यह भी स्पष्ट रूप में कहा है कि गांधी पश्चिम के द्वारा फैलाई जा रही आधुनिकता के बिलकुल विरोध में थे क्योंकि उनके अनुसार आधुनिकता, उपनिवेशवाद और औद्योगिक पूंजीवाद आपस में नाभिनालबद्ध हैं। किंतु लेखक यहां यह भी कहता है कि आगे चलकर मशीनीकरण को लेकर गांधी के रुख में कुछ बदलाव आया था। दरअसल इस संबंध में गांधी का मानसिक संघर्ष बहुत गहरा था। अपने रुख को लेकर वे बहुत अलग थलग पड़ते जा रहे थे। स्वयं नेहरू जी से उनका मतभेद हो गया था। सुधीर चंद्र की पुस्तक 'गांधी : एक असंभव संभावना' में इस प्रसंग में गांधी के पत्र का उत्तर देते हुए नेहरू ने जो कुछ कहा है उससे इसकी पुष्टि होती है। यहां राजकुमार जी महादेव देसाई के साथ रामचंद्रन की बातचीत के हवाले से कहते हैं कि मजबूरी में ही सही, गांधी बाद में यंत्रों के सीमित महत्व को स्वीकार करने लगे थे। राजकुमार कहते हैं कि इस प्रकार उन्हें डेविड हार्डीमान की तरह वैकल्पिक आधुनिकता के सबसे बड़े मौलिक चिंतक के रूप में स्वीकार करना पड़ेगा।

'किसान की मौत' लेख वास्तव में समसामयिक प्रश्न का संकेत देता है किंतु लेखक ने इसकी विवेचना भी मार्क्सवादी और गांधीवादी संदर्भों में की है। किसान जीवन की एक बड़ी विडंबना की ओर लेखक संकेत करता है कि उसे मार्क्सवादी चिंतन में सामंती समाज का अवशेष मानकर उसकी उपेक्षा की गई तो पूंजीवादी चिंतन में औद्योगीकरण को महत्व देने के कारण वहां भी इसकी उपेक्षा हुई और इसी का नतीजा है कि आज किसानों की आत्महत्या को लेकर सिर्फ रस्मी तौर पर सुगबुगाहट भर दिखाई दे जाती है। इस संबंध में लेखक का कहना है कि आज हिंदी उपन्यासों में किसान जीवन के चित्र नहीं मिलते। मगर यहां देखना जरूरी है कि अगर प्रेमचंद, नागार्जुन और रेणु के ढब के किसान जीवन के चित्रण की तलाश करें तो निश्चय ही उस तरह के उपन्यास अब नहीं मिलते हैं। किंतु प्रश्न है कि हम उसी तरह के चित्रण की तलाश क्यों करें? उन लेखकों के जमाने में यथार्थ के जो रूप रंग थे वे अब बदल गए हैं। किसानों की समस्याएं भी अब वही नहीं हैं, खास तौर पर भूमंडलीकरण के बाद के समय में। कलाकृति के रूप में भी उपन्यास काफी आगे निकल चुका है और इस सत्य को स्वीकार कर लें तो ऐसे कुछ उपन्यास अवश्य लिखे गए हैं जिनमें किसान जीवन के चित्र हैं, भले ही प्रेमचंद, नागार्जुन या रेणु की तरह व्यवस्थित नहीं हैं।

'प्रेमचंद और राष्ट्रवाद' शीर्षक लेख में राजकुमार परंपरा, परिवर्तन और आधुनिकता के परस्पर संबंध पर विचार करते हैं। यहां जिस प्रकार उन्होंने परंपरा को परिवर्तन का महत्वपूर्ण कारक कहा है उससे भारतीय आधुनिकता की वैचारिकी के क्षेत्र में एक बड़े अभाव की क्षतिपूर्ति होती है। प्रेमचंद की आधुनिकतापरक दृष्टि को वे भारतीय आधुनिकता के संदर्भ में प्रस्तुत करते हैं क्योंकि उन्होंने भारतीय समाज की सामंती और वर्णवादी व्यवस्था की कटु आलोचना करने के बावजूद ओरिएंटलिस्टों के लिए जरा भी गुंजाइश नहीं छोड़ी कि वे भारत की सभ्यता को पतनशील बताने के एजेंडे को सुविधाजनक रूप में आगे बढ़ा सकें। इसके बाद आज के उत्तर उपनिवेशवाद के दौर में कथित

आधुनिकतावादियों के अंध परंपरा द्रोह को भी वे प्रश्नों के दायरे में लाते हैं। दलित चिंतन के नाम पर आज परंपरा की आलोचना की जो होड़ लग गई उसमें आगे बने रहने की हड़बड़ी में कई लेखक साम्राज्यवाद का समर्थन करने लगे हैं। शुक्र है कि नया उत्तर औपनिवेशिक चिंतन जल्द ही मंदी का शिकार हो गया। बहरहाल लेखक का यह कहना महत्व रखता है कि परिवर्तन का मतलब परंपरा द्रोह नहीं है। प्रेमचंद के बारे में राजकुमार का यह कथन बिल्कुल सही है कि वे ऐसे भारत की कल्पना करते हैं जो तात्विक और बुनियादी रूप से भिन्न है। प्रेमचंद पर अपने अन्य लेख 'गोदान और औपनिवेशिक आधुनिकता' में उन्होंने इसी चिंतन को आगे बढ़ाया है।

औपनिवेशिक दृष्टि की आलोचना के क्रम में ही इस पुस्तक का एक लेख 'अंग्रेजी की जगह' शीर्षक से है। इस क्रम में उन्होंने सलमान रुश्दी, एजाज अहमद और जी. एन. देवी जैसे अंग्रेजी लेखकों के हवाले से यह दिखलाया है कि किस प्रकार अलग अलग सुरों में ये लेखक अंततः यही सिद्ध करने की कोशिश करते हैं कि भारत में अंग्रेजी में किया गया लेखन ही श्रेष्ठ है। हालांकि मेरा मानना है कि इसमें जी. एन. देवी की स्थिति जरा अलग है, वे थोड़ी दुविधा बरतते हैं। इसके बाद के लेख में लेखक इसी बहस को आगे बढ़ाते हुए हिंदी भाषा की स्थिति पर विचार करता है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि इस लेख को उसी कड़ी में पढ़ना उचित होगा। इसको जातीय जीवन से जोड़ते हुए उन्होंने साहित्य, संगीत आदि में जातीय तत्वों की उपस्थिति को भी रेखांकित किया है।

'हिंदी साहित्य का नया इतिहास कैसे लिखें' शीर्षक लेख में राजकुमार हिंदी साहित्य के इतिहास लेखन के बारे में टिप्पणी करते हैं कि रामचंद्र शुक्ल की इतिहास दृष्टि को बदलने या उस पर पुनर्विचार करने की आज आवश्यकता है। इससे मुक्त होने पर ही उन अनेक रचनाओं का महत्व पता चलेगा जिन्हें संकीर्ण दृष्टिग्रस्त मानकर अभी तक उपेक्षित रखा गया है। इसके बाद के लेख 'साहित्य, इतिहास और स्वाधीनता' में लेखक ने साहित्य को विचारधारा से मुक्त करने की राजनीति पर बहस की है।

पुस्तक का अंतिम लेख है 'गद्य काल में कविता'। यह लेख भी आधुनिकता और नवजागरण संबंधी विचार विमर्श की कड़ी में है। गद्य का उदय किन ऐतिहासिक परिस्थितियों में हुआ इसका विवेचन तो इसमें किया ही गया है साथ ही आधुनिक कविता के रूप और शिल्प में परिवर्तन की प्रक्रिया का विश्लेषण भी है। निराला ने छंद के बंधन को तोड़ा तो नई कविता के आचार्यों ने कविता से छंद और लय को अलग करते करते अंत में गद्य के विधान में कविता को बांध दिया। मुक्तिबोध, नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल, रघुवीर सहाय के अलावे साठ के दशक में धूमिल ने नई कविता के इस ढांचे को तोड़ने का प्रयास किया। इस प्रसंग में लेखक का यह भी कहना है कि अस्सी के दशक में आए कवियों ने विचार और संवेदना के स्तर पर नवीनता अवश्य दिखलाई लेकिन उनकी कविताओं का ढाँचा वही रहा। राजकुमार के इस कथन पर विचार करने की जरूरत है।

राजकुमार की पुस्तक ऐसे समय में भारतीय आधुनिकता और हिंदी की साहित्यिक संस्कृति पर विचार करती है जब दुनिया में उत्तर आधुनिकता का शोर शराबा थम गया है और उत्तर औपनिवेशिकता तथा नव उपनिवेशवाद को बहस के केंद्र में लाया जा रहा है। यह पुस्तक मूल रूप से इसी प्रश्न को बहस का विषय बनाती है और आज के दौर में यह बहस उतनी ही प्रासंगिक है जितनी उस दौर में थी। आधुनिकता और ज्ञानोदय को नए ढंग से समझकर आज के नए उपनिवेशवाद के चरित्र और उसके लक्ष्य को समझा जा सकता है, इस पुस्तक का पाठ यह साबित करता है।

हिन्दी की साहित्यिक संस्कृति और भारतीय आधुनिकता : राजकुमार, **प्रकाशक :** राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, **मूल्य :** 400 रु.

इस अंक के लेखकों के मोबाइल नम्बर

विनोद कुमार शुक्ल	:	9425515382
अजय तिवारी	:	9717170693
रमानाथ मिश्र	:	9452292909
शालिनी शाह	:	9711885563
देवी प्रसाद मिश्र	:	9250791030
मनोज कुमार पांडेय	:	8275409685
निर्मला तोदी	:	9831054444
अरुण कमल	:	9931443866
कुंवर नारायण	:	9891589836
गीत चतुर्वेदी	:	9713000963
श्रीप्रकाश शुक्ल	:	9415890513
अरुण देव	:	9412656938
निखिल आनंद गिरि	:	9711074170
राहुल कुमार	:	8002736666
नताशा	:	9955140065
सुहेल वहीद	:	9415007694
तारानंद वियोगी	:	9431413125
अर्चना वर्मा	:	9871282073
अमिताभ राय	:	9582502101
अवनीश मिश्र	:	9953103146
अमृता जोशी	:	9828764367
अनंत राम मिश्र	:	8004928115
अजय वर्मा	:	8135993461